श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

एकादश व द्वादश भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	श्रीमान् मित्रसैन नाहरसिंहजी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैंदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमान् सेठ समल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी	,,

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए ।

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमे ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

मोक्षशास्त्र प्रवचन

एकादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

सुख शान्ति पानेके उपायका माप—सभी जीवोको सुख अभीष्ट है और दुःखसे वे डरते है, पर सुख वास्तवमे क्या है, वह कैसे मिलता है ? इस बातकी परख कम जीवोको होती है। बहुधा जिस जीवने जिसमे सुख माना वह जीव उस ओर ही बढ जाता है। सुख क्या है अथवा शान्ति और आनन्द क्या है ? सुख तो यद्यपि ससारी सुखका नाम है इसलिए सुख कोई ग्रहण करनेकी चीज नही है। दु ख ग्रहण करनेकी चीज नही, ऐसे ही सुख भी ग्रहण करनेकी चीज नही। दुःख उसे कहते है जो इन्द्रियोको बुरा लगे और सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोको सुहावना लगे। तो इन्द्रियसुख और दुःख ये दोनो ही हेय है। जो इन्द्रिय सुखमे रत रहता है वह ससारमे जन्म मरण करता है। इन्द्रियसुख पानेकी चीज नही, वह तो हेय है, क्योकि एक तो इन्द्रियसुख पराधीन सुख है। इन्द्रियाँ भली हो, कर्मोदय सही हो, साधन समागम मिल रहा हो तब सुख मिल पाता है। इतनेपर भी इन्द्रियसुख विनाशीक है, मिला और खत्म हो गया। कोई पुण्यवान मनुष्य हो और जिसको इन्द्रियसुख-सामग्री खूब मिली हो, वह भी रोज-रोज दुःखी रहता है। आकुलता उसके भी रहती है। थोडे समयको थोडा मौज मानता है, फिर दु ख हो जाता और ऐसा सुख जिन्दगी भर भी चाहे मिले, लेकिन इसमे ऐसा विकट कर्मबन्ध होता कि जिस पापके उदयमे भविष्यमे दुःख होता। वास्तविक सुख इन्द्रियसुख नही है। वास्तविक सुख, शान्ति, आनन्द तो वह है जहाँ आकुलताका नाम नही ? अब जरा इस पहिचानसे सोचो कि वह सुख क्या है ? जहाँ आकुलता रच नही। इसको इस तरहसे देखिये—हम आप जीव है, हम आप सबके उपयोग है। कही न कही ज्ञान बसाया करते हैं। हम अपना ज्ञान कही न लगाये, ऐसा कभी नही हो पाया।

ज्ञान है, जाननेका काम करता है, कही न कही लगा रहता है। अब यह ज्ञान कहाँ लगे कि इसको शान्ति मिले और इस ज्ञानको कहाँ लगायें कि इसको दुःख मिले ? बस यह बात सोचनेकी है।

अन्तः सहजस्वरूपमे उपयोगके लगने न लगनेपर शान्ति अशान्तिकी निर्भरता—देखो ससारके ये सारे पदार्थ भिन्न हैं, हमारे आधीन नही है। हमारे अधिकारकी बात नही कि यह चीज हमारे पास बनी रहे, इन बाहरी पदार्थोंपर हमारा अधिकार नही है कि हम जैसा चाहे वैसा ये चले, परिणमन करें। जब ये दोनो बातें हमारे अधिकारसे बाहर हैं कि बाह्य पदार्थ मेरे नही, मेरे साथ रहते नही, जैसा मैं चाहू वैसा ये परिणमे ऐसा नही। तब इन पदार्थोंमे अपना ज्ञान फसायें तो नियमसे क्लेश होता है। अपने जीवनकी प्रारम्भिक घटनाओ से लेकर अब तक जो-जो कुछ बीता उस सबका ख्याल करके सोच लो कि हमने किस-किस पदार्थमे दिल बसाया और उसका फल क्या मिला ? किस-किस जीवमे दिल फसाया और फल क्या मिला ? आकुलता। जिनका वियोग हो गया ऐसे अपने घरके लोगोकी बात देखो उनमे दिल बसाया तो फायदा क्या मिला ? अन्तमे गुजरे, वियोग हो गया। तब भी आकुलता की दिल फसाकर और अब भी सोचकर ख्याल कर आकुलता किया करते है। चाहे कोई चेतन पदार्थ हो, चाहे अचेतन हो, बाह्य पदार्थोंमे दिल फसानेसे याने रागद्वेष करनेसे नियमसे क्लेश होता है, इसमे रच भी सदेहकी बात नही। आप भगवानको क्यो पूजते ? भगवानका भजन क्यो करते कि यह बात भगवानके हुई है, उनका ज्ञान बाहरी पदार्थोंमे नही फसता इसलिए वे अनन्त आनन्दमे है। बस उनसे हम सबक सीखने आते है कि हे प्रभो ! आप जैसी स्थिति हमारी भी बने कि हमारा ज्ञान किसी बाह्य पदार्थमे न फसे। किसी मे रागद्वेष मोह न जगे और मैं अपने आपके आनन्दस्वरूपमे ही रत रहू। इस भक्तको यह विश्वास है कि जो भगवानने किया था और जिस उपायसे ये भगवान बने हैं और जिस स्थितिमे भगवान रह रहे है वे सब काम हमारे वशके है। हम वह उपाय बना सकते हैं। भगवान जैसे शुद्ध पवित्र और अनन्त आनन्दमे आ सकते है, क्योकि भगवान भी जीव, हम भी जीव। जैसे गेहूके दाने कितने ही है, दानेकी अपेक्षा वे एक जातिके हैं, ऐसे ही जीव हम सब जितने भी हैं पवित्र हो, अपवित्र हो, ससारी है, वे सब मूलमे एक प्रकारके चैतन्यस्वभाव वाले है और सब जीवोमे एक समान स्वरूप है। तो जो उपाय प्रभुने किया वही उपाय हम बनावें तो क्यो नही प्रभु जैसी अवस्थाको पा सकते है ?

जीवपरिचय करके अपने महत्त्वके अङ्कनका सदेश—यह मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। ससारमे कितनी तरहके जीव है, उन सब योनियोको पार करके हम मनुष्यभवमे आये, पहले तो निगोद जीव (साधारण जीव) थे, ससारमे सर्वत्र इस लोकाकाशमे ठसाठस

भरे रहे, जिनके सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय है। शरीर भी जिनका इतना सूक्ष्म है कि वे एक दूसरेसे टकरा भी नही सकते है। जिनका ज्ञान न कुछ की तरह है, एक श्वासमे १८ बार जन्म-मरण करते हैं। वह श्वास भी क्या, एक बार नाडीके उचकनेमे जितना समय लगे उतने समयका। एक मिनटमे करीब ७२ बार नाडी चलती है। जिसके हिसाबसे एक सेकेण्डमे २३ बार जन्म मरण होता है, ऐसे निगोदमे हम अनादिकालसे चले आये। वह निगोदभव बीता, आज प्रत्येक मनुष्य अशान्त है, सुखी नही है, दुःख ही दुःख बना रहता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकारकी परवस्तुविषयक वाञ्छा करके अपने चित्तमें दुःख अनुभव करता है। मगर यह तो सोचो कि आजको हमारी स्थिति कितनी अच्छी है? मन मिला है, पञ्चेन्द्रियां मिली है, श्रावककुल मिला है, जैनदर्शन मिला है। सब कुछ मिल जाय, मनुष्य भी हो जायें और एक जैनदर्शनसे वञ्चित रहे तो वह मनुष्य अधेरेमे है। जैनदर्शन वस्तुस्वरूपका सही परिचय कराता है। क्या है दुनियामे? ये पदार्थ किस तरह है, मैं कैसा हू, मुझे क्या करना चाहिए, मेरी क्या-क्या स्थितियाँ बने, कौनसी स्थिति उत्तम है? सब कुछ परिचय इस जैनदर्शनसे मिलता है।

तो कितना हम आपका सौभाग्य है, कितनी अच्छी स्थितिमें है हम आप, फिर भी यह मनुष्य कुछ न कुछ बिना प्रयोजन मनमे कल्पनायें उठाकर दुःखी हो रहा है। ऐसे दुःखी ससारी जीवोपर निगाह डालें तो वहां धैर्य मिलेगा कि यहाँ दुःखके लायक कुछ बात नही है। बडी अच्छी स्थितिमे है और यहाँसे हम अपना उत्थान कर सकते है। तो दीजिए निगाह। साधारण निगोद जीव अनन्तानन्त है। जो पर्याय हम आपको अनन्त काल तक मिली, कुछ सुयोग हुआ, उस साधारण शरीरसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति हुए। वहां भी बहुत दुःख। वहांसे निकले तो दो इन्द्रिय हुए। वहाँ भी क्या सुख? जो चाहे पैरोंसे कुचल देता अथवा मछलियाँ पकडनेके लिए मार डालता। तीन इन्द्रिय चार इन्द्रियकी पर्यायमे भी दुःख ही दुःख पाते रहे। पञ्चेन्द्रियमे भी नारकी, तिर्यञ्च, देवके भवमे भी आज नही है, आज श्रेष्ठ मनुष्यभवमे है। यह मनुष्यभव सर्वश्रेष्ठ भव है, क्योकि मनुष्यभवसे मुक्ति प्राप्त हो सकती, मनुष्यभवमे ही सयमकी आराधना हो सकती। देवता तक भी इस मनुष्यभवके लिए तरसते है। तो इस दुर्लभ मानव-जीवनको पाकर आज कुछ दुःख का अनुभव न करें। जो कुछ भी स्थितियां गुजरती हैं उन्हे कर्मविपाक जानें और हँस खेलकर टालें। यह भी एक उदयकी चीज है, ऐसा जाने और धर्ममार्गका अपना उपाय बनावें।

शान्तिके अर्थ चिन्तन और प्रवर्तनकी दिशा—हम आप जीव हैं, कभी मिटेंगे नही। यह मनुष्यभव छूटे बाद भी रहेगे। तो हम वहाँ क्या रहे, कैसे रहे? इसका भी तो कुछ विचार करना चाहिए। यहां तो लोग इस छोटेसे १०-२०-५० वर्षके जीवनभरकी व्यवस्था

बनाते, पर इसके आगेके सारे भविष्यकालके लिए कुछ भी विचार नही बनते। अरे अपने भविष्यके लिए भी तो कुछ विवेक करना चाहिए कि हमारा (आत्माका) कर्तव्य क्या है ? वह कौनसा उपाय बनावें जिससे हम ससारके कष्टोमे सदाके लिए छूट जायें। तो उस ही उपायके बारेमे कहा जा रहा है कि हम है ज्ञानवान। हम कही न कही ज्ञान बसाये रहते है। साथमे लगा है रागद्वेष मोह। सो जिनमे हम जुटे है उसमे अगर राग हुआ तो हम उसे अपनाते है, द्वेष हुआ तो घृणा करते है और मोह तो अज्ञान ही है। सो रागद्वेष मोहवश हम अपना ज्ञान इष्ट अनिष्ट विषयोमे जुटाये फिरते है। क्लेशका कारण यह है कि थोडी देरको सोच लो कि हम है अकेले सबसे निराले, न हमारा घर, न परिवार, न शरीर, कुछ भी बाह्य वस्तु मेरी नही। मैं केवल एक अकेला ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हू और इसका स्वभाव जानने और अनाकुल रहनेका है। इसके स्वरूपसे, इसकी सत्तासे कष्ट नही होता, ऐसा अपने आपको सोचें कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानघन हू, सहज आनन्दमय हू। यदि दृष्टिमे, उपयोगमे ऐसा स्वरूप आये तो यही अनुभव करने लगेंगे कि यह आत्मा कैसा आनन्दस्वरूप है और इसका यह ही एक कार्य है। बाहरी पदार्थमे उपयोग फसानेसे क्या गुजारा होगा क्या पूरा पडेगा ? यहाँ तो चूंकि आप स्वतन्त्र अकेले अपनेमे नही रह सकते और कर्मोदय सताते है, भूख प्यास लगती है, और और भी वेदनाएँ चलती है इस वजहमे गृहस्थी अगीकार की है, तो आप गृहस्थावस्थामे रह रहे है इसलिए कि हमपर अधर्म हावी न हो जाय, हम पापोमे अनर्गल न फस जायें, इसके लिए गृहस्थधर्म है। हमसे कही अनर्गल हिंसा प्रवृत्ति न हो जाय इसलिए एक गृहस्थधर्ममे रहते हैं, अणुव्रत जैसा पालन करते हैं। हम कही असत्यमे ज्यादा आसक्त न हो जायें इस भावसे आप सत्याणुव्रत जैसा अपना धर्म समझकर गृहस्थीमे रहते है। कही किसी परवस्तुके चोरी करनेका भाव न हो, चोरीमे न फस जायें, इसलिए गृहस्थधर्ममे रहते हैं और व्यापार करते हैं धर्मानुकूल और उससे अपना गुजारा करते है। यह ही तो गृहस्थधर्मका वास्ता है कि कही अधर्ममे प्रवृत्त न हो जायें, कही परस्त्रीप्रसगमे न फस जायें, इसलिए एक स्त्रीसे धर्मानुकूल विवाह करके उसमे ही सतुष्ट रहनेकी आदत बनाते हैं, यह है गृहस्थधर्मकी बात। तो इस तरह अनेक पाप छूट गए। परिग्रहका परिमाण इस कारण करते कि कही तृष्णाका भाव न रहे।

परिग्रहपरिमाणके लाभ—प्रत्येक गृहस्थको अपने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए। यह गृहस्थके सुखी रहनेका मार्ग है। मानो ५ लाखका परिमाण कर लिया, अब इससे अधिक अगर आय होती है तो उसको अपनी आय न समझें। जो परिमाण किया है उसके अन्दर ही आय समझें और उसमे गुजारा बनायें। अचानक आय काफी हो जाय तो उसको धर्मकार्यमे लगा दें, यह ही परिग्रह परिमाणका अर्थ है। अब एक लौकिक दृष्टिसे देखें

कि परिग्रह परिमाणमे क्या-क्या लाभ है ? एक तो अपने आत्माको सन्तोष हो गया, परिग्रह एक परपदार्थ है। बहुत परिग्रह जोड देनेसे आत्माको कोई लाभ नही है, बल्कि जितना अधिक आरम्भ होता जायगा, परिग्रह जुडता जायगा उतना ही उपयोग इन पौद्गलिक ठाठोमे फसेगा और उससे जीवन व्यर्थ जायगा। परिमाण कर लिया, अब परिमाणसे बाहर अगर कुछ आय हो जाय, करता नही है यह आय परिग्रह परिमाणमे ज्यादा, मगर व्यापार है, अचानक हो ही जाता है। कही भाव बढ गया, कुछ हो गया, अचानक हो ही जाता है तो परिमाणसे अधिक हो जाय तो उसे अपने पास न रखे, धर्मकार्योमे खर्च कर दे। आखिर लोग इसीलिए तो धनी बनते है कि लोकमे हमारा कुछ सम्मान रहे। तो जो मनुष्य परिमाण करके रहता है और अधिक आय होती है और धर्मकार्यमे लगाता है तो उसका इतना नाम और इतना सम्मान होता है कि जितना धन जोडने वालेका नही हो सकता। तो लौकिक दृष्टिसे भी बुराई न हुई और अपने आत्महितकी दृष्टिसे धीरता, गम्भीरता, शान्ति सतोष भी रहा, और जो अपना धर्माराधनाका कार्य है उसमे अपना समय लगता है।

उपासकोका कर्तव्य और कर्तव्यके प्रसंगमें तत्त्वपरिचयका उद्यम—गृहस्थ जनोका करने योग्य कार्य क्या है ? ५ अणुव्रत जैसी प्रवृत्ति रखना। नियम नही है, व्रत प्रतिमा नही है, मगर उसे अभ्यास रूप ५ अणुव्रत जैसी प्रवृत्ति रखकर हम यह कोशिश करते रहे कि हम अपना ज्ञान ऐसी जगह लगायें कि जहाँ शान्ति सतोष रहता है। तो बाह्य पदार्थोमे हम ज्ञान लगायें उससे सतोष नही मिलता। तो कहाँ लगायें ज्ञानको कि संतोष मिले ? जो बाह्य पदार्थ न हो वहाँ लगायें। याने जो स्वय आत्मा हे वहाँ लगायें। मैं सदा रहूगा, उसके निकट ही रहूगा याने वह ही रहूगा। जो सदा रहेगा मेरे साथ और जिसपर हमारा अधिकार है कि हम जैसा बनायें सो बन सकते है। हम शान्त रखे तो शान्त हो सकते है, हम अपनेको दु.खी बनायें तो दु.खी हो जाते है। जहाँ हमारा अधिकार है, जो आत्मसर्वस्व है, जो हमसे कभी बिछुडता नही, ऐसे आत्मपदार्थमे ज्ञान लगायें तो निराकुलता मिलेगी। बाह्य पदार्थोमे ज्ञान जुटायें तो निराकुलता नही मिलती। एक ही निर्णय है। बडा वही है जो बडा कार्य कर ले। इस कार्यके आगे बाहरी पदार्थके समस्त कार्य तुच्छ कार्य है, क्योकि उनसे आत्माका कुछ पूरा नही पडता। इसीको कहते हैं मोक्षमार्ग। याने बाहरी पदार्थोके लगावसे छुटकारा मिले तो मोक्ष मिलेगा। इसी मोक्षमार्गका इस मोक्षशास्त्रमे वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है, अपनी सत्ताके कारण जो अपने आपका स्वभाव है उस रूपमे अपनी श्रद्धा करना। मै यह हू—यह है सम्यग्दर्शन। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके पानेके लिए कुछ कोशिश तो करनी पडेगी। वह कोशिश है ७ तत्त्वोकी जानकारी। जीव, अजीव, आस्रव, बध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, और जब ७ तत्त्वोकी यथार्थ जानकारी और इनका

यथार्थ श्रद्धान होना यह उपाय है, इससे फिर हम उसकी जो मूल जड है, आत्माका जो सहज स्वरूप है उसपर हम पहुचेंगे और उसे जिसने जाना, इस निज तत्त्वका आश्रय लिया कि सम्यक्त्व हो गया। बस सम्यग्दर्शन हुआ कि वह मुक्तिमार्गका अधिकारी हो गया। और यह चीज चाहिए ही, सो ७ तत्त्वोका वर्णन इस मोक्षशास्त्रमे किया है दूसरे अध्यायसे लेकर। पहले अध्यायमे तो जीवतत्त्वकी जानकारीके क्या उपाय है, इसका वर्णन किया था। अब दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है। जीव क्या है, जीवका तत्त्व क्या है? इसका प्रसग यो है कि पहले अध्यायमे कहा था कि ७ तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसमे प्रथम है जीवतत्त्व। तो जीवतत्त्वकी बात कहनी चाहिए। उसीके वर्णनमे यह पहला सूत्र है—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

जीवके पांच स्वतत्त्व—जीवके स्वतत्त्व ५ है—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। क्या चीज बतायी जा रही है? जीवके निज घटमे अन्दरमे भीतरमे होने वाले परिणामको बताया जा रहा है, शरीरकी बात नही कही जा रही है, कर्मकी बात नही कही जा रही है या धन वैभव आदिक ये तो प्रकट भिन्न हैं, वे जीवके नही है, शरीर भी जीवका स्वतत्त्व नही। जीवमे जो भाव उठते है, परिणाम उत्पन्न होते हैं वे जीवके स्वतत्त्व है। अब उन स्वतत्त्वोमे कुछ परिणाम, कुछ भाव तो शुद्ध है और कुछ अशुद्ध हैं। जिनपर कर्मविपाकका असर है, या कहो कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर जो जीवमे भाव होते है वे तो अशुद्ध है और जो कर्मके हटनेके कारण जीवके भाव होते वे शुद्ध हैं और जिनका कर्मके हटने और न हटनेका कोई सम्बन्ध नही, ऐसा भाव सर्वविशुद्ध कहलाता है। इन ५ भावोमे तीन तरहके भाव आये—सर्वविशुद्ध भाव, शुद्ध भाव और अशुद्ध भाव। जिसको सक्षेपमे यो समझिये सर्वविशुद्ध भाव तो हुआ आत्माका विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीवत्व भाव याने जीवका जो स्वरूप है वह सर्वविशुद्ध भाव है। वह सब जीवोमे एक समान है और जो कर्मके उदयसे हुआ सो औदयिक, कर्मके दबनेसे हुआ सो औपशमिक, कर्मके ध्वससे हुआ सो क्षायिक और कुछ कर्म दबे रहे, कुछ कर्म उदयमे आ रहे ऐसी अवस्था से होना सो क्षायोपशमिक भाव है। तो हम जीव है, हमे अपने आपके अन्दरका पता जरूर रहना चाहिए। अगर नही है हमे अपने आपके अन्दरका पता तो अधकार है और अज्ञान है। उसमे यह जीव कभी सुखी नही रह सकता, इसको सतोष नही मिल सकता।

जीवके स्वतत्त्वोका दृष्टान्तपूर्वक सक्षिप्त विवरण—इस सूत्रमे जीवके जो ५ भेद कहे है उनके दृष्टान्तमे यो समझिये कि जैसे एक शीशोमे तेल भरा है आखिरी छानका जिसमे बहुत कीट आयी, फोक भी आ जाय जिससे कि तेल गदा बन जाय तो इसमे जो गदापन है

वह तो हुई एक औदयिक भाव जैसी स्थिति, किस कर्मके उदयसे आत्मामे कषाय जगती है, इस तरहका समझिये कि उस शीशीमे जो फोकका उदय है, फोक बस रहा है या बाहरका कोई कूडा बस गया है वह तो हुई गदगी (मैल) और वह कूडा दब जाय, जब कुछ दबनेको होता है, जब कुछ दबा है, कुछ नही दबा है ऐसी स्थिति क्षायोपशमिककी है । दब गया कीट, ऊपर तेल बिल्कुल साफ हो गया, यह हुई उपशम जैसी स्थिति और उस तेलको दूसरी शीशी मे निकाल लिया जाय तो वह है क्षायिक जैसी स्थिति । ये चार स्थितियाँ नैमित्तिक स्थितियाँ है । इसी तरह आत्मामे जब कर्म उदयमे आ रहे है क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोका तो यह है औदयिक स्थिति और जिस महाभाग पुरुषके कर्म उपशम जाते हैं, शान्ति हो जाते है वह है औपशमिक स्थिति । जैसे उपशमसम्यक्त्व होता है या बडे मुनिराजका श्रेणीका चारित्र का उपशम हुआ, उपशम श्रेणीमे रहता है । और कुछ कर्म दबे है, कुछ उदयमे आ रहे, यह है क्षायोपशमिक स्थिति । जिसके कारण हम आपको यह जानकारी बन रही है । हम आप की जानकारियाँ शुद्ध नही है और जानना हो ही रहा है तो इसमे ज्ञानावरणके जो सर्वघाती स्पर्धक है उनका है उदयाभाव व उपशम तब हमको यह जानकारी बन रही और देशघाती स्पर्धक है उनका है उदय, जिससे कि जानने पर कट्रोल है कि अधिक न जान सकें, याने हम आपका जो जानना बन रहा है इसमे दो बातें है—एक तो जानने की छुट्टी दी गई और एक जाननेको दबाया गया ऐसा बीचका ज्ञान, यह क्षायोपशमिक ज्ञान है और जब कर्म दूर हो जाते है तो ज्ञान पूरा प्रकट, आनन्दादिक पूरे प्रकट । तो ये सब क्षायिक चीजें हैं और जो जीवका निजी स्वरूप है, जो न कर्मके उदयसे है, न उपशम आदिकसे है ऐसा जो स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव, निरपेक्ष परिणाम । जैसे चैतन्यस्वरूप, भव्यत्वभाव, अभव्यत्वभाव ।

तो इस तरह ये जीवके ५३ भाव है । इन भावोकी जो जानकारी करे, अपनेमे इन परिणामोको देखे उसे एक तो यह श्रद्धान ही दृढ हो जाता कि इस भावके सिवाय मैं और कुछ नही कर सकता दुनियामे । बाहरी पदार्थोंका जो होता है वह मेरे उपादानसे होता है । मैं उसकी परिणति नही करता और फिर अपने आपका पता हो तो जिन भावोसे हटना है हट जायगा, जिन भावोमे लगना है लग जायगा । एक ऐसा प्रकाश मिलता है कि हम अपना मोक्षमार्ग निभा लेंगे । इस तरह इस सूत्रमे ५ भावोका वर्णन चल रहा है ।

जीवके पञ्च स्वतत्त्वोका पुन. स्मरण—जीवका निज भाव क्या है, जीवका स्वतत्त्व भाव क्या है ? वह ५ रूपोमे बताया गया है । प्रथम रूप है औपशमिक भाव । जब कर्मकी शक्ति उदय या उदीरणारूपसे प्रकट नही हो सके याने कर्म उपशमको प्राप्त होते है उस समय जीवके औपशमिक भाव होता है । जैसे कि पानीमे कीचड दब जाय, कीचडका विकार पानीमे न फैल पाये, ऐसी स्थितिको उपशम कहा करते है । उपशममे आत्माके विशुद्ध परिणाम होते

है। क्षायिक भाव किसे कहते है ? क्षय मायने अत्यन्त हट जाना। आत्मासे कर्मका हट जाना। तो कर्मके हट जानेसे जो आत्मामे विशुद्ध परिणाम हुए वे क्षायिक भाव कहलाते हैं, और मिश्र भाव क्या है ? क्षायोपशमिक, क्षय और उपशम दोनो मिश्र जहाँ है ऐसी स्थितिमे जैसे कुछ मलिनताकी शक्ति क्षीण हो गई कुछ चल रही है ऐसी स्थितिको मिश्रभाव कहते है।

जैसे कोदोके दानोको बहुत-बहुत धोनेपर मानो ५० बार धोनेसे उसमे एक मदशक्ति उत्पन्न होती तो कुछ धोया उस समय कुछ मदशक्ति है, कुछ नही है ऐसा क्षायोपशमिक भाव होता है। औदयिक भाव किसे कहते ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके निमित्तवश जो कर्म-फलमे आते है उसका नाम उदय है। उस उदयसे जो भाव बनता है सो औदयिक भाव है। कर्म कैसे फल देता है ? तो जीवने जो पहले कषाय की उस समय जो कर्मबंध हो गया उस कर्ममे प्रकृति भी पडी हुई होती है कि यह कर्म इस प्रकारका फल देगा, यह कर्म जीवके साथ इतने दिनो तक रहेगा, यह कर्म इतनी डिग्रीमे फल देगा और उसके प्रदेश होते ही हैं। तो पहले बांधे हुए कर्म जब अपने अनुभागमे आते हैं, उनका अनुभाग खिलता है उस समय उस कर्ममे बडा एक विचित्र रूप बनता है, और चूंकि उसका प्रतिफलन हुआ आत्मामे सो आत्मा पर एक अधकार छाता है, फोटोसी आती है, प्रतिबिम्ब बनता है, उस समय उस प्रतिफलनको यह जीव मानता है कि यह मेरा काम है। बस यह ही फल देना कहलाता है। पारिणा-मिक भाव कहते है आत्माका निज स्वरूप वही जिसका प्रयोजन है सो पारिणामिक भाव है।

सूत्रमे "औपशमिकक्षायिकौ" इन दोनो नामोको प्रथम कहनेका कारण—यहाँ देखना ५ भावोका कैसा क्रम रखा है औपशमिक याने कर्मके दब जानेसे आत्मामे निर्मलता होना। क्षायिक याने कर्मके नष्ट हो जानेसे आत्मामे विशुद्धि आना, मिश्र याने कुछ कर्म दब गए, कुछ कर्म खिर रहे, कुछ उदयमे है ऐसी स्थितिमे मलिन और कम मलिन परिणाम होना। औद-यिक—कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमे कषाय, विकार, रागद्वेष अधेरा जगे। पारिणा-मिक याने कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा बिना केवल सहज अपने आप भाव हो सो पारिणामिक। यहाँ यह बात देखना है कि ससारी जीवोमे कौनसा भाव अधि-कतर सब जीवोमे पाया जाता। पारिणामिक भाव है और औदयिक भाव है जो कि अन्तमे समास देकर लिखे है। औपशमिक भाव और क्षायिक भाव ये तो भव्य जीवके होते है। जिसके सम्यक्त्व हुआ उसके होता। तो सबसे अधिक भाव मिला ससारी जीवोमे औदयिक और पारिणामिक। तो यहाँ एक आशका हो सकती है कि सूत्रमे पहले औदयिक और पारि-णामिक कहते, क्योकि ये बहुत जीवोमे होते हैं, औपशमिक और क्षायिक तो कम जीवोमे होते है। तो इसका जो क्रम रखा है—औपशमिक क्षायिक, मिश्र, औदयिक, पारिणामिक, ऐसा न कहकर सर्वप्रथम औदयिक और पारिणामिक कहना चाहिए था, क्योकि ये सब जीवोमे

होते है ।

तो इसका उत्तर यह है कि यह ग्रन्थ मोक्षशास्त्र है, मोक्षमार्ग है, मुक्तिका उपाय बताने वाला है और औपशमिक क्षायिक ये मुक्तिके मार्गमे है, इसलिए मुक्तिके प्रसंगवश सर्व-प्रथम औपशमिक क्षायिक कहा गया है। जीवोको एक विश्वास बने, एक प्रेरणा मिले, साहस जगे मोक्षकी बात सुनकर, इसलिए प्रथम औपशमिक और क्षायिक भावका नाम लिया है। उससे एक धर्मविशेषकी प्रसिद्धि होती है। ये औपशमिक भाव, क्षायिक भाव स्वयं धर्म है, इसलिए प्रथम सूत्रमे इन दो भावोको कहा है। सूत्रकर्ता कितने सिद्धान्तके जानने वाले और दर्शनशास्त्रके विद्वान् होते थे, व्याकरणके विषयोके प्रकाण्ड विद्वान् होते थे यह बात सूत्रोकी सूक्ष्म चर्चासे स्पष्ट होती है। अच्छा तो औपशमिक और क्षायिक—ये दो भाव अच्छे है जीवके ।

औपशमिक और क्षायिक इन दोनोमें प्रथम ही औपशमिक नाम रखनेका कारण— अब इसमे भी एक प्रश्न हो सकता है कि इन दोनोमे विशेष उत्तम कौन है, औपशमिक या क्षायिक ? क्षायिक उत्तम है तो सबसे पहले क्षायिक क्यो न लिखा ? तो उत्तर उसका यह है कि यह बात जतानेके लिए औपशमिक पहले कहा है कि जीवका जब उद्धार होनेको होता है तो सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन होता है। तो चूंकि उपशम सम्यग्दर्शनसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है, इसलिए प्रथम औपशमिक नाम दिया है। जो जीव एक अन्तःकोडाकोडी सागर कर्म स्थिति रख रहा है, जिसका अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल शेष रह गया है उस जीवके उपशमसम्यक्त्व हो सकता है। तो सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व होता है, उसके बाद फिर प्रगति होती है। यह बतानेके लिए पहले औपशमिक भावका नाम लिया। दूसरी बात अब अल्पपनेसे नम्बर भी आया—औपशमिक और क्षायिक भाव। इन दोनोमे से सबसे कम जीव किसमे होते हैं ? औपशमिक वाले जीव कम है या क्षायिक वाले ? वैसे तो यह सोचा जा सकता है कि क्षायिक विशेष निर्मल है तो ससारमे क्षायिक भाव वाले जीव कम होगे औप-शमिक भाव वालोसे, लेकिन कारण यह है कि उपशमका काल तो अतर्मुहूर्त है और क्षायिक का काल ३३ सागर तक है ससार-अवस्थामे तो ३३ सागर काल तक क्षायिक भाव वाले जीव जुडते जा रहे है तो उनकी सख्या अधिक हो गई। और औपशमिक भाव थोडी देरको हुआ, अन्तर्मुहूर्तको हुआ, बादमे उपशम नही रहता। तो इस कारणसे इन जीवोकी सख्या विशेष नही है तो चूकि अल्प है सख्या, काल अल्प है इस वजहसे और उस कालमे इकट्ठे होने वाले जीव भी कम हैं तो अल्पताके नातेसे भी औपशमिकका नाम पहले लिया। औपश-मिकसे विशेष निरखना है क्षायिक भावमे, अतः औपशमिकके बाद क्षायिक भावका नाम लिया और क्षायिक भाव वाले जीव औपशमिक भाव वाले जीवोसे विशेष ज्यादा है। इस तरहसे

यह सगत बनाया कि ५ नामोमे पहले तो औपशमिकका नाम लिया, इसके बाद क्षायिकका नाम लिया।

पांच भावोके नामोमे क्षायोपशमिक आदि भावोको औपशमिक व क्षायिकभावके बाद रखनेका कारण—अब तीसरे नम्बरपर क्षायोपशमिक क्यो कहा ? तो अब जीवोके परिमाण का नम्बर आया। क्षायोपशमिक भाव वाले जीव औपशमिक और क्षायिक भावसे ज्यादा है असख्यातगुणे है, इस कारण मिश्रका तीसरा नम्बर दिया है। इसके बाद औदयिक भाव कहा है क्योकि औदयिक भाव वाले जीव इनसे अनन्तगुणे है और उसके पश्चात् पारिणामिक भाव दिया। अब सूत्र यह बना—औपशमिक क्षायिक मिश्रऔदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व है। यहाँ एक बात और ध्यानमे देनी है कि आचार्य महाराज कितने रहस्यके वेत्ता थे कि उनकी सूत्र-रचनामे कई तथ्य प्रकट होते है। यदि इस क्रममे कहे गए को इस तरह रखा जाय कि एक रेडक्रास (+) चिन्ह बनाया जाय और उसमे औपशमिक और क्षायिक ये एक ऊर्द्ध ऊर्द्ध वाली लाइनमे ऊपर नीचे रख दिया जाय और वे औदयिक और पारिणामिक तिरछी रेखाओके ओर छोरमे रख दिया जाय और मिश्रको बीचमे रखा तो उसमे यह सीधी बात समझमे आयगी कि इस रेखा वाले भाव तो सम्यग्दृष्टिके होते, ज्ञानीके होते, मोक्षमार्गीके होते। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक और सामने रेखा वाले भाव औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये सब जीवोमे होते। एक यह विशेषता इस सूत्र रचनासे प्रकट होती है।

पाच भावोके नामोके साथ एकवचनमे स्वतत्त्व शब्द कहनेका प्रयोजन—अब यहाँ एक जिज्ञासा और हो सकती है कि इस सूत्रमे जब ५ भाव कहे है तो ५ तो बहुत हो गए ना ? तो स्वतत्त्व एकवचनमे न कहकर इसे बहुवचनमे कहना था। ये ५ जीवके स्वतत्त्व हैं, ऐसा न कहकर क्या कहा ? ये ५ जीवके स्वतत्त्व है—यो एकवचनमे कहा। तो एक वचनमे क्यो कहा ? बहुवचन बोलना चाहिए, क्योकि भाव ५ हैं और वे स्वतत्त्व हैं। तो स्वतत्त्वानि ऐसा बहुवचन बोलना चाहिये था। इसका समाधान यह है कि यहाँ भावरूप वचन है और ऐसा आपको कई सूत्रोमे मिलेगा। प्रथम सूत्रमे दिखाया—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग, इसमे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि बहुवचन है और मोक्षमार्ग एकवचन है। तो अर्थ क्या होगा ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। यह अर्थ न लेना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग है, बहुवचन न आयगा, क्योकि मोक्ष-मार्ग भावरूप है, एक है और साथ ही अलग-अलग मोक्षमार्ग नही है कि एक सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग होगा, सम्यग्ज्ञान भी हो, सम्यक्चारित्र भी हो, इन तीनोकी एकता मोक्षमार्ग है, इसी तरह कहा है—जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरा मोक्षा. तत्त्व। ये तो ७ हैं। यह तत्त्व

एकवचन है मायने जिस तत्त्वका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है उस तत्त्वकी जानकारी ७ रूपोमे है। तत्त्व एक है तथा इन सातोमे अन्तरमे रहने वाला तत्त्व एक ज्ञायक भाव है। यहाँ भाववाची शब्द होनेसे एकवचनमें तत्त्व शब्द दिया है, ऐसे ही स्वतत्त्वम् भी भाव-वाची होनेसे एकवचनमे आया, क्योकि भाव एक है। जीवका भाव है। फिर इसी पर प्रश्न हो सकता है कि ५ भावोके प्रभाव तो जुदे-जुदे है। औपशमिक भावसे कुछ विशुद्धि हुई। क्षायिक भावसे अधिक विशुद्धि हुई। क्षायोपशमिक भावसे मिलमा विशुद्धि हुई और औदयिक भावसे मलिनता। पारिणामिक भाव सत्त्वरूपमे ही है तो जब इनका फल न्यारा न्यारा है तो एकता कहाँ रही ? फिर स्वतत्त्व एकवचन क्यो कहा ? तो उत्तर इसका यह है कि यद्यपि इन जीवोके फल न्यारे-न्यारे तो है लेकिन है, ये आत्माके भाव। आत्मभाव है, एक परि-णाम है, इस कारणसे यहाँ बहुवचनमे नही लिया है और ऐसा बोलते ही हैं—गायें धन है, जिसके पास अधिक गायें हो तो कहते है ना व्यवहारमे कि इसके पास गायधन है। तो गाय ही धन है ऐसा व्यवहारमे बोलते है तो वहाँ गाय बहुवचन बोला और धन एकवचन बोला गया। भावोकी एकतामे इस प्रकार प्रयोग होता। सर्वप्रथम तो यह जीवका स्वतत्त्व है।

विकाररूप औदयिक भावको जीवका स्वतत्त्व कहनेका अर्थ—यहाँ एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि जो औदयिक भाव है वह जीवका स्वतत्त्व कैसे ? जीवके स्वरूपसे क्या मलिनता होती है ? औदयिक भावमे तो कषाय ग्रहण किया, विकार ग्रहण किया। यह तो मलिनता है, इस जीवका तत्त्व कैसे हो सकता ? उत्तर—यह तत्त्व सहज भाव है, ऐसा न जानना एक जीवका परिचय करा रहा है दूसरे अध्यायमे। तो जीवकी औदयिक व स्वाभा-विक आदि सभी तरहकी बातें कही जायेंगी। तब तो जीवके विषयमे परिचय मिलेगा कि जीव कैसा है ? तो औदयिक भाव यद्यपि मलिन भाव है और कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है, मगर परिणति जीवकी ही है, वह पुद्गलकी परिणति नही है। पुद्गल उदयमे आया, कर्म उदयमे आया, उसकी झाँकी आत्मामे पडी। अब यह जीव उसे अपना मान लेता है। और ज्ञानमे विकल्प करने लगा। तो यह जो विकल्प उठा है यह पुद्गलकी परिणति नही है। जैसे दर्पणके आगे पिछी रख दिया तो पिछीमे जितने ३-४ रग है, ऐसा ही रगीन चित्रण दर्पणमे आ गया। तो दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब आया पिछीका तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणके स्व-भावसे तो आया नही यह बात तो ठीक है, वह तो निमित्तभूत पिछीका सन्निधान पाकर आया। सो भले ही निमित्त सन्निधानमे हो, पर दर्पणमे जो फोटो है, प्रतिबिम्ब है वह दर्पण की परिणति है, पिछीकी परिणति नही है, हुआ पिछीका निमित्त पाकर।

जैसे सूर्यप्रकाशके उजेलेमे हाथ आड़े कर दिया तो नीचे छाया आ गई। तो यह

छाया हाथका सन्निधान पाकर आयी, इतनी बात तो ठीक है, मगर वह छाया हाथकी परिणति नही, इस जमीनकी परिणति है जहां कि छाया हो रही। ऐसे ही कर्म उदयमे आते है और उनका सन्निधान पाकर जीवमे सुख दुःख रागद्वेष ये बातें उत्पन्न होती है। हुई नैमित्तिक लेकिन ये परिणतियां जीवकी हैं, यह बतानेके लिए औदयिक भावको स्वतत्त्व कहा, अन्यथा अनेक दार्शनिक ऐसे है जो जीवमे विकार ही नही मानते। एक ब्रह्म है, अविकारी है, उसमे विकारका नाम नही। विकार तो प्रकृतिका धर्म है। तो ऐसे जीवको विकाररहित मानने वाले अनेक लोग है, पर ऐसा माननेमे काम न चलेगा। अगर जीव विकाररहित है तो मोक्षके लिए उद्यम क्यो करना? जब मुझमे विकार नही, ऐब नही, क्लेश नही तो फिर मुक्तिके लिए उद्यम क्यो किया जा रहा? जिसके फोडा-फुसी नही वह मलहम-पट्टी करता है क्या? अगर कोई मलहम-पट्टी करे भी बिना फोडेके तो लोग उसे उन्मत्त कहेंगे। तो ऐसे ही जब जीवमे विकार ही नही तो फिर धर्मध्यान क्यो, ज्ञानार्जन क्यो? तो मुक्तिका प्रयास क्यो किया जाता है? इससे मानो कि जीवमे विकार है और वह जीवका स्वतत्त्व है दूसरे पदार्थका नही। तो यहां औदयिकको स्वतत्त्वके मानें याने परपदार्थका निमित्त पाकर हुआ है विकार, लेकिन विकार परिणमन किसका है? जीवका है, इसलिए जीवका स्वतत्त्व कहा गया। यहाँ तत्त्वके मायने शुद्ध भावमे नही, किन्तु जो जीवका गुण हो, भाव हो, स्वभाव हो, विकार हो, कुछ भी हो, जो जीवका परिणाम है उसको स्वतत्त्व कहा।

जीवके स्वतत्त्वोकी सही पहिचानका प्रभाव—सूत्रमे औपशमिक आदि ५ नाम रखे गए और स्वतत्त्व एकवचनमे रखा गया है। जिससे यह सिद्ध होता कि सबके साथ स्वतत्त्व लगाओ। औपशमिक स्वतत्त्व है, क्षायिक स्वतत्त्व है, मिश्र जीवका स्वतत्त्व है, औदयिक जीवका स्वतत्त्व है, पारिणामिक जीवका स्वतत्त्व है, याने जीवका धन क्या, वैभव क्या, समृद्धि क्या? कहाँ रहता है, कैसे रहता है? इन सब बातोका उत्तर इस भावमे आ जाता है, जो अपने भावोमे रहता है। जीवका सर्वस्व भाव ही है। जीवका जो कुछ प्रयोजन बनता भला बुरा वह अपने भावसे बनता। इस तरह यह जीव भाव भावका स्वामी है, अन्य पदार्थका स्वामी नही, अधिकारी नही। इस जीवपर सबसे बडी विपत्ति है मोह छानेकी। यह मोही जीव अनुभव नही करता ऐसा कि इस मनुष्यजीवनका एक-एक क्षण बडे महत्त्वका है। उसे तो मोहमे ही चतुराई और अपना बडप्पन विदित होता है। लेकिन यह मोह, यह तो जीवके लिए कलक है, आनदका बाधक है, विकासका बाधक है। तो सबसे बडी विपत्ति है इस जीव पर अज्ञानकी। किसीके पास काफी धन हो, परिवार हो, लौकिक सुख-सामग्री हो, किन्तु खुद का ज्ञान नही कि मैं खुद क्या हू, तो वह तो एक दयापात्र है, क्योकि वह शान्ति कभी पा ही नही सकता। सम्यक्त्व हुए बिना शान्तिका वास्तविक अधिकारी कोई नही हो सकता। चीजें

है, मौज मान रहा, बग्घियोमे चले, मोटरमे चले, पहरेदार रहे, आज्ञाकारी नौकर रहे, ये सब कुछ होनेपर भी उस जीवको चैन नही है। कहाँ उपयोग लगाये तो उसे शान्ति मिले ? बाह्य पदार्थोमे उसे श्रद्धा है, बाह्य सयोगसे ही अपना महत्त्व मानता है तो वह अपनेमे ठहरेगा कैसे ? यो कहो कि अज्ञानी धनसम्पन्न भी हो तो भी वह गरीब है, और आत्मस्वभावका परिचय कर लेने वाला ज्ञानी चाहे खोम्चा फेरकर जीवन निर्वाह करता हो अथवा भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करता हो, फिर भी वह गम्भीर है, क्योकि आत्माका धन कुछ भी बाहर नही है जिससे कि लेखा लगे कि यह इतना धनसम्पन्न है। बाहरी पदार्थोसे धनिकता नही कही जा सकती। तब फिर सम्पन्न कैसे है यह जीव ? जिसने अपने स्वरूपका परिचय पाया, जगतके बाह्य पदार्थोका परिचय पाया, जिसके सहज ही बाह्य पदार्थोके प्रति उपेक्षाका भाव जगा, ऐसा पुरुष ही सतोषका अधिकारी होता है। अब सूत्रमे इतनी बात सिद्ध हुई कि जीवके निजी भाव ये ५ है।

अब यहां एक प्रश्न और होता सूत्ररचना देखकर कि जब ५ भाव है जीवके तो लगातार ५ नाम ले लेना चाहिए था। इसे कहते है द्वन्द्व समास। यो कहते कि औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक—ये जीवके भाव है, पर सूत्रमे ऐसा नही कहा। क्या कहा सूत्रमे कि औपशमिक, क्षायिक—ये दो भेद है और मिश्र भी। और औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व हैं। यहाँ हम (प्रवक्ता) सूत्रका सही हिन्दी अनुवाद कर रहे। सुननेमे बडा अटपटासा लगता होगा। औपशमिक और क्षायिक– ये दो भाव है और मिश्र भी और औदयिक, पारिणामिक भी जीवके स्वतत्त्व है। यहाँ ऐसा लगता होगा कि क्या आचार्य महाराज भूल-भूलकर भूल रहे ? पहले तो उन्होने बताया कि जीवके दो भाव है—(१) औपशमिक और (२) क्षायिक और फिर कहा कि और मिश्र भी, फिर कहा कि और औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व है। तो ऐसा रुक-रुककर क्यो कहा ? क्या कहते हुएमें भूल गए और उसे सोचकर फिर कहा ? तो ऐसी बात नही है। वहाँ ऐसी विभक्ति दी, ऐसा पद बनाया, ऐसा बीचमे तत्त्व दिया कि जिससे बोलनेमे तीन टुकडे हो गए और इस तरह हो गए कि मानो आचार्य महाराजको भी पूरी खबर न थी। पहले दो भेद कहा, फिर ध्यानमे आया होगा सो मिश्र कहा और फिर ध्यानमे आया होगा सो औदयिक और पारिणामिक कहा। मगर यह आशका ठीक नही।

आचार्य महाराज आगे क्या कहेगे, वह सब उनके हृदयमे वर्तमानमे भी रहता है। ऐसे तीन तरहके टुकडा देकर बतानेका प्रयोजन यह है। अगर एक साथ ५ कह देते तो मिश्र का कुछ अर्थ न लगता। न जाने क्या अर्थ लगता ? मिश्र मायने मिलवाँ। अब काहेसे मिला है वह मिश्र ? पुद्गलसे मिला हुआ है या इन ५ भावोमे अटपट किसीसे मिला हुआ है, इसका

निर्णय नही होता। और जब अलग दिया औपशमिक, क्षायिक भाव और मिश्र तो अलग देने से यह अर्थ निकला कि जो हमने पहले बोला उसका मिश्र है। अगर एक धारामे कह देते ५ भाव तो मिश्रका यह अर्थ खिलता नही। न जाने काहेका मिश्र बनता है ? इस कारणमे ये दो टुकडे रखने पडे—औपशमिकक्षायिको और मिश्रः। जब ये दो टुकडे अलग रखना आवश्यक हुआ तो बाकी फिर तीसरी बारमे कहने पडे कि औदयिकपारिणामिकौ औदयिक और पारिणामिक। यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जीवका निजी धन क्या है ? जीव कहाँ बसता है ? जीव क्या करता रहता है, क्या भोगता रहता है ? जीवकी दुनिया कितनी है, इसकी यह चर्चा है। जीवके ये ५ भाव हैं। भले ही उदयसे हुआ मलिन भाव है, फिर भी परिणाम जीवका है, ये ५ जीवके परिणाम है, इस तरह इस सूत्रमे कहा गया है। अब सूत्र रचना पर ही देखते जाइये कि सूत्रकारने कितना व्याकरणके नियमोके अनुकूल सूत्र बनाया।

मिश्रके बजाय सीधा क्षायोपशमिक शब्द न कहने और मिश्र शब्दको मध्य मे कहने का कारण—अब एक आशका हो सकती कि जिसमे दिमाग परेशान हो कि मिश्र न जाने किसका ? तो उससे तो अच्छा यह था कि मिश्र नाम न देकर क्षायोपशमिक नाम ही दे देते—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। मिश्र शब्द क्यो दिया ? तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरणके नियम ऐसे होते है कि शब्द कमसे कम रखना चाहिए। मिश्रमे तो दो ही शब्द आये और क्षायोपशमिकमे तीन शब्द और बढकर ५ हो जाते है और वैयाकरण लोग सूत्ररचना करते समय कही एक अक्षर कम हो जानेकी रचना बन जाय तो उनको बहुत प्रसन्नता होती है।

जैसे गृहस्थको पुत्रोत्पत्तिसे खुशी होती है, ऐसे ही सूत्रकार सक्षिप्त शब्द-रचना बन जानेसे खुशी मानता है। तो यहाँ गौरव हो जाता, सूत्र बढ जाता, सख्या ज्यादा हो जाती शब्दकी, इस कारण मिश्र शब्द दिया है। जिसका अर्थ तो क्षयोपशम है, मगर यह तो बुद्धिमानोके लिए ग्रन्थरचना होती है और उसका भाव बुद्धिमान बताते है, पीछे सर्वसाधारणमे बात फैल जाती है, मगर शुरूवात बुद्धिमानोसे होती है। वे अपने आप जान जायें कि औपशमिक, क्षायिक भाव अलगसे कह कर उसके बाद मिश्र कहनेसे उन्ही दोनोका मिश्र आ गया। तो सूत्रमे ५ भाव बने— औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक। इन पाँचोके बीचमे मिश्र क्यो दिया ? तो बीचोबीच मिश्र देनेका अर्थ है कि यह मिश्र शब्द पूर्व अर्थात् दोनोमे अपेक्षित है। याने मिश्र भाव भव्योके भी होता, अभव्योंके भी होता, मोक्षगामियोके भी होता और ससारमे रुलने वालोके भी होता। मिश्र तो अनेक प्रकारके है। जो सम्यक्त्वसहित है वह मोक्षमार्गी है और जो सम्यक्त्वरहित है वह ससारी जीव है। तो मिश्र शब्दको बीचमे कहनेसे यह ध्वनित होता कि मिश्रभाव ऐसा व्यापक है कि १२ वें गुणस्थान

सक तो ज्ञानियोके रहता है और अभव्य हो, मिथ्यादृष्टि हो, सभीके मिश्रभाव चलता है ।

"जीवस्य" शब्दके कहनेकी आवश्यकता एवं पञ्च भावोके विषयमें अपना ईक्षण—ये ५ तत्त्व किसके है ? जीवके । कोई पुद्गलके न समझ ले, इसलिए 'जीवस्य' स्वय एक शब्द डालना पडा, क्योकि उसके बिना कुछ अर्थ नही बनता । अगर 'जीवस्य' शब्द इस सूत्र मे न रखते तो अर्थ होता औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक — ये स्वतत्त्व हैं, अपने तत्त्व है । अब किसके अपने तत्त्व है ? कोई पुद्गलका कह देंगे, और ऐसा दार्शनिकोने किया भी है । तो ये ५ भाव जीवके है अन्यके नही, ऐसा प्रसिद्ध करनेके लिए सूत्रमे 'जीवस्य' शब्द कहा । इस तरह हम आप इस वक्त भी क्या लिए हुए है ? क्या अपने पास वैभव है, वह सब परिचय इन ५ भावोके परिचयमे मिलेगा । हम आप सबके इस समय क्षायिक भाव तो है नही, क्योकि क्षायिक भावमे बहुत पहले होने वाला भाव क्षायिक सम्यक्त्व है । तो जिस जीवके क्षायिक सम्यक्त्व हुआ वह कलिकालमे, पञ्चमकालमे जन्म काहेको लेगा ? तो हम आपके क्षायिक भाव इस समय बिल्कुल नही है, किन्तु होते तो है किसीके । यह तो सब जीवोकी बात कही जा रही है कि जीवके ये ५ प्रकारके भाव है । इस वर्णनसे एक बात यह बनती है कि मैं बहुत सीधा सहज स्वरूप लिए हुए हू । हममे यह आफत कहाँसे आ गई ? जब मेरे स्वरूपमे विडम्बना नही, विपत्ति नही, मलिनता नही तो यह मलिनता आ कैसे गई ?

समाधान—निमित्तनैमित्तिक योग और उपादानकी शक्ति, इसकी समझसे इस शका का हल हो जाता है । जीवकी ऐसी कला है कि वह ऐसे कर्मविपाकका सन्निधान पाकर अपने मे ऐसा विकल्प बना लेता है । हम आप विकल्पसे बरबाद हो रहे है । कम धन है इससे जीवका कोई नुकसान नहीं । सुविधायें कम है, इससे जीवका कोई नुक्सान नही । लोकमे निंदक ज्यादा है इससे जीवका कोई नुक्सान नही । दुनियामे प्रशसा नही मिल पा रही, इससे जीवका कोई नुक्सान नही, ये सब बाह्य तत्त्व है । मैं तो अपने सहज भावरूप हू, पारिणामिक भावरूप हू, स्वभावकी ही चर्चा जहाँ है, निरखन जहा है वह है स्वाभाविक चीज । तो ऐसा न रहकर यह जो विकट जाल बन रहा है मुझमे, बस यह ही मुझको बरबाद करने वाला है । और दूसरा कोई जीव मेरा बिगाड नही कर सकता । तो जब अपनेमे चोर घुसा है, अपने अन्तरङ्गमे जब शत्रु भिडा है तो उसकेमुकाबलेमे तो हम केवल एक ज्ञानभावनासे कर सकते हैं । तो अपनेमे ज्ञानभावना भायें कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हू । मेरेमे किसी परका सम्बध नही । मैं अपने आप सहज आनन्दस्वरूप हू, यह बोध होता है जीवके तत्त्वोकी छटनी करने से । ऐसे ये ५ जीवके स्वतत्त्व है ।

द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टिसे समझे गये स्वतत्त्वोके त्याग अत्यागका परिचय—प्रकरण यह चल रहा है कि जीवके स्वतत्त्व क्या हैं ? औपशमिक, क्षायिक, क्षायोप-

शमिक, औदयिक और पारिणामिक, ऐसे ५ तत्त्व सुनकर एक शकाकार यह कह सकता है कि यह बताओ कि औपशमिक आदिक भाव इस आत्मासे छूटते है या कभी नही छूटते ? याने इन भावोका परित्याग होता है या नही ? दो बातें रखी जीवके साथ। औपशमिक आदिक भाव सदा रहते हैं या छूट जाते है ? अगर छूट जायें तो जीवका स्वभाव छूट गया, स्वतत्त्व छूट गया। तो जीव कुछ न रहेगा, और कहो कि नही छूटता, औपशमिक आदिक जीवके स्वतत्त्व हैं और सदा रहते है तो सदा जीवके साथ रहेगे तो मोक्ष नही हो सकता। औपशमिक, क्षायोपशमिक आदिक बने रहे तो फिर वे भगवान क्या मुक्त है ? वे तो ससारी हैं। तो ये ५ तत्त्व है, छूटते है तो जीव नही रहता। नही छूटते हैं तो मोक्ष नही बनता। तब फिर यह स्वतत्त्व क्या कला है, कैसे होते है ? तो उत्तर इसका यह है कि इस विषयमे अनेकान्तकी विधि जाननी पडेगी। द्रव्यार्थिककी दृष्टिसे पारिणामिक भाव अनादि अनन्त भाव है, वह नही छूटता। शुद्ध पारिणामिक जीवत्व भाव, चैतन्यस्वरूप स्वभावका परित्याग नही होता। और पर्यायार्थिकनयसे बताये गए औपशमिक औदयिक आदिक भावोका त्याग हो जाता है, तो उत्तर यह मिलेगा कि कथञ्चित् स्वभावका (स्वतत्त्वका) त्याग होता है कथञ्चित् नही होता। द्रव्यदृष्टिसे पारिणामिक स्वतत्त्व है, औपशमिक आदिक स्वतत्त्व है। उनका त्याग नही होता। पर्यायार्थिक दृष्टिसे औपशमिक आदिक भाव है और वे पर्याय रूप है, औपशमिक हैं, उनका त्याग हो गया तो कही यह न समझना कि स्वभावका त्याग हो गया तो जीव न रहा। यह स्वभाव नही, यह स्वतत्त्व है। स्वभाव तो एक जीवत्व चैतन्यभाव है, उसका त्याग नही होता।

जैसे कोई पूछे कि बताओ अग्निका स्वभाव है गर्मी। अग्निका स्वभाव छूट जाय तो अग्निका अभाव हो गया और स्वभाव न छूटे ऐसा कभी देखा नही जाता, अग्नि बुझ जाती तो वहाँ एक यह ही समझना कि अग्नि कोई द्रव्य नही है, द्रव्यदृष्टिसे तो पुद्गल स्कध है, वह कोई पर्यायमे आया है। गर्मी मिट जाय तो कही स्कधका विनाश नही होता। तो ऐसे औपशमिक आदिक भाव मिट गए, क्षायिक भाव रह गया, पारिणामिक तो रहेगा ही, जीवका अभाव नही होता और मोक्षकी बात इस स्वतत्त्वके त्यागसे मोक्ष होता और स्वतत्त्वका त्याग न होनेसे मोक्ष होता, ऐसी कोई प्रतिज्ञा नही की, कोई सिद्धांत नही बनाया। सिद्धात तो यह है कि जीव अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करे, आलम्बन ले तो चूकि ज्ञानमे सहज ज्ञानस्वरूप ही समा गया वहाँ निर्विकल्प समाधि बनती है और वह मोक्षका मार्ग बनता है।

शुद्ध पारिणामिक भावकी दृष्टिकी श्रेयस्करताका प्रकाश—जो जीवके ५ तत्त्व कहे गए हैं वे आत्माके भाव है, इम कारण स्वतत्त्व है। उनमे यह छाट करनी होगी कि अनादि अनन्त सहज स्वतत्त्व क्या है और औदयिक स्वतत्त्व क्या है ? जो औदयिक स्वतत्त्व है उसका

विनाश होनेपर ही आत्माका विनाश नही होता। जो सहज स्वभावतत्त्व है उसका कभी त्याग होता ही नही । ससार अवस्थामे भी है और मुक्त अवस्थामे भी है चैतन्यभाव । जैसे एक लौकिक उदाहरण ले लो——चक्षुका स्वभाव क्या है ? रूपकी उपलब्धि कर लेना, याने चक्षुके व्यापारसे रूपका ज्ञान होता है काला पीला वगैरा । तो चक्षु रूपकी उपलब्धिका स्वभाव रखता है और किसी समय ये चक्षु रूपको न देखें और ध्यान दूसरी ओर हो अथवा कर लें तो अगर चक्षुरूपको नही जान रहा, नही देख रहा याने चक्षुका उपयोग रूपकी उपलब्धिके लिए नही किया जा रहा तो क्या चक्षु नष्ट हो गयी ? नष्ट तो नही हुई अथवा और दृष्टान्त लो । जैसे चक्षु क्या है ? एक नामकर्मकी रचना, और उसका काम क्या है ,उपयोग क्या है कि उसके साधनसे रूपका ज्ञान कर लेना । तो अब जहाँ क्षयोपशमका अभाव हो जाता, क्षायिक केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो क्षायिक केवलज्ञान होनेपर क्या, रूपका ज्ञान रहता है ? क्षायोपशमिक भाव नही रहता तो क्या नेत्र भी मिट गया ? भगवानके केवल नेत्र रहते है । चक्षु है, द्रव्येन्द्रिय है तो स्वभावका त्याग नही किया क्या ? यह प्रश्न न रखें, किन्तु सहज स्वभाव है, उसका त्याग नही होता । स्वभाव शब्दमे यह अर्थ पडा है—स्वका भाव मायने होना । अब स्वका होना औपशमिक भी है और सहज भी होता है । तो जो सहज स्वभाव है उसका तो त्याग नही होता । जो औपशमिक आत्मामे परिणमन है उसका त्याग होता है । है ये सब जीवके ही भाव, ये पुद्गलमे नही होते है । औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र, क्षायिक ज्ञान जो भी इन ५३ भावोमे कहा ये अजीवके नही है, जीवके ही है । इसी कारण सूत्रमे जीवस्य शब्द डाला । ये ५ स्वतत्त्व जीवके है । अब सक्षेपमे तो बता दिया, जीवका धन, जीवका वैभव, जीवका सर्वस्व, जीवमे होने वाली बात ये ५ हैं । अब उन ५ को और विशेष समझनेके लिए इनके भेद भी कहने चाहिएँ, ऐसा एक प्रसग पाकर 'सूत्रकार सूत्रमे भावोके भेद कहते है ।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा. यथाक्रमम् ॥२॥

पञ्च जीवतत्त्वोके भेदोका निर्देश—अर्थ इसका यह है कि जैसा क्रम भावोका बताया गया है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, उसके अनुसार इनके भेद समझना । औपशमिकके भेद, क्षायिकके ६ भेद, क्षायोपशमिकके १८ भेद, औदयिकके २१ भेद और पारिणामिकके ३ भेद । व्याकरणके अनुसार क्या अर्थ होता है ? यहां जो शब्द दिया है द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा । यहां भेदके साथ बहुव्रीहि समास है, ये है भेद जिनके । पहले द्वन्द्व समास है, फिर बहुव्रीहि समास है । इन पाच भावोके क्रमसे २ + ६ + १८ + २१ + ३ = ५३ भेद होते है । उनसे विभक्ति बदलकर कहा तो औपशमिक आदिक भावके क्रमसे ५ भेद है । और इसी भेद शब्दको सबके साथ लगा सकते । औपशमिकके दो

भेद, क्षायिकके ६ भेद, क्षायोपशमिकके १८ भेद, औदयिकके २१ भेद और पारिणामिकके ३ भेद। ये भाव हैं क्या? कर्मके दबनेसे आत्मामे जो निर्मलता जगती है वह औपशमिक। ऐसे औपशमिक भाव दो प्रकारके होते हैं जिनका आगे वर्णन होना है। कर्मके हट जानेसे जो आत्मामें निर्मलता जगती है वह कहलाता है क्षायिक भाव। उसके ६ भेद कहेंगे। कुछ कर्म हट रहे, कुछ कर्म दब गए, कुछ उदयमे आ रहे, ऐसी स्थितिमे आत्मामे जो एक मिश्र दशा होती है, कुछ मलिनता, कुछ विकास उसे कहते है क्षायोपशमिक परिणाम। उसके १८ भेद हैं। जहाँ कर्मका उदय है याने कर्ममे एक आवरण उत्पन्न हो रहा। जैसे उपाधिससर्गमे विकार उत्पन्न होने लगते हैं, उसमें एक तामससी बात आ रही है तो उसका निमित्त पाकर जीवमे भी उस प्रकारका परिणाम हो रहा, यह कहलाता औदयिक भाव, इसके २१ भेद हैं। और जीवमें जीवके साथ सहज ही जो चल रहा याने कर्मकी कोई अपेक्षा नही उसे कहते हैं पारिणामिक भाव ये ३ भेद वाले हैं। यों भावोंके ये भेद बताये जा रहे हैं तो सर्वप्रथम औप-शमिक भावके दो भेद कौन हैं, यह बता रहे हैं।

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक भावको प्रथम उपादेयताके प्रयोजनसे अपने आपका अपनेमें कुछ निरी-क्षण—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भेद औपशमिक भावके हैं। सम्यक्त्वके मायने सहीपन, समीचीनता याने दोष न रहे तो अपने आप वस्तु सही बन जाती है। आत्मामे सबसे बडा दोष है मिथ्या अभिप्राय। यह आशय बसना कि यह शरीर मेरा है, वैभव मेरा है, परिवार मेरा है, और ये किसके होगे? इस प्रकारका परपदार्थोंके प्रति अह-पनेका भाव, ममका भाव जो बस रहा है वह सबसे बडा दोष है, सबसे महान पाप है। जो और पाप कहे गए हैं उन पापोका भी सिरताज है यह अज्ञानभाव, क्योकि यहाँ तो मूलमे ही पलट खा गया। कुछ इसको होश ही नही। एक अज्ञानसे ऐसा मतवाला हुआ, ऐसा बेहोश हो रहा है कि उसे सही भान कुछ नही होता। यहाँके पदार्थोंमे कोई जान ले कि यह पुस्तक है, घड़ी है, लालटेन है तो ऐसा सही जाननेसे कही सही बात न समझना। यह तो लौकिक बात है, पर आत्मा और अनात्मा, मैं क्या हू और जो मैं नही हू वह क्या है, इन दो बातो का यथार्थ ज्ञान हो तो उसे कहते हैं होश। अपनी ही सुध न हो तो उसे होश कैसे कहा जायगा? मैं क्या हूं, इसकी ही खबर नही तो उसे होश नही कह सकते। भले ही लोग प्रयोग तो करते हैं—मैं आता हू, मैं खाता हू, मैं जाता हू, मैं बोलता हू, मैंने किया, मैं कर दूगा, यो मैं का प्रयोग तो लोग किया करते हैं, पर वह मैं वास्तवमे क्या हू, इसका भाव नही है। वह शरीरको ही मैं मान रहा। जो यह शरीर है, बस इसीको लक्ष्यमे लेकर कहते हैं कि मैं कर दूंगा, मैं करता हू, मैंने किया। पर यह शरीर मैं होता तो क्या मैं मिट जाने

वाला हूं ? क्या मैं ऐसा हूं जो मिटेगा ? कोई भी पदार्थ मिट जाने वाला नही है । शरीर भी नही मिटता, पर शरीरकी शक्ल मिट जाती है । शरीर जल गया, राख हो गयी तो कुछ तो रहा । राख बनकर छोटे-छोटे स्कंधोमे बंट गई, पर सत्त्व तो रहा । जो पदार्थ है उसका कभी नाश नही होता, जो नही है उसका कभी सद्भाव नही होता । तो मैं हू, मेरा कभी अभाव नही है, मैं कभी मिटूंगा नही । तो जो मै नही मिटता वह मैं क्या हू, इसको स्पष्ट खबर नही । जिसको स्पष्ट खबर होती है उसकी दृष्टिमे सर्व जगतसे निराला केवल ज्ञानज्योति-मात्र अतस्तत्त्व उसके उपयोगमे स्पष्ट रहता है । मैं यह हू—संसारके जीव किस बातसे दुःखी है ? अपने स्वरूपका परिचय नही है, इस कारण उपयोग कहाँ टिके ? कहाँ लगे ? बाह्य पदार्थोंमे उपयोग लगता है तो पार नही पड़ सकता, क्योकि वह बाह्य पदार्थ है, मेरा उसपर अधिकार नही, और मैं उसके बारेमे सोचता हूं, तो यह विकल्प इस जीवको दुःखी कर रहा है सब जीवोको दु ख है तो अपने स्वरूपका भान नही, इसका दुःख है । सारे जीवनभर उद्यम करना है तो बस एक सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरणका उद्यम करना है, क्योकि वैभव की तो यह बात हैं कि जो वैभव आज पाया है, इससे कई गुना वैभव अनेक भवोमे मिला, मिलता ही है ।

जो समागम आज पाया है वह समागम कोई मेरे अधिकारकी चीज नही । इससे भी अच्छे-अच्छे समागम अनेक बार मिले, और समागम भी क्या, कोई किसी दिशासे आया, कोई किसी गतिसे भ्रमण करता हुआ आया, उसके साथ कर्म लगे, कर्मसे वह प्रेरित है, तो एक जगह सयोग हो गया, उसमे मेरा क्या लगता ? यह तो अपने-अपने भीतरी अनुभवसे नापें कि मेरेमे कितना मोह बसा है । यह समझमे आ पा रहा कि नही कि जगत का कोई भी जीव, कोई भी अणु मेरा कुछ नही । मेरा स्वरूप परिपूर्ण है, अपने प्रदेशमे मै परिसमाप्त हू । मुझमे ही मैं हू । मुझमे मेरा काम होता है । मुझमे मेरा अनुभव चलता है । जो कुछ भी बीतता है मेरा मेरे पर बीतता है ।

मेरा अन्य किसीसे कोई सम्बन्ध नही । तो क्या कभी परिवारके लोगोको या धन वैभवको इस तरहसे भी देख पाते हैं कि जैसे दूसरे लोगोको देखते हैं ? पड़ौसी, विदेशी, पर-देशीको देखकर जैसे उसमे आत्मीयताका लगाव नही होता कि यह मेरा है—यह भाव नही बनता, क्या इस तरहसे परिजनोको हम देख सकते हैं ? सदा न देखें, पर कभी निगाहमे तो ऐसा आना ही चाहिए कि जो सब है, जो चेतन अचेतनका समागम है वह सब मुझसे निराला है । उससे मेरा कुछ मतलब नही, मैं अपना ही मात्र जिम्मेदार हू, मैं किसी दूसरेका जुम्मा ले ही नही सकता । इस तरह सबसे निराला अपने आपको तक सका यह जीव या नही, यह बात अपने आपमे सोचनी है । तो जीवपर सबसे बड़ा पहाड़ है विपदाका तो अज्ञान

है और देखो इस अज्ञानका विनाश पैसेसे नही होता। दूसरे की दयासे नही होता। भले ही सत्सग है, उपदेश है, सद्वचन है, ये निमित्त होते है, मगर सोचना खुदको ही पडेगा। निर्णय खुदको ही करना पडेगा कि मेरा मात्र मै हू, मेरा अन्य कुछ नही, ऐसा दृष्टिमे आये तो समझो कि वह हमारा नया दिन है। जैसे नया साल लगता है तो पहले दिनको कहते हैं नवीन दिवस। ऐसे तो कालके नये दिवस अनन्त व्यतीत हो गए, पर मेरा नया दिन तो वह है जिस क्षण मेरेको सबसे निराले निज सहज ज्ञानस्वरूपका बोध हो। यह मैं हू, अन्य कुछ मैं नही, ऐसा बोध किए बिना पूरा न पड सकेगा, ससारमे रुलते रहेगे। तो ऐसा बोध हो उसे कहते है एक समीचीनता।

औपशमिक भावके दो भावोमे प्रथम भाव औपशमिक सम्यक्त्व—औपशमिक भावके दो भेद बताये जा रहे है। प्रथम नाम है औपशमिक सम्यक्त्व, दूसरा नाम है औपशमिक चारित्र। देखिये जीवकी और कौन-कौनसी हालते हो रही उनमे कुछ बिगाड नही। जीव मान लो आज ५ फिटमे फैला है, मान लो ३ फिटमे ही रहता या ६ फिटमे फैलता या और बडा फैलता तो इससे जीवको क्या हानि लाभ था ? कोई हानि लाभ नही। जीवको मानो जितना ज्ञान है उससे कम होता या उससे ज्यादा होता तो उससे जीवका क्या लाभ है ? तो जीवकी जो और और दशायें हो रही हैं उससे लाभ हानि नही, किन्तु श्रद्धा और चारित्र अगर बिगडा हो तो नुक्सान है और सही हो तो लाभ है। आत्माका उत्थान श्रद्धा और ज्ञान पर आधारित है। सही विश्वास हो और सही जगह उपयोग लगे इससे आत्माका उद्धार है। अगर ये दो बातें नही है तो और बाहरी बातें चाहे कितनी ही हो जायें तो वह आत्माके उद्धारकी बात नही। तो दो काम है—श्रद्धा सही होना और आचरण सही होना। श्रद्धा सही हो उसका नाम है सम्यग्दर्शन। जहाँ कर्मोंके उपशमसे सम्यक्त्व हो तो औपशमिक सम्यक्त्व।

जीवगुणविराधक कर्मोंका संक्षिप्त परिचय—कर्म क्या चीज है ? जीवसे विरुद्ध जीवके प्रतिकूल कोई एक सूक्ष्म ऐसा अणु पिण्ड है कि जो जीवके घातमे या घातकके सहकारी होनेमे निमित्त बनता है। तो ससारमे सब जगह सब जीवोके साथ उम्मीदवार कार्माण वर्गणायें अनन्त पडी हुई हैं। जैसे ही जीवके कषायभाव जगा कि वे पडी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। वे कर्म ८ प्रकारके होते है याने जीवके ८ अनुजीवी, प्रतिजीवी गुणो का घात होनेसे ८ प्रकारके कर्म है। जीवका काम था कि सारे लोकको जान लेना। जब जीवमे ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका स्वभाव जानना है तो फिर यह ज्ञान क्यो थोडी जगहको जानता ? उसे तो सारा लोक और अलोक ज्ञानमे आना चाहिए, तो ऐसी ज्ञानमे सामर्थ्य है, उस ज्ञानको जिसने दबाया, जिस कर्मका निमित्त पाकर ज्ञान प्रकट नही हो पाता उसका नाम

है ज्ञानावरण। ऐसा ही आत्मा समग्र वस्तुके सामान्य प्रतिभासको कर देता है इसका नाम है दर्शन। तो दर्शन भी जो एक केन्द्रित बन गया, इतना विकसित नही है, कुछको ही हम निरख पाते, लख पाते तो ऐसी जो दर्शनकी स्थिति कमजोर बनी है यह जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनी है, बस उसका नाम है दर्शनावरण याने कर्म बनते है, जब ही हम खोटा भाव करते हैं तो नियमसे कर्मबधन होता है। यहाँ रोक सकने वाला कोई नही है। तो जो कर्म बँधा सो वे कर्म तुरन्त ८ रूप प्रकृति बन जाती है। कोई स्कंध जीवके ज्ञानको न होने दे वह ज्ञानावरण, कोई स्कध जीवके दर्शनको न होने दे वह है दर्शनावरण, कोई स्कंध जीवके स्वरूपका भान न होने दे, आत्मस्वरूपमे न लगने दे वह है मोहनीयकर्म। जो आत्माके अनन्त बलको प्रकट न होने दे वह अन्तरायकर्म। इस अमूर्त आत्मामे चूकि खुदका सब कुछ है, इसलिए यह स्वतःसिद्ध बात है कि वह समग्र सत्को जानता और निराकुल रहता है, ऐसा वीर्य प्रकट नही हो पा रहा। यह जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता उसका नाम है अन्तराय।

जीवगुणघातसहायक कर्मोंका परिचय—चार कर्म तो जीवके गुणोका घात करनेमे निमित्त है, और इसके साथ कुछ कर्म और लगे है चार, जो जीवके घातके लायक बाह्य-सामग्री बना दें। जैसे शरीर बन गया तो कोई यह अच्छी बात तो नही हुई, मुझ आत्माके लिये तो यह कलक है जो शरीर मिला हुआ है। मोही जीव इस कलकमे ही खुश हो रहे निरख-निरखकर, मैं सुखी हू, दुःखी हू, निर्बल हू, बलवान हू, सम्पन्न हू, इसीको देखकर सुख मानते हैं, यह तो इस आत्माके लिए कलक है। तो यह शरीर जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनता है उसका नाम है नामकर्म। तो देखो यह शरीर दुःखका कारण बन रहा ना? तो दुःखके इस कारणको जो रचना करे, उसमे निमित्त हो उसे कहते है नामकर्म। इसी तरह कोई जीव उच्च गोत्रमे है, कोई नीच कुलमे है मनुष्योमे, तो उच्च कुल और नीच कुल होना यह जीवके लिए कलक है। उच्च कुल पाकर भी जीवको क्या लाभ और नीच कुल पाकर भी जीवको क्या लाभ-हानि? पर है। उच्च कुलको पाकर जो एक चित्तमे घमड, मद, गर्व हो जाता है वह जीवके घातमे निमित्त बन रहा। उससे इस जीवकी बरबादी ही हुई। नीच कुल मिला तो एक कायरता रहती है कि मैं नीच हू, छोटा हू, तो उससे भी नुक्सान हुआ। और कुल कोई न रहा, न ऊँच न नीच, केवल जीवका जो चैतन्यस्वरूप है बस उसका विकास भर रहे। ऊँच-नीचका व्यवहार परमात्मामे नही, सिद्धभगवतमे नही, वहाँ सबका एक समान स्वरूप है वहाँ आकुलता नही। तो यह जो दुःखका साधन बन गया उच्च कुल, नीच कुल, यह भी कर्मके उदयसे हुआ ना? ऐसी प्रकृति जिस स्कध कर्ममे हुई उसका नाम है गोत्रकर्म। इन्द्रिय द्वारा कुछ सुख दुःखका अनुभव चलता है और उसके योग्य समागम मिलता है यह भी जीवके लिए भली बात नही, पर ऐसा जिस कर्मके उदय होनेपर होता है वह है वेदनीय

कर्म। जीव शरीरमे फस गया, शरीरमें बस गया, जब तक रहे तब तक। जब निकलता है तो किसी अन्य शरीरमें अपना निवास बना लेता है। तो ऐसा जो शरीरमे बध जाता है, फस जाता है, सो ज्ञानी जीव जानता है कि यह अच्छी बात नही, यह कलक है। जीवका भला तब है कि जब यह किसी शरीरमे ही न बँधे, शरीरमे ही न फसे, शरीर ही न मिले, शरीरसे निराला रहे, पर ऐसी स्थिति जब नही होती और शरीरमे बसना पडता है तो वह भली बात नही। इसका कारण है आयुकर्म। सो ये चार अघातिया कर्म हैं। इन ८ कर्मोंमे फिर और प्रभेद चलते हैं। जैसे ज्ञानावरण ५ आदिक। तो ऐसे ही नामकर्ममे इतने भेद प्रभेद है कि जिनके उदयका निमित्त पाकर नाना शरीरोकी रचना होती है।

कुछ लोग तो यह मानते हैं कि शरीर तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे मिलकर बनता है, और शरीर ही क्या, जीव भी बन गया। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवको कोई ईश्वर पैदा करता है, ईश्वर ही जहाँ चाहे भटकाता है, ले जाता है आदिक अनेक कल्पनायें होती हैं। यह शरीर बन कैसे गया ? जब समझमे नही आती कोई बात कि शरीर बनाया किसने, कहाँ बैठकर बनाया, कौनसी चीज जोडा, क्या ढग बना कि शरीर बन गया ? जब समझमे नही आता तो एक उत्तर ढूंढ निकाला कि यह तो ईश्वरकी लीला है। इसी प्रकार और और भी अनेक चित्तमे कल्पनायें जगती है, पर यहाँ यह बतला रहे हैं आचार्यदेव कि शरीरकी जो नाना रचनायें होती है तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि उस-उस प्रकारके नामकर्मका उदय होनेपर स्वय होता रहता है। अब देखिये—कितनी विचित्रता ? एक फूल है, उसमे कितने रग हैं ? एक पेडमे पीले फूल भी होते, लाल भी होते, कितने ही रग हैं, कितनी ही चीजें हैं और उसकी कैसी रचना है, मनुष्यमे, तिर्यञ्चमे सभी जीवोमे किस प्रकार से शरीर बनता है, कितने ढग हैं, कितने प्रकार हैं ? तो जितने भेद कर लो उतने ही प्रकारके नामकर्म होते हैं।

मोहनीयकर्मके अनुभागोदयके निमित्तसे होने वाले भावोंके शमन होनेका निमित्त मोहनीय प्रकृतियोका उपशम—घातिया कर्मोंमे प्रधान एक मोहनीयकर्म है जिसको इस प्रसग मे कहना है। मोहनीयकर्मके २८ भेद होते है। किसीका काम है कि आत्माकी सुध न लेने देना। कोई कर्म इसमे निमित्त है कि आत्मामे क्रोध जग जाय, मान जगे, माया जगे, लोभ जगे, आत्मा अपनेमे न ठहर सके, आत्माका उपयोग बाह्य पदार्थोंमे रहे, ऐसा जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है उसका नाम है मोहनीयकर्म।

यहाँ यह भी आशका हो सकती कि कोई कहते कि शरीरको, जीवको ईश्वरने बनाया और कोई कहते कि इस शरीरको कर्मने बनाया, मगर शरीरको न ईश्वरने बनाया, न कर्मने, किन्तु ऐसा ही सहज मेल है कि अनेक पदार्थ मिल जायें, कर्मका इस प्रकारका उदय आये

तो शरीरवर्गणायें ऐसे पिण्डरूप हो जायें, एक निमित्तनैमित्तिक योग है। जैसे दृष्टान्तमें देखो कि हाथकी छाया जमीनपर पडी। हाथ कोई २० हाथ दूर है, पर जमीनपर छाया पडी, तो यह बतलाओ कि उस छायाको किसने बनाया ? हाथने बनाया या और किसीने बनाया ? तो निमित्तदृष्टिसे तो यह देखनेमे आयगा कि हाथने बनायी छाया, मगर हाथकी कोई चीज पृथ्वीमे नही गई, छायामे नही गई। हाथ १० हाथ दूर ही रहा, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि हाथका सन्निधान पाये तो वहाँ छायारूप परिणमन हो जाय। ईश्वर करता है— इसका तथ्य समझो। स्तुतिमे भी कहते है कि प्रभु तुम पतित पावन हो, तुम मेरा उद्धार करना, तुमने अनन्त जीवोका उद्धार किया। सो यह एक स्तवन है, उसमे तथ्य है। भगवान किस प्रकार करने वाले होते है ? भगवानके स्वरूपको देखा, प्रभु भगवान एक शुद्ध ज्ञान-ज्योति है, अनन्त आनन्दके पुञ्ज है, बहुत पावन आत्मा हैं, जिनके स्वरूपका ध्यान करने मात्रसे इस जीवके ऐसा विशिष्ट पुण्यबंध होता है कि जिसके उदयमे मनचाहा सब कुछ सुख मिलता है।

तो इस प्रकार एक व्यवहार बना कि ईश्वर जीवको सुख दुःख करता है, वह व्यवहार कैसे बना ? कोई जीव ईश्वरसे विमुख है, उसकी भक्ति नही करते, विषयोमे लगे हैं तो वे अपने आप कर्मोदयवश दुःख पायेंगे। तो चूंकि भगवानकी सुध न रखी, इसलिए दुःख पा रहे तो इसे उपचार भाषामे कहा जायगा कि भगवानने दुःख दिया। भगवानके स्वरूपको देखा, वह पावन ज्योति, वह ज्ञानस्वरूप अनन्त विकास, अनन्त शक्तिमान आत्माको जब इस भक्तने अपने ध्यानमे लिया तो ऐसा विशुद्ध भाव जगा कि कर्मरूप हुआ, और इतनी बडी समृद्धि प्राप्त हुई। तो उपचारमे यह कहा जायगा कि भगवानने यह किया। कुछ सम्बन्ध तो है, भगवानसे जो विमुख होगा वह दुःख पायगा और जो भगवानका भक्त बनेगा वह सुख पायगा, मगर सुख दुःख भगवान देने नही आते। ऐसा नियोग है कि भगवानकी भक्ति करे तो अपने आप सुख पायगा, भगवानसे विमुख हो तो अपने आप दुःख पायगा। तो यो भगवान हमारे सुख दुःखके निमित्त बनते हैं ध्यानभावसे और आत्मा स्वयमेव कर्मोदयका निमित्त पाकर नाना प्रकारके सुख दुःख पाता है। तो यो कर्मबन्धन जीवके साथ है। उसमे यह बतावेंगे कि मोहनीय कर्मकी यह प्रकृति है कि जिसके उदयका निमित्त पाकर जीवको सुध और बेसुधी होती है।

औपशमिक सम्यक्त्वरूप अपूर्व क्षण—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ऐसे दो भेद औपशमिक भावके है। तो यहाँ यह बात चल रही थी कि कर्मोंकी प्रकृतियां १४८ है। ज्ञानावरणकी ५, जो ज्ञानका घात करती है अर्थात् ज्ञानावरणका उदय होनेपर जीव ज्ञानका विकास नही कर पाता। दर्शनावरणका उदय होनेपर जीव दर्शनका विकास

नही कर पाता । ये ६ प्रकृतियाँ है । वेदनीयके उदय होनेपर जीव इन्द्रिय द्वारा सुख और दु.ख का अनुभव करता है । मोहनीयका उदय होनेपर जीव श्रद्धाहीन बनता है अथवा खोटे चारित्र मे लगता है । आयुका उदय होनेपर जीव शरीरमे स्थित रहता है । नामकर्मका उदय होनेपर शरीरकी रचना, शरीरके निर्माण सम्बन्धी बातें होती है । गोत्रकर्मका उदय होनेपर ऊँच और नीच कुलमे उत्पन्न होता है । अन्तरायका उदय होनेपर जीव दान, लाभ, भोग उपभोगमे विघ्न पाता है । तो प्रसग है मोहियोका । मोहनीयकी २८ प्रकृतिया है । ३ दर्शनमोह और २५ चारित्रमोह । दर्शनमोहकी ३—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति । मिथ्यात्व का उदय होनेपर जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है । पहले गुणस्थानमे रहता है । सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होनेपर तीसरा गुणस्थान होता है । मिल-मिल अथवा मिथ्या श्रद्धा होती है याने कुछ सम्यक्त्वरूप भाव और कुछ मिथ्यात्वरूप भाव होता है । और सम्यक्प्रकृतिका उदय होनेपर सम्यक्त्वमे मलिनता दोष लगता है, जिसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है और चारित्रमोहनीयकी २५ प्रकृतियाँ है, जिनमे चार अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोके दो स्वभाव है—(१) चारित्रमे बाधा देना और (२) सम्यक्त्वमे बाधा देना । तो सम्यक्त्वघातक प्रकृतियाँ ७ है—अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति । तो इन ७ प्रकृतियोका उपशम हो याने ये दब जायें। सत्ताका नाश तो नही है, किन्तु इनका अनुभाग उत्पात न हो सके, ऐसी स्थिति बने तो उपशम सम्यक्त्व निर्दोष सम्यक्त्व है, और उपशमसम्यक्त्वका काल कम है और ऐसी स्थितियाँ समझिये कि जैसे एक राजाने अपने शत्रुको दबा रखा तो वह शत्रु बाधा तो कुछ नही कर रहा और एक राजाने अपने शत्रुका वश ही मिटा दिया तो उसको भी शत्रुसे कोई बाधा तो नही आ रही । तो वर्तमानमे बाधा न आनेकी अपेक्षा दोनो राजा बराबर है, मगर जिस राजाने शत्रु को दबा रखा है उसके ऊपर कुछ ही काल बाद उपद्रव आयगा । तो यह जीव ससारमे राग-द्वेष मोहवश, विषयोकी प्रीतिवश ससारमे भ्रमण करता चला आया । इसको जब उद्धार होने को है तो सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है । यहाँसे इसका भविष्य बदल जाता है । यह मोक्षमार्गमे लगे । अब इसकी वृत्ति मोक्षमार्गकी ओर है ।

मोक्षमार्गी भव्यजीवोकी दृष्टि—जो जीव मोक्षमार्गी हैं, सम्यग्दृष्टि है, पहली पदवीमे हैं उनकी दृष्टि दो ओर अधिक रहती है—(१) सिद्धभगवान और (२) आत्मस्वभाव । दो ही शरण हैं । सिद्धप्रभुका ध्यान शरण है और आत्मस्वरूपकी उपासना शरण है । इन दो को छोडकर कोई तीसरा सहारा नहीं है । हाँ परमेष्ठी सहारा है, सिद्ध सहारे है तो उस ही के पोषक है ये । भिन्न उद्देश्य नही है साधु सगका या पूजन आदिकका । तो उपशमसम्यक्त्व कब होता है उसके लिए बताया है कि जब जीवका अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहे, जब

उपशम सम्यक्त्वके योग्य होता है, अथवा यो कह लीजिए कि इस जीवको जब भी उपशम सम्यक्त्व होता है तो उसके अनुसार उस समय अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनसे अधिक नही रहता। उसका काल छिद जाता है तो इसीको कहते है काललब्धि। जब समय होता तो काम बनता तो इसीको कहते हैं, जब काम बनता तब समय आता। बात तो दोनो एक साथ है। मगर कहनेकी पद्धति दो रूपमे है। जब समय आयगा तब काम बनेगा तो कोई यो कहते है और जब काम बनेगा वही तो समय है उसका, इस ओरसे ऐसा भी कह सकते है। तो ऐसी काल-लब्धि जिन जीवोको प्राप्त होती है वे उपशम सम्यक्त्वके योग्य होते है।

अब थोडे समयको अपने आपके बारेमे निर्णय करना है तो यह देखो कि हमारी रुचि किस ओर रहती है अन्दरमे ? क्या सिद्धप्रभुकी उपासनाकी ओर, आत्मस्वरूपकी सुधकी ओर कभी दृष्टि रहती है या नही ? अगर रहती है तो समझो कि जीवन सफल है और इन दो को छोडकर और कही दृष्टि लगती है तो बस जीवन अधेरेमे है। यह एक अपनी माप है और जीवनमें ऐसा निर्णय रखना चाहिए, क्योकि धन जुड गया बहुत तो उससे क्या पूरा पडता ? कुटुम्बमे बडा अच्छा लडका है खूब समझदार पढा लिखा,, कुछ भी हो गया तो वहाँ इस आत्माका कौनसा पूरा पडता ? लोकमे कोई नामवरी यश कीर्ति हो गई जो बिल्कुल मिथ्या बात है। कुछ स्वार्थी जीवोंके द्वारा कुछ गुण गा दिए जाते हैं। गुण तो क्या गाये जाते हैं, स्वार्थवश कोई कुछ कह देते है तो यह बात कोई सारभूत है क्या ? माया रूप है। उससे इस आत्माका क्या पूरा पडेगा ? तो आत्मस्वरूपकी ओर अपना उपयोग रहे तो बस इस उपासनासे अपना काम बनेगा। तो उपशम सम्यक्त्व होता है तो उसका अर्द्ध-पुद्गल परिवर्तनकालसे कम समय रहता है।

उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होनेका योग्य समय—दूसरी बात यह जाने कि यह जीव उपशम सम्यक्त्वके काबिल कैसी स्थितिमे होता है ? तो पहिले यह समझिये कि जीवके साथ कर्म बधे चले आ रहे है और वे बहुत समय तकके लिए बँधे हैं। ७० कोडाकोडी सागर तकके लिए बँधे है। अब समझ लीजिए एक कोडाकोडी सागर कितना ? एक करोड सागर मे एक करोड सागरका गुणा करने पर जो लब्ध आये उसे कहते है एक कोडाकोडी सागर, और सागर कितना ? १० कोडाकोडी अद्धापल्यका एक सागर, और अद्धापल्य कितना ? असख्याते उद्धारपल्योका एक अद्धापल्य। उद्धारपल्य कितना ? असंख्याते व्यवहारपल्योका एक उद्धारपल्य होता है। व्यवहारपल्य कितना ? उपमा कीजिए कोई दो हजार कोशका लम्बा चौडा गड्ढा है और उसमे उत्तम भोगभूमिके मेढेके रोम मानो कतरनीसे बहुत छोटे छोटे टुकडे काटकर, जिनका कि दूसरा भाग न हो सके, उन्हे, उस गड्ढेमे ठसाठस भर दिया जाय और उसपर खूब हाथी फिरा दिया जाय ताकि वह गड्ढा ठसाठस भर जाय। अब

प्रत्येक १०० वर्षके बाद उसमे से एक टुकडा निकाले। तो उन सभी टुकड़ोंके निकालनेमे जितना समय लगे उतने समयका नाम है एक व्यवहारपल्य। अब समझ लो कि जब एक व्यवहारपल्यका इतना लम्बा समय होता है तो फिर सागरके समयकी तो बात ही क्या ? इतनी स्थितिके कर्म बधे तो जब कुछ विशुद्ध परिणाम हुए और कुछ कर्मबन्ध कम स्थिति का हुआ। जिस समय एक कोडाकोडी सागरका ही कर्मबन्ध हो, सत्त्व हो और सत्तामे रहने वाले कर्म उससे भी संख्याते सागर कम स्थितिके रह जायें, बध भी रह जाय कम, उस वक्तमे जीव उपशम सम्यक्त्व पानेके काबिल होता है। जब अधिक स्थिति हो तब जीव उपशम सम्यक्त्वके योग्य नही।

उपशम सम्यक्त्वके उत्पादक जीवका कुछ परिचय—उपशम सम्यक्त्व क्या है ? एक जीवके उत्थानका प्रारम्भिक अवसर है। जैसे सालका पहला दिन नया दिन कहलाता इसी प्रकार मोक्षमार्गका नया दिन है। उसके पश्चात् यदि जीवका सम्यक्त्व भी छूट जाय, मिथ्यात्वमे आ जाय तो भी एक बार उपशम सम्यक्त्व पानेसे जो ससार छेद डाला याने कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल रह गया तो इसके भीतर अवश्य सम्यक्त्व पायगा, फिर चारित्र पायगा, मुक्ति पायगा। कौनसा जीव उपशम सम्यक्त्व पा सकता है ? पञ्चेन्द्रिय जीव ही उपशम सम्यक्त्व पा सकता है, चार इन्द्रिय तक नहीं। उनके मन ही नही है, क्या चिंतन करें, क्या विचार बनायें ? पञ्चेन्द्रियमे भी सज्ञी होना चाहिए, असज्ञी नही, और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही जो कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व पाते हे। उपशम सम्यक्त्व दो स्थानोपर होता है। एक तो मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके हो, उसको कहते है प्रथमोपशम। दूसरा कोई सम्यग्दृष्टि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनि, जो श्रेणीपर चढनेके लिए चलता है। ८वे गुणस्थानमे चढेगा तो क्षयोपशम सम्यक्त्व एक निर्बल सम्यक्त्व है, क्योकि वहाँ सम्यक्प्रकृतिका उदय है तो इस सम्यक्त्वसे श्रेणीपर न चढ सकेगा तो उसे या तो क्षायक सम्यक्त्व करना होता है या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व याने इस समय जो उपशम सम्यक्त्व कहता है उसका नाम है द्वितीयोपशम।

यहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी बात कही जा रही है। पञ्चेन्द्रिय हो, भव्य हो, मिथ्यादृष्टि हो, पर्याप्तक हो, विशुद्ध परिणाम वाला हो वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। जीव मोक्षमार्गके प्रसगमे सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्वको करता है। फिर जब-जब भी जोव मिथ्यादृष्टि बने सम्यक्त्व पानेके बाद, और जब-जब उपशम सम्यक्त्व पाये तो उसका नाम प्रथमोपशम सम्यक्त्व है, मगर यह तो पहली बार उपशम सम्यक्त्व कहा जा रहा है। उत्पन्न हो गया, प्रथमोपशम कैसे हुआ ? क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि पाकर जीव करणलब्धिमे आता है, उस समय पहले तो उन प्रकृतियोका अन्तर

करता है । जो ७ प्रकृतियाँ है, जिनके उदयसे जीवके मिथ्या भाव होते वहाँ अन्तर करते है याने जिस समयमे सम्यक्त्व होगा उस समयमे उस स्थितिकी कोई प्रकृति न होगी इन ७ मे से तो अन्तरके मायने यह हैं कि जैसे कोई ज्ञानी वकील है, जिसको धर्ममे प्रीति है, दसलक्षणके दिनोंमे वह कचहरी नही जाना चाहता तो वह क्या करेगा कि सावनके महीनेसे वह अपनी तारीखोको कुछ सावनमे लगवा देगा, कुछ असौजमे । ऐसी तैयारी बनती है, तो जब दस-लक्षणके दिनोकी जितनी तारीखें टालनी थी वे सबकी सब आगे पीछे हो गई, दसलक्षणके दिनोमें न रही तो वह पर्वके दिनोमे आनन्दसे धर्मसाधना करता, उसको कोई शल्य नही होती । ऐसे ही जिस अन्तर्मुहूर्तमे उपशम सम्यक्त्व होगा उस अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति बदलकर कुछ पहले डल जाता, कुछ बादमे डल जाता । जब यह समय आता है, सम्यक्त्व होता है उस समय कोई सम्यक्त्वघातक कर्म नही रहता उस स्थितिमे । सम्यग्दर्शन होते समय दबी हुई जो मिथ्यात्वप्रकृति है उसके ३ टुकडे हो जाते है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीवमे २८ प्रकृ-तियोकी सत्ता नही होती, २६ की ही रहती है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिका बंध नही होता, टुकडे हो गए । अब टुकडे होकर भी दबे है । अब उसके बाद चाहे क्षयोपशम सम्यक्त्व हो, चाहे सम्यक्त्व नष्ट हो जाय, ऐसी कोई भी स्थिति आ सकती है ।

जीवका प्रथम अपूर्व क्षण उपशमसम्यक्त्वप्रकाश—यह उपशमसम्यक्त्व क्या है ? एक दृष्टि हो गई अपने सहजस्वभावकी । जैसे कोई पुरुष शामके समय अपने घर जा रहा है । घर मानो चार मील दूर है । सध्याके बाद काली घटा घिर गई, रात हुई तो वह एक गली भूल गया और एक जगलमे पहुंच गया । बडी घबडाहट, कितना घनघोर जगल ? कैसे पार पायेंगे ? पता नही बचेंगे या मरेंगे, ऐसी शका रखते हुए वह घबडा रहा था । कुछ थोडा विवेक आया कि घबडानेसे काम न चलेगा, देखो अब आगे जाना बद कर दें, क्योकि पता नही कितना आगे और फस जायेंगे । वह एक जगह रुक गया, रात्रिका सन्नाटा, पडा है एक पहाडीके ऊपर, घबडा रहा है । जानवर जतु जहाँ बहुत विचर रहे हैं, पर क्या करे ? एक साहस बनाकर बैठ गया । इतनेमे मेघमे एक बिजली चमकी, थोडा उजेला हुआ और इतनेसे उजेलेमे उसने सडक देख लिया—अरे वह सडक जा रही, उससे हमे जाना है, बस बिजली तो समाप्त हो गई, मगर एक बार वह सडक दिख जानेसे अब उसको घबड़ाहट नही रही । वह समझ गया कि सवेरा होगा तो इस रास्तेसे चलेंगे, सडकपर पहुचकर अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुच जायेंगे । ऐसे ही अविवेकी व्यामोही पुरुष इस ससाररूपी विकट वनमे भटक गया, मोहमे भटका हुआ है । तो जब कुछ थोडा जिसे विवेक होता है, जिसका होनहार ठीक है वह थोडा सोचता है—रुक जावो, विषयोमे मत बढ़े जावो, कुछ आत्मकल्याणकी बात करो, स्वाध्याय करो, सत्सग करो, विश्रामसे बैठो, विषय कषायोपर कुछ कट्रोल रखो । इस तरह

वह रह रहा है। इतनेमे एक उदशमसम्यक्त्वकी बिजली जैसा प्रकाश जगा। उस प्रकाशमे उसने आनन्दधाम निज परमात्मस्वरूपका दर्शन कर लिया, उस समय इसको एक अलौकिक आनन्द मिला। उस आनन्दके बाद वह बिजली तो उपशमसम्यक्त्व तो विघट गया लेकिन अब भी घबडाहट नही। कुछ सुध तो है, अनुभव तो जग चुका था, अनुभव नही जग पा रहा भले ही सदा, पर जानता तो है कि इस रास्तेसे मैं जाऊँगा। तो उपशमसम्यक्त्व एक ऐसा प्रकाश है कि जिस प्रकाशमे यह जीव अपनी सब घबडाहट आकुलताको दूर कर देता है। यह प्रकाश चाहिए हम आपको। यह प्रकाश कब पाया जा सकता ? जब यह समझ लें कि सत्य वैभव तो यह प्रकाश है, बाकी धन वैभव ये सब जीर्ण तृणवत् असार हैं। इनमे रहकर कोई सुखी थोडे ही रहेगा। धन बढा तो सुख नही, धन घटा तो सुख नही, सग मिला तो सुख नही, सगका वियोग हुआ तो सुख नही। सुखका उपाय बाहरी वस्तुका मिलना नही है। अपने आपको सबसे निराला सहज ज्ञानमात्र अनुभव कर लेना सुख शान्तिका उपाय है। अपने आपको अकेला निरखें, सिद्धप्रभुका ध्यान रखें, उनकी तरह यह आत्मस्वरूप है, ऐसी भावना रखे—सबसे निराला, मेरेको कोई काम नही पडा, कुछ भी जहाँ घबडाहट नही, स्वरूप दिख रहा, यह हू मैं, मेरेको करनेको कुछ नही पडा, मैं हू और परिणमता हू। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको एक ऐसी अचूक औषधि मिली, अमृतका पान किया कि वह अपनेको अमर अनुभव करता है। तो यह उपशमसम्यक्त्व इस जीवके उद्धारकी एक प्रारम्भिक सीढी है। सो इसकी उत्पत्ति उपादानकी दृष्टिसे तो अपने विशुद्ध भावोकी मलिनताके बलपर है, पर क्यो नही पहले हो गई, क्यो नही सबको हो जाती ? तो समझना चाहिए कि कोई उपाधिके दूर होनेका निमित्त भी चाहिए। वह उपाधि है ये ७ प्रकृतियाँ, इनका उपशम होता है तो जीवको सम्यक्त्व जगता है। यह हुआ अतरग निमित्त।

नरकगतिमे सम्यक्त्वोत्पत्तिके बहिरग साधन—बहिरग निमित्त क्या मिलता है ? तो जैसे नरकोमे बहिरग कारण हैं, कोई जातिस्मरण करके सम्यक्त्व कर लेता है। स्मरण होता—अहो मैंने पहले कैसे-कैसे पाप किया, कैसा मोह किया, कैसा किसी जीवमे विकट मोह कर डाला, उसे ही अपना सर्वस्व मानता रहा। उसका फैसला यह है कि आज नरकमे क्लेश सहना पड रहा है। हो जाय जातिस्मरण तो वह भी इस जीवको मोक्षमार्गमे लगानेका कारण बन जाता है। उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। कोई धर्मचर्चा सुनकर सम्यक्त्व पाते है। कोई देव आते है ऊपरसे तीसरे नरक तक धर्म सुनाते है और धर्म सुन करके वे सम्यक्त्व पा लेते हैं, कोई वेदनासे अविभूत होकर सम्यक्त्व पा लेते है। कहते हैं ना। 'दुःखमे सब सुमिरन करें, सुखमे करे न कोय,' जब तेज वेदना होती है तो रागद्वेष मोहीकी बात फिर नही रहती, दूसरेकी अपनी पडती है और उस समयमे कुछ ज्ञान जगे तो उसका एक रूपक

बदल जाता है और वेदना क्या मिली, एक बोध मिल गया। जैसे एक मरणका बहुत बडा सकट जीव मानता है। जब मरण होता है तो यह जीव बडा विह्वल होता है, मगर मरणके समयमे दो किस्मकी बातें होती है, अगर मोह है तो उसकी दुर्गति है और उसे इन सब बातो से उदासी आ जाय तो बडे विशुद्ध परिणाम होते है। थोडी भी बुद्धि हो, थोडा भी विवेक हो उसे यह अवसर बडा भला है कि उसे किसीमे मोह नही रहता। मरणहार पुरुष कई ऐसे देखे गए कि जिनको किसी से मोह नही रहता। क्यो मोह नही रहता कि उनके सामने नक्शा आया हुआ है कि यह सब तो छूटने ही वाला है, छूट ही रहा है। यह मेरेको कुछ बचा नही सकता, यह तो प्रकट भिन्न है, तो इस ओर ऐसी लगन होती है कि उसके मोह बिल्कुल नही रहता। बल्कि दर्शक लोग आश्चर्य करते कि इतना अधिक मोह रखने वाला व्यक्ति अब मरने समय किसीको ओर नही देखता, किसीसे नही बोलता। तो मरण एक ऐसी विकट स्थिति है कि जिसमे बुद्धि ठिकाने आती है कि किसी भी दूसरे पदार्थसे मोह करने मे लाभ कुछ नही है। तो ऐसे ही समझिये कि जब कठिन वेदना होती है नरकोमे तो ऐसी वेदना उसकी बुद्धिको स्वच्छ बनानेका कारण बन सकती है। तो बहिरंग कारण तीसरे नरक तक यह है कि कोई जातिस्मरण करके बोध पाते, कोई धर्मश्रवण करके बोध पाते और कोई वेदनासे पीडित होता, अविभूत होकर बोध प्राप्त कर लेते है। तीसरे नरकसे नीचेके जो और चार नरक है उन चार नरकोमे धर्मश्रवणका मौका तो नही मिलता, वे जातिस्मरण और वेदना—अविभवसे सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकते है। वहाँ बहिरग ये दो कारण पडे हुए है।

तिर्यञ्च और मनुष्योंमे सम्यक्त्वोत्पत्तिके बहिरग साधन—तिर्यञ्चोमे पर्याप्तक तिर्यंच ही सम्यक्त्व उत्पन्न करते है और वे जन्मके ४, ५, ६, ७, ८ दिनके बाद ही सम्यक्त्व पैदा कर सकते है। ३ दिनसे लेकर ९ दिन तकको पृथक्त्वदिवस कहते है। जन्म लेनेके पृथक्त्व-दिवसके बाद वे सम्यक्त्व पैदा कर सकते है जब कि मनुष्य जन्म लेनेसे ८ वर्ष बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। जिसकी जैसी छोटी उम्र है, जिसका शरीर जल्दी सम्हल जाता है तो वह जल्दी सम्यक्त्व उत्पन्न करनेका पात्र हो जाता है। जैसे ये गायके बछडे तो एक दिनमे ही खडे हो जाते हैं, तीन-चार दिन बाद वे उछलने-कूदने लगते हैं और मनुष्योके बच्चोको देखो—वे तो कोई दो वर्षके बाद खडे हो पाते है। तो ऐसी स्थितियोसे अदाज बना लो कि तिर्यञ्च जन्मके बाद कुछ ही दिनोमे प्रथमोपशम सम्यक्त्वको पा सकते है, सो इन तिर्यञ्चो को अन्तरग कारण तो ७ प्रकृतियोका उपशम तो सबके लिए ही है, बहिरग कारणमे कोई तिर्यञ्च तो जातिस्मरणसे, कोई धर्मश्रवणसे और कोई जिनबिम्ब दर्शनसे। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे, बाह्य साधनोमे जिनबिम्बदर्शन भी एक अपूर्व साधन है, जिस जिनबिम्बदर्शनसे सब कुछ अपनेमे भान हो जाता कि आत्मा यहाँ है, यहाँ शान्ति है, अन्य सब असार है, यह

सब जिनमुद्रा बना देती है। तो तिर्यंचोमे तीन बाहरी कारण है जिनसे सम्यक्त्व होता है। कोई जातिस्मरणसे, कोई धर्मश्रवण, कोई जिनबिम्बदर्शनसे। मनुष्य उपशमसम्यक्त्व करते है तो पर्याप्तक ही करते हैं। ८ वर्षकी उम्रसे ऊपर हो जायें तब करते हैं। सो किन्हीको जातिस्मरण बाह्य साधन है सम्यक्त्व होनेमे, किसीको धर्मश्रवण है और किसीको जिनबिम्ब-दर्शन है, ये बाह्य साधन है याने ये बाह्य साधन कर लें और सम्यक्त्व हो ही हो, सो नियम नही, मगर ये बाह्य साधन ऐसी पात्रताके कारण बन सकते हैं कि जिसके बाद यह जीव भूतार्थस्वभावका आश्रय करे, अपने चित्स्वरूपकी दृष्टि करे तो इसे सम्यक्त्व हो जाता है।

देवोमे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाह्य साधन—उपशमसम्यक्त्व चारो गतियोमे होता है। तीन गतियोकी बात तो कही, अब देवगतिमे सम्यक्त्व कैसे होता है? उसका वर्णन किया जा रहा है। उपशम सम्यक्त्वका अन्तरङ्ग कारण तो ७ प्रकृतियोका उपशम है, सो सबके लाजमी है। चाहे नारकीमे हो, मनुष्यमे हो, तिर्यंचमे हो, बहिरग साधनमे थोडा अंतर है। जैसे देवोमे जो सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं तो पर्याप्तक देव सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं और पर्याप्तक अन्तर्मुहूर्तके बाद करते है। इसमे यह बात बतायी गई कि तिर्यंचमे सामर्थ्य ३ दिन तकमे आ जाती है। नारकियोमे सामर्थ्य अन्तर्मुहूर्तमे आ जाती, देवोंमे सामर्थ्य अन्तर्मुहूर्तमे आ जाती, जन्म हुए बाद। पर मनुष्योमे सामर्थ्य ८ वर्ष बाद आती है। तो कुछ अनुभवसे भी विदित कर सकते हैं। तो उन देवोमे १२वें स्वर्ग तकके देव याने भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकोमे १२वें स्वर्ग तकके देव इनके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उसके ये बाह्य साधन है। किसीको जातिस्मरणसे होता है, किसीको धर्मश्रवणसे होता है और किसी को जिनेन्द्रदेवका कल्याणक महिमा देखनेसे होता है, और किन्हीको देवोको ऋद्धि देखनेसे होता है। जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिम्ब देखना और साक्षात् उनकी महिमाको देखना। जब कल्याणक होता है, जब तपकल्याणक होता, वैराग्यकी बात होती तो बहुत निर्मल परिणाम होता है दर्शक जनोके। तो ऐसे चार कारणोसे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और सोलह स्वर्ग तकके देवोंके उपशमसम्यक्त्व होता है। इसके पश्चात् १२वां, १४वां, १५वां, १६वाँ स्वर्ग इनमे तीन कारणोसे होता है। जातिस्मरणसे, जिनमहिमा देखनेसे, धर्मश्रवणसे, किन्तु देवर्षिके निरीक्षणसे नही होता, क्योकि करीब ये समानताके देव है। देवोकी ऋद्धि देखनेसे इनके मनपर प्रभाव नही होता। प्रभाव उनपर होता है जिनके कम ऋद्धि है। दूसरेकी अधिक ज्यादा ऋद्धि देखा, ओह! यह धर्मका प्रताप है आदिक ध्यान आता है। और जिनका होन-हार ठीक नही वे ईर्ष्या करते हैं—इसको क्यो मेरेसे अधिक ऋद्धि मिली? पर १२वें स्वर्गसे ऊपर देवर्द्धिनिरीक्षणका कोई प्रभाव नही। १६वें स्वर्गके वाद है नवग्रैवेयक। नवग्रैवेयककी रचना ६ पटलोमे है, नीचे ऊपर ६ स्थानोमे है। एक पटलसे दूसरे पटलमे काफी अन्तर

है । तो नवग्रैवेयकोंमें उपशमसम्यक्त्व होनेमे बाह्य साधन है जातिस्मरण और धर्मश्रवण । किन्हींको अपने पुराने अच्छे भवका स्मरण हो आया, कोई अच्छी क्रियावोका स्मरण हो आया तो उससे उपशमसम्यक्त्व होता है, किन्हीं देवोंके धर्मके श्रवणसे उपशमसम्यक्त्व होता है । इसके बाद ऊपरके देव सम्यग्दृष्टि ही होते है । मिथ्यादृष्टिका वहाँ उत्पाद नहीं है । ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर, इनमे सम्यग्दृष्टि ही पैदा होते है । इसलिए सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण बतानेकी क्या आवश्यकता है ? सम्यक्त्व उत्पन्न ही है, पहलेसे ही सम्यग्दृष्टि होते है ९ अनुदिश और ५ अनुत्तरमे ।

मोहनीयकर्मके उपशमादि बिना जीवका चंक्रमण—अभी तक औपशमिक आदिक भावोमे से औपशमिक सम्यक्त्वकी बात कही । अब दूसरा भेद है औपशमिक चारित्र । २८ मोहनीयप्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है । यह बात आत्माकी ही चल रही है । आत्मा स्वय सहजस्वभावसे ज्ञानवान है ज्ञाता द्रष्टा है । इसकी ओरसे यही बात होनी चाहिए कि यह सबका जाननहार रहे । कहीं भी इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि न जगे । पर हो रहा है उल्टा । अनादिसे मलिन यह आत्मा कर्मउपाधिका सन्निधान पाकर मलिन हो रहा है । यह मलिनता इस जीवके निज गाँठकी चीज नहीं है । किन्तु जैसे दिनमे सूर्यके सामने बादल आडे आ जायें तो धुंधला प्रकाश हो ही जाता है, ऐसे ही इस उपयोगपर जब कर्मका अनुभाग प्रतिफलित होता है तो यह मलिन होता है और उस समय इसको कुछ बेसुधी रहती है और उसी मलिनतामे यह अपना अनुभव करता है ।

जगतके जीव नाना बातोमे दुःख समझ रहे है । धन कम हुआ तो दुःख मानते, इष्ट का वियोग हुआ तो दुःख मानते, मनके अनुकूल बात नहीं होती है तो दुःख मानते । दुःख के कितने साधन बना रखे है इस जीवने, पर असली जो दुःख है उसका इसे पता ही नहीं । मेरे उपयोगपर जो कर्मानुभागकी छाया पड़ रही है और उससे जो मलिनता छा गई है यह मेरे पर विपत्ति है । घर न रहा, थोडा मिला, परिजन थोड़े रहे या कुछ भी घटना घटे, उससे इस जीवका क्या नुकसान है ? जीवकी बरबादी है कि इसपर कर्मोंका आक्रमण है और उसे यह जीव अपना लेता है । यह भूल सबसे बड़ी भारी विपत्ति है । जिन ज्ञानियोंको अपने अन्तरमे भेदविज्ञान जगा कि मै आत्मा तो यह ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हूँ, इसका तो चैतन्यस्वरूप है और जो इष्ट अनिष्ट विकल्प आदिक नाना बातें दिख रही है यह सब कर्मके अनुभागकी कला है । यद्यपि कर्मका काम कर्ममे होता, जीवमे नहीं होता, मगर ऐसे कर्मानुभागका सन्निधान पाकर जीवपर यह सब छाया चल रही है । यह है सबसे कठिन विपत्ति । जिसने इस विपत्तिको पहिचाना वह सही विरक्त होता है और जिसकी दृष्टिमे आत्मस्वरूप नहीं, पता नहीं कब किसी किसी प्रयोजनसे कुछ त्याग बन भी रहे तो भी उसे क्लेश है । वह ऐसा समझे कि इस उपयोगपर कहीं न आयें ये मलिन भाव ।

औपशमिक भावकी निर्मलता—सम्यक्त्व एक सबसे बडी विभूति है और उसको प्राप्त करनेका अवसर सबको मिल सकता। गृहस्थ जन भी सम्यक्त्वके अधिकारी हैं। एक सही सोचने की बात चाहिए तो सम्यक्त्व होगा ही। मै सबसे निराला हू। सर्व जीवोसे न्यारा, सर्व अनन्त परमाणुओसे न्यारा यह मैं आत्मस्वरूप हूं, स्वयं सत् हू। कभी नष्ट हो सकता नही। केवल यह मैं कल्पनायें करके दुःखी होता हू। कल्पनाओको त्याग दें, कर्माक्रमणका लोभ छोड दें तो शान्ति है, ज्ञान है, सर्वस्वमगल है। सब अपने हाथकी बात है।

जैसे किसी इजनका चलानेका पुर्जा तो कुछ है, उसे न जाने, न चलाये और यहाँ वहाँके पुर्जोको तोडे मरोडे तो उससे जैसे इजन नही चलता, जो जिसका साधन है उसीके प्रयोगसे ही तो बात बनेगी। तो आत्माका कहाँ उपयोग लगे कि शान्ति मिले। इस पेंचको, रहस्यको जिसने परखा नही वह धर्मके नाम पर उपयोग कहाँ कहाँ लगाता फिरता है और दुःखी होता रहता है। उपयोग लगाना है अपने सहज चैतन्यस्वरूपपर। देखिये सिद्धप्रभुका ध्यान और आत्मस्वरूपका ध्यान इनकी धुन जिसके बन जाती है उसके कर्मनिर्जरा चलती है, पुण्यरस बढता है, पापरस घटता है और ये सारी बातें एक अपने साधन द्वारा ही तो साध्य है। किसीने रुकावट नही किया है आत्मकल्याणके लिए। यह तो अपने आप सोचनेकी बात है। हाँ तो यह देखना है कि मै तो सहज परमात्मस्वरूप हू। मगर मुझपर कर्मविपाक छाया हुआ है। उसका विनाश कैसे हो ? तो उसका उपाय तो एक निज सहज चैतन्यस्वभावमे यह मै हू ऐसा अनुभव बनायें, बस यह ही एक मात्र चेष्टा सारे सकटोको दूर करनेका कारण है। धर्मके लिए कितना करना काम ? बस एक। निज सहज चैतन्यस्वरूपमे यह मैं हू ऐसा अनुभव करना है, बस यही काम है।

इस आत्माके सहजस्वरूपके ज्ञान ज्ञानके लिए अन्त· ऐसी जानकारी बनायें कि जो मैं हू सो अपने आप हू। किसी पदार्थकी सत्ता किसी दूसरेकी दयापर नही होती। जो है सो स्वय सत् है। तो जो मैं स्वय सत् हू वही मात्र अकेला, याने मुझमे किसी परका सग न हो। शरीर न हो, कर्म न हो, लोग न हो, ढग न हो, कुछ भी चीज इसके ससर्गमे न हो और केवल एक यह अपने आप जैसा सत् है रह जाय तो इसकी क्या स्थिति होती है, चिन्तन मे लायें तो वह समृद्धि अनुभवमे आ जायगी कि यह हू मैं। अज्ञानी जनोको भूलका बोध नही होता। भूलका बोध ज्ञानीको होता है। जब यह जानता है अपनी ज्योतिका अनुभव होने पर कि ओह ऐसा परिणमन पाये बिना मैंने अनन्त काल ससारमे व्यर्थ दुःख पाये। यह चीज इस भवमे न पायी तो जो कुछ मिला वह सब बेकार। आत्माके सहजस्वरूपकी अनुभूति यदि इस भवमे न मिल सकी तो धन वैभव, बड़प्पन, इज्जत, परिचय, परिजन, ये सब बेकार बातें है और एक अतस्तत्त्वकी अनुभूति मिलती है तो निर्धन हो, कुछ भी स्थिति हो

उससे इसको कोई नुक्सान नही, बल्कि धर्मपालन है।

जैसे यह अकेला अपने आप अपने सत्त्वमे रह सकता है उस रूपसे अपना अनुभव बने बस यह ही है धर्मपालन। धर्म पालें। तो बाहर कही कोई धर्म रखा है क्या जिसको पाला जाय ? बाहर कही कुछ नही है। अपने आपका सहजस्वरूपमे अनुभव बने तो धर्मपालन है। ये तो सब करने पड रहे पूजन, वदन, जाप, सामायिक, सत्संग आदिक, और किसी स्थितिमे करने चाहिएँ। लेकिन ये सब धर्मपालनके लिए मददगार हो इस तरहकी वृत्ति बनानी चाहिए। तो आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसका आलम्बन करके महामुनि जनोने औपशमिक सम्यक्त्व पाया था पहले और अब औपशमिक सम्यक्त्व पा रहे हैं। भले ही कषायोको दबाकर चढ़ रहे ये जीव और चढ-चढकर ११वें गुणस्थानसे अवश्य गिरेंगे भी, लेकिन यह जानें कि औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्रमे वह निर्मलता है जो क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रमे है, बस यहाँ धोखा है, क्योकि कर्मोको दबाकर चढा है। वे कर्म उखडेंगे और इस जीवको पतित कर देगे। तो ऐसा औपशमिक चारित्र मोहनीय की २८ प्रकृतियोके उपशमसे होता है।

कषायोंके उपशमनकी महिमा—८ कर्म लगे है जीवके साथ। उनमे उनका सिरताज मोहनीयकर्म है। जैसे सेनामे सेनापति ऐसे ही सब कर्मोमे एक मोहनीय मुख्य है। जैसे सेनापतिके मरनेपर सेनाके हौसले ढीले हो जाते है ऐसे ही मोहनीयकर्मके मरनेपर, दूर होने पर सब कर्म एकदम ढीले हो जाते है। तो उस मोहनीयके २८ भेद हैं—३ दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और २५ चारित्रमोहनीय। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिनके उदयमे आत्माको सुध नही रहती, सम्यक्त्व नही हो पाता। उससे कम है अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इन कषायोके होनेपर अप्रत्याख्यानावरण नही बनता, ईसत् त्याग नही बनता, अणुव्रत नही बनता, और ये कषायें जिसके नही है, जिसका क्षयोपशम है उसके अणुव्रतको साधना होती है। फिर है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। यह सब कर्मोंकी बात कही जा रही है। कितने प्रकारके कर्म जीवपर लदे हुए है, और उन कर्मोंके प्रभावमे क्या होता है ? प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होते सनते प्रत्याख्यानावरण नही बनता, मुनिव्रत नही बनता तो उसका भी उपशम हो गया और सज्वलन कषाय जो वीतराग भाव न होने दे, संज्वलन स मायने सयम उसके साथ-साथ चलता रहे अर्थात् सम्यक्त्व व सयम तो नही मिटता और यह कषाय थोडी चखती रहती है तो इस कषायके उदयमे जीवके वीतराग भाव नही बन पाता। तो यह भी उपशान्त हो गई और हास्य, रति, हँसना, प्रेम, द्वेष, भय, ग्लानि, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुमकवेद ये कषायें वीतराग भाव नही होने देती। ये सब दब गई तो इस समय ११वां गुणस्थान होता है उसे औपश-

मिक चारित्र कहते है, और उपचारसे ८वें गुणस्थानसे उपशम श्रेणीमे औपशमिक चारित्र कहा जाता है।

तो जो कुछ भी उद्यम हो रहा ८वें गुणस्थानमे वह औपशमिक चारित्र पानेके लिए हो रहा, इसलिए यहीसे औपशमिक भाव कहा गया है। ऐसे ये दो प्रकारके औपशमिक भाव होते हैं। इनमे सम्यक्त्वसे पहले यो कहा गया कि चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। चारित्रका अर्थ है रमना, लगना। कहाँ लगना, कहाँ रमना? क्या विषयोमे? अरे वह चारित्र नही। वह तो मिथ्याचारित्र है, अचारित्र है। आत्माके सहजस्वभावका ज्ञान किया तो बस ज्ञान ही ज्ञान ऐसा बनाये रहना यह है वास्तवमे चारित्र। यह निश्चयचारित्र है। बाकी सब जितने भी भेद है—मन वश करना, वचन वश करना, काय वश करना, दया करना, पापोका त्याग करना, व्रत सयम करना ये सब व्यवहारचारित्र हैं। सो यदि आत्म-स्वभावकी दृष्टि करानेकी ओर है तब तो है व्यवहारचारित्र सही। अन्यथा उपचारसे चारित्र है वास्तवमे चारित्र नही। इन सबकी परीक्षा यह है कि जिस समय यह चारित्र होता है, आत्मानुभूति रहती है उस समयमे कोई सकट अनुभवमे नही रहता। तो चूँकि चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है, इस कारणसे औपशमिक सम्यक्त्वका पहले नाम लिया। औपशमिक भावके दो भेद है। यह जीवका विवरण चल रहा है। ऊपरी बातें कही जायें कि जीव इस गतिका है, इस पर्यायका है, इसका यह साथी है, यहाँ रह रहा है, यह मनुष्य है, ये सब एक बाहरी बातें है। जीवका असली परिचय नही मिला इससे। यद्यपि सामान्यतया परिचय तो मिला कि यह सब जीवकी मलिनता है, मगर जीवके खुदके परिणमन हो उन्हे कहना चाहिए स्वतत्त्व। तो ऐसा यह जीवके स्वतत्वोमे औपशमिक भाव कहा गया। अब औपशमिक भावके बाद क्षायिक भाव आता है, क्षायिक भावके ६ भेद बताये गए, सो वे ६ भेद कौन हैं? इसका वर्णन करनेके लिए सूत्र कहा जा रहा है।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

क्षायिक भावके भेदोका परिचयन—क्षायिक भावके ६ भेद है—क्षायिक ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा 'च' शब्दसे लेना क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र। जिसका पहले वर्णन हो उसका ग्रहण होता है 'च' शब्दसे। जैसे कहा कि अमुकचद जी भोजन करो और आप भी। और आदमी क्या करो? क्या रोवो या हँसो? अरे जो पहले शब्द कहा वह ही अनुवृत्ति आयगी कि भोजन करो।

तो पहले सूत्रमे जो शब्द होता है उसका 'च' शब्दमे ग्रहण होता है तो इस प्रकार क्षायिकभावके ६ भेद हुए—(१) क्षायिक ज्ञान, (२) क्षायिक दर्शन, (३) क्षायिक दान, (४) क्षायिक लाभ, (५) क्षायिक भोग, (६) क्षायिक उपभोग, (७) क्षायिक वीर्य, (८) क्षायिक

सम्यक्त्व और (६) क्षायिक चारित्र। ज्ञान तो अपना स्वरूप है उसका आवरण जुडा है कर्म के उदय होनेसे। यदि यह आवरण हटे तो जो ज्ञान है वहीका वही प्रकट हुआ। ज्ञान प्रकट करनेके लिए, केवलज्ञानी होनेके लिए कोई बाहरकी चीजें नही लगानी पडती, बाहरकी वस्तुओका लपेट नही करना पडना, किन्तु बाहरकी चीजोका अलगाव करना होता कि केवल-ज्ञान अपने आप प्रकट होता। जितना पुरुषार्थ करना है वह मैलको हटानेके लिए करना है, कोई चीज लगाने बनानेके लिए नही करना है। जैसे किसी पत्थरकी मूर्ति बनायी जाती तो पत्थरमे मूर्ति प्रकट करनेके लिए उसमे कुछ लगाया नही जाता, किन्तु आवरण करने वाले पत्थरोको हटाया जाता है। मूर्ति बनानेमे बनानेका काम नही हो रहा, किन्तु हटानेका काम हो रहा। मूर्ति तो जो प्रकट हुई है, जो स्कध बाहर प्रकट हुए है वे पहले भी थे, वही प्रकट हो गए है। तो जैसे आवरण करने वाले पत्थरोको हटाने पर मूर्ति स्वयमेव प्रकट हो जाती है, ऐसे ही आत्मामे जो विषय कषाय मलिन परिणाम आये है उनको हटा देनेपर अपने आप ही यह ज्ञान विकसित होता प्रकट होता है। तो पहली-पहली बार जो केवलज्ञान प्रकट हुआ सो ज्ञानावरणके क्षयका निमित्त पाकर हुआ। अब तो होता रहेगा केवलज्ञान, केवलज्ञान। उसमे किसी निमित्तकी जरूरत नही। अब हो गया सहज स्वाभाविक परिणाम। ऐसे दर्शना-वरणके क्षयसे केवलदर्शन होना है और अन्तरायके क्षयसे क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य आदिक ये तत्त्व प्रकट होते है। सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोका क्षय होनेपर ३ दर्शन-मोहनीय और ४ अनन्तानुबंधी इन ७ के नष्ट होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है, और शेष बची मोहनीयकी प्रकृतियाँ सब नष्ट हो जायें तो वहाँ क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। इस तरह यहाँ क्षायिक भावके ये ६ भेद बताये गए है।

क्षायिक भावोकी क्षायिकताकी मीमांसा—जीव स्वत: अपने सत्त्ववश शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, याने स्वयकी ओरसे विकारका, कलकका कोई काम नही है, फिर यह कलक आया कैसे? क्या है कलक? तो अनादिसे जो ये कर्मबन्ध चले आ रहे है बधते जाते हैं उनकी सत्ता होती जाती है। जब उनका उदय होता है तो उनका अनुभाग खिलता है और वे सब गड़बडी जो कर्ममे हो रही वे सब उपयोगमे प्रतिफलित होती है। जैसे सूर्यके प्रकाशके सामने बादल आड़े आ जायें तो उनकी छाया जमीन पर पडनेसे जमीन मलिन हो जाती, ऐसे ही कर्मानुभागका प्रतिफल न हुआ तो उपयोग मलिन हो गया। अब यह अंधेर बन गया, घवड़ा-हट हो गई, कुछ नही सूझता तो उस ही कलुषताके अनुरूप जो नोकर्म है, पञ्चेन्द्रियके विषय हैं उनमे उपयोग फम जाता है। इस तरह कर्मफल मिलता है। तो ऐसा अनादि काल से चला आया है। अब कर्मानुभाग जब नष्ट हुआ, कर्म दूर हुए तो उपाधि माफ हो गई तो अकेला ही यह जीव रह गया। उस समय जो निर्मल परिणाम हुआ उसको कहते है क्षायिक

भाव और परम्परासे अनादि अनन्त काल तक उस ही उपयोगका परिणाम रहे उसे भी क्षायिक भाव कहते है। पर साक्षात् तो पहले समय जो क्षायिक सम्यक्त्व हुआ सो क्षायिक हुआ कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुआ।

अब आगे जो होता जा रहा वैसा ही परिणमन चलता जा रहा तो वह तो नैमित्तिक नही है। नैमित्तिक तो पहली बारमे था। जैसे प्रभुके केवलज्ञान हुआ तो केवलज्ञानका जो प्रथम समय है तब तो वह क्षायिक ज्ञान है, क्योकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुआ। अब आगे जो केवलज्ञान केवलज्ञान चलता रहेगा सो वहाँ कोई क्षय थोड़े ही हो रहा किसीका। कर्म हैं ही नही सत्तामे, फिर भी उनको क्षायिक कहते है उपचारसे और वस्तुत' पहले समयमे हुआ जो क्षायिक भाव है सो क्षायिक है। तो परम्परया भी क्षायक कहो। उसकी भी आवश्यकता है। समझमे तो आयगा कि कर्मक्षय बिना यह शुद्ध पर्याय नही बनती, ऐसे क्षायिक भाव ६ कहे गए है।

क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन—क्षायिक भावमे पहला है केवलज्ञान। समस्त ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे केवलज्ञान होता है। कहाँ होता इसका क्षय ? बारहवें गुणस्थानके अन्तमे। १२वें गुणस्थान तक सभी ज्ञानावरण चल रहे हैं, पाँचो ज्ञानावरण चल रहे हैं। भले ही जैसा जिसका क्षयोपशम है सो वह तो अन्तर है, मगर ज्ञानावरण कर्म १२वें गुण-स्थान तक है, अन्तमे इसका क्षय होता है। क्षय हुआ कि केवलज्ञान जग गया। सो निश्चय से तो अपने असाधारण ज्ञानस्वभावको उपादान कारण कर हुआ है, पर पहले न था केवल-ज्ञान और अब हुआ है। तो जो चीज पहले न थी और अब हुई तो उसका कोई निमित्त ढूँढा जाता है समझनेके लिए। क्या निमित्त है ? ज्ञानावरणका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्ति का निमित्त है, उपादानतः अपनेसे हुआ, कर्मने केवलज्ञान पैदा नही किया या कर्म जब हट रहा तो वह केवलज्ञान पैदा करता हुआ हटे, सो बात नहीं। ज्ञानावरण पौद्गलिक स्कध है। उसका काम है कि वह अपने आपमे कुछ परिणमन करे, इससे अधिक काम नही। तो केवलज्ञान क्षायिक भाव है। इसी प्रकार केवलदर्शन क्षायिक भाव है। दर्शनावरणके क्षयसे यह भाव उत्पन्न होता है। दर्शनावरणका क्षय भी १२वें गुणस्थानमे होता है, उनमेसे कुछ प्रकृतियोका द्विचरम समयमे क्षय होता, कुछ अन्तिम समयमे होता। तो केवलदर्शन भी दर्श-नावरणके क्षयका निमित्त पाकर होता, इसलिए केवलदर्शन भी क्षायिक भाव है।

क्षायिक दानकी महिमा—क्षायिक दान याने दानांतराय क्षयमे उत्पन्न हुआ एक भाव क्षायिक भाव है। तो दानान्तरायके क्षयोपशमसे क्या होता है ? दान देनेके भाव होते हैं और प्रयोगमे होता है और जब दानान्तरायका उदय होता है तो दानके भाव नही होते। तो दानान्तरायके क्षयोपशममे तो यह हालत होती है, पर दानान्तरायका क्षय हो जाय तब

क्षायिक दान प्रकट होता है । जिसका फल यो कहो कि अनन्त प्राणियोके समूहका उपकार करे ऐसा एक क्षायिक अभयदान । संसारके प्राणी सब दुःखी है, उनमे जिनका भवितव्य ठीक होनेको है, जिनके विवेक जगा वे प्रभुकी शरणमे पहुचते है । उनके दर्शनसे, उनका उपदेश सुनकर प्राणी अपना भला कर लेते है । संसार-संकट टल जाता है उनका, इससे बढ़कर और क्या दान ? सो यद्यपि भगवानके इच्छा नही है कुछ और रागवश नही करते ऐसा, लेकिन क्षायिक भावकी यह ही महिमा है कि अनन्त प्राणी समूहका अपने आप उपकार होता है । दर्शन कर, दिव्योपदेश सुनकर उनका परिणाम निर्मल होता है और कल्याण करते हैं । यही है क्षायिक दान । जो साधु समाधिभावके बलसे घातक-कर्मोंका क्षय कर देता है उसके उत्कृष्ट आत्मत्व प्रकट होता है । उत्कृष्ट आत्मा कहो या परमात्मा कहो, परम आत्मा कहो । तो जहाँ यह परमात्मत्व प्रकट होता है वहाँ ६ प्रकारके निर्मल भाव जग जाते हैं । पहला तो है क्षायिक ज्ञान, जिसके बलपर तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ उनके ज्ञानमे ज्ञात होते है । दूसरा है क्षायिक दर्शन, जिसके बलसे तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको जानने वाले आत्माका दर्शन चलता रहता है । तीसरा भाव है क्षायिक दान । जिसके प्रताप से अनन्त प्राणियोका उपकार होता, उनको अभयदान मिलता, उनको ससारके सकटोसे छूटने की विधि मिलती ।

देखिये कितना महत्त्व है इस पवित्र उपदेशका, इस पवित्र शासनके लाभका कि जिसके हृदयमे समाये, प्रयोगमे लाये, यह जानता रहे कि यहाँ जीव और अजीव दो का सघर्ष चल रहा है । उस सघर्षमे अजीवका तो नुक्सान क्या है ? वह अचेतन है । वह जले, राख हो जाय, कुछसे भी कुछ हो जाय, कोई भी अचेतन, उसका क्या बिगाड ? वह तो एक परिणमन है, पर इस जीव और अजीवके सघर्षमे इस जीवका अकल्याण है । यो इस सघर्षमे दुःखी प्राणी इस दिव्योपदेशको सुनकर जहाँ वस्तुके स्वरूपका सही प्रतिपादन पाता है वह मोहका त्यागकर अपने आत्माकी ओर आता है, यह महान् अनुग्रह है । इस अनुग्रहका कोई बदला नही चुका सकता । तो इस शासनका कितना आभार, कितना उपकार आज जो हम आपको प्राप्त है ? मन भी अच्छा मिला है, विचार विवेक अच्छा कर सकते हैं । लेकिन विषयोमे तो उत्साह जगे, मोह ममताकी बातोमे तो एक प्रेरणा मिले और आत्माकी बात, इसकी सुध रखनेके लिए भीतर गुजाइश भी न रखे तो कितने बड़े दुर्भाग्यकी बात है ? फिर किसलिए मनुष्यजन्म पाया ?

एक आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—ये संज्ञायें, इनका मौज क्या पशु-पक्षी बनकर न पा सकते थे ? पाते ही है । जैसा सुख मनुष्य मानते है ऐसा ही सुख घास मिले, रोटी मिले, तो क्या ये गाय, भैस, कुत्ते वगैरा नही मानते है ? अरे वे भी वैसा ही मौज मानते है । इन

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सम्बधी क्रियावोमे जैसे मनुष्य अपनेको बडा चतुर मानते हैं— मेरेको बडा सुख है, बडा मौज है तो क्या ऐसी बुद्धि पशुओके, पक्षियोके नही बनती ? किसलिए यह मानव-जीवन पाया ? क्यो इस मानव-जीवनके क्षण व्यर्थ गवाये जा रहे है ? यह तो एक बडे दु.खकी बात है। भव्य प्राणी समझ लेते है, प्रभुके शासनको उपयोगमे लेते हैं— अहो ! मैं जीव हू। सबसे निराला हू, मैं अपने आपका जिम्मेदार हू। कषाय करूँगा तो कर्म-बन्ध होगा, भविष्यमे रुलना पड़ेगा। कषाय न करूँ, मद कषाय रहू, सबकी उपेक्षा कर जाऊँ, सबको क्षमा करूँ तो उसका परिणाम हमको अच्छा मिलेगा। मिथ्यात्वमे जो कषाय जगती उस कषायमे जो भी निर्णय किया वह आत्माकी बरबादीके लिए है। निर्णय करना चाहिए स्वस्थ मदकषायकी स्थितिमे जो एक हमारा कर्तव्य है। तो यो यह सब उजेला, आत्मप्रकाश प्रभुके दिव्योपदेशसे हुआ है तो इसे क्या अनन्त दान नही कहा जायगा ? प्रभुके इच्छा नही है, प्रभु राग नही करते, पर जिनके दिव्य उपदेशसे ये सारे अधकार दूर हो जाते हैं यह तो उनका बहुत बडा काम है।

क्षायिक लाभ—प्रभुके चौथा गुण होता क्षायिक लाभ। लाभ मायने प्राप्ति। तो लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम हो तो अनेक चीजें मिलती हैं, जिनमे जीव राजी होते हैं। धन सम्पदा सुख-सामग्री, यह तो क्षयोपशमकी बात है और उस लाभान्तरायका बिल्कुल क्षय हो जाय तो कौनसा लाभ प्रकट होता है ? जब परमात्मा हो गए, केवली भगवान हो गए तो उनके कवलाहार नही होता याने भोजन नही होता, कौर नही खाते और कवलाहार न करें फिर भी हजारो वर्षों तक शरीरमे रहकर सकल-परमात्माकी स्थितिमे उपदेश करते रहे तो यह कैसे सम्भव हुआ ? बस यो ही सम्भव हुआ कि उनके ऐसा क्षायिक लाभ प्रकट हुआ है कि विशुद्ध पवित्र कायवर्गणायें जो अन्य प्राणियोको न प्राप्त हो सकें बहुत शुभ सूक्ष्म उनके शरीरसे सम्बन्धको प्राप्त होते रहते हैं। कुछ तो आज भी ऐसा देख रहे हैं कि मनुष्य मुखसे न खाये, कुछ तो इजेक्शन या गुलुकोज या अन्य किसी उपायसे शरीरको जैसाका तैसा स्वस्थ बनाये रखते है।

अब इससे और आगे बढें, सोचो कि प्रभुके तो कवलाहार ही नही याने प्रभु कभी खायेंगे ही नही, तो जो अनेक सूक्ष्म वर्गणायें है वे यहाँके इजेक्शन या गुलुकोजके काम जैसे भी विलक्षण अपूर्व काम करती हैं। वहाँ लाभान्तरायका क्षय हो गया है, सो स्वतः ही अनेक परमाणु शुद्ध पवित्र उनके शरीरके सम्बधको प्राप्त होते रहते है। एक कल्पना करो कि भगवान हो गए, वीतराग हो गए, केवलज्ञानी हो गए तो अब ऐसी पवित्र स्थितिमे क्या ऐसा अच्छा लगेगा कि वे ग्रास खायें ? भला बतलाओ जो परमेश्वर हो गए, परमात्मा हो गए वे ऐसी रागभरी चेष्टा करेंगे क्या ? पुराणोमे जो वर्णन आता है कि तीर्थंकर भगवानने आहार

लिया तो वह उनकी पूर्व अवस्थाकी बात है। पारमैश्वर्य प्रकट होनेपर आहार नही होता। फिर और भी बात सोचो—मान लो प्रभु आहार करें तो ज्ञानके द्वारा तो वे सब कुछ जान रहे, सब देख रहे, अब देखो साधुको आहार लेते समय अगर किसी गदी चीजका ख्याल आ जाय तो उनका अंतराय हो जाता है। पवित्र भाव रहते हुए भोजन होना चाहिए। तो फिर भला भगवानकी तो उससे भी ऊँची बात है। भगवानके ज्ञानमे तो अच्छी खराब सभी चीजें झलक रही है, मांस, मल मूत्रादिक सब चीजोको स्पष्ट जानते हैं तो फिर भला वे क्या आहार कर सकेंगे? दूसरी बात यह है कि इच्छा हुए बिना तो हाथ ही न हिलेंगे और फिर कैसे हाथसे कौर तोडकर मुखमे डालने की बात बनेगी? प्रभु तो इच्छारहित है। इच्छा है तो प्रभु नही। किसी भी प्रकारका राग, किसी भी प्रकारकी इच्छा प्रभुके नही हुआ करती। तो प्रभु कवलाहारसे रहित हैं। अब उनका शरीर हजारों लाखो वर्षों तक रहता है जब तक आयु रहती है। तो यह सब क्षायिक लाभका प्रताप है।

क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग—५वाँ क्षायिक भाव है क्षायिक भोग। भोगान्तरायकर्मका जब क्षयोपशम होता है तो इस मनुष्यको अभीष्ट भोग क्षयोपशम होता है तो इस मनुष्यको अभीष्ट भोग साधन मिलते है, भोग भोगनेका सामर्थ्य मिलता है। यह तो क्षयोपशमकी बात है। जहाँ भोगान्तरायका पूर्ण क्षय हो गया है वहाँ कौनसा भोग कहलाता है? वह क्षायिक भोग है क्या? तो वह क्षायिक भोग हैं पुष्पवर्षा होना, सुरभित पवन चलना, वातावरण शान्त रहना, सर्दी गर्मीका प्रकोप न रहना और जहाँ प्रभु विहार करते हुए पैर रखते हैं तो पैरके नीचे स्वर्णकमलका बन जाना। देव इन्द्र जिनकी सेवामे रहते है ये सब भोग क्षायिक भोग हैं। भोगनेकी इच्छा नही है और न इस भोगके भोगनेका उन्हे अनुभव है, किन्तु होता रहता हैं यह सब। जो अन्य मनुष्योके असम्भव है ऐसा उत्कृष्ट भोग जो बन रहा है वह क्षायिक भोग है, छठवाँ गुण है क्षायिक उपभोग।

जैसे यहाँ उपभोगान्तरायका क्षयोपशम होनेपर बड़ी अच्छी सवारियाँ, वस्त्र, मकान आदिक ये सब चीजें सुलभ होती है तो यह तो है क्षयोपशमकी बात और जहाँ उपभोगान्तरायका क्षय हो जाता, पूर्णतया विनाश हो जाता वहाँ कौनसा उपभोग प्राप्त होता है? तो वह उपभोग क्या है कि जैसे समवशरणकी रचना, सिंहासन होना, चमर ढुरना, अशोक वृक्ष, तीन छत्रोका होना, भामण्डल आना, देवदुन्दुभि बजना आदिक जो अनेक अतिशय होते हैं ये सब क्षायिक उपभोग हैं, जो अन्य मनुष्यके सभव नही हो सकते, ऐसी उत्कृष्ट बात है। प्रभुके इच्छा नही है, वे भोगोपभोगकी इच्छा नही करते हैं। वे तो अपनेमे वीतरागता, ज्ञानानन्दरस का निरन्तर पान किया करते है। उनकी दुनिया अलग हो गई, उनका दर्शन दुर्लभ है, उनसे कोई बातचीत कर नही सकता। करे भी तो उत्तर नही। लेकिन उत्तर मिलता है बहुत

अच्छा। जब प्रभुकी दिव्यध्वनि खिरती है, दिव्य उपदेश होता है तो जहाँ जिसके मनमे जो-जो प्रश्न है, शकायें है उनका समाधान सहज ही हो जाया करता है। तो प्रभुके ऐसा क्षायिक उपभोग है।

क्षायिक वीर्य—७वाँ क्षायिक भाव है वीर्य (क्षायिक शक्ति)। अनन्तवीर्य भगवान आत्मामे अनत ज्ञान, दर्शन आदिक गुण प्रकट हुए हैं। ये गुण आत्मामे बने रहे, बिखरें नही, न नष्ट हो उन सब गुणोको झेलते रहनेका बल भी तो चाहिए। जैसे यहाँ शरीरमे बल न हो तो नाक, लार, थूक, मल, मूत्रादिक अथवा रुधिर आदि धातुयें ये टिक नही पाते, निकल बैठते हैं, क्योकि शरीरमे बल नही रहा। तो जैसे शरीरमे बल न हो तो जो मल हैं उनको भी नही टिका सकते (यह यहाँके लोगोकी बात कह रहे है) इसी तरह कोई ऊँची धातु उपधातु भी है तो उसे भी तो तब ही टिका सकेंगे जब शरीरमे बल हो। यहाँ एक अलौकिक आत्मतत्त्वकी बात कही जा रही है। आत्मामे अनन्तगुण प्रकट हुए है तो वे अनन्तगुण बने रहें, बिखरें नही उसके लिए अनन्तवीर्य भी साथ लगा हुआ है। तो प्रभुके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ। उस सामर्थ्यसे समस्तगुण विलास कर रहे है, ऐसा प्रभुका यह क्षायिक भाव है।

क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र—८वाँ क्षायिक भाव है क्षायिक सम्यक्त्व, सब कर्मोंमे प्रधान बहुत घातक मोहनीयकर्म है। थोडी देरको यह ही कल्पना कर लो कि सब कुछ उत्पात हो जाय, एक चित्तमे मोह रागद्वेष कल्पना न जगे तो उस उत्पातसे कुछ बिगाड होता क्या? मानो जैसे लोकमे मानते हैं कि घरके पुत्र, मित्र, स्त्री, माता-पिता आदिक किसीका मरण हो गया, धन नष्ट हो गया, इज्जत बिगड गई या किसीने इसको पीटना शुरू कर दिया, मुकदमा दायर कर दिया, अनेक प्रकारकी जो जो अडचनें यहाँ समझी जाती हैं वे सब भी हो जायें और यहाँ चित्तमे रागद्वेष मोह कल्पना न हो तो उत्पात क्या कोई उत्पात है? उत्पात तो रागद्वेष मोह भावका जगना है। बाहरका उत्पात, उत्पात नही कहलाता। खुदका चित्त बिगडे, खुदमे रागद्वेष बने, खुदमे कषाय जागृत हुई, लो विपत्ति हो गई। विपत्ति किसी परपदार्थसे नही आया करती। विपत्ति तो रागद्वेष मोहभावका नाम है, यह बात सब मोहनीयकर्मका प्रसाद है। तो सर्व कर्मोंमे कठिन मोहनीयकर्म है। यह मोहनीयकर्म सब कर्मोंका राजा है। तो उस मोहनीयकर्ममे भी जो ७ प्रकृतियाँ है—पहली कषाय के ४ रूप तथा दर्शनमोहकी ३ याने अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति—इन ७ प्रकृतियोका क्षय हो गया तो वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

देखिये—क्षायिक सम्यक्त्व तो बहुत पहलेसे हो गया, किसी जीवमे चौथे गुणस्थानमे, किसीके ५वें, छठे, ७वें गुणस्थानमे क्षायिक भाव हो गया था इनी जगहमे, लेकिन क्षायिक

सम्यक्त्व होकर मिटता नही है, बना रहता है। तो आखिर हुआ कैसे ? मूल बात क्या हुई ? तो वह क्षायिकपनेकी बात आयगी। वह है भूतार्थ अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि। तो यो प्रभुके क्षायिक सम्यक्त्व है। ९वाँ भाव है क्षायिक चारित्र। मोहनीय कर्मकी जो शेष २१ प्रकृतियाँ बची—अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद—इनके क्षयसे यह क्षायिक चारित्र हुआ। इन २१ प्रकृतियोमे से कुछ प्रकृतियां ९वे गुणस्थानसे नष्ट होने लगती हैं—जैसे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय ये ९वे गुणस्थानमे नष्ट होती है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—ये नष्ट होने लगते है और वेद भी ९वें गुणस्थानमे नष्ट होता है। सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ भी ९वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाते है। केवल जो सूक्ष्म लोभ है वह १०वे गुणस्थानके अन्तमे नष्ट होता है। तो यो चारित्रकी ओरसे क्षायिक भाव यो १२वें गुणस्थानमे आ गया, इसलिए क्षायिक चारित्र १२वें गुणस्थानसे है, लेकिन यहाँ प्रभुकी बात चल रही है। तो प्रभुके भी क्षायिक चारित्र है। इस तरह ये ९ क्षायिक भाव होते है।

अब इस क्षायिक भावमे एक शका यह की जा सकती कि ऐसा दान, लाभ, भोग जब यह क्षायिक भाव है तो सिद्धमे भी होना चाहिए, वहाँ भी लाभ, भोग सिंहासन वगैरा होना चाहिए ना ? तो बात यह कही जा रही है कि यह शरीरसापेक्ष बात चल रही है। जहाँ शरीररहित है, वहाँ केवल अनन्त वीर्य है, क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग नही है अथवा जैसे केवलज्ञान प्रकट हुआ तो मतिज्ञानादिक नही, ऐसे ही अनन्त वीर्य प्रकट हुआ तो दान आदिक नही होते। अच्छा कोई पूछे कि सिद्धपना भी क्षायिक भावमे आना चाहिए, क्योकि अष्टकर्मके क्षय होनेसे सिद्धत्व होता है। तो जहाँ अलग-अलग बातका वर्णन हो रहा है तो सिद्धत्व तो अपने आप गर्भित हो जाता है। इस प्रकार ये ९ प्रकारके क्षायिक भाव बताये गए है।

जीवके स्वतत्त्वोके परिचयकी प्रयोजकता—जीवका हित धर्ममे है और धर्म रत्नत्रय कहलाता है याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, बस इन परिणामोका नाम धर्म है। आत्माका सहज अपने ही सत्त्वके कारण स्वरूपतः जो भाव है, स्वभाव है उस रूप यह मै हू, इस प्रकारके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। फिर तो इस सम्यग्दर्शनके पानेके पयासमे और-और बातें भी कही गई है। जैसे जीवादिक ७ तत्त्वोका श्रद्धान् करनेसे अपने आपकी श्रद्धा बनती है कि मै स्वय सहज कैसा हू ? तो इस स्वरूपका, इस सहज भावका अनुभव जगे, तत्पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, और जैसा पदार्थ अवस्थित है वैसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ही स्वरूपमे रम जाना सो सम्यक्चारित्र है। तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उपायोमे

यह आवश्यक है कि मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोका यथार्थ परिचय करना चाहिए। उसी सिलसिलेमे दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका परिचय कराया है। जीव क्या है ? तो जीवके स्वतत्त्व कहे है मोक्षशास्त्रमे ५—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनमे केवल पारिणामिक भाव तो सहज स्वतत्त्व है और उसमे भी शुद्ध जीवत्व भाव है। यह भाव आराधनीय है, आश्रयसे मोक्षतत्त्व प्रकट होगा। शेषके जो ४ भाव है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक ये जीवके निज सहज भाव नही हैं, ये सब परिणमन हैं। कोई स्वभाव पर्याय हैं, कोई विभाव पर्याय है। तो स्वभाव पर्यायमे तो कहा जा सकता है कि स्वरूपकी तरह है, क्योकि स्वरूपका शुद्ध परिणमन है। मगर अन्य जो भाव है क्षायोपशमिक, औदयिक आदिक ये तो औपाधिक भाव हैं याने कर्मउपाधिका सन्निधान पाकर आत्माकी परिणति किए हुए है। फिर वे स्वतत्त्व कैसे कहलायेंगे ? यह शका यो न रखनी चाहिए कि स्वतत्त्व सहजभावके एवजमे नही कहा गया, किन्तु जीवका जो परिणाम हो सकता है वह सब स्वतत्त्व है। भले ही कर्मका सन्निधान है, मगर परिणमा तो यह जीव ही। कर्म नही परिणमा रूपसे। ऐसे जीवके स्वतत्त्व ५ कहे, उनमेसे अब क्षायोपशमिक भावकी बात कही जा रही है।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसयमासयमाश्च ॥५॥

क्षायोपशमिक भावके भेदोके वर्णनमे कुछ ज्ञातव्य— ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लब्धि ये ४ तो ४, ३, ३, ५ भेद वाले हैं। और सम्यक्त्व, चारित्र और सयमासयम इस तरह ये मिलकर १८ भेद हो जाते हैं। याने ज्ञान ४, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये क्षायोपशमिक भाव हैं क्योकि क्षायोपशमिक भावका अर्थ है कि जो क्षय, उपशम और और उदय इन तीन कारण पूर्वक हो। जीवपर कोई विजातीय द्रव्य लदा हुआ है, सम्बन्ध है तब ही तो यह जीव विरुद्ध परिणम रहा है। कोई भी जीव अगर उल्टे रूप परिणमे तो निश्चय समझो कि वहाँ कोई विरुद्ध चीज लग गई है यह भाव जो है वह आत्माके स्वभाव रूप नही है, तो यह होता है क्षयोपशमसे। वह क्या विरुद्ध चीज लदी है ? तो ८ प्रकारके कर्म आत्माके ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर यह क्षयोपशम भाव होता है याने ऐसे कर्म जो ज्ञानके आवरणमे निमित्त पडते है उनका क्षयोपशम हो। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, जाना ही करे, निरन्तर जाने ऐसा आत्माका स्वभाव है, क्योकि जो भी चीज होती है उसका स्वरूप है स्वभाव है कि प्रतिक्षण निरन्तर परिणमता रहेगा। परिणमन बिना कोई पदार्थ नही रहता। अब उस परिणमनमे ये ससारी मोटे परिणमन, नारकी हो, तिर्यञ्च बनें, कई इन्द्रिय वाले बने ये तो बडे स्थूल विरुद्ध परिणमन हैं। ये कही जीवके स्वभाव नही हैं, ये तो जीवके अनर्थ है, जीवकी विपत्तिके कारणभूत हैं। जितने सग समागम है, जितने लोगोंका

सम्बन्ध है, जितने चेतन अचेतन पदार्थोंका संगम है, दूसरे पदार्थोंकी ओर ख्यालात जाता है वे सबके सब इस जीवके लिए कलंक है। कोई जीवकी शोभा, चतुराई, कुशलताकी बात नही है। ये सब कलंक है और इस संसारमे यह जीव लोग इन ही कलंकोमे अपना श्रृङ्गार चतुराई सब समझते है, है सब यह कलंक।

नरकगति और तिर्यंचगतिका समाचार—संसारकी कौनसी स्थिति ऐसी है जो भली हो ? एक भी स्थिति बताओ। नरकगतिके जीव निरन्तर दु खी रहते हैं। उसे तो कोई चाहता ही नही, भला मानता ही नही। नारकी जीव भी भला नही मानते। नरकगतिकी स्थितिको नारकी जीव तक भी अच्छा नही समझते। भला कई बहुत-बहुत स्थितियाँ तो ऐसी होती कि उनमें जीव कोई अच्छे भी समझे जाते। जैसे मनुष्योमे देखो कितने दुःख हैं, बचपनसे लेकर वृद्धावस्था तकके सब जीवनमे कष्ट ही कष्ट है। ये मनुष्य कल्पनासे मान लेते कि हमको बडा आराम है, पर आराम नाममात्र भी नही है। मोहका उदय है, कुछ धन वैभव पैसा है, कुछ यश है, लोगो में तनिक पूछ है तो मान बैठते है कि हम बड़े सुखी हैं। मगर जहाँ जन्ममरण दोनो प्रकारकी आग लगी हो शुरूमे और अन्तमे उस आगके बीचमे पड़ा हुआ मनुष्य कीट काहेका सुखी है ? फिर भी मोहवश यह मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। पर नरकगतिमें तो इतनी भी बात नही है। वे दु ख पाते है, दुःखी होते हैं और उसको बुरा मानते है, भला नही मानते, इतना कठिन दुःख है। तिर्यंचगतिके क्लेश देख लो, भले ही तिर्यंच अपनेको बडा सुखी अनुभव करें, तिर्यंच हैं पशु-पक्षी, कोडे मकोडे। मनुष्य तो सोचते हैं कि इनकी क्या जिन्दगी है, पर वे नही सोच पाते कि हमारी बुरी जिन्दगी है, क्योकि तीन आयु शुभ माना है, पुण्य माना है और नरक आयु पाप माना, क्योकि ये तीन गतिके जीव मरना नही चाहते। मरनेपर कितनी आपत्ति होती, इनको सबसे प्यारा जीवन है, मरना नही चाहते। कोई ऐसी कुबुद्धि आये जो आत्महत्या करे वह बात अलग है। वह कषायमें समझ नही सकता, वह देख ही नही रहा मरणको, मगर तिर्यंच मरना नही चाहते, मनुष्य भी मरना नही चाहते और देव भी मरना नही चाहते। नारकी मरना चाहते, मगर वे मर नही सकते। उनका वैक्रियक शरीर है, शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायें, फिर भी पारेकी तरह इकट्ठे होते है वे मर नही सकते। तो तिर्यंचमे भी क्या सुख है ? भले ही आयुसे मोह है, मगर तिर्यंचगतिको पाप बताया है। यहाँ प्रकट दु.ख है।

देवगति व मनुष्यगतिका समाचार—देवगतिमे भले ही खाने-पीनेका दु ख नही है। हजारो वर्षोमे भूख लगती है, कठसे अमृत झरता है, पर इस मनका क्या करें ? उनका मन कुछ सोचता ही तो रहता है, दूसरोकी विभूति देखकर ईर्ष्या करते है, तड़फते हैं, अपनेको कम ऋद्धिवान समझकर मन ही मन संताप करते है और विषयभोगोमे रमते है। ये

विषयभोग शान्तिके फल नही है, ये आकुलताके फल हैं। कितनी कठिन वेदना होती है तब यह जीव विषयोमे प्रवृत्ति करता है। अगर ये विषय शान्तिकी चीजें होतीं तो शान्त रहते हुएमे प्रवृत्ति करते ना, पर आकुलतासे ही विषयोमे प्रवृत्ति होती है। और विषय भोगनेके कालमे भी इनके आकुलता चलती है। तो देवगतिमे भी निरन्तर दुःख ही दुःख हैं, क्योकि मनमे कल्पनाएँ उठती हैं, कल्पनायें जगती हैं, विषय भोगनेकी पीडायें होती हैं और एक दूसरे को मनाया करते हैं। जैसे ये मनुष्य अपने वैषयिक सुखोंके लिए दूसरेको राजी रखते ना, नही तो सुख-सामग्री कैसे मिले ? स्त्रीको राजी रखें, पुत्र, मित्रादिकको राजी रखें, वे देव देवियां भी निरन्तर अपने वैषयिक सुखोके लिए एक दूसरेको राजी रखनेकी बात सोचा करते हैं। तो देवगतिमे भी सुखसाता नही है। मनुष्योमे क्या है, सो सब मनुष्य जान ही रहे। सभी मनुष्य अपने भीतर पोले पडे है, पर अपनी शक्ल सूरत ऐसी बनायेंगे कि जिससे दूसरे यह समझें कि यह बडे सुखी हैं। भीतर हृदयमे कहाँ-कहाँ विकल्प दौड रहे हैं, कहाँ-कहाँ लगाव है, वहाँ-कहाँके सोच-विचार हैं उससे वे दुःखी रहते हैं, मगर एक ऊपरी ढग ऐसा बनाते हैं कि लोग समझते है कि यह बडे धनी है, बडे सुखी होंगे, यह नेता है, यह बडे सुखी होंगे, मगर सबके भीतर क्लेश भरा हुआ है।

ससारकी कोई भी अवस्था इस जीवके लिए हितरूप नही, शान्तिरूप नही। यहाँ जो मोह रखते, लगाव रखते, यह मेरा घर है, यह मेरा अमुक है, न जाने कहाँ-कहाँ अपना लगाव रखते, धर्मके कामोंमे भी अपना लगाव रखते—यह मैं हू, यह मै धर्म कर रहा हू, इसीसे मेरा बडप्पन है, इसीसे मैं ठीक कहलाता हू, इस लगावकी बात कहाँ तक कही जाय, ये सब लगाव इस जीवकी आकुलताके कारण हैं। धर्मके काम तो इसलिए करना चाहिए कि प्रभुके अन्त स्वरूपको निरखें, अपने अन्तःस्वभावको देखें, बस इस समानताकी ओर ध्यान रखनेके लिए ये सब क्रियायें करनी पडती हैं। करते हैं। तो लगावकी बात कह रहे कि इस जीवका इस पर्यायसे लगाव होनेसे यह बडे कष्टमे पडा हुआ है।

मतिज्ञानकी क्षायोपशमिकताका निर्देशन—यहाँ जीवकी अवस्थायें बतला रहे है। ज्ञानावरण कर्म लदा है, बध है, ज्ञानका आवरण है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा है कि वास्तवमे ज्ञानावरण कर्म जीवको अज्ञानी नही बना रहा, क्योकि वह निर्विकार पदार्थ है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी क्रिया नही करता, लेकिन ऐसा योग है कि ज्ञानावरण कर्मका उदय निमित्त हो, सन्निधान हो तो यह जीव स्वरूपकी सुध छोडकर यह अज्ञानरूप परिणमता है। तो जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो जीवमे यह क्षायोपशमिक भाव पैदा होता है। क्षायोपशमिकमे होता क्या है कि कर्मकी ऐसी स्थिति कि जिसमे क्षय हो, उपशम हो, उदय हो। जैसे ज्ञानावरणमे मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम क्या है ? जो मतिज्ञानावरण कर्म है, जो

मतिज्ञानावरणके परमाणु पिण्ड है उसमे दो तरहके स्पर्धक हैं, मायने दो तरहके परमाणु है। एक सर्वघाती स्पर्धक कहलाता, एक देशघाती स्पर्धक कहलाता। इन शब्दोसे ही इनका अर्थ समझ लीजिए कि जो समस्त गुणोका घात करे वह सर्वघाती और जो एकदेश घात करे वह देशघाती।

जैसे केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। केवलज्ञानावरणका क्षयोपशम नही होता। उदय है या क्षय है। उदय है तो केवलज्ञान पूरा ढका हुआ है। जैसे हम लोगोके मतिज्ञान पूरा नष्ट नही होता, चाहे निगोद अवस्था मिले, चाहे अत्यंत जघन्य ज्ञान मिले, फिर भी लब्ध्यक्षर ज्ञान निरावरण ज्ञान रहता ही है। तो जैसे हम लोगोके कोई न कोई रूपमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान रहा ही करेंगे, क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है। केवलज्ञानावरण की तरह यह सर्वघाती प्रकृति नही है, फिर भी मतिज्ञानावरणका जितना कर्मपुञ्ज है उनमे कुछ परमाणु सर्वघाती है, कुछ देशघाती है। तो जो परमाणु सर्वघाती हैं उनका उदय नही है किन्तु उदयाभावी क्षय है। अगर उदय हो जाय मतिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकका तो जीव जड हो जायगा, ज्ञान रह नही सकता। तो मतिज्ञानावरणमे मिलेजुले है सब परमाणु कुछ सर्वघाती कुछ देशघाती। तो उनमे जो सर्वघाती स्पर्धक है उनका तो उदयाभावी क्षय है, मायने उदयकाल आता है तो वह शक्तिहीन होकर विपाक समयमे अन्य रूपसे उदय होकर खिर जाता है और जो आगे सत्तामे पडे सर्वघाती हैं उनका उपशम है मायने वर्तमानमे जो सर्वघाती है वे उदयाभावी क्षय होकर निकल गए और आगे होने वाले सर्वघातीकी हो जाय उदीरणा तब भी जीव नही रहेगा याने ज्ञान न रहेगा तो उनका है उपशम और इस ही मे जो देशघाती स्पर्धक है उनका है उदय, इस तरहकी मिश्र अवस्थासे यह मिश्रभाव बनता है। यह देखना है कि इसमे क्या तो परिणाम बन रहा है और यह किस कारण बन रहा है ? बन तो रहा है जीवके। उस कालमे उस पर्यायमे वैसा हो सकता है, होनेसे ही बन पाया है, मगर अहेतुक नही है वह परिणाम। इसका हेतु है ज्ञानावरणका क्षयोपशम। तो क्षयोपशम हेतुक होनेसे इस ज्ञानका क्षायोपशमिक भाव कहते है।

क्षायोपशमिक ज्ञानकी अगर्व्यता—अब देख लीजिए जिस ज्ञानको पाकर मनुष्य गर्व किया करते है, ऐसा सोचते हैं कि हमने सब प्रकारका ज्ञान पाया, मेरे समान कौन ज्ञानवान है ? और यह गल्ती प्रायः सभी मनुष्योसे होती। कोई बहुत छोटा भिखारी हो वह भी यही सोचता है कि जो कला मुझमे है सो मैं बडा बुद्धिमान हूं। जिसमे जितनी योग्यता है वह उतने से ही अपनेको बडा बुद्धिमान समझता है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको ऐसा समझता है कि मानो दुनियामे कुल दो आंखें है, सो एक आंख तो हमे मिली है और एक आंख बाकी सारी दुनिया को देखनेको मिली है। इस तरहका एक अपनेमे अभिमान बनाते है, मगर इतना सा ज्ञान

क्या ज्ञान है ? वह तो क्षायोपशमिक ज्ञान है, अपूर्ण ज्ञान है, छुटपुट ज्ञान है । जहाँ गणधर देवके मनःपर्ययज्ञान हो जाता है उससे बढ़कर और क्षयोपशमज्ञानकी क्या महिमा कही जाय ? वहाँ भी गणधर यही कहता है कि मेरा यह ज्ञान अपूर्ण है, कुछ नही है । ज्ञान जो केवलज्ञान है, जिस ज्ञानमें ३ लोक ३ कालके समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं । वह केवलज्ञान कोई ऐसी चीज नही है कि जो दूसरोके ही हुआ करती है. मेरा उससे क्या मतलब ? अरे जो केवलज्ञान है वह मेरे स्वभावकी चीज है, पुरुषार्थ बने, विभावोका विनाश हो तो वह भी प्रकट हो सकता है ।

तो यह क्षयोपशमकी बात कह रहे है कि चार प्रकारके ये ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक भावके मायने कहा है ना अभी कि ऐसी कर्मकी दशा, ऐसी एक-एक प्रकृति की दशा कि जिस प्रकृतिमे सर्वघाती स्पर्धकका तो उदयाभावी क्षय है, उदय नही हो पाता । उस समयसे पहले विघट जाता और आगे आने वाले सर्वघाती स्पर्धकोका उपशम है, और देशघाती स्पर्धकका उदय है । अगर उदय—न हो तो ज्ञान पूरा हो जाना चाहिए, और अगर क्षय, उपशम न हो तो जड हो जाना चाहिए । हम आपकी जो यह बीचके ज्ञान वाली दशा बन रही है वह क्षय, उपशम और उदय— इन तीनकी मिश्रतासे बन रही । स्पर्धक क्या चीज कहलाती ? याने जो कर्म उदयमे आये, जैसे मतिज्ञानावरण जिस स्थितिमे है उस मतिज्ञानावरणके स्पर्धकोके समूहका नाम उदयस्थान है । मायने एक किसी समय जिसका उदय आया है, जो एक सामने आया है उनमे जो स्पर्धक है परमाणुओका समूह, ऐसे सब प्रकृतियोका उदय आया तो एक समयके स्पर्धकोका समूह उदयस्थान है । कैसे परमाणुओका समूह ? पहले शुरूसे समझो कि जो परमाणु उदयमे आये हैं वे अनन्त परमाणु है याने सिद्धके अनन्तवें भाग और अभव्योसे अनन्त गुणा इतने परमाणु एक साथ उदयमे आया करते । तो जो उदय मे आये परमाणु है वे परमाणु नाना प्रकारके है । कोई थोडी शक्ति वाले, कोई बडी शक्ति वाले, ऐसे नाना अनुभाग रसोके भेदसे उसके अनगिनते प्रकार हैं । उनमे जो बहुत कम रस जिनमे पडा है याने बहुत कम शक्ति जिसमे बसी है, ऐसे कर्म परमाणुको लिया जाय वह कहलाया वर्ग । और ऐसे अनेक उन समस्त वर्गोंका समूह समान अनुभाग वाले कर्मपरमाणु हैं, उनके समूहका नाम है वर्गणा । तो ऐसा होता है कि जैसे मान लो एक हजार अनुभाग वाले कर्म परमाणु है तो उसके आगे एक-एक अधिक अनुभाग वाले और आ गए, ऐसे अधिक-अधिक बढते-बढते यहाँ तक बढ जायें कि जिसके बाद एक अधिक न मिले, किन्तु अनन्तगुणा अधिक मिले, उससे पहलेके जितने परमाणु है उनका नाम स्पर्धक है । फिर दूसरा स्पर्धक लें आगे, ऐसे अनन्त स्पर्धकोका समूह एक उदयस्थान है । ऐसे उदयस्थानमे ग्रस्त इस जीवका जो ज्ञान है वह नाकुछ जैसा है, उसपर क्या गर्व करना ?

विडम्बनाका विधान—गड़बड़ी क्या चल रही ? जैसे सूर्यके नीचे बादल आडे आ

जायें तो कोई बडे घने बादल आड़े आते, कोई हल्के बादल आड़े आते । जब काले घने बादल आडे आते तो सूर्यका प्रकाश बिल्कुल नही दिखता और जब हल्के बादल आडे आते तो कुछ-कुछ प्रकाश दिखता है । तो जैसे उन बादलोंमे कम घन, ज्यादा घन ऐसे अनेक भेद पडे है, ऐसे ही जो उदयमे आ रहे कर्म है उन कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका, अनुभागका ऐसा बहुत भेद पडा हुआ है । तो तब ही तो कहते है कि जैसा उदय होता है वैसे आत्माके परिणाम होते हैं । अगर इसको यो इस रूपमे निरखेंगे कि प्रतिफलन तत्त्व अनिवार्य चीज है याने जिस जातिका जितने अनुभाग वाला कर्म उदयमे आया तो उदयके आनेके मायने उन कर्मोंमे ही गडबडी हुई, स्फोट हुआ, विकृतपना आया । अब उसकी झलक इस उपयोगमें हुई तो झलक तक, प्रतिफलन तक, तिरस्कार तक तो एक अनिवारित बात है ।

अब इसके बाद जीव तो अज्ञानी है, तो उस प्रतिफलनमे अपना लगाव बनायगा कि यह हूं मैं और उसके अनुसार फिर विषयोमे प्रवृत्ति करेगा । और कोई ज्ञानी है तो वह जानता है कि जैसे दर्पणके सामने कोई रग-बिरगी चीज आयी और दर्पणमे प्रतिबिम्ब बना तो यह दर्पणमे प्रतिबिम्ब औपधिक है । दर्पणकी निजकी गांठकी चीज नही है वह प्रतिबिम्ब । ऐसे ही मुझमे जो विडम्बना छा गई, जो विडम्बनाका प्रतिबिम्ब है वह मेरी गांठकी चीज नही है, वह तो औपाधिक है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अपने आपकी ओर उन्मुख रहता है, सावधान रहता है, अधीर नही होता, आकुलित नही होता, किन्तु जैसे कोई अचानक विपदा आ जाय मनुष्यपर तो वह एक साहस बनाकर उसको सहता है, ऐसे ही ज्ञानी जीव अन्त साहस बनाकर उस कर्मविडम्बनाको सहकर निकाल देता है । तो जो कर्मविपाक होता है, इस आत्मापर छा जाता है, बस वही जीव और अजीवके सघर्ष वाली बात है और इस संघर्षसे अजीवका तो कुछ बिगडता नही, क्योंकि वह अचेतन है ।

जैसे कोई पदार्थ जल जाय, राख हो जाय तो राख हो जानेसे उस पदार्थको क्या आकुलता होती ? न रहा पिण्ड, राख बन गया, कोई आकुलताकी बात तो नही है, क्योकि अजीव है, उसका उत्पाद व्यय चल रहा है, मगर जीवमे जो विडम्बना बनती है, विकल्प बनता है, आकुलता होती है, लगाव चलता है, इससे तो जीवका विगाड है । उसमे जीव ही दुःखी रहता है । इस कारणसे जीवको सम्हालनेकी सावधानी होनेकी आवश्यकता है, क्योकि हम सावधान न हो तो, अपने स्वरूपकी सम्हाल न बनायें तो दुःखी हम होगे । वेदना तो मुझे ही भोगनी पडेगी, दूसरा कोई मेरी वेदना न भोगेगा, मेरी वेदनाकी अनुभूति न करेगा । इस विकल्पकी अनुभूति इस जीवको ही करनी पडती है । तो मुझमे अनुभूतियाँ खोटी न बनें, मैं अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी ही अनुभूति किया करूँ, बस ऐसा पुरुषार्थ होना चाहिए और भीतरमे ऐसा उजेला होना चाहिए । भले ही नाना संग मिला है, मगर यह स्पष्ट ज्ञान

रहे कि मेरा तो शरीर भी कुछ नही तो फिर अन्य पदार्थ मेरा क्या हो सकता है ? जब शरीरसे ही मैं जुदा हू, मेरा शरीरपर अधिकार नही, शरीरका मुझपर अधिकार नही, दोनो स्वतंत्र वस्तु है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है, मगर मौलिक स्वतन्त्रता है, ऐसे ही समस्त अन्य जीव, समस्त अनन्तानन्त पदार्थ, सबसे मेरा कोई सम्बध नही । मैं हू ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दस्वभावी और अपनेमे औपाधिक परिणमन करता हुआ दु खी होता हू । औपाधिक परिणमनका फल समझ लें, उससे उपेक्षा करू और अपने ज्ञानानन्दस्वरूपके सम्मुख होऊँ तो सब आकुलता दूर हो जाती है । बस इसी सही उजेलेके लिए सबका प्रयास होना चाहिए ।

शान्त्यर्थ ज्ञातव्य तत्त्वोका वर्णन—ससारके ये प्राणी जन्म-मरण, जन्म-मरण करते हुए जन्म-मरणके दुःख भोग रहे है और उनके बीच जो जीवन है उसमे भी दु ख भोग रहे है । उनका दु ख कैसे मिटे ? उनके उपायका वर्णन मोक्षशास्त्रमे किया है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ससारके दु खोसे छूटनेका उपाय है । सम्यग्दर्शनका क्या अर्थ है ? निश्चय से तो यह है कि आत्माका जो एक सहजस्वभाव है उस रूपमे अपना श्रद्धान् होना, अनुभव होना, यह हू मैं, सबसे बोलकर नही, किन्तु बिना शब्द ही बोले पर्यायाश्रित विधिसे अनुभव बने उसका नाम सम्यग्दर्शन है । अच्छा ऐसे सम्यग्ज्ञानको पानेके लिए क्या पौरुष करना चाहिए ? तो वह बताया है तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् । प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । तो परिचय हुआ तब ना श्रद्धान् हुआ । तो ७ तत्त्वोका परिचय दूसरे अध्यायसे लेकर १०वें अध्याय तक है । तत्त्वार्थसूत्रमे ७ तत्त्वोका परिचय बताया है । पहलेमे तो परिचय पानेके उपाय बताये है । प्रमाण नय और उनका विस्तार और दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका परिचय कराया है । वस्तुत जीव तो अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव सहजचैतन्यमात्र है और फिर उसे विशेष रूपसे परिचय करते है तो जीवके ५ तत्त्व कहे हैं—औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव ।

बीत रहे क्षायोपशमिक भावका परिचय—अभी क्षायोपशमिक भावका वर्णन चल रहा है । जो जीवपर गुजर रहा है उसकी बात चल रही है । सभी जीवोपर प्राय ये दो बातें गुजर रही है—क्षायोपशमिक और औदयिक । औपशमिक और क्षायिकके भाव सम्यग्दृष्टिमे ही होते है और ये दो भाव ज्ञानीके भी चलते, अज्ञानीके भी । तो क्षायोपशमिक भावमे क्या होता ? आत्माका स्वभाव तो ज्ञानानन्दका है, पर वह ज्ञान और आनन्द ढक गया, आवृत हो गया । किसके द्वारा ? विषयकषायोके परिणामसे । और ये विषयकषायोके परिणाम जीव मे स्वत नही होते । कर्मका उदय हुआ, उसका प्रतिफलन चला, बस वहांसे प्रारम्भ होता है विकार ।

तो जीवका परिचय करना है कि मेरेमे क्षायोपशमिक भाव तो कुछ है और अन्य भाव कुछ है । क्षायोपशमिक भावका सक्षिप्त अर्थ यह लगायें कि जिसमे गुणोका कुछ तो

विकास है, बाकी विकास नही है। जैसे ज्ञान ४ कहे है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान और (४) मन.पर्ययज्ञान। तो इनमे ज्ञानका विकास है, पर पूर्ण ज्ञानविकास नही है इनमे कोई। मतिज्ञान हम आपके होता है, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर क्षयोपशमके अनुसार जीवमे ज्ञान प्रकट होता है। जैसे आँखें खोली और कुछ दीखा मतिज्ञान, हाथ से कुछ छूनेमे आया। जानकारी होना मतिज्ञान, सभी इन्द्रियोके द्वारा और मनके द्वारा जो वर्तमान प्रारम्भिक बोध है वह मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमे जो और विशेष जानना होता है अर्थान्तरका वह है श्रुतज्ञान। ये दो ज्ञान हम आपमे चल रहे है इस समय। इसका बोध करना कि हम क्या कर रहे बस ज्ञानका ऐसा हममे परिणमन चल रहा है। मैं क्या हू, क्या करता हू, कैसी स्थिति है ? इसका सही परिचय होना चाहिए। स्वभावसे तो मैं विशुद्ध चेतना मात्र हू। सिद्धमे यह प्रकट है, मुझमे अभिभूत है, पर स्वभाव वही है जो प्रभुका है। अपने आत्माका महत्त्व जाने बिना यह इन असार बाहरी चीजोमें उपयोग लगा कर दुःखी होता है और जो अपना महत्त्व समझमे आया, तो मैं तो सहज ही ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इसमे क्या कमी है ?

अज्ञानजन्य दुःखके विनाशका उपाय ज्ञानाभ्युदय—देखो सारा दुःख मोहका है और कोई दुःख है ही नही जीवको। अगर घर गिरनेसे या किसीका वियोग होनेसे दुःख होनेका कोई कानून हो तो जगतके जो और अन्य मकान गिरते है या अन्य जीवोका मरण होता है तो उनके प्रति क्यो नही दुःख मानते ? भिन्न तो जैसे और जीव है वैसे ही घरके जीव है। कोई फर्क नही है। जितने निराले दुनियाके जीव हैं उतने ही निराले घरमे रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र, पति आदिक हैं। कोई सम्बन्ध नही। जैसे अन्य जीव भी कर्मसे घिरे हैं और कर्मविपाक अनुसार उनका परिणमन चल रहा है यह ही बात तो कुटुम्बी जनोकी है। कोई अतर नही है भिन्नतामे। फिर आप कहेगे, सोचेंगे कि और जीवोके बिना तो काम चल जाता मगर घरके लोगोके बिना तो काम नही चलता। तो काम चलना जिसे कहते है वह तो एक अपनी स्वार्थपूर्ति जैसी बात है, और फिर लौकिक काम अन्यके बिना नही चलते, ऐसे ही कुटुम्ब बिना नही चलते और निश्चयतः देखो तो जीवका काम अपनेमे अपने आप हो रहा है, इसमे किसी दूसरेका कुछ नही लगता। तो ये प्रकट भिन्न है मगर उनमे मोह लगा है, कल्पना जगती है कि ये मेरे हैं कुछ, बस इस कल्पनाने इस जीवको दुःखमे डाल दिया। एक द्वन्द्व है यहाँ गृहस्थको कि करे बिना सरता नही, करना मत्र पड़ रहा और अध्यात्मबोध यह बताता है कि तुम कुछ कर नही रहे। कैसी सघर्षकी स्थिति है कि करे बिना बनता नही और बाहर कर्म कुछ है नही। जीव तो एक ज्ञानानन्द स्वरूप है। वह अपने प्रदेशोमे ज्ञान और आनन्दका परिणमन कर ले, इसके अतिरिक्त और कुछ नही कर सकता। अमूर्त है, क्या

करेगा कुछ ? किसीको पकड नही सकता, कोई काम कर नही सकता।

बात तो यहां यो चल रही और बाहरमे यह दिख रहा कि करे बिना तो चलता नही। कौन करने आयगा ? सब काम करने पडते। ऐसी यह संघर्ष वाली स्थिति है। तो उसका समाधान क्या है कि अपनी ऐसी तैयारी ज्ञानकी बने कि मैं अमूर्त आत्मा किसी अन्य पदार्थमे कुछ कर ही नही सकता, और जो गुजर रहा है सो यह कर्मविपाकवश परिणति होती है, सो करना पडता है। जैसे कोई कैदी चक्की भी पीसता और जो-जो कुछ भी काम सिपाही लोग करायें वे सब करता, क्योकि वह डडे मारता है। तो करे बिना सरता नही और करना वह चाहता नही। जैसे किसी कैदीमे ये दोनो बातें एक साथ चल रही है—किए बिना सरता नही, करना कुछ चाहता नही। ऐसे ही ज्ञानी गृहस्थके दो बातें चलती है जो लोकमे हुआ हो करती। किए बिना सरता नहीं, करना कुछ चाहता नही। क्यो करे बिना नही सरता कि हीन सहनन है। त्याग बनता नहीं। यदि सबकी उपेक्षा करे और कुछ परवाह न करे, भूख-प्यास, ठड-गर्मी या अन्य-अन्य सुविधाये कुछ न चाहे तो उसको फिर कोई दद-फद नही, कुछ करना न पडेगा, निराकुल बन जायगा, मगर ऐसा बना कहाँ जा रहा है ? ऐसा ही कर्मोदय है, विपाक है जहाँ यह जीव कायर है और महान् त्यागको यह नही कर सकता, ऐसी स्थितिमे ही कहा है गृहस्थधर्म। करना पडता है, मगर जानता सब है। एक द्रव्य दूसरेका कुछ परिणमन नही करता और बीत रही ये सब बाते। तो आत्मापर क्या बीत रही भीतर ? उन तत्त्वोका यहां वर्णन चल रहा है, इसका ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान कभी हटता नही, निरन्तर जानता ही रहता है। तो अनन्ते जीव जुदे-जुदे ज्ञानमे लग रहे है, उनका ज्ञानपरिणमन जुदी-जुदी योग्यतानुसार चलता है। बस यह ही इसका उत्पादव्ययध्रौव्य है, दूसरे पदार्थसे सबध नही, पर यह अधूरी, अपूर्ण, हल्की बात, विकारकी बात यो ही नही हो गई। उसके ही सहजस्वभावसे उसमे उपाधि है। उस उपाधिका क्षयोपशम हो तो क्षायोपशमिक भाव होता है। मतिज्ञान कैसे होता है ? वीर्यान्तरायकर्मका तो हो क्षयोपशम याने उससे सर्वघाती स्पर्धकोका उदयाभाव। कर्म हैं उनमे कुछ परमाणु सबको घात दें ऐसे हैं, और कुछ परमाणु एकदेश घात करें ऐसे हैं, तो सबको घात दें, ऐस परमाणुका उदय हो जाय तो जीव जीव न रह सकेगा, जड हो जायगा। सो सर्वघाती स्पर्धकोका उदय जीवके नही बनता। बनता है तो जैसे केवल ज्ञानावरणका उदय हुआ तो लो केवलज्ञान पूरा ढक गया। पर इस तरह सभी बातोमे हो तो जीव फिर जीव न रहेगा, जड बन जायगा। तो अपनी बात देखिये भीतर मे कि कर्मउपाधिका जितना क्षयोपशम है उसके अनुसार मुझमे विकास चल रहा है। लेकिन यह विकास आपेक्षिक है, औपाधिक है। यह स्वाभाविक नही है। स्वाभाविक विकासमे सीमा नही होती। मगर ज्ञानकी सीमा चल रही है तो समझना चाहिए कि वहाँ उपाधिका प्रभाव बन रहा। तो मतिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकका उदयाभाव और उपशम और देशघाती

स्पर्धकका उदय, ऐसी स्थिति होनेपर आत्मामे यह मतिज्ञान चल रहा है। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञान चलता, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो अवधिज्ञान बनता, मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो मनःपर्ययज्ञान बनता। ऐसे ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है।

मिथ्यात्वके संगसे कुज्ञानोमे विपरीतता—विपरीत तीन ज्ञानोके भी क्षयोपशम है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। बुद्धि उल्टी हो जाय, मति उल्टी चले, खोटा ही दिखे, ये सब खोटे ज्ञान है। एक कथानक आया है—ऋषभदेवके पूर्व भवका। कोई एक अरविन्द नामका इनसे सम्बधित राजा था, उसको एक बार ज्वर हुआ, और उस ज्वरकी हालतमे हुआ क्या कि कोई दो छिपकलियाँ ऊपर भीतपर लडने लगी, उनकी पूछ टूट जानेसे खूनके कुछ बूंद अरविन्द राजाके शरीर पडे। उससे राजाको बडा संतोष मिला। राजाके मनमे आया कि यदि इस खूनसे स्नान करूँ तो मुझे चैन मिलेगा। सो उसने अपने लडकोको यह आदेश दिया कि ऐ लडको! जावो कहीसे पशुओंका खून लावो, खूनकी बावडी भराओ, हम उसमे स्नान करेंगे तब बीमारीसे चैन मिलेगा। दोनो लडके पिताकी बात सुनकर दंग रह गए, अरे इतना खून कहाँ से लाया जाय? व्यर्थ ही क्यो निरपराध जीवोकी हत्या की जाय, पर राजाका आदेश टाल कैसे सकें? सो लडकोने पूछा—पिताजी! इतने पशु कहाँ मिलेंगे मारनेके लिए? सो राजाने अपने अवधिज्ञानसे बताया कि अमुक दिशामे अमुक स्थानपर एक जगल है, उस जगलमे अमुक जगह हिरण, खरगोश, स्याल आदि अनेक पशु मिलेंगे, उनको मारकर लावो। आखिर पिता की आज्ञा पाकर दोनो लडके पहुंचे उस जंगलमे। वहाँ उन्हे एक मुनिराज मिले। मुनिराज अवधिज्ञानी थे, वह सब हाल जान गए और उन दोनो लडकोसे कहा कि ऐ लडको! तुम्हारा पिता नरकगामी है, उसके पीछे तुम पाप मत करो। उसके जो ज्ञान है वह खोटा ज्ञान है, कुअवधिज्ञान है। तो लडकोने कहा—महाराज! कैसे आपने जाना कि खोटा ज्ञान है? तो मुनि महाराजने कहा कि देखो अपने पितासे जाकर पूछो कि जिस जगलमें भेजा है उसमे और-और भी क्या है? देखो वह हमको भी बताता है कि नही। सो वे दोनो लडके पहुंचे पिताके पास और पूछा कि पिताजी! आपने जिस जगलमे हमे पशु मारनेके लिए भेजा उसमे और क्या-क्या है? तो उस राजाने अनेक पशुओके नाम लिए, पर मुनि महाराजका नाम न लिया। अब वे दोनो लडके मुनिराजके पास आये और बताया कि पिताजीने तो अनेक प्रकारके पशुओंके नाम लिए, पर आपका नाम नही लिया, तो मुनिराज बोले—देखो हम बताते थे ना कि तुम्हारा पिता कुअवधिज्ञानी (खोटा ज्ञानी) है, उसको अच्छी बातका ज्ञान नही, खोटी-खोटी बातोका ही ज्ञान है। तुम यदि उसके आदेशमे लगोगे पाप करोगे तो उसका फल तुम्हे ही भोगना पड़ेगा। लडकोको समझमे आ गया। तो उन्होने

जीव जतुओको तो न मारा, पर और क्या उपाय किया कि लाखके रगकी वावडी भरा दी। जव राजाने उस वावडीमे स्नान किया तो समझ गया कि यह खून नही है, यह तो कोरा लाल पानी है, रग है। तो उसे लडकोपर बडा क्रोध आया और नंगी कटार लेकर उन्हे मारने दौडा। वे दोनो लडके अपने प्राण वचाकर भागे। पीछेसे वह राजा मारनेके लिए दौड़ रहा था। कुछ दूर जाकर उस राजाको ऐसी ठोकर लगी कि वह जमीनपर गिर गया और उसकी ही कटारसे उसका पेट फट गया और मरकर नरक गया।

ज्ञानकी दिशाकी मोड़का कारण दर्शनमोह—अभी कुअवधिज्ञानकी वात कह रहे है कि जिसके कुअवधिज्ञान होता है उसको उल्टी ही वात सूझती है, हितकारी, सही, निष्पाप वात नही सूझती। इसी तरह सव कुज्ञानोकी दशा है। तो ऐसा जो खोटा ज्ञान बनता है उसका भी कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, मगर उल्टा ज्ञान वनता है, क्योंकि साथमे मिथ्यात्वका उदय है। जैसे नाव चलती है तो खेने वालेका काम तो वस नावको खेते रहना, आगे वढाना है। पर किस दिशामे नाव ले जायें यह है पीछे वैठे हुए कर्णधारका काम है। नावमे पीछे जो एक सूप जैसा लगा रहता है उसको डडेसे जैसा घुमावे उस दिशामे नाव चली जाती है। तो क्षयोपशमकी वजहसे तो एक जानकारी बनी, जान गए, पर मिथ्यात्वका उदय है तो वह दिशा वदल देगा। जैसे मा ने अपने वेटेकी आँखमे अजन लगाया था, और और भी सेवायें किया था और मानो दुर्भाग्यसे वे दोनो मरकर नरक गए तो वहाँ वह वेटा सोचता है कि इस माँने तो मेरी आँखें फोडनेकी चेष्टा की थी। वह यह न जानेगा कि इसने तो मेरी आँखोमे सलाईसे अजन लगाया था और हमारी सेवा की थी। वह तो उल्टा ही समझेगा। तो जब आवरणका क्षयोपशम है तो जानकारी तो वढती है, पर मोह मिथ्यात्वका उदय है तो वह खोटी दिशाकी ओर मुड़ जाता है। तो ऐसा जो भी ज्ञान है, जो कुछ भी जानकारियाँ होती है, उनमे विकास तो है मगर अधूरापन है। और साथ ही हो मिथ्यात्वका उदय तो विल्कुल उल्टी दिशा बन जाती है। मोहमे बेसुधी है, आत्माका भान नही है, केवल पर्यायका भान है। जो परिणति हो रही, जो अवस्था हो रही उसीमे यह मैं हू, ठीक करता हू, चतुराई करता हू। जैसे जिसको क्रोध आ जाय तो उस क्रोधमे जो कुछ मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टा करता है तो उस चेष्टाको करता हुआ अपनेको चतुर समझता है। मैं बिल्कुल ठीक कर रहा हूं, पर ठीक कहाँ कर रहा ? क्रोधमे कभी काम ठीक नही हो सकता। क्रोधमे कही सच्चाई आ सकती है ? मगर जब क्रोध आ रहा और उसमे जो कुछ भी बरबादीका यत्न कर रहा उसे समझता है यह क्रोधी मोही कि मैं सही काम कर रहा हू, ऐसी ही मोहके उदयमे ये सारी प्रवृत्तियाँ बन रही है। घरमे लगाव रखना, हर एक सासारिक चीजोकी बढोतरी करना और किसीको कुछ दगा देना, छल करना, रुपया अधिक कमा लेना या जो जो भी काम

क्रोधीमे चलते है उनको करता हुआ यह जीव मानता है कि मैं बहुत चतुराईका काम करता हू, मगर यहाँ बात क्या हो रही कि जो पापका बध हो रहा और भविष्यकाल तक अपनी उस करनी का फल भी पाना होगा । आत्माकी समझ बिना, आत्माके ज्ञान हुए बिना शान्ति का मार्ग पाया कैसे जा सकता है ?

शान्तिके इच्छुकका व शान्तिका सही परिचय कल्याणका आरंभक—भैया ! जिसको शान्त होना है उसका ही निर्णय नही है और शान्ति वास्तवमे क्या होती है उसका भी निर्णय नही है तो शान्तिकी ओर कदम कैसे बढ़ेगा ? इससे जो जितना क्षायोपशमिक ज्ञान मिला उस ज्ञानका हम सदुपयोग करें, अपने आत्माका परिचय बनाये । विशेष नही भी कोई प्रवृत्ति की, जानकारी की तो इतने ही ज्ञानबलसे अपना काम निकाल सकते है कि मै क्या हू ? मैं हू एक ज्ञानमय पदार्थ और समस्त जीवोसे न्यारा हूँ, शरीरसे भी न्यारा हू । केवल अमूर्त एक ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र मै अतस्तत्त्व हू—ऐसा निर्णय हो जिसके और इस ही मे अपना ज्ञान बनानेका पौरुष करे तो उसको शान्तिका मार्ग मिलता है । धर्म कोई मन, वचन, काय की चेष्टा करनेसे नही होता, धर्म होता है आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणसे । और जितने व्यवहार कार्य किए जाते है वे इस ही आत्मश्रद्धान, ज्ञान रमणका पात्र रहनेके लिए किये जाते । जैसे ६ आवश्यक कार्य हैं गृहस्थको—देवपूजा, गुरूपासना, गुरुवोकी सेवा, स्वाध्याय करना, सयमकी प्रवृत्ति रखना, इच्छानिरोध रखना, यथायोग्य दान करना । तो ये ६ आवश्यक कर्तव्य क्यो धर्म कहलाते ? देखो इन सबका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे है । देवपूजा करेंगे तो सम्यग्दर्शनको ही तो पुष्ट करेंगे । भगवानका स्वरूप देखें, आत्माका स्वभाव जानें, इसीके मायने तो पूजा है । तो पूजामे इसने अपने सम्यक्त्वका ही सम्बध बनाया, गुरुवोकी सेवासे इसने सम्यक्चारित्रसे अपना सम्बन्ध बनाया, क्योंकि गुरुवोकी सेवासे गुरु जैसी ही बात मिलेगी । स्वाध्यायसे सम्यग्ज्ञानका सम्बन्ध, संयमसे चारित्रका सम्बन्ध, तपसे चारित्रका सम्बन्ध और दानका श्रद्धानसे सम्बन्ध । पूजा और दान श्रावकोके ये दो मुख्य कर्तव्य बताये, सो इनका सम्बन्ध सम्यग्दर्शनसे है । श्रद्धा न हो तो दान नही कर सकते, श्रद्धा न हो तो पूजा नही कर सकते । तो जिन-जिन व्यवहारक्रियावोमे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका सम्बन्ध है वह तो है व्यवहारधर्म और जहा इस रत्नत्रयधर्मसे कुछ सम्बन्ध नही, केवल एक रूढि और एक विरुद्ध हो दिमागी दौड बन गई, वहाँ धर्म नही है । धर्म मिलता है अपने स्वरूपमे अपने को अनुभव करें कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्यज्योति स्वरूप हू । मेरेको क्या करना है ? जैसा हू वैसा ही अनुभव करना है । यह उपाय है ससारके दु खोंसे मुक्ति पानेका ।

क्षायोपशमिक दर्शनके भेद—आत्माका स्वरूप है चेतना अर्थात् यह चेतता है । कुछ

न कुछ परखता है, जानता है, यह है जीवका स्वरूप । तो जो चेतना है यह दो तरहकी होती है—(१) सामान्यचेतना, (२) विशेषचेतना । जिस पदार्थकी जानकारी होती है, निर्णय है, यह अमुक पदार्थ है वह तो है विशेष चेतना और जहाँ मात्र पदार्थकी झलक भर आयी, उसके बारेमे निर्णय नही, जानकारी नही, सामान्य झलक है वह कहलाती है सामान्यचेतना याने दर्शन । तो जो सामान्यचेतना है, दर्शन है वह तो एक ही होता है, भेद तो जानकारी मे होता है । इसे जाना, वह जाननेमे आया, जाननेमे बहुत भेद है, पर झलकमे क्या भेद ? एक सामान्य झलक है । तो झलकमे भेद नही है, फिर भी हम आप लोगोंके जब-जब भी जो-जो झलक आती है उसका फल है कि आगे जानकारीमे बढना । तो जो भी जानकारी बनती है, जो भी ज्ञान बनता है उससे पहले जो झलक हुई उसका भी नाम जानकारीके नाम पर रख दिया जाता है । जैसे आँखें खुली, पदार्थ दीखा, रूपका ज्ञान हुआ तो चूंकि वह रूप का ज्ञान चक्षुइन्द्रियके निमित्तसे हुआ तो उस रूप ज्ञानसे पहले जो सामान्य झलक हुई थी उसका नाम है चक्षुर्दर्शन । आंखके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है उस ज्ञानसे पहले जो एक झलक बनती है उसका नाम है अचक्षुर्दर्शन । और अवधिज्ञान होनेसे पहले जो झलक बनती है उसका नाम है अवधिदर्शन । ये तीनो दर्शन क्षायोपशमिक हैं, और ये अपने-अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमसे होते है ।

क्षायोपशमिक लब्धियां—अब लब्धियां सुनो—लब्धियां होती हैं ५—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य । जीवकी परख करते जाइये अन्दरमे कि मुझ जीवकी क्या दशा हो रही है, कितना विकास है और कितना अधूरापन है ? यद्यपि दान, लाभ, भोग, उपभोग—ये चार कोई जीवके स्वभावकी चीज नही है, स्वभावकी चीज है वीर्य याने शक्ति । आत्मामे जो शक्ति है, गुण डटे हैं, पर्यायें होती है, इस तरहकी जो एक नियत्रणा है वह वीर्यशक्तिके प्रभाव से है ।

तो आत्मामे एक शक्ति नामक गुण है, उसीका ही सब विलास है और छद्मस्थ अवस्थामे कुछ भेद कर दिया, किस बातकी शक्ति ? दान देनेकी शक्ति । दान देनेके भाव होते हैं यह दानलब्धि है । लाभशक्ति—बाहरी पदार्थोंका लाभ मिल जाना, अपनी सुहावनी बात की प्राप्ति हो जाना, इसका भाव बने, शक्ति बने वह है लाभशक्ति । भोगशक्ति—जिस शक्तिसे किसी चीजको खा पी सके, भोग सके वह शक्ति है भोगशक्ति । उपभोगलब्धि—किसी बाहरी चीजको बारबार काममे ले सकें, ऐसी शक्ति हो, प्राप्ति हो तो वह है उपभोगलब्धि । और वीर्यलब्धि याने सामर्थ्य प्राप्त हो । तो ये ५ लब्धियां हम आपके क्षायोपशमिक हैं याने पूरी भी नही हैं, मिली हैं, और कुछ नही है, ऐसा भी नही है । कुछ हैं दान, लाभ, भोग, उपभोग आदिक और पूर्णतया हैं नही, तो ये क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं । और ये होते किस

तरह है कि आत्मापर जो कर्म लदा है, सत्ता है उसमे कई प्रकारके कर्म है। तो दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय—ये अन्तरायके ५ प्रकार है। तो दानान्तरायमे दोनो प्रकारके परमाणु है—(१) सर्वघाती स्पर्धक और (२) देशघाती स्पर्धक। सर्वघाती स्पर्धकके मायने है आत्माके गुणोको बिल्कुल नष्ट कर देना और देशघाती स्पर्धकके मायने हैं कि पूरा तो नष्ट न करना, कुछ विकास रहे, कुछ अधूरापन रहे, तो दानान्तरायके जो सर्वघाती स्पर्धक है उनका उदय क्षय और उपशम हो और देशघाती स्पर्धकका उदय हो तो दानलब्धि मिलती है। इसी तरह ५ लब्धियोमे समझना। भगवानके क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य है, जो कि हम आपके क्षायोपशमिक है, कुछ है, कुछ नही है। इस जीवको कहाँ क्लेश है कि कुछ इष्ट चीजें मिली, कुछ नही मिली। जितना मन है मनभर इष्ट मिले तो इच्छा खत्म हो या उसकी कल्पना ही जगे। मालूमात ही न रहे तो इच्छा न हो। यहाँ एक दुःख यह भी लगा है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग कुछ प्राप्त होते है और बाकी उनकी इच्छा चलती है।

जीवके भावोंपर जीवके भवितव्यकी निर्भरता—जीवका जो कुछ भवितव्य है अच्छा बुरा यह सब इस जीवके भावोपर निर्भर है। कैसा ख्याल बनायें कि क्लेश हो और कैसा ख्याल बनायें कि क्लेश न हो। बस यहाँ ही सब कुछ निर्भर है। बाहरी पदार्थोंके मिलनेसे यदि शान्ति मिलती होती तो आज दुनियाके जो बडे नेता है, जो धनी मानी कहलाते है वे क्यो न शान्त हुए ? तो शान्त होनेका यह मार्ग ही नही है कि बाहरी चीजें जोड़ लें, बहुत जोड लें तो शाति हो जाय। और उस जोडनेका महत्त्व भी क्या ? जब तक जीवन है, कल्पना है, मोह है तो मान-मानकर सुखी होते है। आखिर एक दिन होगा यह जरूर कि सब कुछ यही पडा रह जायगा, आत्मा अकेला जायगा। अब देखो कितना अन्तर है ? मानो किसी मनुष्यकी दो मिनट बाद मृत्यु होना है और उसको कुछ पहलेसे पता नही है, हार्टफेल वगैरा कुछ ऐसी बीमारी है जिनमे अचानक ही मरण हो जाता, पहलेसे कुछ अदाज नही रहता, तो मानो कोई दो मिनट बाद मृत्यु होना है तो देखो वह २ मिनट पहले कितना लगाव रख रहा है कि धन-वैभव परिवार, मित्रजन पार्टी आदिककी कितनी कल्पनायें बना रहा और दो मिनट बाद यहाँसे चला गया, कुछ भी न रहा, तो साराका सारा समागम एकदम छूट जाता है, यह तो स्थिति मंजूर करनी ही पडती है, चारा ही क्या है ? मजूर करें या न करें, सब कुछ एकदम छूट ही जाता है, मगर ज्ञानबलसे यहाँ जीवित अवस्थामे ऐसा निर्णय नही कर पाते कि मेरे आत्मस्वरूपको छोडकर बाकी सब मेरेसे भिन्न है, पृथक् है। जब ऐसा निर्णय नहीं कर पाते तो चीज मिलती है तो दुःख मानते, नही मिलती है तो दुःख मानते। कुछ इष्ट समागम मिल गए, मित्र जन, धन-वैभव, परिजन आदिक अच्छे मिल गए तो क्या वह

निराकुल रहता है ¿ उसके कल्पनायें नही चलती क्या ? कल्पनायें चलती, नाना तरहके भय भी चलते, शकायें भी करता तो क्या सुखी हो गया ?

जगतके बाहरी पदार्थ अगर मनमाने भी मिल जायें तो क्या वह सुखी हो गया ? और मानो नही मिला कुछ तो क्या इसमे आत्माकी कौनसी बात घट गई ? आत्माका ज्ञान, दर्शन, चारित्र कौनसा गुण खत्म हो गया ? क्या प्रदेश मिट गए, क्या सत्ता मिट गई ? कौनसी यहाँ हानि हो गई ? तो बाहरी पदार्थोंपर सुख दुःख निर्भर नही, किन्तु अपने आपके ज्ञानकी कलापर सुख दुःख निर्भर है, फिर भी छद्मस्थ अवस्थामे यह जीव जब कल्पना कर रहा, अपना जो कुछ भी इसे मिल रहा वह सब व्यवस्था कर्मोंके उदयके अनुसार है। सो जब दानान्तराय आदिक प्रकृतियोका क्षयोपशम होता है तो इस जीवको दान, लाभ आदिक की प्राप्ति भी होती है।

क्षायोपशमिक भावके अन्तिम ३ प्रकार—यह जीवके अन्त स्वरूपकी निगरानी की जा रही है कि क्या-क्या जीवमे होता रहता है ? जीवमे सच्चे ज्ञानका परिणमन चलता, किसी जीवमे मिथ्याज्ञानका परिणमन है। जीवको सामान्य झलक हुआ करती है, जीवमे दान, लाभ, भोग, उपभोग शक्तिके प्रसग आते हैं और इसके अतिरिक्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता। क्षायोपशमिक चारित्र और सयमासयम—ये तीन चीजें क्या है ? आत्माका जो सम्यक्त्व गुण है यह इस समय इस जीवके विषयकषायोकी शक्तिके कारण यह विपरीत चल रहा है, उसमे निमित्त है अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहका उदय। तो इन ७ प्रकृतियोका जब क्षयोपशम हो याने कुछ प्रकृतियाँ नष्ट हो, उदयाभावमे आयें और कुछका उदय रहे तो ऐसी स्थितिमे यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसमे मलिनता है थोडीसी, सम्यक्त्व है पूरा, देवशास्त्र गुरुकी सच्ची श्रद्धा, ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान्, आत्मा और अनात्माका भेद श्रद्धान् और अपने आपका सहज चैतन्यस्वभाव रूपमे अनुभव— ये सब बातें क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे हैं, किन्तु सूक्ष्म दोष भी साथ हैं चल, मलिन, अगाढ, ऐसी क्षायोपशमिक जैसी स्थिति जीवकी होती है। क्षायोपशमिक चारित्र क्या ? जो मुनिराज महाव्रत पालन करते है उनके मद कषाय हैं, उनके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ नही हैं, शान्त है। शत्रु मित्रको एक समान देखते, शत्रुपर द्वेष नही, मित्रपर मोह नही। काया कचन जिनके लिए समान हैं, जगतका सारा वैभव जिनके लिए तृणवत् है। जैसे जीर्ण-शीर्ण पुराने तृणसे आत्माको कोई हानि-लाभ नही होता, ऐसे ही जगतके इन सारे वैभवोसे, जिसे लोग करोडोकी माया कहते हैं उससे भी इस जीवको हानि-लाभ रच नही है।

ये तो सब बाहरी पुद्गल हैं, अपनी जगहमे पडे हुए हैं, उनका परिणमन उनके प्रदेशो मे चल रहा है, उनका कुछ भी मेरे आत्मामे नही आता। फिर उससे लाभ क्या और हानि

क्या ? कुछ भी लाभ हानि नही है इन बाहरी साधनोंसे । लेकिन जब जीवके अज्ञान रहता तो अपना महत्त्व तो सब भूल जाते और बाहरी पदार्थोंसे ही अपना बड़प्पन मानते हैं । मैं बडा हूं, मैं करोडपति हू, मैं बडा हू, क्योंकि इस गाँवमे मेरी प्रतिष्ठा है, मैं बडा हूं क्योंकि अपनी समाजमे अपने आपका अच्छा स्थान है । इन बातोंसे तो अपनेको महान निरख लेते है, पर मैं सिद्ध भगवानके समान ज्ञानानन्दका पुञ्ज हूं, विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, अपने आपके सत्त्वसे ही मैं अपनेमें एक परमात्मस्वरूप हूं, यह है महिमा मेरी, यह इसकी दृष्टिमें नही है । तो जो चारित्रवान है, ज्ञानीजन है, साधुसत है उनके लिए सारा वैभव भी जीर्ण तृणकी तरह लगता है । सब कुछ उन्होने त्याग दिया ।

क्षायोपशमिक संयमीके क्रोधकी मंदता—संयमी पुरुषकी कषाय भी मंद है— अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदिक ये १२ कषायें नही रही, सिर्फ सज्वलन कषाय है । जैसे क्रोध ४ तरहके होते है— अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । जैसे पानीमे लाठीसे एक लकीर खीची तो वह पानीमे लकीर खिर गई मगर कितनी देर रहती ? वह तो तुरन्त ही मिट जाती । लकीर रहती ही नही है । जिस समय खीच रहे उस समय थोडा मालूम होता कि रेखा खीच दी गई मगर पीछे कुछ पता नही पडता कि रेखा खीची गई । ऐसा तो होता है सज्वलन क्रोध । इतना क्रोध मुनियोंके रहता है । जैसे गाडी चलती है तो गाडीके पहियेकी लकीर मार्गपर बन जाती है, वह लकीर २-४-६ घटे ठहरती है ना, कहो एक दो दिन भी ठहर जाय, तो ऐसा क्रोध होता है व्रती सम्यग्दृष्टि गृहस्थके, इससे अधिक नही होता । एक क्रोध ऐसा होता है कि जैसे मानो खेतमे हल जोता तो हलकी जो लकीर चलती है वह इस मार्गकी लकीरसे ज्यादा समय तक ठहरती है, कहो दो चार महीना भी ठहर जाय तो इस प्रकारका क्रोध होता है ज्यादासे ज्यादा अव्रती सम्यग्दृष्टिके, मगर जो मोही अज्ञानी है उनके तो इस जातिका क्रोध होता । जैसे दृष्टातमे मान लो पत्थरमे जैसे लकीर खीच दी जाय तो वह सारे जीवन रहती है, तो ऐसी क्रोधकी डिग्रियाँ है । साधुओमे सयमीमे क्रोध मंद है, संज्वलन क्रोध ही है ।

संयमी पुरुषमें मान, माया, लोभकी मंदता—मानकी डिग्री भी बहुत हैं । एक ऐसा तीव्र मान होता, जैसे कि वज्र और पत्थर कठोर होते है । जरा भी नम नही सकता । एक ऐसा मान होता कि जैसे हड्डी अथवा काष्ठ होता है वह नम जाता है, एक ऐसा मान जैसे कि बाँस होता है, नम जाता है और एक बिल्कुल पतला बाँस होता है, हरा बाँस जैसा चाहे लपेट लें, गोल कर लें, तो जैसे इसमे कठोरता और नम्रताके दर्जे हैं, ऐसे ही चार प्रकारके कठोरता और नम्रताके दर्जे है । इनमे सयमीके मान मद

डिग्रीका है । छल कपट भी चार प्रकारके होते हैं । जैसे दृष्टान्तमे लो—बाँसकी गाँटमे टेढ़ापन । बाँसमे बहुत टेढ होती है सबसे नीचे जडमे, तो इस वक्रतासे मतलब छल-कपट भाव लिया जाता है । टेढेपनमे मायामें भी तो टेढापन रहता । किसका दिल कितना टेढा है जिसका दूसरेको कुछ पता ही न पड सके कि इसके मनमे क्या है ? कोई होता खुरपा जैसा टेढापन, कोई होता वद्धामूतन जैसा टेढापन । ऐसे टेढेपनसे, वक्रतासे ये सब छल-कपट के दर्जे समझे जाते है । इनमेसे संयमी जीवके अत्यन्त मंद मायाकषाय रहती है । लोभकी रगसे उपमा देते हैं । किसीको ऐसा कठिन लोभका रग चढ जाता है जैसे कि गाडीके चकेके अन्दर कजली होती है, जिमे कपडेमे लगा दिया जाय तो वह कालिमा तब तक नही छूटती जब तक कि कपडेकी जिंदगी न खत्म हो जाय, ऐसे ही लोभका रग जो इसके हृदयसे निकले ही नही, कभी ऐसा भान नही कर सकता । अनन्तानुबधी लोभी जिसे यह विदित नही कि मैं इस वैभवसे एक न्यारी सत्ता वाला पदार्थ हू । वह तो इस वाहरी वैभवपर ही अपना जीवन समझता और बाहरी वैभव घट जाय, नष्ट हो जाय तो अपना मरण समझता, और ऐसा जीव अत्यन्त दु खी रहता । जिनके ज्ञानवल है, जो सम्यग्दृष्टि जन है वे स्पष्ट जानते हैं कि मेरा मेरे आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त जगतमे कुछ भी नही है ।

तो जो अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है उनपर तृष्णाका इतना गहरा रग होता है कि जैसे चाककी कजली कपडेपर लग जाय तो कभी नही छूटती । कुछ इससे हल्के रग होते जो प्रयास करनेमे छूट जाते हैं । कुछ बिल्कुल हल्के रग होते हैं, जैसे हल्दीके रगसे रगा कपडा जरासा पानीमे डाला और मल दिया तो रग साफ हो जाता है या जैसे टेसू (पलास) का रग जो कि होलीके समयमे गुलालके रूपमे खेला जाता है वह बिल्कुल ही हल्का होता है । उसे तो जरा सा धो दिया तो साफ हो जाता है, ऐसे ही लोभके रग भी जीवोपर नाना तरहके होते हैं । बिल्लीके कैसा लोभका रग है कि यदि वह अपने मुखमे कोई चूहा आदिक खानेकी चीज दबा ले तो फिर उसे चाहे कोई लाठीसे भी पीटे, फिर भी वह नही छोड सकती और एक हिरण का कैसा लोभका रग कि जैसे वह जंगलमे खूब अच्छी हरी-भरी घास खा रहा, पर कहीसे जरासी आहट आ जाय तो झट वह अपनी गर्दन ऊँची करके उस घासको छोडकर बडी दूर भाग जाता है । सयमी पुरुषके सिर्फ सज्वलन लोभ है, उनके लोभकषाय मद रहती है । अज्ञानमे लोभके नाना प्रकारके रग इस जीवपर छाये है, जिनके कारण ये जीव दु खी होते है ।

चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमके अनुसार क्षायोपशमिक विरतिमे विशेषता—जीवके स्वरूपको देखो तो कोई भी जीव दुःखी नही है और अपने आप अपने स्वरूपसे स्वय आनन्द-मय है । अपनेसे वास्ता रखें, बाहरी पदार्थोंसे लगाव न रखें, कुछ ख्याल भी न करें, सबसे

भिन्न अपनेको पहिचाने, फिर इसको क्या कष्ट है? फिर यह अपने ही उपायोसे कष्ट पाता रहता है। तो साधुसंत जन इन सब बाहरी पदार्थोंसे अत्यन्त विरक्त रहते है और अपने इस विविक्त ज्ञानस्वभाव अखण्ड चैतन्यस्वरूपकी आराधनामें रहा करते हैं, इसी कारण वे परमेष्ठी कहलाते है। एक भाव है संयमासयम। यह होता है अनन्तानुबधी और अप्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोके उदयाभावसे और उपशमसे और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेपर और संज्वलन आदिकके उदय होनेपर एक इतनी डिग्रीकी मदकषाय होती है कि जो अज्ञानीसे कम है, अव्रती सम्यग्दृष्टिसे कम है और इसी बलपर इस व्रतीके निरन्तर यथायोग्य कर्मोंकी निर्जरा चलती रहती है। जीवका वैभव है कषाय न करना और यथार्थ समझ बनाये रहना। अब यह परीक्षा कर लो, कि हम इन दो वैभवोको पाये हुए है या नही? जगतके अणु-अणु प्रत्येक जीव भिन्न स्वतत्र दृष्टिमे आयें और सबसे निराला खुद मैं आत्मा हू यह ज्ञानज्योतिस्वरूप अमूर्त, यह समझ रहे और कषायें मद रहे तो समझो कि हमने अपना वैभव पाया, जो खास चीज है, जिसके लाभसे मेरा कल्याण है वह चीज मैंने पायी और यदि ये दो चीजें न पायी, जगतके अन्य बाहरी बाहरी कितनी चीजें पाते रहे तो उससे इस आत्माका कुछ भी लाभ नही है। यह जीव सोचता है कि हम इन लोगोके बीच अच्छे कहलायें, तो यह तो बताओ कि किन लोगोके बीच अच्छा कहलवाना चाहते? ये दिखने वाले लोग कोई पवित्र है क्या, परमात्मा है क्या, प्रभु हैं क्या? क्या इनके हाथमे कुछ ऐसी डोर लगी है जो ये अच्छा कह दें तो मेरा भला जाय? कुछ सम्बन्ध है क्या? सारा जगत उल्टा बोले निन्दा करे, खुद भीतरमे सही है तो ये तो आनन्द पायेंगे। इस परनिन्दासे इस जीवका कोई नुक्सान नही है, फिर क्यो यह चाहता है कि मैं इस जगतके बीच कुछ अच्छा कहलाऊँ? अरे अच्छा कहलाऊ तो क्या, न कहलाऊ तो क्या? इस जीवपर तो वह बात बीतती है जो इस जीवकी करनी है। अच्छा मान लो कुछ भी हो रहा, जैसे आजकलके लोग समझते कि हमे वैभव सम्पदा मिली तो बताओ वह सम्पदा कितने दिनोके लिए है? आप कहेगे कि जब तक हमारा जीवन है तब तकके लिए है। तो भला बतलाओ यह १०–२०–५० वर्षका जीवन इस अनन्त कालके सामने कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नही रखता। भविष्यमे जो अनन्त काल पडा है उसमे हमारी क्या स्थिति रहेगी, इसकी तो कुछ भी फिक्र नही करते और न कुछ जैसे १०–२०–५० वर्षके जीवनके लिए इतनी-इतनी चिन्तायें लादे फिरते। जिन जिनसे मोह है उनके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर करनेके लिए तत्पर रहते, यह कितना बड़ा अज्ञान है? तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, सम्यग्दृष्टि है उनके इस प्रकारका अधेरा नही रहता, वे वस्तुका सही स्वरूप समझते हैं और उसमे तृप्त रहा करते है। तो ये सब क्षायोपशमिक भाव है। ये हमे मिले है तो हमे चाहिए कि हम इनका

सदुपयोग करे। मन मिला है तो मनसे अच्छा चिन्तन करें, धर्मवर्द्धक चिन्तन करें, वचन मिले है तो धर्ममयी वाणी बोलें। शरीर मिला है तो ऐसी चेष्टा करें कि जिससे विषयोमे आसक्ति न हो, दूसरे जीवोको क्लेश न हो।

सत् साधनोंका धर्मलाभके कार्यमें सदुपयोग करनेका कर्तव्य—जो भी साधन मिला है इसका सदुपयोग कर लिया जायगा तब तो ठीक है और यदि दुरुपयोग करेंगे तो जिसे जितना जो कुछ मिला है सो भी न रहेगा। जैसे मानो हम आपको कान मिले हैं तो इनका सदुपयोग यह है कि धर्मकी वाणी सुनें, प्रभुका उपदेश सुनें, भजन सुनें, एक शान्तिके मार्गकी बात सुनें और अगर इनका सदुपयोग न कर सके और दुरुपयोग किया, रागकी वाणी सुननेमे और ऐसी गंदी ही बातें सुननेमे चित्त रमाया तो ये कान भी अब मिलेंगे नही। चार इन्द्रिय जीव तक ही रह पायेंगे। जब जो चीज मिले उसका सदुपयोग नही करते तो फिर यहाँ भी तो देखो पिता कोई चीज देता है पुत्रको और वह पुत्र उस चीजका दुरुपयोग करता है तो पिता फिर देना बन्द कर देता है तो ऐसी ही प्राकृतिक बात है। आँखें मिली है तो प्रभुमूर्ति के दर्शन करें, स्वाध्याय करें। अब यदि इन आँखोका सदुपयोग न करें, बल्कि दुरुपयोग करें, गदी चीजोके देखनेमे उनका उपयोग करें तो फिर समझो कि ये नेत्र भी नही मिलनेके, फिर तो तीन इन्द्रिय जीव ही रहेंगे। नाक मिली है, जिह्वा मिली है तो इनका भी सदुपयोग करें। बोलें तो अच्छी हित, मित, प्रिय वाणी बोलें, अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन न करें। अगर इस जिह्वाका सदुपयोग न किया, यो ही अटपट बोलते रहे, अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करते रहे तो इसका फल यह होगा कि यह रसनाइन्द्रिय (जिह्वा) भी न मिलेगी।

भला बताओ यदि कोई पायी हुई चीजका सदुपयोग न करे तो फिर उसके पानेसे क्या फायदा ? जब जिह्वा न मिलेगी तो बस वही एकेन्द्रिय जीव पेड-पौधा, पृथ्वी आदिक रह गए। तो जो अपनेको एक अतरग साधन मिला है मन इन्द्रिय तो इसका सदुपयोग करना चाहिए, और इसका सदुपयोग यही है कि जिससे ज्ञान बढे, धर्म बढ़े, आत्मामे अपना रमण आये, अपनेमे सतोष रहे, ऐसा उपयोग बने तो जीवन सफल है और इन बाहरी पदार्थोंके लगावमे, मोहमे अपना मन लगाया तो जीवन बेकार रहा, क्योकि अगला भविष्य तो कुछ खराब हो गया, इसलिए इस १०-२०-५० वर्षकी जिन्दगीके पीछे चिन्ताओमे मत घुलें, किन्तु भविष्यका जो अनन्त काल पडा है वह शान्तिसे गुजरे, उसका भी कुछ ध्यान करना चाहिए।

सम्यग्मिथ्यात्व, संज्ञित्व व योगका क्षायोपशमिक भावके बताये गये भेदोमे अन्तर्भाव—जीवमे क्या होता रहता है उसका परिचय कराया जा रहा है। जीवके साथ कर्म लगे है तो उनका उदय होनेसे क्रोध, मान, माया, लोभादिक भाव होते है। वे औदयिक भाव कहलाते हैं। उन कर्मोका कुछ उदय हुआ, कुछ दबे, ऐसी स्थितिमे क्षायोपशमिक भाव कह-

लाता है। कर्म दब जायें, फिर जो भाव हो सो औपशमिक भाव कहलाता। कर्म बिल्कुल नष्ट हो जायें तब जो भाव हो सो क्षायिक भाव है, और अपने आप कर्मकी किसी भी स्थिति की अपेक्षा बिना जो भाव रहता है सो पारिणामिक भाव है। तो क्षायोपशमिक भावकी चर्चामें यह प्रश्न आ सकता है कि और-और तो क्षायोपशमिक भाव बताया, तीन चीजें छोड दी, सज्ञित्व याने संगी (मन वाला) होता, यह भी तो कर्मके क्षयोपशमसे होता है और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान याने मिश्रभाव, वह भी क्षायोपशमिक है और योग याने मन, वचन, काय का हलन-चलन पाकर जो आत्माके प्रदेश हिलते है वह भी तो मिश्र अवस्थाकी चीज है। इन तीनको क्यो छोड दिया ? तो उत्तर यह है कि इन तीनोका अन्तर्भाव हो जाता है याने मतिज्ञानमे सज्ञीपना आ जाता है। मन और इन्द्रियसे जाना जाय सो मतिज्ञान। उसमे भी नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम चाहिए याने मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको आवरने वाला जो कर्म है उसका क्षयोपशम होता है, यह ही बात सज्ञीपनेमे है। सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण सम्यक्त्व शब्दसे हो जाता है, क्योकि सम्यक्त्व कहनेसे उसका अश भी ले लिया जाता है। जैसे लोग खीर बनाते ना तो उसमे कुछ पानी भी तो डालते है। मगर कहते है कि दूधकी खीर, और पानी वाली कोई बात नही कही। कह देवे पानीकी खीर। तो जो प्रधान है उसके नामसे अप्रधान भी ग्रहणमे हो जाता है। जैसे कहते घी की पूडी। अब अकेले घी से पूडी बन जायगी क्या ? अरे उसमे पानी भी तो डलता, पर उसे पानीकी कोई नही कहता। तो जो प्रधान चीज है नाम उसीका तो लिया जायगा। तो सम्यक्त्व प्रधान है उससे सम्यग्मिथ्यात्वका भी ग्रहण करना। तीसरी चीज कहा योग। तो योगका ग्रहण वीर्यमे याने क्षायोपशमिक शक्तिमे ग्रहण कर लेना चाहिए। इस तरह जीवके क्षायोपशमिक भाव बताये गए है। अब औपशमिक भाव कौन-कौनसे है, उनके लिए सूत्र कहते है।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गति, कषाय, लिंग व मिथ्यादर्शनकी औदयिकताका प्रकाश—औदयिक भाव—गति, कषाय, लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्ध और लेश्या—इन ८ प्रकारोमे होता है, जिनके कि क्रमशः ये भेद है। गति चार होती है—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३) मनुष्यगति और (४) देवगति। ये गति नामकर्मके उदयसे होती है। नरकगति नामकर्म का उदय होनेपर जीवको नरकगति मिलती तो यह गति नामक नामकर्मके उदयसे गति होती है, इस कारण यह औदयिक भाव है। कषायें चार—क्रोध, मान, माया, लोभ। ये कषाय भी क्रोधादि कर्मके उदयसे होते है। क्रोधप्रकृतिका उदय होनेपर कषाय जगी, मानप्रकृतिका उदय होनेसे मान कषाय बनी, मायाप्रकृतिके उदयमे माया कषाय बनी, लोभप्रकृतिके उदयमे लोभ कषाय बनी। तो ये चार कषाये है औदयिक। देखो जीवकी इन भीतरी बातोको समु-

कर शिक्षा क्या लेना ? स्वभावका परिचय करनेकी शिक्षा लेनी। ये औदयिक भाव हैं, मेरे आत्माके स्वरूप नही है, कर्मके उदयका सन्निधान पाकर हुए, ये मैं नही। मैं इनसे निराला हूं एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप—यह बोध लेना है औपाधिक भावोका परिचय करके। लिंग क्या है ? पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, ये वेद नामक मोहनीयके उदयसे होते हैं, इसलिए ये औदयिक है और द्रव्यवेद पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होते हैं, सो वे भी औदयिक है। औदयिकका अर्थ यह है कि किसीके सन्निधानमे होने वाले विकारभाव हैं। जैसे दर्पण तो स्वच्छ होता और दर्पणके सामने रग-बिरंगी चीज आ जाय तो दर्पणमे वह मलिनता जगती, तो वह मलिनता औदयिक है, नैमित्तिक है, यह दर्पणका स्वरूप नही है। ऐसे औदयिक भावो को जानकर यह उमंग लाना, यह दृष्टि बनाना कि यह भाव औदयिक है, मेरे आत्माका स्वरूप नही है। मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व नामक मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्याभाव होता है, इसलिए मिथ्यात्व औदयिक है। आत्मामे अपने आप अपने ही स्वरूपके कारण तो सही बात सम्यग्दर्शन है, लेकिन विरुद्ध दूसरी चीजका सम्बध है और अनादि सततिसे चला आया है तो उसका उदय पाकर जो मिथ्याभाव हुआ वह औदयिक भाव है।

जीवविभाव व कर्मबन्धकी सततिकी अनादिता—जीवके साथ कर्म अनादिसे लगे चले आ रहे हैं। यह जीव अनादिसे अशुद्ध है। कही ऐसा नही कि जीव पहले बडा निर्मल था, पीछे इसमे कर्म लगे और इस जीवको ससारमे घूमना पडा, किन्तु जबसे जीव है अनादिसे, तब ही से कर्मबन्ध है। जैसे जिस पृथ्वीमे से सोना निकाला जाता वह पृथ्वी तो देखनेमे पत्थर, मिट्टी जैसी है। कोई परख नही हो पाती विशेष कि इस मिट्टीमे सोना भी मिलेगा। बहुत बारीक परख करने वाले समझते है। मनो ढेर मिट्टीसे कोई बहुत थोडासा स्वर्ण प्राप्त होता है। तो अब उस मिट्टीमे जो स्वर्ण है तो इस तरह नही है कि पहले स्वर्ण शुद्ध था जैसा कि दूकानपर रहता है और पीछे वह अशुद्ध बन गया। सोनेकी यह तारीफ है कि निकला हुआ शुद्ध स्वर्ण है तो उसपर जग नही चढती, वह मिट्टी नही बनता चिरकाल तक। जैसे स्वर्ण पहले शुद्ध हो और पीछे मिट्टी बना हो, ऐसा नही है। ऐसे ही जीव पहले शुद्ध हो और फिर ससारी बना हो, ऐसा नही है, किन्तु अनादिसे ही मलिन है, कर्मबद्ध है, तिस पर भी, यह पूछा जाय कि कर्म लगनेका कारण क्या है ? तो उत्तर होगा—कषायभाव, भावकर्म और फिर पूछा जाय कषाय होनेका कारण क्या है ? तो कहा जायगा कर्मका उदय। तो इन दोनोका ऐसा सम्बन्ध बनाया कि कर्मका उदय होनेसे मलिन भाव होते और मलिन भाव होने से कर्म बधता, तो कोई पूछ बैठे तो इन दो मे से सबसे पहले क्या था ? या तो यह कहो कि जीवके परिणाम मलिन थे, निमित्त पाकर कर्म बधा, फिर मलिनता, बंध, मलिनता बध चलता रहा। या यह कहो कि पहले कर्म था, उसका उदय होनेसे भाव खोटे

हुए।

अब कर्मबंध, खोटे भाव, कर्मबध– यों परम्परा चल गयी। सो अगर ऐसा कहा जाय कि जीव सबसे पहले मलिन था इसलिए कर्म बंध गए तो यह बतलावो कि जीव मलिन क्यों हुआ था ? तो उत्तर यही आयगा कि पहले बधे कर्मका उदय होनेसे मलिनता आयी। और वे पहलेके कर्म कैसे बधे ? मलिन परिणाम किया था पहले तब कर्म बधे। यह सतति अनादिसे चली आ रही। जैसे बीज और वृक्षकी संतति कैसे चली ? आम जो फल है वह आम फल कहांसे हुआ ? वृक्षसे हुआ। वह वृक्ष किससे हुआ ? पहले आमके फलकी गुठलीसे, वह आम कहांसे आया ? पहले वृक्षसे। वह वृक्ष कहांसे आया ? पहले आमकी गुठलीसे। तो सबसे पहले क्या था सो बताओ ? कोई एक बात तो नही कह सकते। अनादि माना है। इसका काल बहुत लम्बा है, इस कारण कुछ समझनेमे अटपटा-सा लगता होगा, लेकिन युक्ति से देखो कि वास्तवमे यह संतति अनादिसे है।

अच्छा अब बाप बेटाकी बात लो। यह बेटा कहांसे आया ? बापसे पैदा हुआ और वह बाप कहांसे आया ? पहले बापसे। वह बाप कहासे आया ? पहले बापसे। तो बतलावो क्या कोई बाप था ऐसा जो बिना बापका था ? कहासे आया ? तो बापकी परम्परा अनादिसे है। वहां कोई एक बाप बिना बापका कायम नही कर सकते। यह बात सही तौरसे मालूम हो रही है कि बेटा बापसे हुआ। वह बाप और बापसे हुआ। इससे पहले भोगभूमि थी। वहां भी जब जुगुलिया भी उत्पन्न होते थे तो जुगुलिया बापसे ही तो हुए। भले ही पैदा होते ही मां बाप मर गए। जैसे यहां किसी बच्चेके पैदा होते ही मां बाप मर जायें तो बिना बापके तो न कहेगे। मरते तो थे, मगर हुए मां बापसे और वह पहले मां बापसे तो यह परम्परा अनादिसे है। इसमे कोई बाधा नही आती। अनादिकालसे चला आया है। अब इतना लम्बा देखना होता है कि बुद्धि कुछ थोड़ी हैरानसी हो जाती है, लेकिन युक्ति बताती है, कायदा बताता है कि यह सतति अनादिसे है। ऐसे ही कर्मबन्धन और परिणामोकी मलिनता इसकी सतति भी बराबर अनादिसे चली आ रही है। तो यह ही हो रहा। पहले बांधे हुए कर्मका उदय आया, कषाय जगी, अब कषाय जगी तो इस ही वक्त कर्मबन्धन हो गया।

कर्म व कर्मफलका तथ्य जानकर उससे विरक्त होनेका कर्तव्य—देखो यह बात बिल्कुल सत्य है। आज जैसे परिणाम करते खोटे, अच्छे, तत्काल बधन हो जाता और उस कर्मका उदय आयगा तो फल भोगना होगा। लोग ऐसी शंका करते कि आजकल जो लोग खोटे काम करते, बूचडखाने खोलते, हिंसाका व्यापार करते वे आज बडे मजेमे दिख रहे, धनी भी है और इज्जत भी होती है तो ऐसा कहां रहा कि जैसी करनी करे वैसा फल पाये ? मगर यह बात सही है। जैसी करनी करे वैसा फल पायगा। बात ऐसी होती है कि कर्म जो

बघता है सो जो अज्ञानी है, पानी है उसके आजके बँधे हुए कर्म बहुत दिन बाद उदयमे आते हैं। जो ज्ञानी पुरुष है उसके कर्मबन्धन होवे तो उसका जल्दी उदयमे आता। आप सोचते होंगे कि बात कुछ उल्टीसी कही जा रही, पर उल्टा कुछ नही है। उसकी विधि यह है कि कर्मकी स्थिति यदि लम्बी पडती है, बहुत बडी पडती है तो उसकी आवाधा बडी होती है, वह कुछ देर बाद उदयमे शुरू होगा और जिस कर्मकी स्थिति थोडी रहती है, ज्ञानी कर्म बाँधता है तो थोडी स्थितिका बाँधता तो उसकी आवाधा थोडी होती है और शीघ्र उदयमे आता है। तो जो मोही अज्ञानी कषायवान जीव है, खोटी करने वाले हैं, उनके खोटे भावसे बडी लम्बी लम्बी कर्मस्थिति होती है, तो उसका उदय आनेमे थोडा बिलम्ब रहता है, पर जबसे उदय आता तबसे लगातार लम्बे समय तक दुःख भोगना पडता है। आजका बाँधा हुआ कर्म अभी फल न देगा, कुछ समय बाद देता है, और जो भी जीव आज कुछ लौकिक हिसाबसे सुखमे हैं वे जीव पुण्यके उदयका फल पा रहे है। तुरन्तका नही मिलता। तो ऐसी जिसको एक वस्तुस्वरूपपर अटल श्रद्धा हो, मैं हू, जो है वह कभी मिटता नही, रहेगा हमेशा, मैं हू तो मैं मिटता नही, रहूगा हमेशा। अब किस स्थितिमे रहना पसद करते हो ? रहना तो अवश्य पडेगा ही, सत्ता तो रहेगी। जो सत् है उसका विनाश कभी नही होता। यह तो बिल्कुल सही बात है।

एक बैञ्च है, जल गई, राख हो गई तो बेंच पर्याय न रही, मगर क्या परमाणुकी सत्ता नष्ट हो गई ? वह राख बन गई, मिट्टीमे उसके कण पहुच गए, पेड-पौधे बन गए, पर जो परमाणु है, जो द्रव्य है उसकी सत्ता कभी मिटती नही। मैं हू या नही ? हू। जिसमे सुख दु खका अनुभव है, जिसमे कल्पनायें जगती है वह ही तो मैं हू, मैं सदा रहूगा। तो अब १०-२० वर्षका ही कुछ मर्यादित चिन्तन मत करें, भविष्यमे भी हम किस तरह रहे उसके पुरुषार्थकी भी बात कर लें और वहाँ भी लौकिक बातोमे ही रमे रहनेमे सुख नही मिलता। थोडा दिमागको विश्राम चाहिए, थोडा धर्मका प्रसग चाहिए अन्यथा ऊब जायेंगे। थोडी देर को समझो कि खूब रात-दिन कमाई कमाई हो और अर्थसग्रह ही सग्रह हो और ऐसा ही करता रहे तो वह ऊब जायगा। थोडा चाहेगा विराम, थोडा चाहेगा धर्मपालन। तो धर्म बिना तो गुजारा नही चल सकता। धर्मपालनसे ही शान्ति मिलती है, मगर धर्मपालन नाम किसका है कि आत्माका जैसा अविकार ज्ञानानन्दस्वरूप है उस रूपमे अपनेको अनुभव करना कि मैं यह हू, इसमे है धर्मपालन। मैं मनुष्य हू, मैं पुजारी हू, मैं भक्त हू, मैं उत्तम कुलका हू—ऐसा भाव रखे कोई तो वह अधर्मपालन है। धर्म वहाँ नही मिलता। और देखो बात तो आती है यह सब, उच्च कुल है कि नही ? है उच्च कुल, मगर अपनेको कोई ऐसा माने कि मैं तो इस कुल वाला हू, तो उसने अधर्म किया। उच्च कुल होते हुए भी और उच्च कुल

जैसी बात बने भी, लेकिन श्रद्धामे यह लाये कि मैं इस कुल वाला हूं तो वह मिथ्यात्व है, क्योकि आत्माका जैसा सही स्वरूप है, निरपेक्ष स्वरूप है, वैसा इसने न सोचा—सोच डाला उसका उल्टा। मैं तो विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हू। ऊँच कुल, नीच कुल गोत्रकर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, वह मेरा स्वरूप नही है। तो एक सहज चैतन्यस्वभावको छोडकर किसी भी रूपमे अपनेको स्वीकार करे तो वह सब धर्म नही है।

अपना मूल स्वरूप जाने बिना धर्म व धर्मफलके लाभकी असम्भवता—मूल बात यह है। जिसने मूल बात पकड ली, जान ली उसका तो अर्थ सिद्ध होता है और जिसने मूल बात न जानी वह सफल नही हो सकता। एक सही घटना है, शायद ललितपुर (बुन्देलखण्ड) की है कि कोई दो तीन बंजारे बाजारसे सामान लेकर अपने गांवको जा रहे थे। जाडेके दिन थे। देर हो जानेसे उन्हे रास्तेमे एक जगह रातको रुकना पडा। एक पेडके नीचे ठहर गए। अब ठडीसे बचनेके लिए सोचा कि कहींसे लकडियाँ तोडकर लायें, जलायें और तापकर रात बिताये। सो वे पास-पडौसके खेतोसे लकडियाँ बीन लाये, उस पेड़के नीचे रातभर खूब जला-जलाकर तापा और सवेरा होते ही अपने गांव चले गए। यह सब दृश्य उस पेडके ऊपर बैठे हुए बदर रात भर देखते रहे। उन बंदरोने आपसमे सलाह की कि देखो अपन जैसे हाथ-पैर वाले तो वे भी थे, जो इस पेडके नीचे बैठकर अपनी ठड मिटाकर आरामसे रहे, अपन लोग भी क्यो न वैसा ही करें और ठडसे बचे"। ठीक है। सभी बदर दौडे, पास पडौसके खेतोंसे लकडियाँ बीन लाये एक जगह इकट्ठा किया। तापने बैठे तो ठड मिटी नही। बदर बोले कि अभी तो ठड मिटी ही नही। तो उनमे से एक बन्दर बोला—अरे ऐसे ठंड कैसे मिटेगी? उन्होने तो कोई लाल-लाल चीज इन लकडियोंमे डाली थी तब ठड मिटी।···ठीक है। अब वहाँ बहुतेरे जुगुनू (पटबीजनायें) उड़ रही थीं, वे भी तो लाल रगकी होती हैं सो उन्हे पकड-पकडकर लकडियोमे डालने लगे। जब तापने बैठे तो ठड मिटी ही नही। फिर बंदर बोले कि अभी भी तो ठड नही मिटी। तो उनमेसे एक बन्दर फिर बोला—अजी इस तरहसे ठड कैसे मिटेगी? उन्होने तो मुखसे फूक भी लगाया था। अपन लोग भी वैसी ही फूंक लगायें तो ठड मिटेगी। सभी बंदरोने खूब मुखसे फूक लगायी, पर ठड न मिटी" अब क्या करें? तो एक बदर फिर बोला—अजी इस तरहसे ठड न मिटेगी। वे लोग तो इस तरहसे झुककर, पैरोकी गाँठोमे अपने दोनो हाथ रखकर कुकडू जैसे बैठे थे तब उनकी ठंड मिटी थी। सो सभी बदर कुकडू जैसे बैठ गए, फिर भी ठड न मिटी। तो सारे प्रयत्न कर लिये, फिर भी ठंड न मिटी तो उसका मूल कारण क्या था कि जो मूल चीज अग्नि है उसका उन्हे ज्ञान न था। तो जैसे मूल चीज अग्निका ज्ञान न होनेसे वे बदर अपनी ठड न मिटा सके, ऐसे ही जो अज्ञानी जन है, जिन्हे आत्माके सहजस्वरूपका परिचय नही है। जो

इस देहको ही मानते हैं कि यही मै हू—गृहस्थ मैं हू, पुजारी मैं हू आदिक, तो सारे क्रियाकाण्ड करनेपर भी उनको धर्मपालन न होगा। तो धर्मसाधनाके लिए मूल बात यह है कि आत्माके सहजस्वरूपका परिचय करना चाहिए।

सहजात्मस्वरूपकी विधिनिषेधगम्यता—अच्छा देखो अब, सहजस्वरूपका परिचय दो प्रकारसे होता है, एक तो विधि द्वारा कि यह हू मैं और एक निषेध द्वारा कि यह नही, यह नही। उसीके साथ-साथ यह भी ज्ञान होता कि यह हू मैं। जैसे चावल शोधने वाले लोग एक थालमे चावल धर लेते और चावल शोधते है तो कैसे शोधते कि यह आगे धरें इसे उठाकर फैंकें। जो कूडा है, कक्कड है, छिलका है, जो चावल नही है, अचावल है उसे दूर करें और चावलको आगे करे, अपनो ओर करें, ये दो ही तो प्रक्रिया है उनकी। तो जिनको चावल और अचावल दोनोका ज्ञान है वही तो चावलको ग्रहण कर सकता। तो ऐसे ही जीव और अजीव दोनोका जिसको सही परिचय है वही तो अजीवसे हटकर जीवको ग्रहण करेगा। वह अपने लिए सोचिए कि आपका जीव क्या है और आपके लिए अजीव क्या है? आपका जीव है सहज चैतन्यस्वभाव, जो आत्माका अभिन्न परिणाम है, अनादिसे है, स्वरूप है, ऐसा जो चैतन्यज्योति प्रकाश है वह तो मैं जीव हू, और इसके अतिरिक्त जो परिवारके और जीव है वे भी मेरे लिए जीव नही। मेरेको तो वे भी अजीव हैं और जितने वैभव ठाठ है वे सब तो प्रकट अजीव हैं ही और कर्म अजीव हैं और रागद्वेष क्रोध भाव ये भी अजीव है। ये जीव नही है, मेरे स्वरूप नही है। ये पौद्गलिक कर्मके उदयका सन्निधान पाकर हुए हैं, ये मैं नही, जड वैभव मैं नही, परिवार मैं नही, शरीर मैं नही, कर्म मैं नही। कर्मके उदयसे जो कषायादिक भाव हैं वे मैं नही और कर्मके क्षयोपशमसे जो कुछ छुटपुट अधूरा मेरा विकास है वह भी मैं नही। मैं तो एक परमपारिणामिक ध्रुव सहज चैतन्यप्रकाश हू—ऐसा जो निरख लेगा उसको यह कल्पना नही बनती कि यह मेरा पुत्र है, स्त्री है, पिता है। मैं मैं हू, ये ये ही हैं। मेरा जगतमे कही कुछ नही है। किसीका मैं कुछ नही, ऐसा बोध सम्यग्ज्ञानी जीवमे होता है। तो इसी बोधके लिए जीवकी अन्दरकी सब बातोका परिचय करना चाहिए। यहाँ औपाधिक अथवा औदयिक भावकी चर्चा चल रही है। ये सब अज्ञान मिथ्यादर्शन आदिक औदयिक भाव है। अज्ञान भी औदयिक भाव है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जितने अशमे ज्ञान नही प्रकट हो रहा उतने अशमे अज्ञान है। ये औदयिक भाव मैं नही। यह शिक्षा लेनी है जीवके औदयिक भावोका परिचय पाकर। जितने भी उपदेश होते हैं सबका प्रयोजन एक ही है कि मैं विकारभावोसे तो हट जाऊ और अपने निज सहजस्वभावमे लग जाऊँ। यह ही बात इस सब उपदेशको सुन करके अपनेको प्राप्त कर लेनी चाहिए।

गति, कषाय, लिङ्ग नामक औदयिक भावोकी अहितरूपता—जीवमे औदयिकभाव

किस किस प्रकारके होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। यह जीवके भावोंकी बात कही जा रही। और भी शेष औदयिक है जो शरीरसे सम्बन्ध रखते है, उनकी यहाँ चर्चा नही, क्योकि जीवके स्वतत्त्व कौन हैं इस प्रतिज्ञापर यह प्रसंग चल रहा है। गतियाँ नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये औदायिक भाव है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर होते है। जीव यहाँ जिस शरीरको पाते है उस शरीरमे ही रम जाते है। शिक्षा यहाँ यह लेनी चाहिए कि यह शरीर रमने लायक नही, यह पर्याय रमने लायक नही, क्योकि ये औदयिकभाव इस जीवके स्वरूपकी चीज नही हैं। लोकमे भी तो कहते है कि जो अपना घर है उसमे रहो, दूसरेके मांगे हुए घरमें कब तक रहोगे ? शल्य रहेगा। ऐसे ही यहाँ भी तो तको। जो अपना निजस्वभाव है उस घरमे रहो। जो कर्मके उदयसे मिला है उसमे कब तक रमोगे ? परमें रमनेमे कोई लाभ नही है।

औदयिक भावकी चर्चा सुनकर यह शिक्षा लेनी है कि ये सब भाव रमने लायक नही है। रमने लायक भाव तो मात्र एक आत्माका सहज चैतन्यस्वभाव है। कषाय भी औदयिक भाव है, क्योकि चारित्र मोहनीयकर्मके उदय होनेपर उनके विपाकका जो प्रतिफलन होता है उससे उपयोग तिरस्कृत हो जाता है और अविभूत होकर यह उपयोग इन्द्रियके विषयोमे जुडता है और इस तरह इसके विकार प्रकट होता है। ये कषाय रमनेकी चीज नही, इनको तो विपत्ति मानना चाहिए। कभी चित्तमे क्रोध आये तो तुरन्त सम्हल जावो और मान लो कि यह क्रोध मेरा वैरी है। इससे किसी दूसरेका नुक्सान न होगा, खुदका ही नुक्सान होगा। नुक्सान क्या है ? पवित्रता विगड जाना, आकुलता आ जाना, यह ही तो नुक्सान है। तो कषायभाव जगा, क्रोध हुआ, घमड आया, अपनी किसी कलापर घमंड आ जाय, अपने किसी उच्च बर्तावपर घमंड आ जाय तो यह घमड इसे डुबा देगा, क्योकि संसार है, परिभ्रमण है, जन्म-मरण है, कर्मबन्धन है, ये सारी विडम्बनायें तो लगी है इसमे, जब मान कषाय चित्तमें आया तब समझो कि हम विपत्तिमे पड गए। उससे उपेक्षा करना और आत्माके स्वभावमे उपयोग लगाना, इसी प्रकार मायाका बर्ताव छल कपट, यह बर्ताव इस जीवकी बरबादीके लिए है। यह किसी दूसरेका नुक्सान नही, मगर दूसरा कोई तो अपने ही कर्तव्यके अनुसार लौकिक सुख दुःख पायेगा। पर यहाँ मायाचार करके स्वयंको बरबाद कर लिया जायगा। लोभ कषाय—अत्यन्त भिन्न परपदार्थोपर उनको अपनानेकी क्यो भावना जगी ? यह तो जीवपर बहुत बड़ा भारी जुल्म है। कैसा भयंकर उदय है कि बैठे ही बैठे ठलुवा दुःखी हो जाता है यह जीव। क्या प्रयोजन है इसका कि किसी परपदार्थमे लगाव रखे, क्या हक है ? जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न-भिन्न हैं, किसीका किसी अन्यमे प्रवेश नही है। सभी द्रव्य खुदमे परिपूर्ण हैं। फिर अचेतन तो उत्पात करते नही, ये ही चेतन अपने आपमे अपनेको

कल्पनासे रगडकर अपनेमे उत्पात किया करते है।

तो औदयिक भावकी जानकारीसे यह ही शिक्षा लेनी है कि मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हू, जितने अन्य परभाव है, कर्मविपाक है, वे मेरे स्वरूप नही हैं। मैं तो अपने स्वरूपमे लगाव रखूगा। विभावोंसे मेरा कोई लगाव न रहेगा। औदयिक भावोका परिचय कराकर आचार्य सतोंने जीवोका महान् उपकार किया है। जिसमे रमते थे उन भावोको असार दिखा देना, बेकार बनाना, यह समझ बना दी जाय, यह कितना बडा भारी उपकार है ? तो कषाय जीवका स्वरूप नही है। इसमे रमना संसारके क्लेशका ही कारण है। लिंग, ये भी कषायके ही रूप हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, कामपरिणाम ये सब भी जीवपर विपत्ति हैं। जीव विकार न करे, अपने अविकार चैतन्यस्वरूपमे रमण करे तो इस जीवका कल्याण है, पर अनन्त जीव ससारमे हैं और रहेगे, विरले ही भव्य जीव अपने आपका विकास पाकर ससारके सकटोंसे छूटनेका उपाय बनाते है। यह सारा ससार विडम्बनासे डूबा हुआ है। विडम्बना क्या है कि बाह्य पदार्थोंमे प्रीतिका परिणाम होता है।

मिथ्यादर्शन नामक औदयिक भावकी अहितरूपता—मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है तो दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेपर एक ऐसा प्रतिफलन होता है उपयोगपर कि यह उपयोग बेसुधीमे आ जाता है। इसको अपना कोई होश नही है, और जैसे कोई शराब पिया हुआ मनुष्य अपना होश भूलकर बाहरी बातोमे कुछसे कुछ अटपट कहा करता है, ऐसे ही यह अज्ञानी जीव अपना होश छोडकर बाहरी पदार्थोंमे अटपट विकल्प बनाये रहता है। यह मिथ्यादर्शन सर्व विडम्बनाकी जड है। अब लोग अपना रोज हिसाब तो यह लगाते है कि मेरेको इतना घाटा हुआ, इतनी प्राप्ति हुई, ऐसा परिवार मिला, पर इस विकल्पमे जिसका उपयोग घूम रहा है वह गरीब है, सकटमे है। अज्ञानी है, बेसुधी है, सच्ची सुध नही है। और इन सब बाहरी चेतन अचेतन परिग्रहोका विकल्प छोडकर एक अपने आपके सहजस्वरूप का भान करें तो वह सच्चा अमीर है। जो वास्तविक वैभव है उसकी तो सुध नही, जो मिथ्या माया है, उसमे लिपटाव बन रहा, इससे बढकर जीवपर विडम्बना और क्या कही जा सकती है ?

अज्ञान नामक औदयिक भावकी अहितरूपता—अज्ञान भाव भी औदयिक भाव है। अज्ञानका अर्थ है—जितना ज्ञान नही उत्पन्न हो रहा, जैसे एकेन्द्रिय जीवके रसना इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, कर्णइन्द्रिय और नोकर्म, इनसे उत्पन्न हो सकने वाले ज्ञानका आवरण है इसलिए दूसरे तीसरे आदिक इन्द्रियसे ज्ञान एकेन्द्रियके हो ही नही सकता। तो इस इन्द्रिय का ज्ञान न हो पाना इन्द्रिय ही नही है। इतना ज्ञान न हो सकना यह अज्ञान है और यह औदयिक भाव है। जितना उसके ज्ञान प्रकट हुआ है वह तो कुज्ञानरूप अज्ञान है याने खोटा

ज्ञान । और जो ज्ञान हो ही नही सकता, जिसका कोई साधन ही नही है, क्षयोपशम ही नही है वह अज्ञान औदयिक अज्ञान है । इसी प्रकार दोइन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय सम्बधी तो ज्ञान चलता है तो वह कुज्ञान है, और तीसरा, चौथा, ५वां इन्द्रियज्ञान उसके नही हो सकता । क्षयोपशम ही नही है । बाह्य साधन भी नही है । तो जो ज्ञान नही हो सकता ऐसा ज्ञान उनका औदयिक अज्ञान है । तीनइन्द्रिय जीवके नेत्र कर्ण और मनके निमित्तका ज्ञान न बन पायगा, क्योकि क्षयोपशम नही, साधन नही तो उसे ज्ञान नही होता, औदयिक अज्ञान है । चारइन्द्रिय जीवमे कर्ण और मन सम्बधी ज्ञान नही बन सकता, इस-लिए वह ज्ञान औदयिक अज्ञान है ।

अब पञ्चेन्द्रिय जीवोमे भी तो तिर्यञ्च अक्षर नही बोल सकते । कुछ पक्षी तो है जैसे सुवा, मैना वगैरा ये अक्षर बोल लेते है, सिखायेसे बोलें सही, पर सारे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये कुछ अक्षर नही बोल सकते । गाय, घोडा, बैल, भैस आदिक पशु चीत्कार करेंगे, पर अक्षररूप भाषा न निकलेगी । और कोई मनुष्य ऐसे है जो अक्षर बोल ही नही सकते, गूगे है, ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय हैं । जिनके अक्षर श्रुतज्ञानावरणका उदय है और उनके अक्षरात्मक ज्ञान नही हो सकता । अतः अक्षरात्मक ज्ञान न होना यह औदयिक अज्ञान है, इसी प्रकार जिनके मन नही है, ऐसे सभी जीव, उनके मन सम्बन्धी ज्ञान नही बन सकता । हित अहित की परीक्षा उनसे नही बन सकती, इस कारणसे इनका ज्ञान न होना औदयिक अज्ञान है । इससे हम यह सीख पाते हैं कि जो ज्ञान प्रकट नही हो पा रहा है वह औपाधिक दोष है । मनुष्योके भी जिनके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान नही, तत्सम्बधी अज्ञान है वे औदयिक हैं । बडे मुनिराजके जिसके केवलज्ञान नही हुआ, १२वें गुणस्थान तक केवलज्ञानावरणके उदयसे अज्ञान बना हुआ है यह औदयिक अज्ञान है । तो आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है । इसका स्वरूप ही है कि ज्ञानका विकास होना, मगर अनादि बन्धन ऐसा लगा है ऐसा निमित्तनैमित्तिक प्रसग है कि उस प्रसगमे यह जीव अपने आपकी कमजोरीसे, योग्यतासे अज्ञानरूप बन रहा है । यह अज्ञान औदयिक भाव है । यह कोई मेरा स्वरूप नही है । मेरा स्वरूप तो समस्त सत् पदार्थोंको एक साथ ले जानेका है ।

यद्यपि ज्ञानी जीवको मैं समस्त सत्को जान जाऊँ ऐसा कोई व्याहमोह नही है । मुझे सबको जाननेका क्या प्रयोजन ? ज्ञानीको तो केवल निराकुलताका प्रयोजन है । ज्ञान हमारा बने न बने, पर इतना ज्ञान रहे कि मैं अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूपको जानता रहू, बस यही मेरी निराकुलताका साधन है । सो चाहता तो नही कोई कि मैं जगतके सारे पदार्थोंको जान लू ऐसा ज्ञान बने, लेकिन ज्ञानकी प्रकृति ही ऐसी है, स्वभाव ही ऐसा है कि वह निरावरण रहे, पवित्र हो तो नियमसे जो भी सत् है वह सत् इस ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होता है अर्थात्

ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। तो ऐसा केवलज्ञान इस जीवकी एक विशुद्ध पवित्र अवस्था है। हम प्रभुको क्यो पूजते हैं कि उनके सर्व पवित्रता प्रकट हो गई। आनन्द पवित्रतामे है, अपवित्र रहनेमे आनन्द नही। अपवित्रता तो ससारकी जननी है। तो प्रभुके स्मरणसे अपनेमे उत्साह जगता है कि मेरा भी यही स्वरूप है फिर मैं क्यो अपवित्रता करूँ ? मैं तो अपनेमे तृप्त रहूगा। यह सब शिक्षा इस औदयिक भावके परिचयसे प्राप्त हो रही है। यह हो रहा है निषेध मुखेन परिचय अपने आपका।

असंयम—असंयम भी औदयिक भाव है क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होता है तो असयम बनता है। जो कर्म उदयमे आते हैं वे कर्म क्या हैं ? कर्मपरमाणुओका पिण्ड। उनमे कई स्पर्धक ऐसे है, कई परमाणु स्कध ऐसे है, जो जीवके गुणका पूरी तरह विघातके कारण बनते है और कुछ स्कंध ऐसे हैं जो जीवके पूरी तरह विघातके कारण तो नही बनते, किन्तु एकदेश विघात करते हैं, कुछ विकास बना रहने देते हैं। तो असयम भाव चारित्रमोहनीयके सर्वघाती स्पर्धकके उदयसे होता है, अन्यथा बात क्या होती कि प्राणियोका घात करनेसे हटे ऐसा उसमे परिणाम नही जगता। इन्द्रियविषयोसे हटे, ऐसा उसमे भाव नही बनता। तो ऐसा जो असयम भाव है याने इस जीवकी जो एक स्वच्छद प्रवृत्ति है, जैसी मोहने प्रेरणा दी, जैसा कषायने आदेश दिया वैसा ये विकार चलने लगे। हिंसा करें, अन्य अन्य बातें, कुभावनायें करें, तो यह सब एक असंयम भाव है। यह असंयम भाव औदयिक भाव है। जो जो औदयिक भाव होते है वे वे इस जीवके आरामके लिए नही होते, बल्कि विपत्तिके लिए होते है। जैसे दर्पणके सामने कोई रग बिरगी चीज रखी हो तो वहाँ दर्पणपर एक अविघातसा है, दर्पणका जो स्वच्छ स्वरूप है, स्वच्छता है वह नही रहती, वहाँ रग-बिरंगा चित्रण बन जाता है। ऐसे ही इस चारित्रमोहनीय कर्मका अनुभाग आया, उदय आया और इस उपयोगपर छा गया। वहाँ उपयोग ऐसा मलिन बना कि इसको निवृत्ति, वैराग्य, यह रच भी नही सुहाता। राग प्रवृत्ति इनमे ही आसक्त हो जाता है। तो ऐसा असयम भाव औदयिक भाव है, पर आप देखो मनुष्य हुए तो यह जीवन ही तो चलाना है। किसके लिए जीवन चलाना कि आत्माकी सुध हो, धर्मसाधन हो, अगला भविष्य मेरा सही बने और मैं जल्दी कर्मोंसे मुक्त हो जाऊ, इसके लिए यह जीवन है। अन्य बातोके लिए जीवन न समझिये। अन्य बातें तो एक सासारिक चीजें हैं, विडम्बना हैं।

तो लो धर्मके लिए हमे जिन्दा रहना चाहिए ना। असमयमे मर जायें, खोटे मरणसे मरे तो उससे तो आगे कोई सुधार नही है। तो धर्मके लिए हमे जिन्दगी रखनी है, पहले तो यह उद्देश्य बनायें और कामके लिए यह जीवन नही, क्योकि निर्णय कर लें और कामोंके लिए जीवन मानेंगे वे सब बेकार बातें हैं। मैं बहुत-बहुत बिल्डिग बना जाऊ, यह ही जीवन

का उद्देश्य है क्या ? क्या होगा अन्तमे छोडना तो पडेगा ही। छोड़ करके जैसी करनी की जीवने, जैसा बध किया था उसके अनुसार गतिमे जायगा। वहाँ कोई मददगार न होगा। यहाँ लाखों करोडोका वैभव जोड जाऊँ, इसके लिए जीवन है क्या ? क्या करेंगे जोड़कर ? क्या लाभ पायेंगे बहुत सा धन जोडकर ? छूटेगा। जैसा बंध किया, जैसी करनी की, उसके अनुसार आगे फल भोगेगा। परिजनोके लिए जीवन है क्या ? स्त्रीको, पुत्रको मै प्रसन्न बनाये रहू, इनका बहुत-बहुत सुखमय जीवन बने, ऐसा मै उद्देश्य बनाऊँ, इतने मात्रके लिए जीवन है क्या ? एक तो आपके वशकी बात नही है कि जैसा चाहे वैसा हो जाय और कदाचित् उनका उदय अनुकूल है और ऐसी बात बन जाय तो इननेमे आपने क्या लाभ पाया ? मरण होगा, सब छूट जायगा। जैसी करनी की। जैसा बंध किया वैसा आगे फल भोगना होगा। तो यह मनुष्य वर्तमान की १०—२० वर्षकी बातोके लिए तो बडा महत्त्व देता है, सब कुछ यह ही है। इसके बिना बेकार है। यो कुबुद्धि लाते और स्वयं अनन्त काल तक तो रहेगे ना, कितने अनन्त वर्षों तक ? उस समयके लिए मैं क्या रहू, कैसा रहू, क्या ढग हो, इसमे उनकी बुद्धि नही जाती। तो यह ही सब औदयिक भावोका नजारा है असंयम भाव।

मानवजीवनका उद्देश्य धर्मलाभ मानकर आत्मसंयत होनेके प्रयत्नका कर्तव्य— जीवन धर्मके लिए है, तो जीवन कितना खानेसे बनेगा ? जब मनमे आया, घटे घटेमे जैसा चाहे खाया, इसकी जरूरत क्या है ? जिन्दगी रखनेके लिए, बल्कि यह तो स्वास्थ्यमे घातक है, दो बार खाना, तीन बार खाना, खा लीजिए। नियंत्रण तो रखे कि हमको इतनी ही बार खाना है। कमसे कम बार रखें, इतना ही आपका संयम है, रातको खाये बिना क्या मरण होता ? मगर विशुद्ध श्रावक कुलमे उत्पन्न हुए लोग भी इस बातको सुनकर एक ऐसा महसूस करते कि कैसे चलेगा ? अजी दिन भर वहा काम करते, रातको आते, कैसे चलेगा ? और जब पापका उदय आयगा, जब अन्न भी न मिलेगा तो वहाँ कैसे चलेगा ? नरकगतिमे जन्म हुआ तो वहाँ सागरो पर्यन्त दाना नही मिलता और भूख इतनी कि सारा अन्न खा ले तो भी पेट न भरे, वहाँ कैसे चलता ? अरे यहाँ आप लोगोका कमसे कम एक बार तो मिल ही जाता है। नही मिल सकता लगातारमे तो उससे क्या जीवन बिगडता है ? मगर असयम की इतनी प्रवृत्ति है कि यह जीव इन लौकिक सुखोंके लोभमें अपने जीवनको बरबाद कर रहा है। अनाप-सनाप चीजे खा लेना, अभक्ष्य चीजें खा लेना, ऐसी कुबुद्धि जगी है यह असयम है ना। क्यो हुआ यह असयम ? चारित्रमोहका ऐसा ही उदय है, ऐसा ही एक बादल छाया है कि इसको अपना कुछ होश नही, अपनी सुध नही और मनमानी प्रवृत्ति करके अपने आपको सुखी रखना चाहता।

यह असयम भाव औदयिक भाव है। इससे हमें शिक्षा लेनी चाहिए कि असंयम मेरे

लाभकी नही, बरबादीकी चीज है। आखिर सर्वसंकटोंमे मुक्ति कब होगी जब कर्मोंसे छुटकारा होगा। कर्मोंसे छुटकारा होनेपर इस जीवकी क्या स्थिति होती ? अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे रत बना रहना, वहाँ फिर कभी भूख ही न आयगी, कभी भोजन ही न होगा, सदाके लिए भोजन छूट जाय, ऐसी स्थिति की चाह करें। जो ऐसी अवस्था की इच्छा रखता हो कि यह भोजन दुःख है, क्लेश है, यह सदाके लिए छूट जाय, बस यह स्थिति मुझे चाहिए, ऐसी भावना जिसके जगे वह क्या घटे घटेमे खाता ही फिरता रहेगा ? क्या रात दिन खाता ही रहेगा ? उसकी तो संयम रूप प्रवृत्ति होगी। स्थिति तो यह चाहिए कि सदाके लिए भोजन छूट जाय और यहाँ भोजनमे आसक्ति रहे तो उसकी भावना व्यर्थ है, झूठ है, चाहता नही है वह ऐसा। तो यह असयम भाव जीवका औदयिक भाव है, यह बरबादीके लिए है। प्रयत्न यह करें व्रत लेकर, सयम लेकर कि हम कमसे कम वार खायें, कमसे कम मेरेको दोष रहे। अभक्ष्यका बिलकुल त्याग रहे और और भी सयम बनायें, इच्छाका निरोध करें, अपने ज्ञान स्वभावको निरख-निरखकर, इस महान् विभूतिको देख-देखकर अपनेमे गुप्त तृप्त रहे, यह हमको शिक्षा मिलती है औदयिक भावोका परिचय होने से।

असिद्धत्व भावकी औदयिकता—असिद्धत्व भी औदयिक भाव है। असिद्धत्वके मायने सिद्ध न होना। कहाँ तक है यह असिद्धत्व भाव ? निगोदिया जीवसे लेकर। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, बडे बडे मुनिराज अरहत भगवान यहाँ तक असिद्धपना है। यद्यपि अरहतदेव सकलपरमात्मा हैं। घातिया कर्म जिनके नही रहे, अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है। भव्य जीवोके आराध्य है, मुनिजनोंके मनमे निरन्तर उनकी उपासना चलती है। ऐसे पूज्य पवित्र है अरहंतदेव, लेकिन अघातिया कर्म उनके लगे हैं। उन अघातिया कर्मोंके उदयकी वजहसे उनमे सिद्धत्व प्रकट नहीं होता। तो जितना भी असिद्धत्व भाव है वह सब औदयिक भाव है। यह ससारी जीवोके तो ८ कर्मोंकी अपेक्षा असिद्धत्व है। हम आपके अष्टकर्मोंका उदय चल रहा है, ऐसा विकट असिद्धत्व है और जहाँ दर्शनमोहनीय कर्म नही रहा, चारित्रमोह कर्म भी नही रहा, ऐसे उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय नामके ११वें, १२वें गुणस्थानवर्ती जीवोंके असिद्धत्व ७ कर्मोंकी अपेक्षासे है। मोहनीय न रहा, पर ७ का तो उदय चल रहा। जब तक कर्मोदय है थोडा कैसा ही हो, तब तक असिद्धत्व भाव है। भले ही उपशान्त कषाय है, उसी भवमे गिरेगा, उसके मोहका उदय होगा, पर जितनी देरको वह उपशान्त कषाय है उतनी देरको मोहनीय कर्मकी कुछ भी मलिनता नही है, लेकिन ७ कर्मोंका उदय छाया है, असिद्धत्व भाव है। १२वें गुणस्थानमे यह जीव क्षीणकषाय बन गया, मोहनीय रच न रहा और न कभी मोहनीयका उदय आयगा, लेकिन ७ कर्मोंका उदय है तो उसे मुक्त न कहेगे। सिद्धत्व नही आया। अरहत भगवानके चार अघा-

तियाका उदय है, सिद्धत्व नही आया, अयोगकेवली भगवान जो कि सिद्ध होनेमें सम्मुख है, ५ ह्रस्व अक्षरोके जल्दी बोलनेमे जितना समय लगता है उतना ही समय इसका काल है। उसके बाद नियमसे सिद्ध होते है। ४ अघातिया कर्मोंका विनाश हो जायगा, सिद्ध हो जायेंगे परन्तु जब तक १४वाँ गुणस्थान है, वहाँ तक ४ अघातिया कर्मोंका उदय है, इस कारण वह सिद्ध नही कहलाते।

तो अपने आपमे देखो सिद्ध होना तो मेरे स्वरूपकी चीज है। कोई नई चीज लेकर भगवान नही बनते, किन्तु जो मेरा स्वभाव है उस स्वभावका आवरण करने वाले, विकार करने वाले जो कुछ विभाव है वे हट जायें, भगवान तो हम अपने स्वरूपमे ही बने हुए हैं। तो यह सिद्धत्व मेरे स्वरूपकी चीज है, पर आज कर्मोदयका ऐसा घटाटोप है कि असिद्धत्व है और विकट असिद्धत्व है, आकुलित होते है। तो आकुलताका जो मूल है अज्ञान, मिथ्यात्व, उसे दूर करना है, औदयिक भावसे हटना है और स्वभावभावमे अपनी धुन बनाना है। इस पुरुषार्थसे कल्याण होगा, सदाके लिए संकट टल जायेंगे। इस मनुष्यभवके १०—२० वर्षके जीवनके लिए कुछसे कुछ विकल्प बनाकर इस जीवनको व्यर्थ खोदेनेमे कोई बुद्धिमानी नही है।

अपवित्र भावोंसे दूर होनेके लिये अपवित्र भावोंका परिचय—मोक्षशास्त्रके सूत्रोमें मोक्षमार्गकी बात कही गई है। जिसका प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि-मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। तो सम्य-ग्दर्शन क्या है ? इस वर्णनमे सबका वर्णन आ जाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्रका भी वर्णन आ जाता है सम्यग्दर्शनके स्वरूपका स्पष्ट विवरण करनेसे, क्योकि सम्यग्दर्शनके विवरण मे ७ तत्त्वोका स्वरूप बताया गया है। जीव अजीवके सब द्रव्य आ गए। आस्रवबंध संसारके भाव आ गए, संवर, निर्जरा सब चारित्रका वर्णन इस तत्त्वमे आ जाता है और मोक्षका भी वर्णन आ जाता है।

सर्व प्रथम जीवतत्त्वकी बात कही जा रही है। जीवके स्वतत्त्व ५ है याने इन ५ बातोको देखकर जीवका परिचय मिलता है—औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। इनमेसे अभी वर्णन चल रहा है औदयिक भाव का। कर्मका उदय आनेपर जीवमे क्या-क्या भाव बनता है, जीवकी क्या स्थिति बनती है ? उसका परिचय है इस सूत्रमे और औदयिक भावका परिचय मिलनेसे स्वभावदर्शनके लिए बहुत मदद मिलती है, क्योकि हम पद छाये हुए है ये सब औदयिक विकार और जब यह समझमे आ जाता कि यह समस्त औदयिक विकार जीवका स्वरूप नही है, स्वभाव नही हैं, किन्तु कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवमे ऐसा परिणमन हुआ है। तो यह परिणमन है

तो जीवका, लेकिन जीवका स्वभाव नही है। स्वभाव इससे न्यारा है, वह है चैतन्यस्वरूप। तो निज स्वभावकी दृष्टिको उमग जगती है तव इस औदयिक भावका सही परिचय मिल जाता है। ससारके प्राणी जो ससारमे रुल रहे है उनको अब तक औदयिक भावका औदयिक रूपसे परिचय नही हुआ। बस सीधा यही जानने कि यह ही तो हुआ मैं, जिस गतिमे गए उसीको मानते है कि मैं तो यह ही तो हू, मै नारकी ही तो हू, मनुष्य ही तो हू, तिर्यञ्च ही तो हू। जिस भवमे गए उस रूप अपनेको माना। तो उसका यही मतलब रहा ना कि इस जीवको औदयिक भावोका परिचय नही हो पाया, उसीको सर्वस्व मानता है, तो आचार्य महाराज करुणा करके उनके अपवित्र भावोका भी वर्णन कर रहे हैं कि यह जीव अपवित्र कैसे होता है ? औदयिक भाव है—४ गति, ४ कषाय, ३ लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धपना और लेश्या।

लेश्याभावकी औदयिकता—अब वर्णन चल रहा है लेश्याका। लेश्यायें ६ प्रकारकी हैं—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) पीतलेश्या, (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या। जिनका चित्रण नक्शोमे भी मिलता है। मदिरोमे अनेक जगह देखनेको मिलता है कि कोई ६ मुसाफिर कही बाहर जा रहे थे तो रास्तेमे उन्हे भूख लगी और एक आमका पेड भी दिख गया। खूब आम लगे थे उसपर, पके हुए भी थे, तो उन छहोने सोचा कि पहले आमके फल खायें फिर आगे चलें। छहोकी राह वही थी। तो वे छहो किस तरह फल खानेको दौडे ? उसका चित्रण किया है कि एक मनुष्यने तो यह सोचा कि नीचे बहुतसे फल पके हुए पडे है, उनको ही उठावें और खावें। दूसरेने सोचा कि आमके पेडपर चढें और मनमाने पके फल तोडकर खा लें। तीसरेने सोचा कि हां आमपर चढें और वही डालियोसे गुच्छे तोड-तोडकर खूब आम खायें। चौथा ऊपर चढा और छोटी-छोटी डालिया तोड-तोडकर उनमेसे पके-पके आम खाने लगा और ५वें ने क्या किया कि उस पेड पर चढ गया और जो उसकी शाखायें थी उनको कुल्हाडीसे काटने लगा, सोचा कि जब ये शाखायें नीचे गिर जायेंगी तो खूब पके-पके आम तोडकर खायेंगे। छठेने सोचा कि हम इस पेडपर भी क्यो चढें, इस पेडको ही नीचेसे काटकर जमीनपर गिरा दें, फिर मनमाने फल खायेंगे। सभोने अपने-अपने भावोके अनुसार कार्य किया। तो ऐसे ६ आदमियोके भावोकी तुलना की है। कुछ लोग तो ऐसे होते कि जो मद कषाय वाले है, जैसे कि एकने सोचा कि नीचे फल पडे हैं उनको ही उठा-उठाकर खायें तो यह शुक्ललेश्या है। एकके कुछ उससे विचित्र भाव बनते है, जिसे कहते है पद्मलेश्या, जैसे कि पेडपर चढकर ही फल तोडकर खाया है। एक होती है पीतलेश्या, जो उन सभी शुभ लेश्याओमे सबसे जघन्य लेश्या है। एक होती है कापोतलेश्या, जैसे कि शाखायें तोड-तोडकर फल खा रहा। एक होती है नीललेश्या

काम बन जायगा। चिन्ता इस बातकी न करें, क्योकि यह तो सब पुण्य-पापके अनुसार होता है, उसमे तो कोई हमारा अधिकार नही, पर चिन्तन इस बातका करें कि मेरेको वह उपाय बने कि जिस उपायसे सदाके लिए हमारे ससारके सकट मिट जायें। 'यह उपाय बनावे तो वह अमीर है और यदि यह उपाय न बना सका तो कुछ भी वैभव रहे, कुछ भी सुविधा रहे उससे इस आत्माका पूरा नही पडता। तो इस स्वभावके आश्रयके लिये विधिमुखेन भी वर्णन होता है, याने आत्माका जो स्वरूप है उसका वर्णन करना, जो कि पारिणामिक भावके भेद प्रभेदके समय वर्णन होगा और यह औदयिक भावका वर्णन चल रहा। यह मैं नही हू, यह मैं नही हू, यहाँ निषेधमुखेन शिक्षा ले।

लेश्याका संक्षिप्त स्वरूप—लेश्या क्या चीज है ? लेश्याको बताया है कि जो पुण्य पापसे लिपा देवे, पुण्य पापमे लगा देवे, पुण्य पापके बधनको करा देवे उस परिणामका नाम है लेश्या। वह परिणाम क्या है ? कषायके उदयसे सहित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है, आत्माका प्रदेश परिस्पंद है उसका नाम है लेश्या। लेश्या दो प्रकारकी कही गई है–(१) द्रव्य-लेश्या और (२) भावलेश्या। द्रव्यलेश्या तो शरीरका रग है। कोई कृष्ण (काला) है, नील है, कापोत है, पीत है, पद्म है, शुक्ल है और भावलेश्या है कषायसे सहित योग प्रवृत्ति। तो यहाँ जो औदयिक भावोको लेश्या कहा जा रहा है सो यद्यपि द्रव्यलेश्या भी औदयिक है, भाव लेश्या भी औदयिक है, मगर प्रयोजन तो जीवके परिचयका है, जीवके स्वतत्त्व कहे गए हैं, तो यहाँ भावलेश्याका ग्रहण करना। यह भावलेश्या है, कषायका उदय होनेपर योगप्रवृत्ति का नाम है, सो वह औदयिक भाव ही है। हाँ लेश्याकी बात चल रही है। लेश्यामे परिणाम अशुभ और शुभ होते है।

कृष्णलेश्याका परिचय—कृष्णलेश्यामे क्या परिणाम होते ? कृष्णलेश्या वालेका इतना दुष्ट परिणाम है कि वह बैरको नही तज सकता, किसीकी प्रतिकूल चेष्टा हुई हो, किसी के प्रति किसी वक्त क्रोध हुआ हो तो ऐसा बैर बन जाता है कि वह बैरको नही तज सकता। जैसे कमठके जीवने पार्श्वनाथके भवमे बैरको नही तज पाया, बैर निभाता रहा और जब पार्श्वनाथ प्रभु तीर्थंकर हो गए तो बालब्रह्मचारी, छोटी अवस्था, विरक्त हो गए, तब उस घनश्यामपर, प्रभु पार्श्वनाथको घनश्याम भी कह लो याने तेज घन बादलकी तरह श्याम जिनका रङ्ग, उस पार्श्वनाथ प्रभुपर उस कमठके जीवने जो ज्योतिषी हुआ वहाँ पर भी उप-सर्ग किया। चाहिये तो यह था कि उनके चरणोमे आकर पूर्वके किए पाप धो डालता और अपना भवितव्य सुधारता और कहाँ उसने तीर्थंकर प्रभुपर घोर उपसर्ग किया, तो यह है कृष्णलेश्या जैसी बात। नरकगतिमे बैरको नही तजता।

बहुतसे मनुष्य भी ऐसे है जो यहाँ बैरको नही तजते। कोई कारणसे बैर हो गया

चाहे १० वर्षोंसे उनको मार न सका, पर १० वर्षों तक इन्हें कैसे मारें, कैसे मारनेका मौका पाऊं, अनेक तरकीबें लडाना, इसी धुनमे रहता है। तो कृष्णलेश्या वालेका यह लक्षण है, जो प्रचड होता है और बैर नही तज सकता। दूसरा लक्षण है गाली-गलौज करनेकी उसकी आदत होती है और उसके हृदयमें दया नही रहती। कृष्णलेश्या ही तो है। उसके हृदयमें करुणा नही है। भला बतलावो अनेक लोग अपना मन बहलानेके लिए चूहे पकडते है, चूहे की पूछ डोरसे बाँध देते है और आगके सामने उसे दिखाते है, कुछ आगसे छुवा भी देते है, वह बेचारा तडफता है। देखिये—क्या हालत हो रही उस चूहेकी, मगर वह पुरुष उसके साथ इस तरहका खेल खेलता है, हँसता है, मौज मानता है। दया धर्म उसके हृदयमे नही रहता। तो जिनके हृदयमे कृष्णलेश्या है उनके हृदयमे धर्म नही रहता। इतनी दुष्टता उसमे होती है कि वह किसीके वशमे नही है। कोई कितना ही समझाये, मगर वह किसीके वश नही होता, वह स्वच्छन्द विचरता है। वह तो मनमे तो मानता है कि मैं राजा हू, मैं बहुत बुद्धिमान हू, जो चाहू सो कर डालता हू, मगर कितनी विडम्बनामे फसा है? कैसा कर्मबन्धन उसके हो रहा है उसका फल वही भोगेगा। ऐसे कृष्णलेश्याके लक्षण होते है जिनमे आप जानेंगे कि कैसी कषायकी तीव्रता है।

नीललेश्याका परिचय—कृष्णलेश्यासे कम संक्लेश वाला है नीललेश्या वाला जीव। वह कार्य करनेमे मद रहता है; बुद्धिविहीन रहता है। उसमे विरक्ति नही पायी जाती है। विषयोमे वह आसक्त रहता है। घमंड करे, मायाचार करे, परनिन्दामे उसका समय जाता है। यद्यपि कृष्णलेश्यासे नीललेश्या कुछ हल्की कषाय है, मगर हल्की भी क्या है? यह भी तीव्र ही कषाय है। दूसरेकी निन्दा करनेमे इसको मौज आता है। अब देखिये कितना बेहोश है यह जीव? क्या मिलता है परनिन्दासे? सोचो, पर इसको कैसा कर्मका उदय है कि यह परनिन्दामें कुछ मौजसा मानता है और उससे लाभ क्या है सो तो बताओ। अपना दिल खराब करना, उपयोग खराब करना, कर्म बन्ध करना, आगामी कालमे सकट सहना। वह लोगोकी दृष्टिमे गिर जाता है जिसको परनिन्दाकी आदत रहती है। सब समझ जाते है लोग कि यह तो बेकारसा अज्ञानी आदमी है। इसकी तो आदत खराब है, तो ये नीललेश्याके लक्षण हैं। दूसरोकी निन्दा करना, दूसरोको ठगनेमे अपनी चतुराई मानना, किसीको धोखा दिया तो उसकी डींग मारना, 'मैंने वहाँ ऐसा किया,' अपनेको चतुर समझना, ये सब नीललेश्या के लक्षण है। इस नीललेश्यामे भी बहुत विकट कर्मबन्ध चलता है, किन्तु यहाँ रागद्वेषकी बहुलता बराबर पायी जाती है। वह नीललेश्याका चिन्ह है। जहाँ धन वैभवके प्रति बडी आसक्ति रहती है। बस कमाई करना, सग्रह करना और उसे देख-देखकर खुश होना, यही जिसकी वृत्ति चल रही है वे सब नीललेश्याके लक्षण है।

कापोतलेश्याका परिचय—नीललेश्यासे कम सक्लेश वाला है कापोतलेश्या । कापोत-लेश्यामे इस जीवकी कैसी प्रवृत्ति होती है कि वह रूठ जाता है, निन्दा करता है, दूसरोको दूषण लगाता है और इसमे भय, शोक ये अविकलतया पाये जाते हैं । दूसरोसे ईर्ष्या करता है, यह क्यो बढ गया, यह क्यो प्रतिष्ठा पा गया, क्यो विशेष धनी हो गया ? यो ईर्ष्या करता है, दूसरेका अपमान करता है, अपनी बहुत-बहुत प्रशसा करता है । यह ही धुन सवार रहती है कि लोग मुझे बडा अच्छा समझें । अपनी प्रशसाकी बात चित्तमे रहती है, यह है कापोत-लेश्या । कषायोकी तीव्रता और मदताके अनुसार इस जीवके योग प्रवृत्ति जो होती है बस उसका नाम लेश्या है । कापोतलेश्या वालेको किसीका विश्वास नही रहता है, क्योकि धन वैभवमे उसकी विशेष आसक्ति है और तब ही वह दूसरेका विश्वास नही रखता । कोई स्तुति करे, प्रशसा करे तो उसको बहुतसा धन भी देता है । यह सब कापोतलेश्याकी बात कही जा रही है ।

जैसे मानो आजकल कोई थोडी-थोडी घटनापर लाखोका दान बोलता है तो ठीक है उसका धन उपयोगमे तो आया, मगर उसके परिणामोंमे यदि यह बात है कि इससे मेरी प्रतिष्ठा बढेगी, लोग हमारी प्रशसा करेंगे तो वे सब कापोतलेश्याके लक्षण है । वह विवेक पूर्वक दान नही है, क्योकि अपनी स्तुतिके एवजमे वह दान हुआ । तो जो कापोतलेश्या वाला पुरुष है उसका ऐसा चिन्ह होता है कि उसका कोई स्तवन करे, प्रशसा करे तो वह उसको सब कुछ धन भी अर्पण कर देता है और रणोमे जो लोग युद्ध करते हैं और इतना तक भाव रखते है कि मरण हो तो हो जाय पर ऐसी विजय करेंगे, उस मरणकी प्रार्थना भी करते कि मेरा रणमे मरण हो तो अच्छा है, क्योकि भाव वही लगा हुआ है कि प्रशसा होगी, लोग समझेंगे, मुझे शहीद मानेंगे, हमारा लोग नाम लेते रहेंगे, ऐसा जो परिणाम होता है ये सब कापोतलेश्याके लक्षण हैं । इस लेश्यामे यह जीव कार्य अकार्य कुछ भी नही गिन रहा ।

उत्पातग्रस्त होनेकी विधि और उत्पातसे हटनेकी भावना—ये सब उपद्रव कैसे आये ? इस प्रकार आये कि हमने खोटे भाव किये, उस समय कर्मबन्ध हुआ, उस प्रकारका प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग बन्धन हुआ, अब उनका उदयकाल आया, ऐसे उदयकालमे गडबडी हुई, कर्ममे विकार आया । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता । यह वस्तु स्वय सत् है और उसकी वही कला है, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जिसके बलसे ससार टिका हुआ है । कर्म अनुभाग आया, उदयमे विपाक हुआ तो उपयोगस्वरूप इस जीवमे उसका प्रतिफलन होता और उससे घबडाकर, उससे तिरस्कृत होकर यह जीव उसे अपना मानता है और विषयोमे प्रवृत्ति करता है । इस तरह होते है ये सब लेश्या आदिक औदयिक भाव । तो उनसे यह शिक्षा लेनी है कि ये औदयिक भाव हैं, मेरे स्वरूप नही हैं । मेरा

स्वरूप तो वह है जो मेरी ही सत्ताके कारण अनादि अनन्त अहेतुक मुझमे नित्य अन्तःप्रकाशमान है। वह स्वभाव 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।' देखो टटोलो अपने भीतरकी बात। इस दृश्यमान समागमको ही सब कुछ न समझो। इसके लिए ही हमारा जीवन है, सब कुछ मरना पचना है, यह एक आस्था छोड दें और यह ध्यानमे लायें कि धर्मके लिए मनुष्य जीवन मिला है, अन्य कामोंके लिए नही, क्योकि अन्य काम ससारमे अनेक भवोमे पशु-पक्षी होकर भी सब कुछ कर डाला। तो यह मनुष्यभव हमे मिला है तो उसमें मै आत्माको जानूं, आत्माकी श्रद्धा करूँ, आत्मामे ही तृप्त होऊँ, सबसे निराले ज्ञानज्योतिर्मय अपने अंतस्तत्त्वको देखू, बस इस मनुष्यभवका कल्याण है, उद्धार है जीवका, जीवनकी सफलता है और बाहरी समागमोके लिए ही अपना सारा सर्वस्व अर्पण करना यह कोई बुद्धिमानी नही है। कषायकी मंदतामे ऐसी ये तीन अशुभ लेश्यायें ही होती है।

पीतलेश्याका परिचय—अब इसके बाद है शुभलेश्या। तो शुभलेश्यावोमे जो कम शुभलेश्या है उसका नाम है पीतलेश्या। देखिये—कषायोका उदय चल रहा है सबके साथ और उसी प्रेरणासे ये सब विचित्र बातें चल रही है। पीतलेश्यामे यह जीव कार्य अकार्यको समझता है। यह करने योग्य है, यह नही करने योग्य है, यह सेवन करने योग्य है, यह सेवन करना योग्य नही है, ऐसा उसके विवेक रहता है। और यह सबको समताके रूपसे तत्त्वको देखता है। एक जीवकी अपने-अपने होनहारकी बात है। कोई जीव प्रकृत्या उदार होता है, सबमे समान बुद्धि रखता है, सबको एकसा समझता है। 'अपने घरमे अनेक भाई हैं, उनकी सतान है। जैसे अपनोके लिए वैसा सबका भी बराबरका बर्ताव रखते है। सुखमे दुःखमे यह पक्ष नही रहता कि ये मेरे बच्चे हैं और ये मेरे चाचाके बच्चे है। ज्ञानी पुरुष इस तरहका भेद नही डालते। पीतलेश्या वाला व्यक्ति सबमे समताका व्यवहार रखता है, वह दया और दानमे रत रहता है। उसके हृदयमे दया भरी है। कोई दुःखी जीव हो, मनुष्य हो, तिर्यञ्च हो, यदि अपनेमे सामर्थ्य है कि उसका दुःख दूर करें। कोई धर्मका कार्य हो, प्रसग हो तो जितनी सामर्थ्य है सब शक्ति लगाकर उस कार्यको करे। तो पीतलेश्या वाले पुरुषके हृदयमे दयादानका भाव रहता है, कोमल परिणाम रहता है। ये है पीतलेश्या वालेके परिणाम। ये औदयिक भाव हैं, मेरे आत्माके स्वरूप नही है, पर कर्मके कैसे-कैसे विचित्र उदय है कि जिसके सन्निधानमे यह जीव अपनेमे अपनी परिणति इस इस प्रकार बनाता है। यहाँ औदयिक भावका परिचय कराया जा रहा है, जिसका प्रयोजन है इन औदयिक भावोसे प्रीति हट जाय और अपने स्वभावमे प्रीति जग जाय।

पद्मलेश्याका परिचय—लेश्या कहते है उसे जो आत्माको कर्मसे लिपा है अर्थात् कषायसे सहित जो मन, वचन, कायकी क्रियासे होने वाला आत्माके प्रदशोका परिस्पद है

वह कर्मसे लिपाया करता है । तो ऐसी लेश्यायें जो ६ प्रकारकी कही गई है वे सक्लेश और विशुद्ध परिणामके तारतम्यसे बताई गई हैं । शुभ परिणामोमे पीत, पद्म, शुक्ल—ये तीन लेश्यायें होती है । कम शुभ हो तो पीतलेश्या है, अधिक विशुद्ध परिणाम हो तो पद्मलेश्या है । पद्मलेश्यामे इस जीवके ऐसे भाव होते कि बाह्य पदार्थोंका यह त्याग करता है । व्रत, तप, संयमकी ओर इसकी वृत्ति चलती है, इसके परिणाम भद्र होते है, यह बहुत प्रकारके कर्मोंका क्षय करता है । देखिये यद्यपि मिथ्यात्व अवस्थामे भी छहो लेश्यायें सम्भव हैं, शुक्ल-लेश्या हो और मिथ्यात्व हो यह भी सम्भव है, फिर भी मिथ्यादर्शनको लिए हुए शुक्ललेश्या हो तो वहाँ परिणाम विशुद्ध रहते हैं और सम्यक्त्वके होनेपर तो विशुद्ध परिणामोकी बहुलता होती ही है । जिस ज्ञानी पुरुषने समस्त जीवोको स्वतन्त्र-स्वतन्त्र समझ लिया, सबके अपने-अपने कर्म लगे हुए है । कोई जीव किसी दूसरे जीवमे सुधार-बिगाड नही करता, खुद ही यह जीव अपने आपके परिणामोमे विकार बनाकर खुदका ही बिगाड करता है, ऐसा जिसका निर्णय हो गया वह सहज विरक्त हो जाया करता है । राग और वैराग्य—रागमे तो झूठा आनन्द होता है और वैराग्यमे आत्मीय सत्य आनन्द होता है । आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे नही मिलता, किन्तु बाहरी पदार्थमे जो राग है, जो कि आत्माकी विकारी पर्याय है उस रागमे ज्ञानकी एकाग्रता करनेसे रस मिलता है, सुख मिलता है, मौज होता है । कही यह मौज भी किसी बाहरी पदार्थसे निकलकर नही आया, किन्तु आत्माने अपने रागपरिणाममे एकाग्रता की, वहाँ उपयोग जुटाया, वहाँसे रस निकला सब कुछ, पर बाहरी पदार्थोंसे कभी भी रस प्राप्त नही होता, सुख प्राप्त नही होता । जिसने ऐसा निर्णय कर लिया है वह सब जीवोपर क्षमाभाव रखता है । उपसर्ग करने वाला भी हो कोई तो भी वह जानता है कि इसका आत्मा सहज पवित्र है, विशुद्ध है, चैतन्यस्वरूप है । इसका यह स्वरूप उपसर्ग नही कर रहा, किन्तु इसपर अज्ञानका रस चढ गया, बेहोशी इसपर लद गई, इसलिए यह स्वच्छद अटपट प्रवृत्ति कर रहा, ऐसा जानकर उपसर्ग करने वालेपर भी ज्ञानी पुरुष क्षमा करता है । तो जिसके ये शुभ लेश्यायें होती है उसका ऐसा ही परिणाम होता है । यह पद्मलेश्या वाला त्यागी है, भद्र है, बहुत प्रकारके कर्मोंका क्षय करने वाला है । साधुजनोकी, गुरुजनोकी पूजा मे इसका चित्त रहता है । साधुकी पूजा क्या है ? उसके प्रति नम्र होना, उसके गुणोको निरख करके मनमे हर्ष करना, ये सब निर्मल परिणाम इस लेश्यामे होते है । एक तो ज्ञानी की गुणदृष्टिकी प्रकृति होती है । प्रत्येकमें गुणको देखेगा । दोष भी है, एक बार ज्ञानमे तो आ जायेंगे, मगर उनके दोषोको वह अपने हृदयमे न रखेगा, क्योकि जैसा ज्ञान करेगा वैसा ही इसपर प्रभाव पडेगा । अगर हम गुणोको दृष्टिमे लेंगे तो हमारे गुण भी विकसित होते जायेंगे और दोषोपर हमारी दृष्टि रहेगी तो हम कुठित हो जायेंगे । तो जो ज्ञानी विवेकी पुरुष हैं

उनकी प्रकृति होती है गुणदृष्टिकी और इस गुणदृष्टि वालेको सर्वजीवोमे समता और क्षमाका भाव होता है। यह पद्मलेश्या वाला जीव साधुपद क्रियामे रत रहता है, गुरुकी पूजामे रत रहता है, देवकी पूजामे रत रहता है, ये सब चिह्न पद्मलेश्या वालेके होते है। यहाँ कषायोकी मदता है और योगीकी सभी प्रवृत्तियाँ है, ऐसी स्थितिमे यह लेश्या बनती है जिससे इस जीव के विशेष पुण्यरस बढता है और पापरस घटता है।

शुक्ललेश्याका परिचय—इन सब लेश्यावोमे सर्वविशुद्ध लेश्या शुक्ललेश्या है। इन लेश्योंओके नाम रगपर यो रखे गए है कि उन रंगोमे लोग तुलना करते है बुरे और अच्छे की। स्वच्छ सफेद रूप एक सगुन और प्रिय माना जाता है तो यह लेश्या भी शुक्ल है यानें यहाँ रागद्वेष मोह इतना मंद हैं कि जिनका व्यवहारमे कोई विशेष प्रभाव नही होता। यह शुक्ललेश्या वाला जीव पक्षपात नही करता, न इसके लिए कोई पक्ष है, न इसका कोई विपक्ष है। किसी पुरुषमे इसके न रागकी विशेषता है, न द्वेषकी विशेषता है। पक्षमे गिरनेके दोनो कारण है, किसी प्रकारका राग और किसी प्रकारका द्वेष, पर रागद्वेष दोनो अत्यन्त मंद होने से यह शुक्ललेश्या वाला जीव पक्षपात नही करता। भविष्यके लिए निदान भी नही करता। मैं राजा बनूं, मै धनी बनूं, मुझे मरकर इन्द्रादिक पद मिले आदिक किसी भी प्रकारका निदान नही करता, निदान तो अज्ञानी जन करते है। जैसे एक अपने ही जीवनसे सोचो—आज हम कुछ ज्ञान बढाते है, कुछ विवेक निर्णय सही है, आज भाव नही होता कि मैं इन्द्रादिक बनू, मगर बहुत पहले समयमे जब इतना ज्ञान न पाया था तो कुछ बात मनमे आ ही जाती थी कि मैं मरकर देव होऊँ, इन्द्रादिकके पद पाऊँ, पर शुक्ललेश्या वालेके चित्तमे ये भाव उत्पन्न नही होते, निदान नही होता। वे सब जीवोमे समान वृत्तिसे रहते हैं। इनकी दृष्टिमें सब समान हैं। कौन अपना, कौन गैर ? जिन्हे रागी मोही जीव अपना समझते है वे है कहाँ मेरे ? भिन्न पदार्थ है, अपने जन्मसे आये, अपने मरणसे जायेंगे। अपने कर्मानुसार अपनी प्रवृत्ति करते है, और कौन इनके लिए गैर हैं ? वैसे गैर सभी है, मगर एक ऐसा गैर मानना कि जिसमे दूसरोको अपना माना जा रहा है उस तुलनामे गैर मानना, ऐसा गैर वे किसीको नही मानते। सबको अपने स्वरूपके समान देखते है। इस जीवके रागद्वेष मोह नही है अथवा अति मद हैं, ऐसा शुक्ललेश्यामे कषायोके अत्यन्त मद होनेकी स्थिति है।

औदयिक भावसे हटकर पारिणामिक भावका आश्रय लेनेका कर्तव्य—ये सब लेश्यायें औदयिक भाव है, जीवके स्वरूप नही है। जीवका स्वरूप तो एक अखण्ड चैतन्य-स्वरूप है। मेरा वह स्वरूप है जो अनादि अनन्त अहेतुक है। अगर मेरे स्वरूपकी आदि है तो वह स्वरूप नही, वह तो पर्याय है। यदि मेरे स्वरूपका अन्त है तो वह स्वरूप नही, वह पर्याय है। यदि मेरा स्वरूप किसी कारणसे बनता है, अहेतुक हो, किन्ही साधनोंसे बन गया

स्वरूप। जैसे कि चार्वाकके लोग कहते है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार मिल जायें तो चेतन बन जाता है, ऐसा यदि स्वरूप किसी कारणसे बना करे तो वह स्वरूप नही है। वह तो कोई पर्याय है। स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक होता है। लोग कह बैठते हैं कि अग्निका स्वरूप गर्मी है तो प्रथम तो अग्नि कोई वस्तु नही। अग्नि पुद्गल स्कधोकी एक पर्याय है, वह द्रव्य नही है, और फिर उष्णता तो पुद्गलका स्वभाव नही, वह पर्याय है। अग्नि मिट जाय तो पुद्गल नही मिटता। यहाँ आत्मामे चैतन्यस्वभाव है। जो लेश्या है, सक्लेश हो, विशुद्ध हो, क्षोभ हो वह सब औदयिक भाव है। कर्मउपाधिका उदय हो उस सन्निधानमे यह छाया पडती है। ये सब जडके स्वामी हैं। मेरे आत्माका जो सत्य स्वरूप है वह इनका स्वामी नही। उस आत्मस्वरूपको जो भूल गया वह बाह्यपदार्थोंमे रागद्वेष बुद्धि करता और अपनेको हैरान बनाये रहता। उसका फल क्या है कि वर्तमानमे भी कष्ट और जो कर्मबन्ध होता है उसका उदय आयगा तो उस समय भी कष्ट। इस जीवका कल्याण है अपने आपके स्वरूपका मनन करे इसमे। बाहरी भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंमे कुछ लगाव रखे, कुछ कल्पनायें करे, कुछ द्वेष करे, राग करे, ये सब खुदकी बरबादीके ही काम है। औपाधिक भावोका परिचय हमको यह शिक्षा देता है कि कर्मकी प्रेरणामे कुछ भी अपनेपर बीते उसे समतासे सह लें, पर वहाँ रागद्वेष मत करें, क्योकि ये मेरे स्वरूप नही है। जो परभावमे उलझेगा वह उलझता ही चला जायगा और जो स्वस्वभावकी ओर आयगा वह ही सुलझ सकेगा। यह लेश्या कर्म कषायके उदयसे अनुरजित योगकी प्रवृत्तिमे होती है।

लेश्याओके परिचयसे कषायकी तीव्रता व मदताका परिचय—यहाँ एक आशका हो सकती कि लेश्या तो इस तरह बनी ना कि कषाय भी साथ है और मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भी चल रही तो ये जब दो चीजें हो गईं— जो योग प्रवृत्ति है मन, वचन, कायकी चेष्टा होनेसे आत्माके प्रदेशोमे जो प्रकम्पन है वह तो है योग्य, सो वह तो एक वीर्यका परिणमन है शक्तिका परिणमन है। जैसे—क्षयोपशमलब्धिमे बताया दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य और वीर्य नामक जो लब्धि है वही है योग, उससे अलग कोई योग नही है और कषाय है सो वह औदयिक भाव है। तो योग तो कोई अलग चीज न रही। कषायमे कषाय है, योगमे योग है। तो उसका उत्तर यह है कि लेश्या बतायी जाती है यह समझानेके लिए कि कषायो की ऐसी तीव्र मद प्रवृत्ति हुआ करती है। तेज कषाय हो तो तेज कषाय भी चलती है और उस समय कृष्णलेश्या होती है। उसकी मदतामे नीललेश्या है, कापोतलेश्या है। शुभ परिणाम हो तो पीतलेश्या है, मदकषाय है। और भी मद हो तो पद्मलेश्या, और भी मद हो तो शुक्ललेश्या है। तो ये लेश्यायें होती तो हैं मदकषायमे, फिर भी ये मेरे स्वरूप नही है। ये सब पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। इनको निश्चयसे आत्माका नही कहा

जाता, वे पुद्गलके परिणाम कहलाते है ।

कषायरहित योग वाले जीवमें भी उपचारसे लेश्याकी सिद्धि—अब इस प्रसगमे एक आशका यह हो सकती है कि शास्त्रोमे बताया है कि शुक्ललेश्या १३वें गुणस्थान तक होती है। अरहत भगवान, जिनके घातिया कर्मोंका विनाश हो गया, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द जिनके प्रकट हो गया उनके शुक्ललेश्या कही गई है। सो यह बात तो जरा जंचती नही है। कषाय तो १०वें गुणस्थान तक है। ११वे, १२वें, १३वें गुणस्थानमे कषाय नही है, फिर वहाँ शुक्ललेश्या कैसे कहलाती ? क्योकि सभी लेश्यावोका यह लक्षण किया गया है कि कषायके उदयसे रंजित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है उसको लेश्या कहते है।

समाधान इसका यह है कि वास्तवमे तो वह लेश्या नही है, ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थानमे जहाँ कषाय नही है, लेश्या नही कहलाती, मगर योगप्रवृत्ति तो है नही। लेश्या के स्थान दो है—कषाय और योग। कषाय तो न रही, मगर योग तो है ही। शास्त्रोमे भी कहा है कि भगवानका विहार होता, किन्तु योग बिना तो नही होता याने चलनेमे शरीरकी क्रिया भी है, आत्माके प्रदेशोका परिस्पद भी है, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है तो वचनकी क्रिया भी है और उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोका परिस्पद भी है, तो योग तो है ही। अब जो योग रह गया वह योग उस ही लेश्याका उपचार करता है। तो जो योग पहले कषाय से सहित हुआ करता था अब कषाय नही है तो भी योग सामान्यसे तो यह ही कहा जायगा कि वही तो योग है जो पहले कषाय सहित हुआ करता था। इस तरह कषायसहित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है वह तो योग है सो सही है, पर कषाय छूट गई हो, न रही हो और योग रह गया हो तो उस योगमे भी लेश्याका उपचार किया जाता है।

औदयिक भावोंकी दुःखरूपता होनेसे हेयता—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि जीव के औदयिक भाव कौन-कौनसे होते हैं ? गति, यह औदयिक भाव है, जीवका स्वरूप नही। औदयिक भावोमे रमना न चाहिए। आज मनुष्य हुए है, कुछ योग्यता पायी है, कुछ कला प्राप्त की, कुछ वैभव प्राप्त किया, बुद्धि प्राप्त की तो यह अभिमान की जानेकी चीज नही। यह तो कर्मकी लीला है, कर्मका स्वाग है। मैं तो ज्ञानस्वभावी परमात्माकी तरह स्वच्छ एक स्वरूप रखने वाला व्यर्थमे एक फसा हुआ हू, उसे निरखना चाहिए और गतिमे हमको मोह नही रखना है। कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ जब ये उत्पन्न होते है तब ऐसा लगता है कि यह ही मेरी ठीक चीज है, इसमे तो मेरा ही बडप्पन है, मगर बड़प्पन तो क्या, हमारी बरबादी ही है। कोईसी भी कषाय जगे उसमे इस जीवको निराकुलता नही रहती, ऐसे ही लिग, कामविकार, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धपना और लेश्या—ये सभीके सभी

जीवके खोटे परिणाम हैं, औदयिक भाव है। इनसे निराला मैं कोई एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाश मात्र हूं, ऐसा दृष्टिमें लेना चाहिए।

अदर्शन, निद्रा, सुख, दुःख आदिका औदयिकके सूत्रोक्त भेदोंमें अन्तर्भाव— औदयिक भाव बहुत बता दिया, मगर एक आशंका यहाँ यह होती है कि बताओ जैसे अज्ञानको औदयिक कहा, यहाँ एकेन्द्रिय जीवके रसनाइन्द्रियजन्य ज्ञान तो नही है, रसना ही नही है, घ्राणेन्द्रियजन्य ज्ञान तो नही है, वह निकट ही नही है। तो जैसे एकेन्द्रिय जीवके रसनाका ज्ञान नही तो यह अज्ञान कर्मके उदयसे है। नो जैसे अज्ञान औदयिक भाव है, ऐसे ही अदर्शन भी तो औदयिक है। दर्शन मायने हैं वस्तुका सामान्यप्रतिभास होना, और वह न हो, वह अदर्शन है तो वह भी तो औदयिक है, उसको इसमे क्यो नही गिना? औदयिक भाव २१ कहे गए, मगर ये २१ के अलावा और भी तो औदयिक भाव है, उनको भी तो शामिल करना था। निद्रा आयी, निद्रामे कुछ दिखता नही तो वहां जो न दिखा, जो अदर्शन है वह भी तो अहेतुक है। सुख-दुःख होना, यह क्यो होता है? वेदनीयकर्मका उदय होनेसे। तो यह भी तो औदयिक भाव हुआ। हँसी आयी, प्रीति जगी, द्वेष बना, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा— ये भी तो औदयिक भाव है। चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होनेपर हुए है, उनको भी यहाँ ग्रहण करना था, लेकिन इस सूत्रमे अनेक औदयिक भाव छोड दिए गए, इनमे शामिल नही किए, इसलिए यह सूत्र सही नही है, यह अधूरा सूत्र है, ऐसी एक आशका होती है।

समाधान इसका यह है कि जो शकाकारने अनेक औदयिक भाव रखे हैं उनमे कुछ तो है पौद्गलिक परिणाम और कुछ है आत्मीय परिणाम। तो पौद्गलिक परिणामका तो यहाँ जिक्र है नही अथवा हो तो वह गतिमे अन्तर्भूत हो जाता है, क्योकि गतिभाव जो होता है वह अघातिया कर्मके उदयसे होता है। नामकर्म अघातिया कर्म है। और भी जो पौद्गलिक परिणाम है वे अघातिया कर्मके उदयसे होते हैं। अब रहे शेष जो जीवके परिणाम हैं सो उनका भी इसी तरह अन्तर्भाव है। मिथ्यादर्शनमे अदर्शनका अन्तर्भाव है। मिथ्यादर्शन का अर्थ है—उल्टा देखना। अब उल्टा देखना न देखने को भी कहते है और दिख नही रहा यह भी उल्टी बात। चीज है और तरफ, देख रहे और तरफ यह भी उल्टी बात। तो मिथ्यादर्शन एक सामान्य शब्द है, उसमे उल्टा दिखना भी है और न दिखना भी है। और ये अपनी-अपनी विशेषतायें है। न दिखना भी एक अधूरी बात है और उल्टा दिखना भी अधूरी बात है, सो यह सब मिथ्यात्वमे शामिल होता है। हास्य, रति, अरति आदिक नहीं कहा तो न सही, किन्तु लिङ्ग तो कहा है। यहां गति, कषाय, लिङ्ग, वेद ये नोकषायोंमे आते है। तो जब नोकषायोके ये तीन भेद ग्रहण कर लिये नो उपलक्षणमे बाकी ६ भी ग्रहणमे आ जाती है। इस तरह जो औदयिक भाव और नही कह गए, शेषके है, उनका इसमे अन्तर्भाव

होता है, ऐसा इस सूत्रमें औदयिक भावका वर्णन किया।

औदयिक भावोका तथ्य जानने वालेके अद्भुत धीरताका अभ्युदय— उससे एक निर्णय, एक शिक्षा यह लेनी है कि कर्मके उदयका सन्निधान पाकर आत्मामे जो-जो गड़-बड़ियाँ, विकार, क्षोभ जो भी उत्पन्न होते है, उनसे अधीर न होना, उनको यो जानना कि कर्मके उदयके ये सब स्वाग है, मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यभाव है, उसमे कोई परिणमन नही कर पा रहा। मुझ चेतनको कोई अचेतन नही बना सकता। रहा यह ऊपरी औदयिक भाव, जो यह कर्मोपाधि डाला है इससे हमको घबडाना नही है, किन्तु ज्ञानका बल बढ़ाकर उनको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न करना है। आज हम संसारमे है, अनेक बातें अनुकूल मिलेंगी अनेक प्रतिकूल, इसे कोई रोक नही सकता, क्योकि राग साथ लगा है। परिणाम हमारे अपवित्र है इसलिए अनुकूल प्रतिकूल बाते हुआ करती है। यदि हमारा परिणाम पवित्र हो, निर्मल हो तो अनुकूल प्रतिकूल कुछ नही है। परिणामोकी गदगीके कारण कुछ बात अनुकूल जंचती, कुछ बात प्रतिकूल जचती। तो अनुकूल प्रतिकूल चीजोका मिलना और उस के अनुसार विकल्प होना इसीका नाम तो ससार है। यह संसार दुःखमय है।

तो हमको यहाँ यह सोचना चाहिए कि कोई भी पदार्थ न तो अनुकूल होता, न प्रतिकूल होता, यह सब औपाधिक भावोका स्वांग है, कर्मोका नाच है। जैसा उदय आया वैसा प्रतिफलन हुआ। वहाँ यह जीव बहक गया। अब मै इन औदयिक भावोमे न बहू और अपना जो यह पारिणामिक भाव है, चैतन्यस्वरूप है। उसमे ही यह मै हू, यह मैं हू, ऐसा अनुभव बनाऊँ और मैं इन समस्त औदयिक भावोके झझटसे छूट जाऊं, ऐसी प्रेरणा लेनी है इन औदयिक भावोके परिचयसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उपायमे प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोका वर्णन मोक्षशास्त्रमे किया गया है। द्वितीय अध्यायमे जीव तत्त्वका वर्णन है। जीवके स्वतत्त्व क्या है ? तो बताये गए औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—इन ५ प्रकारके भावोमे शुरूके ४ प्रकारके भाव नैमित्तिक भाव हैं याने कर्मके उपशमसे हुए, क्षयसे हुए, क्षयोपशमसे हुए, उदयसे हुए, ये सब भाव जीवके स्वरूप नही हो सकते। है जीवकी ही पर्यायें, पर स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक हुआ करता है। ये भाव जीवके स्वरूप नही केवल पारिणामिक भाव है। जो शुद्ध जीवत्व है वह है जीवका स्वरूप। तो अब अवसर आया है पारिणामिक भावका वर्णन करनेका तो इस पारिणामिक भावके कितने प्रकार है, इस प्रकारसे इस सूत्रमे शुरू करते है।

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

पारिणामिक भावके प्रकार—पारिणामिक भाव तीन हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्य-त्व और (३) अभव्यत्व। जीवत्व नाम है चैतन्यस्वरूपका। जो जीवे उसका नाम है जीव

और जीवका भाव है जीवत्व। और भव्यत्व नाम है उसका कि जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्यायसे होने योग्य हो, ऐसा जिस जीवमे धर्म हो उसे कहते हैं भव्यत्व। और जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे परिणम नही सकता, ऐसी जहाँ बात हो वहा कहेगे अभव्यत्व। ये तीन भाव पारिणामिक हैं अर्थात् न तो ये कर्मके उपशमसे होते, न कर्मके क्षयसे होते, न कर्मके क्षयोपशमसे होते, न उदयसे होते, किन्तु द्रव्यके ही हुए रूप परिणाम वाले है अर्थात् जीवत्व रूपमे जीव रहता है, भव्यत्व रूपमे यह जीव है, अभव्यत्व रूपमे यह जीव है। पारिणामिकका अर्थ परिणमन नही, किन्तु परिणाम याने स्वभाव ही जिसका प्रयोजन है अर्थात् अनादि द्रव्यकी सत्ता रूपसे होने रूपसे जिसका सम्बध बना है, ऐसा परिणाम है जहाँ, स्वभाव है जहाँ उसे कहते हैं पारिणामिक भाव। जीवमे जीवत्व है, वह क्या किसी कर्मके उदय से है ? नही। जीव है तो स्वय जीवत्व है। जीवका स्वरूप जीवमे स्वय है। अपने आपके सत्त्वके कारण है। किसी दूसरे पदार्थसे जीवत्व नही आता। मैं हू, अपने आप हू, जैसा मेरे मे स्वभाव है उस रूपसे मैं होता रहता हू—यह है जीवका जीवत्व। भव्यमे यह जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्यायरूपसे होने योग्य है। होने योग्य रहना यह न कर्मके उदयसे होता, न उपशमसे, न क्षयसे, न क्षयोपशमसे। वह तो अनादि द्रव्यके ऐसा ही होनेका स्वभाव है। देखो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तो क्षयसे होगे। वे पारिणामिक नही हैं, मगर इन पर्यायो रूपसे होनेके योग्य होना, यह पारिणामिक है। इसमे कर्मकी बात नही बनती। वह तो इस जीवका उस प्रकारका स्वभाव है।

जीवत्व भावकी शुद्ध पारिणामिकताका शंकानिवारण द्वारा समर्थन—यहाँ कोई शकाकार कहता है जीवत्व नाम तो उसका है कि आयुकर्मके उदयसे यह जीव जीवित रहता है, सो पारिणामिक तो न ठहरा, क्योकि आयुकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है जीवत्व। सो इसे औदयिक कहना चाहिए। जब तक आयु है तब तक जीवत्व है, जीवन है, आयु न मिले तो जीवन नही रहता। तो ऐसा जीवत्वभाव, जिन्दगी ये तो औदयिक हैं, इसे पारिणामिक नही कह सकते, ऐसी एक शका है। इस शकामे मुख्य क्या बात कही गई कि पुद्गल द्रव्यका सम्बध होनेपर जीवत्व आता है, इस कारण पारिणामिक नही, किन्तु औदयिक है।

समाधान इसका यह है कि जीवमे जो जीवत्व है वह पुद्गल कर्मके सम्बधसे नही। अगर पुद्गल द्रव्यका सम्बध होनेपर जीवत्व आने लगे तो पुद्गल द्रव्यका सम्बध तो सब पदार्थोके साथ है। बधनरूप न सही, मगर सभी पदार्थ एक जगह मौजूद है और वहाँ पुद्गल कर्म भी मौजूद है। तो धर्म अधर्म आदिक द्रव्योमे जीवत्व क्यो नही हो जाता ? तो पुद्गल द्रव्यका सम्बध होनेपर अन्य द्रव्यमे तो जीवत्वका सामर्थ्य नही आता। आकाश, काल, पुद्गल इनमे क्यो नही जीवत्व आता ? इससे यह सिद्ध है कि जीवमे जीवत्व पुद्गल-

द्रव्यके सम्बध होनेपर नही, किन्तु स्वयं अपने आप स्वभावसे है और यह दस प्राणरूप जीवत्व नही, किन्तु चैतन्यस्वरूप है। यह सब जीवकी पहिचानकी बात चल रही है और बहुत उपयोगी ज्ञातव्य विषय है। जीवमे, मुझमे, स्वयमे अन्तर क्या हो रहा है, क्या स्वरूप है, क्या ढग है, यह बात जब समझमे न हो तो मोक्षमार्ग कैसे मिलेगा ? संसारके सकटो से छुटकारा पानेका उपाय बस आत्मतत्त्वका परिचय है। उसका यहाँ परिचय चल रहा है। और-और भाव तो नैमित्तिक थे, पर यह चल रहा है पारिणामिक भावका कथन। बहुत उपयोगी है, आत्माके स्वरूपकी बात है। उदय आदिककी अपेक्षा न लेकर होने वाली बात है। इसी कारण मानो और-और भावोकी बात निपटा लेनेके बाद पारिणामिक भावका कथन आता है। मेरा स्वरूप क्या है, इसका सही परिचय इस जीवत्व नामक पारिणामिक भावके परिचयमे मिलता है। मै क्या हू, इसका निर्णय हुए बिना यह कुछ भी अपना कल्याण नही कर सकता। बस ज्ञानका और अज्ञानका या कहो कषायका बस सघर्ष है। ज्ञानबल नही है तो कषाय हावी हो बैठते हैं। ज्ञानबल बना हुआ है तो कोई कुछ भी उपद्रव न कर पायगा। आत्मज्ञान सर्वोपरि वैभव है। कितना उत्कृष्ट वैभव है ? तीन लोककी सारी सम्पदा भी आ जाय, इकट्ठी हो जाय तो वह इस आत्मज्ञान सम्पदाके बराबर तो क्या, एक रचमात्र तुलनाकी कोटिमे भी नही आ सकता। मैं जीव हू, चैतन्यस्वभावसे रहता हू, इसके अतिरिक्त आगे और मै कुछ नही हू—ऐसा निर्णय बने, श्रद्धामे आये तो इस जीवका भला है। जितने भी धार्मिक कार्य किए जाते है उनका उद्देश्य न भूलना। सब कुछ किया जाता है एक इस अविकार सकटरहित सहज आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिए। मनुष्यको एक आदत पड गई है चिन्ता करनेकी, और चिन्ता किए बिना रहता नही यह, लेकिन चिन्तासे कुछ होता नही, होता वही है जैसा कि उन जीवोका भाग्य है। परिजनका, बच्चोका, बच्चियोका सबका अपना-अपना भाग्य है। उस भाग्यके अनुसार सांसारिक विभूतियाँ प्राप्त होती है। उसमे कुछ भी कर्तव्य नही है दूसरेका। तो फिर चिन्ता न करें और एक अपने आपके स्वरूपके ध्यानकी भावना रखे तो यह बहुत सम्भव है कि चिंताकी बातें भी सुगमतया हल हो जाती है।

गोरखधंधेमें न उलझकर निर्द्वन्द्व अन्तस्तत्त्वमे रहनेकी शिक्षा—यहाँ तो एक गोरखधधाका जैसा हिसाब है। गोरखधधेमे कोई इस प्रकारका तार गूँथा जाता कि जिसमे कोई एक छल्ला डाल दिया। अब उसे भीतरसे निकालना है तो उसके लिए बडी दिमागपच्ची करनी पडती है, ऐसे ही संसारके जो कुछ भी समागम है, सग है, करतूत है वे सब गोरखधधा है और जैसे-जैसे यह भावना बनती जाती है कि पैसा होनेसे हमारी महिमा है, सम्पदा होनेसे हमारी महिमा है, वैसे ही यह अज्ञानमे बढ़ता है और अपना कुछ कल्याण नही

करता। एक ऐसा अहाना है कि आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास याने जन्म तो लिया है मनुष्यभवका एक धर्मसाधनाके लिए, प्रभुकी उपासनाके लिए, मगर यहाँ कपास ओटने लगे। कपास ओटने मे फिर भी कुछ लौकिक हल हो जाता है, मगर आत्मस्वभावको छोडकर अन्य बातोमे दिल फसानेपर तो इसका कुछ भी उद्धार नही। जैसे कपास ओटते है, दिन भर ओटा, परन्तु फल कितना मिला ? थोडीसी रुई निकल आयी, ये बिनौले अलग हो पायें, तो काम ज्यादा नही बनता और दिन भर लगा रहता। पर यहाँ तो कुछ भी नही मिलता और निरन्तर चिन्ताशील रहा करते।

देखो सामूहिक धर्मभावना हो, इसपर अपना कुछ वश नही, अपने आपमे अपने पर धर्मप्रभावना हो यह साध्य बात है। इसको महत्त्व दीजिए तो। अपना परिचय रुचिपूर्वक करना है, क्योकि अन्य उपायोसे अपना पूरा नही पडनेका। अपना पूरा पडेगा अपने आपके विशुद्ध परिणामोसे। तो खोज लो मुझमे क्या-क्या होता है, उसका क्या-क्या प्रभाव पडता है, उससे हम कितना बरबादीकी ओर जाते हैं ? ये सारी बातें समझ लीजिए। हमारा शरण है एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्माका आश्रय। जैसे एक छोटे बच्चेको शरण है अपनी मांकी गोद। मांकी गोदमे छिप गया बस बच्चा निर्भय हो जाता। ऐसे ही संसारमे रुलने वाले हम आप जीवोको वास्तवमे शरण है तो आत्मस्वभावका आश्रय करना शरण है और चूंकि आत्मस्वभाव सिद्ध भगवतोने प्रकट कर लिया है, अरहतदेवने प्रकट कर लिया है सो उनकी उपासना, उनकी भक्ति भी हमको व्यवहारमे शरण है।

अनादि अनन्त अहेतुक अन्तस्तत्त्वरूप जीवत्व भावकी शुद्ध पारिणामिकता—पारिणामिक भावकी चर्चामे इस शंकाका समाधान किया गया है कि आयुकर्मके उदयसे जीवत्व है तो इसको औदयिक क्यो नही कहते ? उत्तर दिया है पुद्गलद्रव्यके सम्बवसे जीवमे जीवत्व नही है, अगर सम्पर्कसे जीवत्व बना तो उसका सम्पर्क तो छहो द्रव्योके साथ है, ५ द्रव्योके साथ है। जो बाकी बचे उनमे क्यो नही जीवत्व आता ? दूसरी बात—अगर आयुकर्मके उदय से जीवत्व माना जाय तो सिद्ध जीव तो फिर अजीव रह जायेंगे, वहाँ आयुकर्म है ही नही, इसलिए जीवका जीवत्व किसी द्रव्यके सम्बंधसे नही, किन्तु स्वय अपने आपके स्वभावसे प्रकट हुआ है। अपने स्वभावकी महिमा जानें। कितनी ही चिन्तनीय परिस्थितियाँ हो, कैसी ही परिस्थितिकी उलझन हो, कैसी ही कोई विडम्बना आ पडी हो, कुछ भी विपत्ति हो, हर अवस्थामे इस जीवको शरण है तो शुद्ध चैतन्यस्वरूपका स्मरण शरण है। तो वह शुद्ध जीवत्व क्या है, चेतना क्या है ? आत्माके स्वभावने ही प्रकट हुआ है। उसे अगर आयुकर्म के उदयसे जीवत्व है ऐसा मानेंगे तो सिद्ध जीव फिर जीव न रह पायेंगे।

अब शंकाकार कहता है कि हम जीवत्वका यह अर्थ कर दें तो कि जीवित है, जीवित

था, जीवित रहेगा वह सब जीव है, और उसे जीवत्व कहते है तो सिद्धमें भी यह बात घट जायगी। उससे जीवित है, यह बात तो न घटेगी, पर जीवित था यह बात तो प्रकट है। उत्तर देते है कि यह तो रूढि शब्द है। रूढि शब्द केवल निष्पत्तिके लिए होता है। अगर शब्दके अर्थके अनुसार शब्दका वाच्य माना जाय तो बतलावो गाय किसे कहते है ? शब्दमे से अर्थ निकालो। गाय गो शब्दका रूप है। गौ कैसे बना ? तो गच्छति इति गौ, जो जाये, चले उसका नाम गौ है। जब नही चल रही गाय तब तो फिर गाय न रहनी चाहिए। तो शकाकार तो शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार उसमे अर्थ अर्पित करता है। तो कई शब्दोमे वही अर्थ पडा है और कई शब्द तो रूढ़िसे बन जाते हैं, इस कारण जीवत्वका यह अर्थ न करना कि जो १० प्राणो करके जीवित हो सो जीव, किन्तु जीवत्वका अर्थ है चेतन। मेरा स्वरूप विशुद्ध चैतन्यभाव है। ऐसा जीवत्व भाव पारिणामिक है, वह न कर्मके उदयसे है, न क्षयसे, न क्षयोपशमसे।

भव्यत्वभाव व अभव्यत्वभावकी पारिणामिकता—कुछ पारिभाषिक शब्द है, पर कठिन कुछ नही। कर्म इतने छाये है कि कर्मका कही उदय है, कही उस कर्मका उदयाभावी क्षय है, कही दबा है तो ऐसी स्थिति जब निमित्तकी हुई तो वहाँ अपनी योग्यतासे ये अनेको भाव परिणम जाते हैं। परन्तु जीवत्वका अर्थ है चैतन्य, यह नैमित्तिक नही। भव्यका अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामसे जो हो जायगा, होगा, उसे भव्य कहते हैं। और जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम रूपसे न बन सकेगा उसको अभव्य कहते हैं। ये दोनो भाव भी पारिणामिक है। भव्य और अभव्यका यहाँ यह अर्थ है कि जिसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप परिणमनेकी शक्ति है वह भव्य है, जिसमे इन रूप परिणमनेकी शक्ति नही, सम्यग्दर्शन आदिक रूप नही बन सकता वह अभव्य है। अब देखिये—जीवोंको चार रूपोमे बाट लीजिए—(१) निकटभव्य, (२) दूरभव्य, (३) दूरानदूरभव्य और (४) अभव्य। निकट-भव्यके मायने जो निकटकालमे मोक्ष जायगा। दूरभव्य—जो बहुत काल बाद मोक्ष जायगा और दूरानदूर भव्य वह है जो कभी मोक्ष जायगा ही नही।

तो यहाँ यह शका बनती है कि जो कभी भी मोक्ष न जायगा उसे भव्य क्यो कहते, अभव्य क्यो नही कहते ? पर उसका उत्तर यह है कि न जायगा कभी फिर भी उसका भव्य राशिमे अन्तर्भाव है। जैसे एक दृष्टान्त लो—आगामी काल, जो काल आगे आयगा उसे कहते है आगामी काल। क्या सभी काल गुजरनेमे आ जायगा ? आगे क्या कोई ऐसा काल नही बचता है कि जो कभी आयगा ही नही, मगर आगामी कहते है। एक युक्तिसे विचार लो—आगामी मायने आने वाला काल (समय)। तो आने वाला सब आ चुके, ऐसा नियम तो नही है। अगर आने वाला सारा काल आ चुकता है तो फिर काल ही न रहेगा कुछ।

तो जो काल कभी आयगा भी नही उसे आगामी ही तो कहेगे। आने योग्य काल कभी आयगा नही, फिर भी आनें योग्य है, ऐसे ही जो कभी सम्यग्दर्शन, चारित्र रूपसे होगा ही नही, फिर भी होने योग्य है, ऐसा प्रभुके ज्ञानमे झलका, उसे कहते हैं दूरानदूर भव्य। न सही रत्नत्रय परिणाम, वैराग्य, मगर होने योग्य तो है। जिसको बन्ध्या स्त्री कहते, डाक्टर लोग भी जिसे कह दें कि इसके कभी बच्चा हो ही नही सकता, तो ऐसी बन्ध्या स्त्रीको भी "बच्चा होने योग्य नही है" यह नही कहा जा सकता। बच्चा होनेकी उसमे योग्यता है, पर होगा कभी नही। आप कहेगे कि कैसे कहते हो कि बच्चा होने योग्य है ? तो स्त्री है, इसलिए यह बात कहनी ही पडेगी, अन्यथा वह स्त्री नही रह सकती। तो ऐसे ही भव्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामसे होने योग्य है, यह कह दिया। चाहे वह कभी यह परिणाम को पाये नही, मगर समस्त भव्य रत्नत्रयको पा लें तो कोई समय ऐसा आ पडेगा कि जब कोई भव्य ही न रहेगा। सब मोक्ष चले जायेंगे। अगर यह अर्थ किया जाय कि भव्य तो उसे कहते है जो रत्नत्रय परिणाम रूप हो सके, हो जायगा तो फिर सब हो जायेंगे। भव्य कभी रहेगे ही नही, और रहते हैं हमेशा, इससे जो दूरानदूर भव्य हैं वे भी भव्यराशिमे शामिल है। इस तरह इस सूत्रका व्याख्यान किया जा रहा है कि पारिणामिक भाव तीन प्रकारके है—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व।

सूत्रोक्त पदके बहुवचनान्त प्रयोगका तथ्य—अब सूत्र-रचनाको देखकर एक शङ्काकार कहता है कि सूत्रको यो न बनाना चाहिए था— "जीवभव्य भव्यत्वानि च।" अच्छा, तो कैसा बनता ? यो बनता—जीवभव्याभव्यत्वं, क्योकि द्वन्द्व समास है, एकवचन हो जाना चाहिए था, समाहार है और व्याकरणरचना वाले सूत्रमे जितने कमसे कम अक्षर रख सकते है उतने कम अक्षर रखते है और उसमे अपनेको बडा समारोह मनाते हैं। ज्ञान होनेका जो आनन्द है वह आनन्द तो किसी भी पदार्थमे नही है। पञ्चेन्द्रियके विषयोके भोगमे यह आनन्द नही मिल सकता, जो कि एक सच्चा ज्ञान पानेमे आनन्द होता। एक दृष्टान्त ले लो किसी बालकसे कोई सवाल पूछा गया, मानो यह ही पूछा गया कि बताओ १३ × ८ = कितने होते है ? तो अब वह इस सवालको सुनकर उसे तुरन्त उत्तर न आया तो कुछ विचार मे पड गया। उस समयकी उसकी मुखमुद्रा देखिये—कितना वह आकुलित हो रहा एक समस्याके हल करनेके लिए और जिस समय उसे याद आ जाय कि १३ × ८ = १०४ तो ऐसी याद आते ही उसके मुखकी मुद्रा देखो कितना आनन्द टपकता है। न उसे कुछ खाने को दिया गया, न कोई चीज दी गई फिर भी इतना आनन्द हुआ। तो वह किस बातका आनन्द है ? वह आनन्द है ज्ञानका। जो आनद ज्ञानमे आता वह खाने पीने, विषयभोग आदि के प्रसगोमे नही आ सकता। तो आत्मीय आनन्द हो, आत्मीय ज्ञान ही वास्तविक आनन्द

है। आत्मज्ञान नही है तो कही भी चले जावो, कुछ भी कर डालो, बस परेशानी ही रहेगी। उसमे अपनी समस्यावोका हल नही हो सकता।

तो यहाँ आत्मा की ही बात चल रही है। परिचय कराया जा रहा है कि आत्माके पारिणामिक भाव याने निरपेक्ष भाव ये तीन है—जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व। तो इसमे यह शंका चल रही है कि जब समास हो गया तो एकवचन हो जाना चाहिए। तो उत्तर देते है कि ये भाववान् अनेक सिद्ध हो रहे है द्रव्यके भेदसे। जीवका भाव जीवत्व, जीवत्व प्रत्येक जीवके जीवत्व तो चूंकि प्रत्येक जीव न्यारे-न्यारे है तो जीवत्व भी अनेक बन गए। भव्यत्व, अभव्यत्व भी और इसमे बहुवचनका प्रयोग बन गया। तब सूत्र सही रहा—जीव भव्याभव्यत्वानि च। बहुवचन रखनेसे मिथ्या अद्वैतवादका निराकरण हो जाता है, यह रहस्य है। इसके पारिणामिक भाव तीन प्रकारके है—(१) जीवत्व, (२) भव्य, (३) अभव्य। इनमेसे जो शुद्ध चैतन्य है, शुद्ध जीवत्व है उसका आश्रय करें, उसकी जानकारी करे। उसका ही जब कब दर्शन किया करें तो यह ससारसकटोंसे पार हो जानेका एक अमोघ उपाय है। अपने स्वरूपको पहिचानें उस ही मे 'यह मैं हू' ऐसा अनुभव बनावें और सदाके लिए सकटोंसे दूर होवें।

जीवके सहज स्वतत्त्वके परिचयका प्रसंग—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोका परिचय करानेके लिए मोक्षशास्त्रकी रचना हुई है। उन ५ तत्त्वोमे प्रथम तत्त्व है जीव और जीवतत्त्व है प्रधान। इसलिए सर्वप्रथम जीवतत्त्वका वर्णन किया। जीवतत्त्व बतलाये है ५—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, जिनमें पारिणामिक भावका वर्णन चल रहा है। शेष भाव तो नैमित्तिक है, कोई निमित्तके उदयसे है, कोई क्षयरूप निमित्तसे है, कोई उपशमरूप निमित्तसे है और ये पारिणामिक भाव कर्मके उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक किसी की भी अपेक्षा नही रखते। द्रव्यके होनेके सम्बन्धसे जो परिणाम है, स्वभाव है उसका वर्णन करते है। तो पारिणामिक भावमे तीन भाव है—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व, (३) अभव्यत्व। जीवत्व मायने चैतन्यस्वरूप। जो आत्मामे अपने आप अपने सत्त्वसे है, अनादि अनन्त अहेतुक है, जिसमे किसी की भी अपेक्षा नही है वह है पारिणामिक भाव। इसे परमपारिणामिक भाव भी कहते है। जिसके आश्रयसे सम्यक्त्व होता, रत्नत्रयका विकास होता वही एक परमपिताका रूप है जो अपने आपकी रक्षा करता है, यही शरण है। भव्यत्व और अभव्यत्व भी पारिणामिक हैं, मगर वे शुद्ध भाव नही है, अर्थात् जीवके सत्त्वसे, अनादि अनन्त अहेतुक सहज भाव नही है कुछ ऐसा और अभव्यत्व अनादि अनन्त है, मगर वह एक भाव है, एक पर्याय योग्यता है वह जीवके सत्त्व की चीज नही है, स्वरूपकी चीज नही है। ऐसा जो हो सकने योग्य है सो भव्य और जो न होने योग्य है सो अभव्य। तो योग्य और अयोग्यसे तो पर्यायका सकेत हुआ। शुद्ध भाव है

जीवत्व भाव ।

कर्मनिरपेक्ष अस्तित्व, अन्यत्व आदि अनेक भावोंको पारिणामिक भावोंकी संख्यामें बढ़ाने और नाम कहनेकी एक आशंका—पारिणामिक भावके इस प्रकरणमे एक शका होती है कि पारिणामिक भाव तो उस ही का नाम है ना कि जो कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखे, किन्तु द्रव्यमे द्रव्यके ही सत्त्वके कारण हो, तो ऐसे पारिणामिक भाव तो हैं अनेक, फिर ३ ही क्यो कहे ? कैसे है अनेक ? अच्छा बताओ । अस्तित्व भाव यह कोई कर्मके उदय आदिकसे होता है क्या ? अस्तित्व मायने सत्ता । तो जीवकी सत्ता क्या किसी अन्य द्रव्यके कारण है ? तो अस्तित्व भी पारिणामिक हुआ ना ? फिर ३ ही क्यो कहते ? ऐसे अनेक पारिणामिक है, अन्यत्वभाव याने पदार्थका अन्य पदार्थसे जुदा बना रहना यह वस्तुका स्वरूप है । जब पदार्थ सत् है तो नियमसे वह अन्य-पदार्थोंसे निराला है । तब ही तो वह सत् कहलाता है । तो अन्यत्व भाव याने अन्य द्रव्यसे पृथक् बना रहना यह एक कर्मके उदयसे है या उपशमसे है ? किससे है ? किसीकी अपेक्षा नही रखता । वस्तुका सत्त्व ही इस ढंगका है कि वह अन्यकी अपेक्षा नही रखता । तो यह अन्यत्व याने पृथक् रहना, कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुवोसे पृथक् है याने उसके सत्से निराली है, किसीके सत्त्वमें मिला-जुला कोई नही होता । ऐसा जो वस्तुका अन्यत्व स्वरूप है यह भी तो पारिणामिक है । तो पारिणामिक भाव तीन ही क्यो कहे ? अच्छा और भी देखो एक कर्तृत्व भाव ! निश्चयसे तो प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी परिणतिको करने वाला है । ऐसा कर्तृत्व क्या किसी परद्रव्यकी अपेक्षासे है ? याने पदार्थमे जो यह कला है कि वह प्रतिसमय परिणमे और परिणमनेका ही नाम कर्तापन है तो परिणमता ही रहे याने कर्तृत्व चलता ही रहे, यह जो एक स्वरूप है, वह क्या पारिणामिक नही है ? वह तो किसी कर्मके उदयादिकसे नही होते तो फिर इसे भी शामिल करो । इसी प्रकार भोक्तृत्व भाव । प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायको भोगने वाला होता है । जीवके अनुभव बनता है, अजीवके अनुभव नही होता, पर प्रत्येक पदार्थ अपनी ही पर्यायको भोगा करते हैं और उनका भोग यही है कि वे सदा बने रहते है । अगर पदार्थमे पर्याय न हो तो सत्ता नही रहती, फिर भोक्तृत्वभाव भी तो पारिणामिक है । और भी सुनो—पर्यायवत्व प्रत्येक पदार्थ पर्याय वाला है कि नही ? प्रत्येक सत्मे प्रतिसमय नई नई अपूर्व अपूर्व अवस्थायें होती है तो ऐसा पर्यायवान होना क्या किसी अन्य पदार्थकी दयापर है ? कर्मके उदय उपशम आदिकके कारण है क्या ? नही । यह तो पदार्थका स्वरूप है । पदार्थ किसी न किसी पर्यायमे रहेगा । तो पर्यायवान होना यह भी तो पारिणामिक भाव है । तो इसे भी उसमे शामिल कर दें । और भी देखो—प्रत्येक पदार्थ असर्वगत है, मायने कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे नही मिला, सबमे नही मिला, अपने ही प्रदेशोमे रहता है ।

सबमे बात पहुचे ऐसा भी तो स्वरूप है पदार्थका। तो यह स्वरूप क्या किसी कर्मके उदयसे होता है ? सभी पदार्थोमे स्वरूप है, अचेतनमे भी है, जीवमे भी है।

तो यहाँ जीवके जब भाव बताये जा रहे है तो इनको भी शामिल करो पारिणामिक भावकी सख्यामे तो दो सख्या तो ठीक नही हैं। यह सब एक आशका चल रही है कि पारिणामिक भाव जब जीवके बताये है तो कुछको क्यो छोड दिया ? और भी पारिणामिक भाव इसमे शामिल करना था और भी देखो प्रत्येक पदार्थ और प्रकृतिमे जीव ले लो, यह अनादि-सतति बधन बद्ध है, मायने अनादिकालसे अपनी पर्यायमे बधन चलता रहता है। तो यह भी तो पदार्थका स्वरूप है, कर्मोंके उदय आदिकसे नही होता। ये भी पारिणामिक भाव मानो। जीव प्रदेशवान है, क्यो है प्रदेशवान ? क्या कर्मके उदयसे या उपशम, क्षय आदिकसे ? नही नही, यह तो स्वरूपकी बात है। प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप लिए हुए है। सभी पदार्थ प्रदेश-वान है। जीव प्रदेशवान है। तो जीवमे प्रदेशवत्व भाव है, धर्म है, यह क्या कर्मके उदयसे है ? अरे किसी अन्य द्रव्यसे नही, तब पारिणामिक भाव रहा ना ? तो इसे भी शामिल करते, फिर तीन ही भाव क्यो कहे जा रहे कि जीवके साथ जीवत्व, भव्यत्व और अन्यत्व है। ये तो बहुतसे भाव निकल रहे है जो जीवके पारिणामिक हुआ करते है और भी देखिये अरूपी होना। जीवमे रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक नही है, अमूर्त है, तो ऐसा अरूपी होना क्या जीवमे किसी कर्मने किया है या उदय आदिकसे हुआ है ? अरे स्वरूप है जीवका ऐसा कि उसमे रूपादिक नही होते। चेतनमे ज्ञान, दर्शन होते है। तो रूप न होना, अरूपी होना यह भी तो पारिणामिक ही रहा। कोई कर्मके उदय आदिकसे तो न रहा, फिर इसे भी ग्रहण करते। और भी देखो जैसे नित्यत्व भाव। जीव नित्य है, सदा रहता है, अपनी पर्यायोको ग्रहण करता जाता और पर्यायें कभी नष्ट नही होती अर्थात् ऐसा समय नही आता कि लो अब पर्यायें होना बद हो गईं। चाहे सिद्ध भगवान भी हो जायें, पर पर्यायें तो द्रव्यके नियम रूप है। तो नित्यत्व होना भी तो पारिणामिक भाव हुआ, ऐसे अनेक भाव है, उन भावोको इस सूत्रमे क्यो नही ग्रहण किया ? यह एक आशका है।

अस्तित्व, अन्यत्व आदि भावोका 'च' शब्दके ग्रहण तथा अन्य द्रव्योमें भी पाये जाने के पारिणामिक होनेपर भी असाधारणताके अभावसे प्रधान रूपसे सूत्रमे अनिर्देश बताते हुए उक्त शंका का समाधान—तो उक्त शकाके उत्तर दो है—प्रथम उत्तर तो यह है कि जीव भव्याभव्यत्वानि च, इस सूत्रमे जो 'च' शब्द दिया है उससे ये सब भाव ग्रहण कर लो जीवत्व, भव्यत्व, अन्यत्व। 'च' मायने और, इसके मायने यह है कि अभी कुछ और कहना था। कुछ और भी भाव है। तो जो भाव शङ्काकार बता रहा है कि इसे पारिणामिक कहना

चाहिए, सो उनको ग्रहण कर लिया जाय। तब शङ्काकार कहता है कि अच्छा ग्रहण तो किए लेते हैं, पर तुमने 'च' शब्दसे क्यो ग्रहण कराया ? उन तीनोमे क्या पक्षपात था जो तीनका तो नाम लिया जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व और बाकी ये पारिणामिक ठीक नही हैं। क्या जो तुमने 'च' शब्दसे ग्रहण किया ? जैसे किसी विषय समारोह, आयोजनमे बडे-बडे धनिकों को या किसीको नाम लेकर कहते कि भाई अमुक साहबको भोजन करा देना और सबको करा देना तो और सबको करा देना इतनेमे ही सब गौण हो गये। अमुकको भोजन करा देना, सबको भोजन जरा देना। अरे जब नाम लेते तो सबका नाम लेते, न लेते तो किसीका न लेते। तो 'च' शब्दसे अन्य पारिणामिकको ग्रहण करना और नाम लेकर सूत्रमे नही बोलते इसका कारण क्या है ? इस आशकाका समाधान यह है कि हैं तो ये सब पारिणामिक, जितने शङ्काकारने कहा, मगर ये ऐसे पारिणामिक हैं कि ये जीवमे भी रहते और अन्य पदार्थोंमे भी रहते। जीवके असाधारण भाव नही है। जैसे अस्तित्व जीवमे रहता सो ठीक है, अगर जीवमे ही अस्तित्व रहता हो तब तो हम पारिणामिकमे नाम ले दें। जैसे तीन भाव कहा जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, ये जीवमे ही हैं अन्यमे नही, इसलिए नाम लिया गया, किन्तु जो और पारिणामिक भाव बताये जा रहे है, शङ्काकार कह रहा है तो उन पारिणामिक भावोका नाम लेकर सूत्रमे इस कारण ग्रहण नही किया कि वे अन्य द्रव्यमे भी पाये जाते है, इसलिए गौण रूप करके 'च' शब्दसे ग्रहण करना। होता है ना ऐसा कि कोई यदि अनन्य मित्र है, एक उस ही व्यक्तिसे घनिष्ट मित्रता है तो उसका आदर विशेप करता है और भी तो मित्र आये है, मगर वह सभीसे दोस्ती रखता, कोई अनन्य नही है तो उनकी बात और ढगकी होती है। तो यहाँ अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व आदिक ये सब अन्य द्रव्योमे भी पाये जाते है इसलिए सूत्रमे नाम नही लिया। अच्छा इसका विवरण सुनो—कैसे पाये जाते है अन्यमे और क्यो इनको गौण कर दिया, प्रधान रूपसे नाम नही लिया। तो देख लो—

अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व भावका पारिणामिक होनेपर भी अन्य द्रव्योमें पाया जानेसे जीवके स्वतत्त्व पारिणामिक भावके सूत्रमे नामरूपमे अनिर्देश—अस्तित्व जीवमे ही क्या—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी द्रव्योमे रहता है। तो यद्यपि कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशमकी अपेक्षासे नही है यह अस्तित्व इसलिए पारिणामिक तो है, मगर अन्य द्रव्यमे भी पाया जाता, इसलिए गौण करके 'च' शब्दसे ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्व भाव याने पृथक् रहना, जीवका अन्य पदार्थोसे अलग बना रहना, अलग रहता कि नही, सभी जीव अन्य सबसे अलग है। तो ऐसा अन्यत्व यद्यपि कर्मके उदय आदिकसे नही है, इसलिए पारिणामिक तो है, लेकिन सभी द्रव्योमे अन्यत्व पाया जाता है। क्या परमाणु अन्य सब द्रव्योसे जुदा नही है ? तो वह भी एक अन्यत्व वहाँ भी रहा और साधारण

होनेसे 'व' शब्दसे ही ग्रहण कर लिया गया। सूत्रमे इसका नाम नही लिया गया। इसी प्रकार कर्तृत्वभाव पारिणामिक भाव है, परका कर्ता है—यह बात नही कही जा रही, किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी पर्यायोका सर्जनहार है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ क्रियाकी उत्पत्तिसे स्वतन्त्र रहा करता है इसलिए कर्तृत्व साधारण है, अतएव 'च' शब्दसे ग्रहण किया है। सूत्रमे नाम नही लिया, क्योकि कर्तृत्व सब पदार्थोंमे पाया जा रहा। अच्छा बताओ धर्मद्रव्यमे क्या कर्तृत्व है ? आकाशमे क्या कर्तृत्व है ? थोडा जीवमे समझ तो आ जाती है, पुद्गलमे भी समझ बन जाती कि हाँ यह पदार्थ अपनी परिणतिका कर्ता है, पर धर्म, अधर्म, आकाश, कालमे क्या बात है, कैसा कर्तृत्व है ? तो भाई वह पदार्थ है ना, तो पहले तो वह है, तो है भी तो एक क्रिया है अस्ति। वाक्यमे क्रिया बोली ही जाती है। तो उस क्रियाके विषयमे तो उसकी स्वतन्त्रता है, उसीका ही कर्तृत्व बन गया और प्रत्येक पदार्थ अमूर्त भी, धर्मादिक भी अपनेमे अवस्था बनाता है। यदि उत्पाद न हो तो उसकी सत्ता ही नही है, इसलिए कर्तृत्वभाव साधारण है, सो कर्मोदयकी अपेक्षा न रखनेसे पारिणामिक तो है मगर अन्य द्रव्य मे साधारण है, इस कारण नामका उल्लेख नही किया, किन्तु 'च' शब्दसे ही ग्रहण कर लिया गया।

प्रदेशपरिस्पंदरूप योगमे पारिणामिता न होनेसे योगका सूत्रमे अग्रहण—क्या प्रकरण चल रहा है ? कोई कठिन बात नही चल रही। जीवमे स्वभावत: क्या रहता है इसका वर्णन चल रहा है। तो उस वर्णनमे तीन तो नाम ले लिये, बाकीके नही लिए जा रहे। शेषके जो अन्य पारिणामिक भाव है वे अन्य द्रव्यमे भी रहते, इस कारण उनका नाम नही लिया गया। 'च' शब्दसे ग्रहण किया। तो यहाँ यह शङ्का बनती है कि आत्माके प्रदेशो का जो परिस्पद हुआ याने योग प्रदेशमे जो प्रकम्पन होता है वह भी तो एक कर्तृत्व है। आत्मा अपने प्रदेश परिस्पदको करता है, तो यह कर्तृत्व तो साधारण नही है, बतलाओ अन्य किस परिणतिमे प्रदेश कँपते है ? आकाश कँपा क्या ? काल एकप्रदेशी है, वह कँपता क्या ? धर्म, अधर्म सारे लोकमे व्यापक है, क्या ये कँपते हैं ? पुद्गल परमाणु कँपता है क्या ? एक परमाणु है, एक प्रदेशी है। कँपना तो अनेकमे बनता, अगर एक यहाँसे वहाँ हो गया तो गति हो गई उसकी। कँपना तो नही कहलाया। तो प्रदेश परिस्पद अर्थात् योग, उसका तो कर्ता है जीव और वह है असाधारण। अन्य द्रव्यमे नही पाया जाता, तब फिर कर्तृत्वका नाम तो लेते सूत्रमे। वह तो असाधारण हुआ ना, प्रदेश परिस्पदका करणहार होनेसे।

इस शङ्काका उत्तर यह है कि आत्माके प्रदेशोका जो परिस्पद है वह पारिणामिक नही है, किन्तु क्षायोपशमिक है। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है मन, वचन, कायकी परिणति है, योग बन जाता है। तो जिस योगको तुम असाधारण कह रहे हो वह योग पारिणामिक

नही है और जो वर्तृत्व साधारण है, पारिणामिक है वह असाधारण नही, इस कारणसे सूत्र मे उक्त ३ ही भाव जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे है जो जीवमे ही पाये जाते, अन्यमे नही।

पुण्य पाप आदिके कर्तृत्वमे पारिणामिकताका अभाव होने से सूत्रमें अग्रहण— अच्छा उक्त शङ्का समाधानका उत्तर यह भी कहा जा सकता है कि जीव पुण्य पापका भी कर्ता है। पुण्यभाव हुआ, पापभाव हुआ, राग है, द्वेप है, क्रोध है, कषाय है उसका करनहार है, यह बात तो साधारण नही है, याने अन्य द्रव्यमे तो नही है, जीवमे ही है। कहते है कि हाँ है तो जीवमें ही, मगर वह पारिणामिक नही है। यहाँ तो चर्चा पारिणामिक भावकी चल रही है। जो भी पारिणामिक भाव है वे अगर जीवमे ही पाये जाते, उनका नाम तो सूत्रमे लिया है और जो जीवके अतिरिक्त अन्यमे भी पाये जाते बस वे साधारण हैं, इसलिए 'च' शब्दसे ग्रहण किया है, क्योकि पुण्य पाप तो उदयसे क्षयोपशमसे हुआ करते, औदयिक हैं, पारिणामिक नही है।

यदि शङ्काकार इस विषयमे ऐसी आशका रखे कि भले ही पुण्य पाप मिथ्यात्वादिक कर्मके उदय, क्षयोपशम आदिकसे बनते हैं, मगर बनते तो चेतनके ही सन्निधानमे ना। कही और जगह तो नही बन रहे। तो जब एक चेतनके सन्निधानमे ही पुण्य पापका कर्तापन बन रहा तो उसको पारिणामिक क्यो नही मान लेते ? कहते हैं कि नही। भले ही जीवमे ये सब हो रहे लेकिन ये औदयिक आदि है। यदि पारिणामिक होते तो सदा ही जीवमे रहना चाहिए। क्रोध कहाँ जीवमे सदा रहता ? संसारमे भी सदा नही रहता। क्रोध मिटा, मान हो गया, मान मिटा माया हो गई। यो कषायें बदलती रहती है, सर्व काल नही रहती और सिद्धमे कहाँ रहती ? तो इस कारणसे ऐसे पारिणामिक भावको ग्रहण करें जो सदाकाल रहे और किसी अन्य द्रव्यकी अपेक्षा न रखे।

भोक्तृत्वसामान्यभावका अन्यद्रव्यमे भी पाया जानेसे सूत्रमें नामका अग्रहण— शङ्काकारने जिन-जिन भावोको पारिणामिक बताकर सूत्रमे ग्रहण करना चाहिए, ऐसा प्रश्न किया था, उनका उत्तर चल रहा है। एक भाव है भोक्तृत्व, मायने अपनी पर्यायको भोगना। जीव अपनी ही पर्यायको भोगता है, दूसरीको नही भोगता। जिन लोगोका ख्याल बन गया कि भोजन भोगा, वस्त्र भोगा, वैभव भोगा तो यह उनका गलत ख्याल है। जीव किसी भी परद्रव्यको भोग नही सकता, किन्तु परद्रव्यके बारेमे जो ख्याल बना, राग बना, विचार बना, उसमे अपने उपयोगको एकाग्र करके भोगता है। किसे भोगता है ? अपनी परिणतिको भोगता है। तो ऐसा जो भोक्तृत्व भाव है इसे क्यो नही सूत्रमे बताया ? उसका कारण यह है कि ऐसा भोक्तापन तो सभी द्रव्योमे है। सभी पदार्थ अपनी पर्यायको भोग रहे है, उनमे पर्यायें घटती हैं, गुजरती है, यह ही उनका भोगना है। अचेतनामे चेतना नही है इसलिए

अनुभव तो नही बनता, मगर पर्यायें आती है, उनको आत्मसात् करता है और पदार्थ अपनी सत्ता कायम रखता है तो यह ही भोगना कहलाता है। तो भोक्तृत्व अन्य द्रव्यमे साधारण है इस कारणसे इसे इस सूत्रमे 'च' शब्दसे ही ग्रहण किया, नाम लेकर बात नही कही गई। यहाँ भोक्तृत्व साधारण भोक्तृत्व लेना है। यदि पुण्य पापका, अन्य सुखोका भोक्ता है, ऐसा भोक्तृत्व लगे तो वह पारिणामिक नही है, वह औदयिक है। तो जो पारिणामिक भोक्तृत्व है याने केवल पर्यायोको भोगना इतनी दृष्टि लेकर जो बन रहा है वह है पारिणामिक, लेकिन वह सब द्रव्योमे साधारण है इस कारण 'च' शब्दसे ही उसको ग्रहण किया गया।

पर्यायवत्व, असर्वगतत्व भावका अन्य द्रव्यमे भी पाया जानेसे सूत्रमें अग्रहण— इसी तरह पर्यायवान होना, यह है तो पारिणामिक भाव, क्योकि पदार्थ पर्याय वाला बनता है, यह किसी अन्य द्रव्यकी अपेक्षासे नही बनता। एक साधारण बात लेनी है यहाँ याने विकार पर्याय बने ऐसा न सोचना। विकार और अविकारका यहाँ विकल्प न रखना, किन्तु पदार्थ है तो वह अपनेमे पर्यायोको रचता ही रहता है और यो प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय पर्यायवान है। क्या किसी समय कोई द्रव्य पर्यायरहित भी हुआ क्या ? तो ऐसा पर्यायवान होना हाँ है तो पारिणामिक, क्योकि पर्यायवान होनेमे न तो कर्मके उदयकी अपेक्षा है, न उपशम आदिककी अपेक्षा है। वह तो वस्तुके सत्त्वके नातेसे हो ही रहा है। तो ऐसा पर्यायवान होना है तो पारिणामिक भाव, मगर सब द्रव्योमे साधारण है, इस कारणसे सूत्रमे 'च' शब्द से ग्रहण किया है। नाम लेकर नही बताया गया, ऐसे ही असर्वगतपना साधारण है। प्रत्येक परमाणु अपने ही प्रदेशमे है, बाहर नही है, सर्वगत नही है। असर्वगत है, स्वगत है, ऐसे ही धर्मादिक द्रव्य ये लोकाकाश प्रमाण है, ये सर्वगत नही हैं, क्षेत्रसे भी सर्वगत नही, स्वरूपसे भी सर्वगत नही, याने जहाँ धर्मद्रव्य है वहाँ अन्य द्रव्य भी पाये जाने, मगर धर्मद्रव्य अन्य द्रव्य मे नही है, वह तो केवल अपने ही स्वरूपमे है। तो ऐसा असर्वगतपना सभी अन्य पदार्थोंमे भी है। इस कारण पारिणामिक होनेपर भी याने पदार्थका, जीवका अपने ही प्रदेशमे रहना, अन्य जगह दूसरे पदार्थमे न रहना ऐसा जो स्वरूप बना है सो यह कर्मके उदय, उपशम, क्षय आदिककी अपेक्षा रखकर नही निकला, सो है तो पारिणामिक भाव, मगर पारिणामिक भाव होने पर भी अन्य द्रव्यमे साधारण है, इस कारणसे सूत्रमे नाम लेकर नही कहा गया, किन्तु 'च' शब्दसे उनका भी ग्रहण कर लिया गया है। यहाँ बात कही जा रही है असर्वगतपनेकी।

कोई यदि ऐसी शङ्का करे कि जीव अपने प्राप्त देहमे रह रहा है और किसी समय सारे लोकमे भी व्यापक बन जाता, जैसे केवलीसमुद्घातमे। तो ऐसा कोई कहे कि सर्वगत हो गया सो भी सर्वगत नही है, क्योकि सभी द्रव्य भी एक दूसरे स्थानमे रहे जायें, लेकिन

प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमे रहता है दूसरेके स्वरूपमे नहीं रहता, इसलिए ऐसा असर्वगत होना साधारण बात है। सब द्रव्योमे पायी जाने वाली बात है। हाँ, ऐसी कोई जिज्ञासा रख सकता है कि देखो कर्मके उदयसे जो शरीर मिला है उस शरीर प्रमाण आत्माका रह जाना यह तो साधारण नही है याने अन्य द्रव्यमे नही पाया जाता, केवल जीवमे ही पाया जा रहा है, ऐसा असर्वगतपना तो असाधारण हो गया ना ? सबमे नही है तो उसको तो ग्रहण करते सूत्रमे। तो उत्तर उसका स्पष्ट है कि जो देहके प्रमाण आत्मा बनता है ऐसा असर्वगतपना कर्म के उदयसे हुआ वह पारिणामिक नही है। यहाँ तो पारिणामिक भावकी चर्चा की जा रही है। इस प्रकार अनेक पारिणामिक भाव है, मगर वे साधारण है, इस कारण वे सूत्रमे ग्रहण नही किए गए। परिणाम शब्दके अनेक अर्थ होते हैं।

पारिणामिक भावके प्रकरणका स्मरण—परिणामका अर्थ परिणमन भी है। वह परिणमन चाहे कर्मके उदयके निमित्तसे हुआ हो या उपशमसे या क्षयसे या क्षयोपशमसे या स्वभावसे। पर्यायोका नाम परिणमन है और स्वभावका भी नाम परिणाम है। जैसे जीवका स्वभाव है चेतन। जीवका परिणाम है चेतन। तो परिणाम शब्दके अनेक अर्थ है, पर जो ज्ञानी-विवेकी पुरुष है वे प्रसगवश ठीक ठीक अर्थ करते है। यहा परिणामका अर्थ स्वभाव है, ऐसा भाव कि जो कर्मके उदयसे नही, उपशमसे नही, क्षयसे नही, क्षयोपशमसे नही, किन्तु इसकी अपेक्षा बिना स्वय स्वभावसे है। ऐसे पारिणामिक भाव तीन बताये गए जीवमे—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व। याने जीवका जो स्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है उसका नाम है जीवत्व और जीवमे जो ऐसी योग्यता है कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम सहित हो सकनेके योग्य है उस भावका नाम भव्यत्व है। अब आप यह देखिये कि चाहे कभी मोक्ष न जा सके या बहुत काल बाद मोक्ष जाय, कई पुद्गलपरिवर्तन बाद मोक्ष जाय, पर जिसमे रत्नत्रयकी योग्यता है उसे भव्य कहते है। तो ऐसा भव्य होना कर्मके उदय आदिकसे नही है। जब रत्नत्रय होगा तो उस रत्नत्रय परिणामको तो औपशमिक, क्षायिक कह सकेंगे, पर उस रत्नत्रयमे जो योग्यता जीवमे अनादिसे पडी है उसके योग्य है। सामान्य योग्य है ऐसा भाव उदयादिकमे नही है, किन्तु पारिणामिकमे है। ऐसी ही अभव्यकी बात है। इस सूत्रमे यह शङ्का की गई थी कि पारिणामिक भाव और भी तो है उन्हे क्यो नही ग्रहण किया ? जिनमेसे अनेकका वर्णन हुआ था।

अनादिसततिबन्धनबद्धत्वका सर्वद्रव्योपलब्ध होनेसे सूत्रमे नामानिर्देश—अब अनादि सतति, बधनबद्धत्व इसपर विचार चल रहा है। शकाकारने एक प्रश्न किया था कि यह जीव अनादिसे जो इसकी सतति है, अनादिसे यह जीव चला आ रहा है उस सतानके बन्धनमे तो बद्ध है। वही जीव औरके सतानमे तो नही बँध गया। अपनी ही सततिमे रहता है, यह

भी तो एक गुण है, इसे पारिणामिकमे ग्रहण करना चाहिए, क्योकि यह बात कर्मके उदय आदिककी अपेक्षासे नही होता । इसका समाधान यह है कि यद्यपि है तो यह पारिणामिक मायने जीव अपनी सततिमे याने जीवकी जो पर्याये होती है उनमे यह बँधा हुआ है अर्थात् यह जीव अपनी पर्यायोकी सततिमे ही चलता है । यह बात उदयादिककी अपेक्षासे तो नही है । यहाँ सामान्य सतति लेना है । लेकिन यह भाव साधारण है । जीव ही क्या, समस्त द्रव्य अपनी-अपनी सततिके बन्धनमे है और साधारण होनेके कारण इसे पारिणामिक भावमे नाम लेकर नही कहा, किन्तु 'च' शब्दसे इसका ग्रहण कर लिया । 'च' का अर्थ होता है— और, जिसे हिन्दीमे कहते है और, उसे सस्कृतमे कहते है च । जीव भव्यभव्यत्वानि च, इस सूत्रमे जो 'च' शब्द दिया है उससे उन भावोको ग्रहण कर लेना । हाँ इस विषयमे यह ध्यान जरूर रखना कि जीव अपने अनादिकालसे चली आयी हुई सततिमे बँधा है, यह तो पारिणामिक है, लेकिन कोई यह देखे कि अनादिकालसे कर्मकी सततिके बधनमे बधा है याने अनादिसे कर्मबन्धनबद्ध है, कर्म इसमे बधे हुए है, ऐसी बात अगर देखे कोई तो यह पारिणामिक ही नही है, क्योकि क्यो कर्मबन्धनमे बधा ? कर्मके उदय आये, वहाँ जीवमे कषाय जगी, कर्मके बन्धन बध गए । तो कर्मबन्धनसे बँध जाना यह जीवका स्वभाव नही, स्वरूप नही, पारिणामिक भाव नही । पारिणामिक भाव तो वह है जो जीवमे स्वभावसे हो, किसी परकी अपेक्षासे न हो ।

प्रदेशवत्त्वका भी सर्वद्रव्योपलब्ध होनेसे सूत्रमे नामानिर्देश——अच्छा अब शकाकारने एक प्रश्न और किया था कि जीव अपने प्रदेशमे है, प्रदेशवान है, तो प्रदेशवत्व, यह भी तो पारिणामिक भाव है याने जीव है तो उसके प्रदेश भी है, जिनसे आकार बनता है । अभी जितने शरीरमे हम है उस प्रमाण हमारा आकार है । है यह अमूर्त, लेकिन जैसे लौकिक दृष्टान्तमे लौकिक प्रकाश है तो प्रकाशदीपक यदि एक घडेमे रख दें तो उसका प्रकाश घडे बराबर रहेगा और यदि उसे कमरेमे रख दें तो कमरे बराबर रहेगा । तो ऐसे ही यह है चैतन्यप्रकाश, ज्ञानमात्र अमूर्त, लेकिन इस ससार-अवस्थामे जिस देहमे यह आत्मा जाता है उस देहप्रमाण यह आत्मा होता है । तो वह प्रदेशका ही तो फैलाव है, सकोच विस्तार है । तो ऐसे प्रदेश वाला भी तो यही जीव है । तो प्रदेश वाला होना क्या कर्मके उदयसे होता ? किसी अपेक्षासे नहीं है । वस्तुका स्वभाव है कि वह प्रदेश वाला रहे । तो इस प्रदेशवत्वमे तो पारिणामिक भावसे ग्रहण करना था । इसका उत्तर भी यही है कि हैं तो पारिणामिक प्रदेशवत्व, लेकिन यह साधारण है अर्थात् प्रदेशवत्व जैसे जीवमे है वैसे ही पुद्गल आदिक पदार्थोंमे भी है । प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, कालद्रव्य भी प्रदेशवान है, किन्तु वह एकप्रदेशी है, इसलिए उसे अस्तिकायमे नही गिना । परमाणु भी एकप्रदेशी है, वह भी वास्तवमे अस्तिकाय नही, लेकिन परमाणुओका सजातीय बन्धन होता है, स्कध बन्धन है और वह

असख्यातप्रदेशी हुआ करता है । तो इस प्रकार यह प्रदेशवत्व भाव भी पारिणामिक तो है, लेकिन अन्य द्रव्योमे नही पाया जाता, इसलिए प्रधान रूपमे नही रखा, 'च' शब्दसे ही इसका सग्रह किया ।

अरूपत्व, नित्यत्व व ऊर्ध्वगतिस्वभावका भी साधारण होनेसे सूत्रमे नामानिर्देश— शङ्काकारने एक अरूपत्व भी बताया था । आत्मामे रूप नही है । काला, पीला, नीला आदिक ये रग तो नही है आत्मामे । तो ऐसा अरूपत्व भी है और पारिणामिक है याने कर्मके उदयसे नही है, अरूपीपना कर्मके उपशम आदिकसे नही है । जीव स्वत: ही अरूपी है, तो वह है तो पारिणामिक, लेकिन साधारण है । अस्तित्व जैसे जीवमें है वैसे ही धर्म, अधर्म आकाश और काल—इन चार द्रव्योमे भी अरूपीपना है, इस कारण यह प्रधान भाव नहीं किन्तु गौण भाव मानकर 'च' शब्दसे इसका ग्रहण किया गया है । अब इस प्रकार नित्यपना भी है । जीव हमेशा रहेगा, ऐसा नित्यपना क्या कर्मकी वजहसे है ? यह तो अपने आप है । जीव है और रहेगा । प्रत्येक पदार्थकी ऐसी ही कला है । तो जीवमे नित्यत्व है तो पारिणामिक मायने कर्म के उदयादिके कारण नही होता, यह तो जीवमे अपने आप है, लेकिन यह साधारण है । जैसे नित्यपना जीवमे है ऐसे ही नित्यपना अन्य द्रव्यमे है । प्रत्येक पदार्थ नित्य होता है । पर्याय होकर भी प्रतिसमयमे पदार्थकी पर्यायें होती रहती हैं तिसपर भी सदा होती रहेगी पर्याय, उसकी सतति न मिटेगी । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ नित्य है । तो पारिणामिक होनेपर भी नित्यत्व साधारण है, इस कारण प्रधान भाव न मानकर गौण भाव समझकर 'च' शब्द द्वारा सग्रह किया गया । शङ्काकार एक और प्रश्न रख सकता है कि देखो जीवकी गति ऊर्ध्व होती है याने जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है । जैसे जब कर्म छूट जाते है तो यह जीव कहाँ जाता है ?

कोई दार्शनिक तो कहते हैं कि जहाँ है वही रह जाना । कोई कहते हैं कि सर्वव्यापक बन जाना । जैनसिद्धान्त बताता है कि कर्ममुक्त होनेपर यह जीव जिस शरीरमे रह रहा था उस शरीरके परिमाण ही रहते हुये एक ही समयमे लोकके अन्त तक ऊपर गमन कर जाता है । तो देखो—जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है । तो जीवमे जो यह ऊर्ध्वगमनका स्वभाव आया यह कर्मके उदय उपशम आदिकसे नही है, यह तो जीवमे ऐसा स्वभाव ही पडा है और वह स्वभाव कही जाता नही । लोकके अन्त तक पहुच गया । वह आगे भी जा सकता था स्वभाव है ऐसा, पर गति मात्रके लिए निमित्त कारण है धर्मद्रव्य । वह धर्मद्रव्य वही तक है अतएव वहाँ तक गमन है । तो ऊर्ध्वगति स्वभाव भी तो पारिणामिक है, उसे क्यो नही इस सूत्रमे ग्रहण किया ? इसका भी यही उत्तर है कि हाँ है तो पारिणामिक भाव । जीवका ऊपर गमन करना स्वभाव है, लेकिन यह भी साधारण भाव है । ऊपरको गमन करने

का स्वभाव कुछ और पदार्थोमे भी पाया जाता।

जैसे अग्निकी ज्वाला, उसका ऊपर गमन करनेका ही स्वभाव है। वह कभी नीचे न जायगी। हां हवा कोई ऐसी चले कि जिसकी वजहसे तिरछी भी चली जाय, नीचे भी चली जाय तो यह तो औपाधिक गमन हुआ, पर कोई बाधा न हो, कोई प्रेरक उल्टा न हो तो अग्निकी शिखा ऊपर ही जायगी। तो अग्निकी शिखा भी ऊपर जानेका ही स्वभाव रखती है। तो लो ऊर्ध्वगति स्वभाव अन्य जगह भी तो मिल गया, इस कारण ऊर्ध्वगति स्वभाव पारिणामिक होकर भी चूंकि साधारण है, इस कारण सूत्रमे इसका नाम नही लिया और ऐसे ही यहा तो ये कुछ भाव बताये गये है, इनके अतिरिक्त अनेको और भी पारिणामिक भाव है, लेकिन जो पारिणामिक भाव है और जीवमे ही पाये जाते है, अन्य द्रव्योमे नही पाये जाते, उनका जिक्र सूत्रमे है कि जीवके पारिणामिक भाव तीन है—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व।

मात्र दर्शनमोहकी अपेक्षासे पारिणामिक होनेसे, किन्तु अनन्तानुबंधी कषायकी अपेक्षा औदयिक होनेसे सासादन गुणस्थानमे पारिणामिकत्वका अभाव—यहाँ एक जिज्ञासु यह बात रख रहा है कि गुणस्थान १४ होते हैं, उनमे दूसरे गुणस्थानका नाम सासादन है, सो सासादन गुणस्थानके लिए सिद्धान्तमे यह बताया है कि वह पारिणामिक है। जैसे १४ गुणस्थानोमे एक व्यवस्था कही गई है कि मिथ्यात्व गुणस्थान तो औदयिक है, क्योकि वह दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे होता। मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है अतएव पहला गुणस्थान औदयिक है। तीसरा गुणस्थान क्षायोपशमिक है, क्योकि क्षयोपशम तुल्य जो सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है उसका उदय होनेपर होता है। यद्यपि तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे होता है, लेकिन वह सम्यग्मिथ्यात्व स्वय एक क्षीण शक्ति वाला है याने वहाँ सम्यक्त्व पूर्णतया नष्ट हो जाय, सो नही। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिलकर परिणाम रहे है। इस मिश्रताकी वजहसे इसे क्षयोपशममे कहा। चौथा गुणस्थान उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक तीन तरहका है, क्योकि जहा ७ प्रकृतियोका क्षय हो गया और सम्यक्त्व हुआ, अनन्तानुबधी क्रोध, मान माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ७ प्रकृतियोका जहां क्षय हो चुका वहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन होता, सो वह क्षायिक भाव है। जहाँ इन ७ प्रकृतियोका उपशम होता वह औपशमिक है। और जहा क्षयोपशम है वह क्षायोपशमिक है। ऊपरके भी गुणस्थान बताये गए। ५वाँ क्षायोपशमिक है, छठा क्षायोपशमिक है, ७वां क्षायोपशमिक है, ऊपर उपशमश्रेणीमे औपशमिक, क्षपकश्रेणीमे क्षायिक भाव है। उसीके साथ यह भी बताया गया कि दूसरा गुणस्थान पारिणामिक है। क्योकि वहाँ दर्शनमोहका उदय नही, उपशम नही, क्षय नही, क्षयोपशम नही। तो उस दूसरे गुणस्थान

का नाम तो इस सूत्रमे रखना था। पारिणामिक भाव चार बताना— (१) जीवत्व, (२) भव्यत्व, (३) अभव्यत्व और (४) सासादन गुणस्थान, उसे क्यो छोड दिया ? तो उसका उत्तर यह है कि सासादन गुणस्थान भी जो पारिणामिक कहा, सिद्धातमे वह केवल दर्शनमोहकी अपेक्षा कहा। वैसे तो अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेसे किसीका उदय हो तब दूसरा गुणस्थान बनता है। सो निष्पत्तिकी अपेक्षा तो औदयिक भाव है यह, लेकिन चूंकि यह सकल्प किया कि पहलेके चार गुणस्थान दर्शनमोहकी अपेक्षा बने तो वहां ही तो देखना होगा कि दर्शनमोहका उदय है पहलेमे। दर्शनमोहका क्षयोपशम रूप उदय है तीसरेमे और दर्शनमोहका उपशम हो, क्षय हो, क्षयोपशम हो वह है चौथेमे, किन्तु दूसरेमे दर्शनमोहका न उदय है, न उपशम है, न क्षय है, न क्षयोपशम है। इस प्रसगमे उसे पारिणामिक कहा, किन्तु वास्तवमे वह पारिणामिक भाव नही है, जो जीवमे ५ भावमे कहे। वास्तवमे वह तो औदयिक भाव है। इस प्रकार सूत्रमे जो तीन भाव कहे गए वे बिल्कुल ठीक है, तब सूत्र बना—जीव भव्यभव्यत्वानि च।

गति आदि औदयिक पर्यायोको पारिणामिक भावमे गर्भित किये जानेकी अशक्यता— अब यहाँ शकाकार यह कहता है कि जहाँ 'च' शब्द कहा जाता, जिसका अर्थ और है, उससे सग्रह बनता। जैसे कहा कि भाई अमुक चंदको भोजन कराओ और इनको भी कराओ तो 'और' शब्दसे बहुतका ग्रहण होता है। तो इस 'च' शब्दसे पहले सूत्रमे जो गति आदिक भाव कहा, उनका ग्रहण हो जायगा। उत्तर देते है कि नही, गति आदिकको ग्रहण न करना, क्योकि वह पारिणामिक शब्द नही है। नरकगति क्या जीवमे स्वभावसे होती ? नहीं। वह तो औदयिक है। जो ये सब औदयिक है उन भावोको यहाँ न ग्रहण करना। दूसरी बात यह है कि जहाँ इन ५ भावोके भाव बताये गए वहाँ यह प्रतिज्ञा की थी कि पारिणामिक भाव ३ प्रकारके हैं। इस कारणसे ये ही तीन भाव पारिणामिकमे लेने चाहिएँ।

अब शकाकार कहता है कि देखो गति आदिक अनेक भाव मिलवा भी हैं मायने औदयिक और पारिणामिक, इसलिए जैसे क्षायोपशमिक भाव मिलवा है ऐसे ही गति भी मिलवा है। यो पारिणामिकमे ग्रहण करते, क्योकि परिणाम तो हैं ही। गति जीवकी एक पर्याय है, परिणाम है, तो औदयिक भी रहने देते और पारिणामिक भी बोलते। उत्तर उसका यह है कि यहाँ पारिणामिकमे परिणाम शब्दका अर्थ परिणमन नही है, पर्याय नही, किन्तु स्वभाव है। सो गति आदिक स्वभावभाव होते ही नहीं, और यदि गतिको स्वभाव मान लिया जाय तो जीवका फिर कभी मोक्ष ही न हो सकेगा, क्योकि स्वभाव बन गया, नरक तिर्यञ्च कही जायें। जैसे एक सिद्धान्त है जो यह मानता है कि जीवमे राग कभी मिटता ही नही। राग स्वभाव है, जीवका काम है कि उसमे राग आये, यह कभी मिटता नही, और

जब कभी जीवको मोक्ष होता है, बैकुण्ठ होता है तो वहाँ राग अत्यन्त मद हो जाता है और कल्प काल तक वह मुक्त जीव रहता है। बादमे जब उसका कल्पकाल समाप्त हो जाता तो जो एक सदाशिव ईश्वर है, जो जगतकी सृष्टि रचता है वह उसे वहाँसे ढकेल देता है और ससारमे रुलना पडता है।

एक दार्शनिक यो कहता है तो उनका यह कथन एक कुछ मिलान करके देखा जाय तो यो लगावो कि जहाँ राग अत्यन्त मद होता, शुक्ललेश्या होती, ऐसा कोई मुनि नवग्रैवेयक तक गया तो उनका बैकुण्ठ ग्रैवेयक जैसा ही है। ग्रैवेयकमे कोई कष्ट तो है नही, मदलेश्या है, शुक्ललेश्या है, रहता है बहुत सागरो पर्यन्त। जब उसकी स्थिति पूर्ण हो जाती है तो यह ही सदाशिव ईश्वर मायने स्वयं आत्मा, बस वहाँसे नीचे आ जाता है, मनुष्यगतिमे जन्म लेता है तो वह मोक्ष तो नही है। राग भाव तो विकार भाव है, औदयिक भाव है। यह भाव छूट सकता है, और रागरहित हो जायगा, फिर कभी उस जीवमे राग नही आ सकता। तो जीवका स्वभाव नही है राग, गति, कषाय, अज्ञान आदि सब औपाधिक है, इनका नाश होता है तब मोक्ष होता है। यदि गति आदिक भावोको जीवका स्वभाव मान लिया जाय तब तो इसका कभी मोक्ष ही न हो सकेगा। इस तरह सूत्र बिल्कुल व्यवस्थित है कि पारिणामिक भाव जी मे तीन ही होते है।

'च' शब्दसे ग्रहण किये जाने वाले अस्तित्व, अन्यत्व आदि भावका गौण होनेके कारण सूत्रमे कण्ठ रूक नामसे अग्रहण—अब यहाँ फिर एक जिज्ञासा होती है कि जो अभी अनेक अस्तित्व आदिक पारिणामिक भाव बनाये गए और उनका स्वरूप स्वीकार भी कर लिया गया कि हाँ पारिणामिक तो है, मगर साधारण है—यह कहकर टाल दिया तो इससे अच्छा यह होता कि 'च' शब्दके बजाय 'आदि' शब्द देते याने जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्वादिक पारिणामिक भाव है। तो आदि शब्द देकर क्यो नही ग्रहण किया ? उत्तर इसका यह हे कि प्रतिज्ञामे तीन ही कहे गए थे कि पारिणामिक भाव तीन है, उस प्रतिज्ञासूत्रमे तीन भाव बताये गए। तो प्रतिज्ञाकी हानिके भयने तुम तीन नाम दे रहे हो तो प्रतिज्ञाकी हानि तो 'च' शब्द देनेसे भी हो जायगी याने सूत्रमे दिए गए 'च' शब्दके द्वारा तुमने अनेक पारिणामिक भावोको ग्रहण किया तो ३ तो न रहे फिर ? इसका उत्तर यह है कि प्रधान और गौणमे बात है। जो तीन भाव कहे वे प्रधान है, जो कठमे उक्त है। जो मुखसे बोले गए है—तीन भाव प्रधान है, उसकी अपेक्षा प्रतिज्ञा बराबर है और अस्तित्वादिकाये गौण भाव हैं, क्योकि साधारण है, इनका 'च' शब्दसे ग्रहण किया है, इस कारणसे जीवके तीन भाव हैं—यह बिल्कुल सही सूत्र है।

शुद्ध जीवत्व नामक परमपारिणामिक भावकी आश्रेयता—भैया! अपने-अपनेमे

अनुभव करके भी देखो तो इन तीन वातोंमे भी शुद्ध पारिणामिक जीवत्व है। देखो भव्यत्व का भी विनाश हो जाता। जब जीव मुक्त हो जाता तो सिद्ध भगवानमें भव्यत्वभाव नही कहा गया। जैसे किसी बच्चेको कहते हैं कि यह चौथी क्लासके योग्य है और जब वह बच्चा चौथी क्लास पास हो गया, ५वी क्लास पास हो गया तो क्या फिर भी उसे कहेंगे कि यह चौथी क्लासके योग्य है? अरे वह तो उत्तीर्ण हो गया। तो इसी तरह जीवको कहा जाता है कि यह जीव रत्नत्रयके पाने योग्य है याने भव्य है, और जब रत्नत्रयकी पूर्णता हो गई, मुक्त हो गए तो क्या उस समय भी कहा जाना चाहिए कि यह रत्नत्रयके योग्य है? तो वहाँ भव्यत्व रहता ही नही है। वहाँ तो भव्यत्वका विनाश है। अभव्य कहते हैं रत्नत्रय परिणामके योग्य न हो, तो यह तो कोई भली बात नही, यह तो विकारका सूचक ही वृत्तान्त रहा, तो यह अशुद्ध भाव है, एक जीवत्व ही शुद्ध भाव है। और जीवत्वके भी दो अर्थ किये जाते हैं—एक तो दस प्राणो करके जीवे। इन्द्रियाँ मिली हैं, श्वास मिला है, आयु मिली है, मन, वचन, काय मिले, इनसे जिन्दा रहता है जीव, ऐसा जो जीवत्व है वह तो अशुद्ध भाव है, क्योकि यह तो कर्मोदय आदिकसे होता है। विनष्ट हो जाता, मगर जीवमे जो चैतन्यस्वरूप है वह शुद्ध भाव है। अनादि अनन्त अहेतुक भाव है, तो इन सब भावोमे एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप याने जीवत्व भाव, यह ही हम आपका शरण है, इसका ही हमे आलम्बन लेना है। लक्ष्यमे यह ही भाव आना है, जिसका शरण लेने पर सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है और इसीका ही आलम्बन समस्त शुद्ध भावोमे रहता है। इसलिए जो एक ऐसी भीतर भावना होती कि मैं किसी रक्षकका शरण ग्रहण करूँ तो इस जीवका वास्तवमे रक्षक स्वयका ही यह चैतन्यस्वरूप है। इसका रक्षक जगतमे कोई भी दूसरा पदार्थ नही है, ऐसा एक शुद्ध निर्णय रखकर एक ही भावना रखनी है कि मेरा जीवन इस धर्मपालनके लिए हुआ है अर्थात् अपना जो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप है, जीवत्व भाव है परमपारिणामिक भाव, बस उसका आलम्बन लेनेके लिए ही हमारा जीवन है, ऐसा एक दृढ निर्णय रहना चाहिए।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमे उक्त "मिश्रः च" मे कहे गये 'च' शब्दसे सान्निपातिक भावके ग्रहणकी सम्भवता—जीवके स्वतत्त्व बताये जा रहे हैं। यहाँ ५ स्वतत्त्व कहे गए—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। तब यहाँ एक जिज्ञासु यह जानना चाह रहा है कि जैसे क्षायोपशमिक भाव कहा तो उसमे क्षय और उपशम दोनोका मिश्र है, तो ऐसे ही औपशमिक, क्षायिक, औदयिक इनका भी मिश्र हो जायगा और होते ही है, इनका नाम है सान्निपातिक भाव। सान्निपातिकके मायने मिश्र, मिलवाँ। कई मिल गए और उसमे होने वाले भावका नाम है सान्निपातिक भाव। तो सान्निपातिक भाव क्यो यहाँ नही बताया गया? जैसे मिश्र भाव कहा, ऐसे ही सान्निपातिक भाव। और भी कहते कि

६ भाव हो जाने देते । इसका समाधान यह है कि सान्निपातिक भाव जैसे क्षय और उपशम होकर क्षयोपशम है, ऐसे ही औपशमिक, क्षायिक मिलकर सान्निपातिक भाव है, अन्य-अन्य भी मिलकर सान्निपातिक भाव हैं, पर फर्क यह है कि जो क्षायोपशमिक है वह तो एक ही भाव है, दो का मिलकर नही है । किन्ही स्पर्धकोका क्षय है, उपशम है, कुछका उदय है इस तरह मिश्र बनता । तो वह भाव एक है, मगर सान्निपातिक भावमे तो दो दो, तीन-तीन, चार और पांचका मेल है और ऐसा सान्निपातिक भाव मजूर तो है, किन्तु पुनरुक्त हो जाता है । तो सूत्रमे कहे गये 'च' शब्दसे ग्रहण कर लेना चाहिये । द्वितीय अध्यायके पहले सूत्रमे जो 'मिश्रः च' इस तरह 'च' शब्द दिया है उससे सान्निपातिक भाव भी लेना चाहिए । सान्निपातिक भावका मतलब क्या है कि जैसे यह कहा जाय कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्त कषाय है । किसी जीवका परिचय कराया याने सम्यक्त्व तो क्षायिक किया और श्रेणी उपशम मान लेता है, वह गिरेगा, मगर सम्यक्त्वसे नीचे न गिरेगा, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व है । तो यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्त कषाय है । तो इसमे दो भाव आ गए—क्षायिक भाव और औपशमिक भाव । तो इसे कहेगे क्षायिक व औपशमिक भावका सान्निपात । जैसे कहा कि यह क्रोधी मनुष्य है तो मनुष्यका तो औदयिकभाव है गति और क्रोध भी औदयिक भाव है तो यह हो गया औदयिकका सान्निपात । जैसे किसी जीवको कहा कि यह जीव भव्य मनुष्य है तो भव्य हो गया पारिणामिक और मनुष्य हो गया औदयिक । तो यह औदयिक पारिणामिकका सान्निपात है तो ऐसे सान्निपातिक भाव भी तो हुआ करते है, उसका ग्रहण क्यो नही प्रथम सूत्रमे किया गया कि जीवके स्वतत्त्व ६ होते हैं—उसका उत्तर दिया जा रहा है कि इसमे व्यर्थ पुनरुक्तता बनती है, इसलिए सूत्रमे तो ग्रहण नहीं किया गया, मगर यह भाव है उनको 'च' शब्दसे ग्रहण करना । कैसे सूत्र बनाया गया—'औपशमिकक्षायिकौ' इसमे भाव तो यह बता दिया, फिर आगे यह बता दिया—'मिश्र च' तो क्षायोपशमिक 'मिश्र' शब्दसे कह दिया । अब जो 'च' शब्द उसमे पडा है उससे अर्थ लेना कि सान्निपातिक भाव भी जीवके स्वतत्त्व है । अब यहाँ शंका होती कि 'च' शब्दसे तो औपशमिक और क्षायिकका मिश्र बताया गया था याने औपशमिक, क्षायिक और मिश्र याने किसका मिश्र ? औपशमिक और क्षयका, तो अर्थ हुआ था क्षायोपशमिक । तो 'च' शब्दसे ग्रहण तो क्षायोपशमिकके समर्थनके लिए है, सान्निपातिक भावके लिए नही है । इसका समाधान यह है कि 'च' शब्द द्वारा दोनोका ही ग्रहण होता है । वैसे तो सान्निपातिक नामका कोई छठा भाव नही है और सयोगकी अपेक्षा देखें तो छठा भाव है । सो यहाँ जो मिश्रः शब्दके आगे 'च' शब्द दिया है सो पहले कहे गये दो भावोका मिलान करनेका प्रसंग हुआ, तब तो 'च' शब्दसे क्षायोपशमिक अर्थ हुआ और यदि सयोगकी अपेक्षा हो तो उससे सान्निपातिक अर्थ होता है ।

औपशमिक भावके साथ जोडे गये द्विसयोगी सान्निपातिक भावके चार प्रकार— अब देखो—सान्निपातिक भाव कितनी तरहके होते ? मूल भाव ५ हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। यह सब अपने आपकी कहानी है। कैसे-कैसे जीवमे भाव होते है, उन भावोकी पहिचान विधिरूपमे तो उस भावको ही देखनेसे होगी और निमित्तदृष्टिसे कोई कर्मका उदय होनेपर हुआ, उपशम होनेपर हुआ, क्षय होनेपर हुआ आदिक भेदोसे भेद समझमे आ जाता है। तो मूल भाव ५ है, जो कर्मके उपशमसे हो सो औपशमिक। जैसे उपशम श्रेणीके भाव और उपशम सम्यक्त्वके भाव, और कर्मके क्षयसे हो सो क्षायिक। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानादिक। कुछ उदय हो कर्मका, कुछ दब गये हो, कुछ अलग हो रहे, क्षय हो रहा, ऐसी स्थितिमे जो भाव होता है सो क्षायोपशमिक और औदयिक उदयसे होने, पारिणामिक मायने अपने आप। तो इनका मेल बनावें, इनका दो का मेल बनाया तो कितने भाव बन जायेंगे ? पहले औपशमिकके साथ मेल बनाया। औपशमिक-क्षायिक, औपशमिकक्षायोपशमिक, औपशमिकऔदयिक, औपशमिकपारिणामिक—ये चार भेद हुए। इसके मायने क्या ? दृष्टान्तसे ठीक समझमे आयगा।

जैसे कहा औपशमिकक्षायिक तो उदाहरण लो उपशान्तकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि। इसमे दो भेद आ गए—(१) औपशमिक और (२) क्षायिक। जैसे कहा—जाय औपशमिक-क्षायोपशमिक, इनका मिलकर क्या दृष्टान्त होगा ? कहो—उपशम सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी जीव तो उपशमसम्यक्त्व हो गया और मतिज्ञान क्षायोपशमिक हो गया। तो दो भाव आ गए, जैसे कहा औपशमिक औदयिकभाव तो उदाहरण लो—उपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य। उपशमसम्यग्दृष्टि कहा तो यह तो हुआ औपशमिक भाव और मनुष्य कहा तो यह औदयिक भाव हुआ। औपशमिक पारिणामिक जैसे कहा—उपशान्त कषाय भव्य जीव तो उपशान्त कषाय हुआ औपशमिक भाव और भव्य हुआ पारिणामिक। तो ऐसे औपशमिकके साथ एक-एक और जोडनेसे चार सान्निपातिक भाव हो गये।

क्षायिक भावके साथ द्विसयोगी भाव ३, क्षायोपशमिक भावके साथ द्विसयोगी भाव २ तथा औदयिकभावके साथ द्विसयोगी एक मिलाकर सर्व अपुनरुक्त दस सान्निपातिक भावो के वर्णनकी समाप्ति— अब क्षायिकके साथ भी जोडें। यहाँ पुनरुक्त न करे, क्षायिकके साथ औपशमिक जोडा जा सकता है। मगर ये तो जुड गए। अब आगे बढो। क्षायिक क्षायोपशमिक भाव। जैसे कहा कि अवधिज्ञानी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव। तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तो हो गया क्षायिक और अवधिज्ञानी हो गया क्षायोपशमिक। क्षायिकके साथ औदयिक भी जोड लें। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य तो मनुष्य हो गया औदयिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया क्षायिक और इस क्षायिकके साथ पारिणामिक जोड लीजिए। क्षायिक सम्यग्दृष्टि

भव्य, तो इस प्रकार क्षायिक के साथ एक एक और जोडनेसे तीन भेद हो गए। ४ और ३ = ७ और तीसरा है क्षायोपशमिक, उसके साथ औदयिक जोडा, यह ८वाँ सान्निपातिक भाव हुआ। क्षायोपशमिकके साथ पारिणामिक जोडा तो यह ९वाँ हुआ। जैसे कहा कि मति-ज्ञानी मनुष्य श्रुतज्ञानी मनुष्य। तो श्रुतज्ञान हुआ क्षायोपशमिक और मनुष्य हुआ औदयिक। जो भावोके पहले भेद कहे गए थे। उनका जिनको व्युत्पत्ति पूर्वक परिचय है उन्हे शीघ्र समझमे आ जायगा। जैसे कहा—भव्य मनुष्य तो यह औदयिक पारिणामिक होगा। तो यो ९ भाव हुए और एक औदयिक पारिणामिक मिलाया तो १०वाँ हो गया। तो जीवके जो भाव कहे गए उन्हीका मिलाप करके चर्चा की जा रही है। आप इस समय कुछ सोच रहे है या समझमे नही आ रहा तो नीद आ रही है, तो यह बतलावो कि इस समय आपके कौनसा भाव चल रहा ? औदयिक भाव। और कुछ सो रहे है, कुछ सुन भी रहे है तो कौनसा भाव चल रहा ? औदयिक और क्षायोपशमिक मिलकर चल रहा। तो जीवके प्रतिक्षणमे जो जो भाव होते, मनुष्य ही क्या ? तिर्यञ्च हो, नारकी हो, देव हो, सभीके ये जो स्वतत्त्व चलते हैं, जिसकी जैसी योग्यता है, तो उनका अलग-अलग परिचय कराया गया था कि ये ऐसे ५ भाव होते है। अब मिलाकर परिचय कराया जा रहा है कि कोई जीव यदि ऐसी स्थितिमे है तो उसका कौनसा भाव कहलाता है ?

देखो सिद्धान्तमे प्रत्येक वर्णनके साथ भावका परिचय कराया जाता है और ऐसा परिचय जब हो तब समझिये कि वह आत्माके अन्दरकी चीजको ठीक तरहसे पहिचानता है। केवल एक पारिणामिक भावकी ही रटन करें और इस परिणमन रूप भावोको न जानें, समझें तो उसका ऐसा ही परिचय होगा जैसा कि अन्य एकान्तवादी किया करते हैं। वस्तु पकड़मे कुछ न आयगी और शब्दो द्वारा बहुत वर्णन हो जायगा।

केवल पारिणामिक भाव मानकर अन्य भावोका निषेध करनेसे होने वाली विडम्बना का एक उदाहरण—जैसे बोलते है कुछ लोग कि इस जगतमे केवल एक ब्रह्म ही तत्त्व है और कुछ नही है। जो कुछ यहाँ दिखता है वह सब माया है, मिथ्या है, उसका तो कोई परिणाम नही, परिणमन नही, कूटस्थ है, नित्य है ऐसा एक ब्रह्मतत्त्व। शब्दोसे और-और भी कह दीजिए, मगर अनुभवमे क्या आया ? सो कहने वालेके भी अनुभवमे नही आ पाता। और यह मैं ब्रह्मतत्त्व जैसा कि कहा जा रहा है—एक है, अपरिणामी है, अनादि अनन्त है, उसकी कोई पर्याय नही, इस ही तत्त्वको पर्यायार्थिकनयकी बात मानकर फिर द्रव्यदृष्टिसे देखें तो यह सही उतर जाता। तो पर्याय बिना द्रव्य नही। द्रव्य बिना पर्याय नही, बस इसीकी भूलमे अनेक दार्शनिक बन जाते है। कोई पर्यायको छोडकर द्रव्यको ही लेता है, कोई द्रव्यको छोडकर पर्यायको ही सर्वस्व मान लेता है, और फिर इसके और भेद प्रभेद, इसीकी भूल

मे, इसीकी निरपेक्षतामे अनेक दार्शनिक ऐकान्तिक बन जाते हैं। तो यह सब वस्तुओमे विदित होगा कि द्रव्य और पर्याय—ये दोनो वस्तुके स्वरूप हैं। भले ही यह बात है कि पर्यायकी दृष्टि रखनेमे उपयोगमें समाधिभाव नही जगता, क्योकि पर्याय अनित्य है। उस पर्यायको लक्ष्यमे लिया तो दृष्टि न हो सकेगी। पर्याय मिटा तो दृष्टि कहाँ टिके ? दृष्टि बदल गई। अन्य पर्यायको लेने लगे तो दृष्टिमे एकाग्रता न रही और एक द्रव्यस्वरूपको दृष्टिमे लें तो दृष्टि रखने वाला पुरुष अपनी ओरसे भूल करे और एकाग्र न रहे यह तो उसकी बात है, मगर दृष्टिमे जिसको लक्ष्यमे लिया है वह न हटेगा, वह न मिटेगा, वह तो है ही। तो ऐसा पर्यायार्थिकनय मानते हुए द्रव्यार्थिकनयका सहारा लें, वह तो मार्ग है और पर्यायार्थिकनयका खण्डन करके द्रव्यार्थिकनयका सहारा लें तो वह मार्ग नही है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। द्रव्यके मायने है जो सतान है, सदा रहने वाली वस्तु है, जो कभी मिटेगी नही, जिसका स्वरूप बदलेगा नही, ऐसा जो एक आन्तरिक शक्तिरूप है, सदा रहने वाली वस्तु है उसे तो द्रव्य कहते हैं। और उसकी प्रति क्षणमे जो अवस्थायें होती हैं उसका नाम पर्याय है। बतलावो है कोई ऐसा पदार्थ कि जिसकी पर्याय नही होती और पदार्थ है ? नही, और ऐसा भी पदार्थ नही कि बस एक क्षणकी पर्यायमात्र है और द्रव्य कुछ नही।

शुद्ध पदार्थोंमे भी द्रव्यपर्यायात्मकताकी अनिवार्यता—जो शुद्ध पदार्थ होते हैं उनमे समान-समान परिणमन चलते है, और समान-समान परिणमन चलनेके कारण उनमे अतर का सद्भाव विदित नही हो पाता, लेकिन किसी क्षणका परिणमन अगर रुक जाय तो वह पदार्थ रहेगा क्या ? जो सिद्ध आत्मा है, मुक्त जीव हैं, सिद्धप्रभु हैं एक द्रव्यके नातेसे देखो—कोई परिणमन न हो, रुक जाय तो वह द्रव्य रहेगा क्या ? कुछ भी द्रव्य न रहेगा। तो क्या परिणमन है ? बताते हैं कि उनमे केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्तआनन्द है, अनन्तशक्ति है। यहाँ कोई शका करे कि परिवर्तन तो हम लोगोके है, क्योकि सिद्ध हो गए तो उनका ज्ञान सब लोकालोकको जान गया, बस जान लिया जो कुछ था। जब एक बार जान लिया तो अब दूसरे समयमे क्या कर रहे हैं, सो बतलावो ? वह तो सबको जान गया। तो भाई समाधान यह है कि समानताकी दृष्टिसे दूसरे समयमे भी यह ही कार्य कर रहे, तीसरे समयमे भी वही कार्य कर रहे मायने वही-वही सर्वका ज्ञान चल रहा, याने जैसा जाना वैसा ही जाननेका काम अगले समयमे भी है। तीनो लोकालोकको जाननेका चौथे समयमे भी काम है, ऐसा अनन्तकाल तक, अनन्त समयों तक लोकालोकको जाननेका काम करते रहेगे।

अब यहाँ देखो कि वे परिणमन सब न्यारे-न्यारे भिन्न-भिन्न हैं। पहले समयमे पहली शक्तिसे जाना, दूसरे समयमे अन्य शक्तिसे जाना। उसका परिणमन बराबर हो रहा है, पर समान होनेसे विदित नही होता। तो कुछ अनोखा काम कर रहे है क्या ? जैसे गैसबत्ती

जल रही हो, अब कोई पूछे कि भाई जो पहले मिनटमे गैसने काम किया था कि यहाँकी सब चीजें प्रकाशित हो जायें, सो यह काम तो कर दिया। अब गैस क्या नया काम कर रहा है ? तो भाई यह ही काम नया फिर कर रहा, प्रकाशित करनेका ही नया काम फिर कर रहा। यदि ये नये-नये काम न हो, जो किया काम वहीका वही हुआ हो तो फिर गैसबत्तीका तेल क्यो खत्म हो जाता ? नई-नई बूंदसे प्रकाशमान हो रहा, और पर-अपेक्षासे परपदार्थोंको प्रकाशित कर रहा, यह तो एक विकारी पदार्थको दृष्टान्तमे लिया। दृष्टान्त एक देश होता है। ऐसे ही सिद्धभगवान जो अत्यन्त पवित्र है, कर्मसे मुक्त है, वे जो काम अब कर रहे सो काम आगे करेंगे तो वह नया-नया ही काम है, अपूर्व अपूर्व काम है, पहलेका जानना पहले समय की अवस्था थी। इस समयका जानना इस समयकी अवस्था है। कोई भी पदार्थ पर्याय बिना नही रहता। अब स्याद्वाद शासनका जिन्होने आश्रय नही लिया और उन्हे कोई चीज अच्छी सो जची बस उसी एकान्तमे बढ गए तो अन्य अपेक्षा छूट जाती है। जैसे यहाँ जिस किसी भी मनुष्यका परिचय है तो खाली एक बातके परिचयसे ही परिचय नही है। जैसे कोई जानता है कि यह अमुक लल्लूके पिता है तो क्या इतना ही मात्र समझकर उसका परिचय बन पायेगा ? कहाँके रहने वाले, कहाँ घर है, क्या करते है, ये औरके क्या लगते है आदि सारी बातें जब जानकारीमे है तो उसका परिचय है पूरा। तो ऐसे ही वस्तुमें अनेक दृष्टियोंसे जो कुछ धर्म बनता है, भाव बनता है उन सबका परिचय हो तो परिचय है पूरा।

त्रिसंयोगी भावके अपुनरुक्त दस सान्निपातिक भाव—यहाँ जीवके स्वतत्त्वमे ५ भावो द्वारा परिचय कराया था कि जीवमे औपशमिक भाव है, क्षायिक भाव है आदिक। वे अलग-अलग परिचय थे, लेकिन इतने मात्रसे परिचय पूरा नही बनता अथवा जिसको पूरा परिचय है वह इस दृष्टिका भी परिचय रखता है। तो उसका परिचय सान्निपातिक भावोमे बताया जा रहा है। तो दो दो भावोको जोड जोडकर तो बने १० भाव और तीन तीन जोडे जायें तो कितने हो, इसको समझ लीजिए। अगर यह विषय कठिन लगे तो खाने की चीज दृष्टान्त मे ले लो। अगर ५ चीजें रखी है और दो दो चीजें मिलाकर खायें तो आप १० तरहसे तो खा सकेंगे। और तीन तीन मिलाकर खायें तो १० प्रकार होगे। जैसे भावोमे घटा लीजिए— ५ भाव है— (१) औदयिक औपशमिक, क्षायिक। (२) औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक, (३) औदयिक औपशमिक पारिणामिक। यो औदयिकके साथ मिलानेसे तीन भेद बने। अब द्वितीय त्रिभाव सयोगके लिये औपशमिकको छोडकर औदयिक क्षायिकको लेकर क्षायोपशमिक व पारिणामिकमे से एक एकको लगा दो २ भग होगे—(४) औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक (५) औदयिक क्षायिक पारिणामिक। अब तृतीय त्रिभावसयोगका एक भग रहा— (६) औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक। अब चतुर्थ त्रिभावसयोगमे औदयिकको छोड़कर

औपशमिक आदि चार भावोमे से एक एक छोडनेसे ४ भग होगे— (७) औपशमिकक्षायिक क्षायोपशमिक, (८) औपशमिक क्षायिक पारिणामिक, (९) औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक, (१०) क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक। यो तीन भावोके सयोगसे अपुनरुक्त १० सान्निपातिक भाव हुए। इनके उदाहरण जीव विशेषणके साथ लगा लें। जैसे —(१) औदयिकौपशमिकक्षायिक—मनुष्य उपशातमोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि। (२) औदयिकौपशमिक क्षायोपशमिक—मनुष्य उपशांतकषाय अवधिज्ञानी। (३) औदयिकौपशमिक पारिणामिक—मनुष्य उपशातमोह जीव। (४) औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक—मनुष्य क्षीणकषाय मनःपर्ययज्ञानी। (५) औदयिकक्षायिक पारिणामिक मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव। (६) औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक मनुष्य श्रुतज्ञानी जीव। (७) औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक उपशान्त कषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि काययोगी। (८) औपशमिक क्षायिक पारिणामिक—उपशान्तकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि भव्य। (९) औपशमिकक्षायोपशमिक पारिणामिक—उपशमसम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी जीव। (१०) क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक—क्षायिक सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय भव्य। यो त्रिसयोगी सान्निपातिक भावके अपुनरुक्त १० भग होते है। किसी भी जीवको दृष्टातमे लो कि यह जीव क्या है? अगर एक मक्खी बैठी है और उसका परिचय करना है तो इन शब्दो मे कहे कोई कि यह चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्च जीव है, तो इतना कहनेमे तीन भाव आ गए—क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

जीवके पञ्च स्वतत्त्वोके परिचयसे उपादेय शिक्षा—यहाँ जो भावोका इतना विस्तृत वर्णन किया जा रहा है उससे यह समझ बनाना है कि जितने भी औदयिक भाव है उन भावोकी दृष्टि रखना हितके लिए नही। चीज तो है, मिथ्या नही है, किन्तु पारिणामिक है। जो जीवत्व भाव है वह सहज परमार्थ है उसका आश्रय लेना है, क्योकि जगतमे हम आपके इस अन्तस्तत्त्वके अलावा कुछ भी शरण नही है। कही घूम आये, किसीको ही मान ले, किसीकी शरण गह लें, आखिर शरण कही न मिलेगा। स्वय थक जायेंगे। कोई धोखा न दे तो स्वय थकेंगे। कोई धोखा देगा। तो आखिर इसी नतीजेपर आना होगा कि मेरेमे जो मेरा सहज स्वरूप है बस उसकी उपासना, उसको दृष्टिमे लेना, उसमे ही यह मैं हूँ, पूरा हू, मेरे करनेको कुछ काम नही पडा, कृतार्थ हू, जो हू सो हू। ऐसी दृढताके साथ अपने आपमे अनादि अनन्त सहज बसे हुए इस चैतन्यप्रकाशमे जो यह मैं हू, ऐसा अनुभव करे वह अमीर है, विजय पायगा, सकटोसे मुक्त होगा और इसको छोडकर अन्य-अन्य रूपमे यह मैं हू ऐसा अनुभव करेगा तो वह ससारमे रुलेगा। मैं मनुष्य हू, व्रती हू, त्यागी हू, जैन हू, धर्मात्मा हू, पूजा करने वाला हू, परिवार वाला हू—आदिक किसी भी रूपमे कोई अनुभव करे तो उसकी पर्यायदृष्टि है। वह ससारमे जन्म-मरण करेगा, वह जन्म-मरणसे नही छूट सकता। इस कारण

पर्याय मात्रसे दृष्टि हटाकर अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे 'यह मै हू' ऐसा अनुभव करना यह ही निष्कर्ष निकालना है भावोके परिचयसे ।

आत्मज्ञान बिना संकटमुक्तिकी असंभवता—जीवका स्वरूप क्या है, यह ज्ञानमे आये बिना धर्म न होगा, शान्ति न मिलेगी, कर्म न कटेंगे, इस कारण हर सम्भव प्रयत्न करके इसकी जानकारी कर ही लेनी चाहिए कि मेरा वास्तवमे स्वरूप क्या है ? जीव सुख ही तो चाहता है, शान्ति ही तो चाहता है । शान्ति आत्मज्ञान बिना नही मिल सकती, यह बात ध्रुव सत्य है । किसी भी बाहरी पदार्थपर, धन वैभवपर या लौकिक आचरणपर दृष्टि रख-रखकर कोई चाहे कि समता आये, धीरता आये, शान्ति आये तो ये कभी नही आ सकते । एक आत्मज्ञान नही तो सब बेकार है । और एक आत्मज्ञान है तो जितना भी जो कुछ करते बने वह भी मददगार बनेगा । तो आत्माका स्वरूप निश्चयसे जो पारिणामिक भाव है, जीवत्व भाव है, चैतन्यस्वरूप है । जीव है वह ज्ञानमात्र है, ज्ञानका ही उसमे परिणमन है, ज्ञानका ही उसमे भोगना है । सर्व कुछ वैभव जीवका ज्ञान है । अपने वैभवपर दृष्टि न जाय और यहाँ वहाँ ही दृष्टि डाले तो इसमे जीवका कल्याण नहीं हो पाता । मै ज्ञानमात्र हू, ऐसा अनुभव बनना ही चाहिए, और वह बन सकेगा तो विधि निषेध दोनोके उपायोसे । निषेधमें तो यह चाहिये कि यह मैं नही हू, यह मेरा सहज स्वरूप नही है, और विधिमे यह चाहिये कि यह चैतन्यस्वरूप मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

जैसे चावल शोधते है तो वहाँ हमको दो बातें ज्ञानमे होनी ही चाहिएँ कि यह तो चावल है और यह सब गैर है, अचावल है, कूडा-करकट है, तब ही तो कूडा-करकटका त्याग कर चावलका ग्रहण करना बनेगा । ऐसे ही जीवके बारेमे यह भाव तो मेरा सहज स्वभाव है, स्वरूप है और यह भाव मेरा स्वरूप नही है, ऐसा ज्ञान तो करना ही चाहिए ना । ऐसा ज्ञान किए बिना आत्मपरिचय नही होता, आत्मानुभव नही होता ।

औपशमिक क्षायिक भाव जैसे निर्मल पर्यायोसे विलक्षण आत्मस्वभावका दर्शन—अब विचारो कि जो मेरे द्रव्यसे बाहरकी चीज है, बाहरी पदार्थ है—धन, मकान, वैभव आदिक, उससे भेदविज्ञानके लिए क्या माथा रगडना ? वह तो प्रकट भिन्न चीज है, स्पष्ट पर है । जो कोई स्पष्ट परपदार्थमे मोह करे उसका तो अत्यन्त व्यामोह समझिये । भेदविज्ञान तो करना है खुदके भावोमे, खुदके परिणामोमे । यह परिणाम तो मेरा स्वरूप नही है, स्व-भाव नही है, और यह परिणाम मेरा स्वभाव है– यह ज्ञान करना है । तो वही ज्ञान भरा है इन ५ तत्त्वोके परिचयमे, जो जीवके ५ तत्त्व कहे जा रहे—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपश-मिक, औदयिक और पारिणामिक, इन ५ भावोमे जीवका स्वरूप क्या है वास्तवमे ? तो देखो—औपशमिक भाव किसे कहते कि कर्म अगर दब जाय, कर्म उदय और उदीरणामे न

आये, ऐसी स्थितिमे जो थोडी देरको आत्मामे निर्मलता जगती है उसका नाम है औपशमिक भाव। तो अब सोचिये कि कर्म दब जाय और ऐसी स्थितिमे आत्मामे जो थोडी विशुद्धि बनती है, ऐसा निर्मल परिणाम होता है, इस ढगसे निर्मलता आना क्या जीवका स्वरूप है? स्वरूप नही है, क्योकि स्वरूप अमिट होता है और ये कर्म जब तक दबे हैं तब तक परिणाम निर्मल हैं और कर्म उखडा कि परिणाम मलिन हो गए। तो इस प्रकारके उपशम वाली विशुद्धि जीवका स्वरूप नही है। यही बात तो सीखनी है जीवके ५ तत्त्वोके परिचयसे। जीव का स्वरूप तो नही, मगर जीवका परिणमन है और वह परिणमन भी सद्भूत है। असद्भूत भी नही, विकारी भी नही, मगर वह उपचरित सद्भूत है, जीवका स्वरूप नही, वह एक अधूरा विकास है। इसी प्रकार क्षायिक भाव, जैसे भगवानके केवलज्ञान होना, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक वीर्य आदिक जो क्षायिक भाव हैं ये कैसे हुए कि कर्मका विनाश होनेसे, क्षय होनेसे निर्मलता प्रकट हुई, इस निर्मलतामे यह डर नही है कि यह निर्मलता कभी मिट जायगी, क्योकि कर्मके क्षयसे निर्मलता हुई है, कर्मके दबनेसे नही है। दबी हुई चीज तो उखड जायगी, पर जिसका सफाया ही हो गया, क्षय हो चुका, फिर वह कहांसे आयेगा? तो क्षायिक भाव ये निर्मल परिणाम है, मगर जीवके स्वरूप नही। स्वरूपके परिणमन है, स्वाभाविक परिणमन हैं और कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुए, ऐसी दृष्टि करनेसे नैमित्तिक परिणमन है। तो आत्मामे जो विकास है केवल ज्ञानादिक ये समय समयकी पर्यायें हैं। पर्याय जीवका स्वरूप नही कहला सकता? है स्वरूपमे, क्योकि पर्यायरहित द्रव्य नही होता। मगर जीव तो सदा काल एक समान एक रहे वह तत्त्व स्वभाव है, तो क्षायिक भाव भी पारिणामिक भावसे विलक्षण भाव है।

क्षायोपशमिक औदयिक भावसे विलक्षण आत्मस्वभावका दर्शन—तीसरा भाव कहा गया क्षायोपशमिक। यह भाव होता है कर्मका कुछ उपशम हो, कुछ उदयाभावी क्षय हो, कुछ उदय हो तो यह परिणाम एक मिश्र परिणाम है। कुछ मलिनता है, कुछ विकास है, ऐसा परिणाम है। जैसे हम आप लोगोके जो ज्ञान जग रहे हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक जानकारियां बनती है, आंखोसे देखते हैं, इन्द्रियसे जानते हैं, जानता आत्मा ही है, मगर ऐसा जो जानना है यह जानना शुद्ध तो है नही, अधूरा है, उल्टा है और सापेक्ष है, और ऐसा भी नही कि यह उल्टा रूप हो, जाननेका ही छोटा विकास है तो ऐसा जानना यह क्षायोपशमिक भाव है। क्षायोपशमिक भाव क्या मेरा स्वभाव है? इसपर चिन्तन करें, यह भाव मेरा स्वभाव नही। आत्माका स्वभाव तो अनादि अनन्त अहेतुक याने अकारण सहज निरन्तर रहने वाला चैतन्यप्रकाश है, चैतन्यस्वभाव है। तो क्षायोपशमिक भाव भी मैं नही। चौथा भाव है औदयिक। औदयिक भाव किसे कहते? जो कर्मका उदय आनेपर बने सो औदयिक भाव।

जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय जगी तो यो जग गई क्या ? जीवका स्वभाव है क्या कि कषाय करता रहे ? जीवका स्वभाव तो भगवानकी तरह है। जैसा प्रभुका स्वभाव वैसा हमारा स्वभाव। मम स्वरूप है सिद्ध समान। तो हमारा स्वभाव तो नही है कि कषाय बन जाय, मगर बन क्यो रही कषाय ? कषाय कही लकडी पत्थरमे तो नही बनती ? यह तो जीवमे बन रही। तो यह बन रही है उस जातिके कर्मका उदय होनेपर। तो वह कषायमे जो मलिनता है, ऐसी मलिनता कर्ममे दिखती है और कर्मकी वह मलिनता इस आत्मामे प्रतिफलित हुई।

जैसे दर्पणके सामने कोई काला, नीला कपडा रखा हो और दर्पणमे काला, नीला प्रतिबिम्ब होता है तो वह तो दर्पणका परिणमन है, मगर क्या दर्पणका स्वरूप है ? स्वरूप तो नही है, पर हुआ कैसे ? तो काला, नीला आदिक जो सामने वस्तु है उस वस्तुका सन्निधान पाकर यह प्रतिबिम्बित हुआ, ऐसा ही वह कपडा है जैसा कि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसे ही हम आपमे जो कषायें जगती है, जिस ढगकी मलिनता है ऐसी ही मलिनता कर्ममे भी है। जो क्रोधकर्म, मानकर्म आदिक प्रकृतियाँ है उनमे भी मलिनता है। वह फूटा, अनुभाग आया और उस उपयोगमे वह प्रतिफलन हुआ, यहाँ मलिनता जगी। तो ऐसी जो कषाय होती है क्या यह कषाय जीवका स्वरूप है ? स्वरूप तो नही है। तो जीवका स्वरूप क्या है ? तो बताया है कि जो पारिणामिक भावमे जीवत्व भाव है वह जीवका स्वरूप है। बस पारिणामिक भावरूप चैतन्यस्वभावको मै हू ऐसा मानना और अन्य भावोको ये औदयिक है, औपशमिक है, ये मेरे स्वरूप नही है, ऐसा मानना यह प्रयोजन है जीवके भावोका परिचय करानेका। वही एक प्रसगमे चर्चा चल रही है कि जीवके औपशमिक आदिक ये ५ भाव हैं, स्वतत्र स्वतत्र, अलग-अलग बताये हुए है, पर ये मिल जायें तो ऐसा सान्निपातिक भाव भी तो होता है। जैसे दो-दो भाव मिलकर १० भेद हुए थे, तीन-तीन भावके मिलकर १० भेद हुए थे, ऐसे ही और प्रकार भी है।

चतुर्भावसंयोगी पांच सान्निपातिक भाव तथा पञ्चभावसयोगी एक सान्निपातिक भाव—चार भाव मिलकर सान्निपातिक भाव होगे तो वे कितने होगे ? वे ५ होगे। यों अदाज लगाओ कि कोई ५ चीजें रखी हैं—एक, दो, तीन, चार पाँच, उसके नम्बर मान लीजिए, अब चार-चारका सयोग बनाया तो एक छोडेंगे, कोई चार लेंगे, फिर दूसरा एक छोडेंगे, फिर शेष चार लिए जायेंगे, इस तरह ५ भेद बनते है। कोई भी ५ चीजें हो, चार-चारका सयोग बनायें तो उसके ५ रूपक बनेंगे। जैसे कोई खानेकी ५ चीजें हो, मानो नमक, मिर्च, खटाई, धनिया और जीरा। अब इनको चार-चारका मेल बनाया तो ५ तरहके मेल बन जायेंगे। एक-एक चीज छोड़ते जाइये, शेप चार लेते जाइये। तो ऐसे ही जो जीवके

५ तत्त्व है—औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इनमे चार चीजें लीजिए। जैसे पहले चार लीजिए—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक। तो कोई जीवका विशेषण बनाये कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्तकषाय अवधिज्ञानी मनुष्य है, तो इसमे चार चीजें बता दिया। क्षायिक सम्यग्दृष्टि—यह तो हुआ क्षायिक भाव, ११वें गुणस्थान वाला यह हुआ औपशमिकभाव, मनुष्य हुआ औदयिक, अवधिज्ञानी, यह हुआ क्षायोपशमिक। इसमे पारिणामिकको छोड दिया।

अब जैसे कहा कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी मनुष्य भव्य हैं तो इसमे चार भाव आ गए क्रमसे। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, यह तो है क्षायिकभाव, अवधिज्ञानी क्षायोपशमिक और मनुष्य यह हुआ औदयिक और भव्य हैं, यह हुआ पारिणामिक। ऐसे ही क्षायिक छोड कर क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक और औपशमिक, इनका भाव लगा लें तो जीवका वैसा परिचय बन गया। यह अवधिज्ञानी मनुष्य भव्य उपशम सम्यग्दृष्टि है। ये ४–४ भाव बना करके ५ प्रकारके सान्निपातिक भाव होते है और पाचोको मिलाया जाय, ऐसा विशेषण बनाया जाय तो वे ५ मिलकर एक भाव होते है। जैसे कहा कि यह मनुष्य ११वें गुणस्थान वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रिय जीव है तो पाँचो ही भावोका एक-एक विशेषण बन गया। ऐसे सान्निपातिक भाव होते है। ये सब सान्निपातिक होते तो है, मगर आद्यसूत्रोक्त इन पांचो भावोसे अलग नही है, सयोग बनाकर ही बताये गए हैं। इस कारणसे सूत्रमे छठा भाव नही लिया गया और ऐसा तो सयोग लगाकर अनेक प्रकारके भाव बताये जा सकते हैं। तो इन इकहरे भावोसे जीवका परिचय करें, मिले हुए भावोसे जीवका परिचय करें और वहाँ भेद-विज्ञान करते जायें कि जीवका स्वरूप तो यह है, मैं शुद्ध चित्प्रकाश हूँ।

अज्ञानके क्लेशका सहज ज्ञानस्वभावके ज्ञानसे विनाशकी संभवता—अज्ञानका कितना दु ख लदा है जीवोपर ? यो कहो कि दुःख है तो मात्र अज्ञानका है। अज्ञानके सिवाय और कोई दु खकी चीज नही। जितने भी दु ख जीवोपर आते है उनमे कोई प्रकारका अज्ञान भरा है उससे दु ख हो रहा है। अन्यथा दु ख कुछ नही। एक लखपति मनुष्य है और उसका एक हजार रुपया घट गया, ९९ हजार रह गया, अब वह यह महसूस करता है कि मैं लखपति मिट गया, उसकी उस एक हजार रुपयेपर दृष्टि है जो घट गया। उससे वह दु खी रहता है। और एक मनुष्य जो खोम्चा फेरकर ही अपना बसर करता था, उसके पास किसी प्रकार एक हजार रुपया जुड गया तो वह बडा चैन मानता और बडे सुखमे रह रहा है। क्या हो गया ? उसकी दृष्टि यह हो गई कि मैं पहलेसे १०० गुना अधिक बढ गया हू। तो खोटे ज्ञानने ही उस लखपतिको दु खी कर दिया, जिसके पास अभी ९९ हजारका धन है और वह खोम्चा फेरने वाला गरीब सुख मान रहा। ऐसे ही हम अपनी सब घटनाओ

पर दृष्टिपात करें तो जैसा हम ज्ञान बनाते है वैसा सुख अथवा दुःख पाते हैं । सुख दुःख पाने का आधार हमारी ज्ञानकला है, न कि बाहरी चीजका मिलना । गरीब लोग रोज मजदूरी करते और खूब रातभर अच्छी तरह सोते और किसी प्रकारकी तकलीफ और सर्द नही मानते । क्या हो गया ? उन्होने अपने चित्तमे तृष्णाका भाव नही रखा और बडे-बडे धनिक, ऊचे अधिकारी राष्ट्रपति वगैरा, इनका समाचार मिलता है कि इन्होने आज दो घटा निद्रा ली, आज इनकी तबियत अच्छी है । जिस दिन दो चार घटे आरामसे सो लिया उस दिन बडी गनीमत मानते है, तो यह फर्क किस बातका है ? ज्ञानके चक्रका । तो जो मूल पुर्जा है जिससे कि हमारी यह जीवन यात्रा चल रही है उसे यदि हम सुधार लें तो हमारी यात्रा सफल हो जायगी । वह है ज्ञानस्वभावका परिचय । मैं ज्ञानमात्र हू, अमूर्त हू, ज्ञान ज्ञान मेरा स्वरूप है, मुझमे किसी परका प्रवेश हो ही नही सकता । मैं तो आकाशकी तरह अमूर्त पदार्थ हू । जैसे आकाशमे रग नही, स्पर्श नही, रस नही, पकडा नही जा सकता, ऐसे ही इस मुझ चैतन्यमात्र आत्मामे रूप, रस आदिक नही है, अमूर्त है, इसमे किसी दूसरी चीजका प्रवेश नही है, मगर यह जीव है, चेतन है, इसमे कला है कि यह जानता रहे । अब कर्म उपाधिके सयोगमे यह विकल्प रूपसे जान रहा, बस यह ही जीवपर कष्ट है, इसके अतिरिक्त जीवपर कोई कष्ट नही है । तो कष्ट तो यह है कि मैं विकल्प किया करता हू, हू तो अन्य समस्त पदार्थोंसे निराला और अपनेमे विकल्प बनाता जाता हू, यह है मेरे ऊपर विपत्ति । बाहरी और कोई चीज विपत्ति नही कहलाती, क्योकि बाहरी बातें तो मोहके कारण बन रही हैं । मोह करते हैं, दुःख मानते है, बाहरमे हम अपनी पोजीशन समझते हैं, कही हम कुछ अपना रूपक मानते है, बस वह ही दुःखका कारण बन रहा ।

अब कोई कहे कि गृहस्थीमे तो नही चलता ऐसा, हाँ हाँ नही चलता, ऐसा तो अनाकुल भी नही होता गृहस्थ । यह तो निराकुल होनेकी बात कही जा रही है और गृहस्थीमे भी जिसके जैसा दृढ विशिष्ट ज्ञान है वह उतना धीर और अनाकुल रहता है । एक ही बात काम मे आयगी, एक ही बात शरण है हम आपको । वह क्या कि अपना सही निर्णय बने कि मैं मनुष्य नही, मै इस सगका नही, पोजीशनका नही, मैं ऐसा जाननहार नही, मै ऐसा विकल्प करने वाला नही, किन्तु एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हू मै, ऐसा अपने आपमे निर्णय हो तो काम देगा यह । और इस बातका निर्णय नही है तो जगतमे डोलनेसे कुछ फायदा नहीं है । कुछ भी करलें, कैसा ही हो ले, होता भी नही है । जगतका समागम पुण्य पापके अनुसार चलता है, विकल्प करनेसे दुःख मानता है यह जोव, तो अविकार जो ज्ञानस्वरूप है, जिसको परमपारिणामिक भाव कहते, तन्मात्र अपनेको समझे तो जीवका उद्धार होगा, और एक अपने इस स्वरूपको न समझ पाया तो उद्धारका मार्ग नही मिलता । तो स्वरूपको परम

पारिणामिक क्यो कहते है कि पारिणामिक भाव है तीन—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व । और जीवत्वके दो भेद करें तो हो गए चार—शुद्ध जीवत्व, अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । तो सब पारिणामिक भावोसे ऊँचा परम यह शुद्ध जीवत्व है, इसलिए अन्य पारिणामिक भावोको ग्रहण न किया जाय, इसके लिए परम शब्द और लगाया जाता है । तो ऐसा यह मैं एक चैतन्य प्रकाशमात्र हू ।

जीव स्वतत्त्वोके परिचयका प्रयोजन स्वानुभवका उद्यम—देखो जब कष्ट आता हो तो उससे बचनेका उपाय क्या है ? कष्टपर दृष्टि देना कष्ट मिटानेका उपाय है क्या ? यह उपाय नही है, किन्तु कष्टरहित जो जीवका स्वरूप है चैतन्यमात्र उसपर दृष्टि देना यह है मेरा स्वरूप । यह उपाय है क्या कष्टसे अलग होनेका ? जैसे खूनका दाग खूनसे नही धुलता ऐसे ही रागद्वेष मोहजन्य सकट रागद्वेष मोहसे दूर नही हो सकता । उसके लिए तो विशुद्ध ज्ञानजल चाहिए और यह ज्ञान बडी आसानीसे बार-बारकी भावनासे प्राप्त हो सकता है । अपनेको इस तरह देखें कि मै शुद्ध ज्ञानमात्र हू, केवल जाननमात्र । जाननमे राग नही होता, जाननमे द्वेष नही, कलक नही, विकार नही । जैसे पानीमे तो स्वच्छता ही है । अगर गदा है पानी तो वह पानीके स्वरूपके कारण गदा नही है, किन्तु कीचडका सयोग, कायीका सयोग, घासका सयोग, पत्ते पड गए, उसका सयोग, उससे मलिनता है, पर मलिनता जलमे जलके कारण नही होती, ऐसे ही मुझ आत्मामे मलिनता मेरे ज्ञानके कारण नही होती, ज्ञानका काम तो विशुद्ध जाननहार रहना है, पर मलिनता जो आयी है वह कषायके सम्बन्धसे, कर्मानुभाग के प्रतिफलनसे मलिनता बनी है । सो है तो मलिनता और की, मगर भोगना पड रहा ज्ञान को । और कोई कैसे भोगे ? अचेतन है । तो जैसे दुष्टका संयोग मिलनेपर दुखी कौन होगा, दुष्ट या सज्जन ? सज्जन दुःखी होगा । दुष्ट तो इठलायेगा, अपनेको मौज मानेगा, ऐसे ही इस कर्मप्रपचमे, इस अज्ञान वातावरणमे जो कुछ मलिनता बनती है वह मलिनता मुझ आत्माके माथे ही लद गई है । इससे अपनेको अपने आपपर करुणा करनेकी आवश्यकता हुई है । दया करें अपने आपपर । ये सब कुछ मैं नही हू । मैं तो विशुद्ध चैतन्यमात्र हू, सर्वविशुद्ध ज्ञानमात्र हू, केवल ज्योति ज्योति, ज्ञानप्रकाश, ऐसा बराबर अपनेको अनुभव करें तो अनुभव बनेगा और उस समय जो एक विशुद्ध अनाकुलता अनुभवमे आयगी, उससे और दृढ श्रद्धा बनेगी कि ओह यह ही मैं हू और इस ही स्वरूपमे मेरा हित है, कल्याण है और यह ही सर्वस्व शरण है मुझको । यह बात समझनेके लिए जीवके इन ५ तत्त्वोका वर्णन इन सूत्रोमे किया गया है ।

औदयिक भावके साथ औदयिक आदि एक एक लगानेसे द्विसयोगी ५ भग—जीवके जो ५ जातिके भाव कहे गए हैं उनमे एक-एक जातिके भावोका, एक-एक भेद लेकर २६ प्रकारके सान्निपातिक भाव कहे गए थे । उनमे किसी जातिके दो भेद नही लिए गए । अब

यदि एक जातिके दो भेद लेकर सान्निपातिक भाव कहा जाय तो एक ही जातिके दो भेद बनाकर और शेष जातिके एक-एक भेद लेकर जो जीवकी पहिचानके लिए विशेषण बनेंगे वे ३६ प्रकारके सान्निपातिक भाव होगे। जैसे औदयिक भावके दो भेद लिए जायें और शेष भावका एक-एक ही भेद लिया जाय तो ऐसे भंग ५ होते है। जैसे औदयिक औदयिक सान्निपातिक भाव। किसीने कहा–मनुष्य क्रोधी, तो यहाँ मनुष्य औदयिक है और क्रोधी भी औदयिक है। दूसरा भाव है औदयिक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा जाय कि शान्त क्रोध वाला मनुष्य तो यह शांत क्रोध वाला यह तो है औपशमिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव, क्योकि मनुष्यगतिके उदयसे मनुष्य होता है। तीसरा भग है औदयिक क्षायिक सान्निपातिक भाव। जैसे किसी जीवका परिचय कराया जाय कि क्षीणकषाय मनुष्य अर्थात् १२वें गुणस्थानवर्ती मनुष्य। तो यहाँ क्षीण कषाय तो है क्षायिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव। चौथा भग है औदयिक, क्षायोपशमिक। जैसे मतिज्ञानी क्रोधी जीवका परिचय कराया जाय तो यहाँ मतिज्ञानी तो है क्षायोपशमिक और क्रोधी है औदयिक, क्योकि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान होता है और क्रोध कषायके उदयसे क्रोध होता है। ५वा भग है औदयिक, पारिणामिक सान्निपातिक। जैसे कहा भव्य मनुष्य तो यहाँ भव्य तो है पारिणामिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव। इन दोनो भावोका यहा सान्निपातिक कहा गया है।

औपशमिक भावके साथ औपशमिक आदि पांच भावोमे से एक एक जोड़नेसे द्विसयोगी पांच भंग— अब औपशमिकके साथ औपशमिक आदिके एक जातिके भेदके विशेषण से जोवका परिचय कराया जाय तो उसके भी ५ भग होगे। जैसे इसमे प्रथम भंग है औपशमिक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा गया उपशान्त कषाय। उपशम सम्यग्दृष्टि तो यहाँ उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव। वह चारित्र मोहनीयके उपशमसे होता है और उपशम सम्यक्त्वका औपशमिक है वह सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोके उपशमसे हुआ है। दूसरा भङ्ग है औपशमिक औदयिक सान्निपातिक भाव। जैसे यहाँ परिचय कराया जाय कि यह उपशान्त कषाय मनुष्य है तो उपशान्त कषाय तो औपशमिक भाव हुआ, क्योकि चारित्र मोहके उपशमसे हुआ है और मनुष्य औदयिक भाव है। तीसरा भग है औपशमिक क्षायिक-सान्निपातिक भाव। जैसे कहा–उपशान्तकपाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो यहा उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव और क्षायिक सम्यग्दृष्टि है क्षायिक भाव। चौथा भंग है औपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा– उपशान्त कपाय अवधिज्ञानी जीव तो यहा उपशान्त कषाय तो है औपशमिकभाव और अवधिज्ञानी है क्षायोपशमिक भाव। ५वा भग है औपशमिक पारिणामिक सान्निपातिकभाव। जैसे कहा —उपशान्त सम्यग्दृष्टि जीव। तो जीव, यह तो

है पारिणामिक भाव और उपशमसम्यक्त्व यह है औपशमिक भाव ।

क्षायिक भावके साथ क्षायिक आदि ५ भावोमे से एक एक भावको जोड़नेसे द्विसंयोगी पांच भंग—अब दो क्षायिकभावके साथ क्षायिक आदि पांचोमे से एक एकका सन्निपात करके जीवका परिचय कराया जाय तो उसके भी ५ भग होते है । जैसे कहा— क्षायक क्षायिक सान्निपातिक भाव । तो इसमे एक परिचय मिलता है, जैसे कि क्षीणकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि ये दोनो ही क्षायिक भाव है । दूसरा भग है क्षायिक औदयिक सान्निपातिक भाव । जैसे परिचय दिया—क्षीणकषाय मनुष्य तो यहा क्षीणकषाय तो हुआ क्षायिक भाव क्योकि चारित्र मोहके क्षयसे यह गुणस्थान हुआ । और मनुष्य है औदयिक भाव । तीसरा भग है क्षायक औपशमिक सान्निपातिक भाव । जैसे परिचय किया कि उपशान्त वेद क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो उपशान्त वेद तो औपशमिकभाव है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षायिक भाव है । चौथा भग हुआ क्षायिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव । जैसे ऐसा जीवका परिचय दिया कि जो क्षीण कषाय मतिज्ञानी है तो क्षीणकषाय तो हुआ क्षायिक भाव और मतिज्ञानी है क्षायोपशमिक भाव । इसका ५वाँ भग है—क्षायिक पारिणामिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—क्षीणमोह भव्य तो यहा क्षीणमोह तो है क्षायिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव ।

क्षायोपशमिक भावके साथ क्षायोपशमिक आदिमे से एक एकको जोड़नेसे द्विसयोगी पाच भंग—अब क्षायोपशमिक भावके साथ क्षायोपशमिक आदि भावोमे से एक-एकका सन्निपात करके भाव बनायें तो उसके भी ५ भग होते हैं—जैसे पहला भग हुआ क्षायोपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव । जैसे यह अवधिज्ञानी सयमी है तो संयमी भी क्षायोपशमिक भाव है और अवधिज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव है । इसका दूसरा भग हुआ क्षायोपशमिक औदयिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—सयमी मनुष्य । तो सयमी तो है क्षायोपशमिक भाव, क्योकि अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे सयम होता है, और मनुष्य है औदयिक भाव । इसका तीसरा भग है क्षायोपशमिक औपशमिक सान्निपातिकभाव । जैसे कहा—उपशात कषाय सयमी तो यहा सयमी तो है क्षायोपशमिक भाव और उपशात कषाय है औपशमिक भाव । इसका चौथा भग है क्षायोपशमिक क्षायिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—क्षायिक सम्यग्दृष्टि सयमसयमी जीव । तो क्षायिक सम्यक्त्व तो है क्षायिक भाव और सयमासयम हैं क्षायोपशमिक भाव, क्योकि अनतानुबधी और अप्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोके क्षयोपशमसे सयमासयम प्रकट होता है । इसका ५वा भग है क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—अप्रमत्त सयमासंयमी जीव तो यहां अप्रमत्त सयमासयमी तो है क्षायोपशमिक भाव है, क्योकि सज्वलन कषायका मद उदय होने पर १२ कषायोका क्षयोपशम होनेपर यह गुणस्थान होता है, और जीव है पारिणामिक

भाव ।

पारिणामिक भावके साथ पारिणामिक आदि पांच भावोमे से एक एकको जोड़नेसे द्विसंयोगी पाच भग—अब पारिणामिकके साथ पारिणामिक आदिसे एक एकके सन्निपातसे भी ५ भग होते है । जैसे किसी जीवका परिचय कराया कि भव्य जीव तो यहाँ भव्य तो है पारिणामिक और जीव भी पारिणामिक तो यह पारिणामिक पारिणामिक नामक सान्निपातिक भाव हुआ । दूसरा भग है पारिणामिक औदयिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा क्रोधी जीव, तो यहाँ क्रोध तो है औदयिक और जीव है पारिणामिक । तीसरा भग है पारिणामिक औपशमिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—उपशान्तकषायभव्य तो यहाँ उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव । इसका चौथा भग है पारिणामिक क्षायिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—क्षीण कषाय भव्य, तो क्षीण कषाय तो है क्षायिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव । इसका ५वाँ भग है पारिणामिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव । जैसे कहा—सयमी भव्य तो यहाँ सयमी तो है क्षायोपशमिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव । इस तरह दो दो के सन्निपातसे ये २५ भंग होते है ।

त्रिसयोगी चतुसंयोगी पंचसंयोगी पुनरुक्तसंयोगी भावोको आगमाविरोधसे लगाने पर अनेक भंग— उक्त द्विसयोगी २५ भेद तीन भावोके सयोग वाले भगो सहित हो जायें तो १० मिलकर ३५ भाव हो जाते है और पाँचो भावोका सयोग मिलकर एक भग बनाया तो ये सब ३६ भेद हो जाते । अभी इन भेदोमे दो-दो के सयोग वालेमे केवल एक-एक जातिके दो भेद आये । इसी प्रकार अन्य भावोके साथ भी सजातीय दो-दो भेद किए जायें तो वे भी अनेक भेद हो जाते है और तीन भावोके सयोगमे यदि एक-एक जातिके अनेक भेद लगाये जायें तो और भी भेद हो जाते है । सान्निपातिक भावकी कोई सीमा नही होती । सीमा तो है, परन्तु अनेक भेद बन जाया करते है । जैसे कि अभी ३६ भेद बताये गए है, इसमे ४ भावोंके संयोग वाले ५ भग और मिला दिए जायें तो ये ४१ भग हो जाते है । इसीके साथ यदि अन्य-अन्य भेद भी दो-दो बना दिए जायें तो इसके अनेक भेद हो जाते हैं । इस तरह आगमका विरोध नही आया और जीवके जितने भी विशेषण सभव है उन सब विशेषताओके उदाहरणमे लेकर उनके भग कराये जायें तो ऐसे विकल्प अनेक हो जाया करते हैं । वे सब आगमके अविरोधरूप लगा लेना चाहिए ।

शान्तरसभाव आत्मतत्त्वके आश्रयसे शान्तिकी परिपूर्णता—हम आप सब जगतके जीव यही चाहते हैं कि सुख साता शान्ति रहे । दूसरी बात मजूर नही है और जितने भी प्रयत्न करते हैं इसीलिए करते है कि हमको सुख साता, शान्ति आनन्द रहे, मगर गजबकी बात यह है कि वास्तविक शान्तिका स्वभाव रख रहे हैं हम और परद्रव्योसे सुख शान्ति ।

भीख मागते चले जाते है। देखो किसी भी पदार्थका सही स्वरूप जाना जाता है किस विधि से। उस विधिसे अपना स्वरूप जानें। इस जीवका वैभव आप बतलाओ क्या है ? सच सच बताओ जो आपका वास्तविक वैभव हो, जो आपके साथ रह सकता हो, जो आपको कभी कष्ट न देवे, जो आपमे भरपूर आनन्द प्रदान करे, जिससे कभी भी आपको धोखा न हो। बस जो आपका सत्य वैभव है उससे प्रीति करें तो आनन्द होगा और जो आपका सत्य वैभव नही है उसमे लगाव रखेंगे तो नियमसे कष्ट होगा। जो कुछ मोहवश थोडासा मौज मालूम होता है इस मौजका फल बहुत महगा पडेगा। भले ही ये भोग, ये वैभव, ये उपभोग बडे सस्ते लग रहे है आज, लेकिन इसका फल यह होगा कि ये बहुत महगे पडेंगे। वैसे इसी भवमे देख लो, जिस किसी पदार्थसे प्रीति रहती है। रुचि रहती है उस पदार्थके वियोग होने पर कितना बडा कष्ट मानते है और जब तक वह मिला हुआ है तब तक उसके बारेमे कितनी चिन्ता शल्य विकल्प किया करते है। अगर सुख शान्ति साता इन बाहरी असार वैभवोमे, भोगोमे होती तो जिनकी आप पूजा करते उन्होंने क्या किया ? वैभवको त्यागा और आत्माके सत्यस्वरूपमे अपने ज्ञानको लगाया। इस ही मे आनन्द है, ऐसी आपको श्रद्धा है कि नही ? अगर नही है यह श्रद्धा तो यह पूजा करना धोखा है। धोखा दे रहे किसको ? अपने आपको। क्यो पूजते ? जब यह विश्वास ही नही है कि भगवानकी जो स्थिति है वही शान्तिमय है बाकी सब बेकार है, अगर यह श्रद्धा नही है तो भगवानको पूजनेका अर्थ क्या ? अगर यह अर्थ हो कि धन मिलेगा, वैभव मिलेगा, सुख शान्ति होगी तब तो और उल्टे गए। जिसके पास जो है उसका ध्यान करेंगे तो वही मिलेगा, दूसरा न मिलेगा। प्रभुके पास घर धन वैभव पुत्रादिक कुछ नही है, वह केवल अपने शुद्ध ज्ञानमे हैं, उनका ध्यान करेंगे तो आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी प्राप्ति होगी और यह ही चाहिए।

समस्त संकटोसे उद्धार कर परमानन्दधाममे स्थापित करने वाले धर्मका परिचय—देखो सब चाहते हैं, कहते है कि धर्म करो, सुख मिलेगा, मगर धर्म क्या चीज है—उसकी बात तो बतलाओ। धर्म वह चीज है जिसका फल तत्काल मिलता हो। सीधासा अर्थ है धर्मका। धर्म करोगे और उस समय आकुलता हो रही हो यह नही हो सकता। अगर आकुलता हो रही तो धर्म नही कर रहे। जैसे बडे-बडे जुलूस उत्सव मनाते और वही व्यग्रतायें करते, लडाई भी हो जाय, ठीक निर्णय नही होता, कभी-कभी पार्टीबन्दी हो जाती, कही कही लट्ठ-मारी हो जाती, अनेक दोष हैं। तो दिखावा तो यह है कि धर्म करो, मगर वहाँ निराकुलता है क्या ? निराकुलता नही। तो धर्म नही, फिर धर्म है कहाँ ? धर्म देखो—अपना काम, अपनी करतूत, अपना त्याग, अपनी कला सिर्फ ज्ञानपर है। ज्ञान सिवाय हम आप न कुछ करते हैं, न कुछ भोगते है, न कुछ हमारा धन है। यह शरीर छूटा तो अगले भवमे यह साथ जायगा.

क्या ? धन वैभव मकान महल, यहाँके व्यावहारिक क्रिया काण्ड ये कुछ भी इस जीवके साथ न जायेंगे। जीवके साथमे तो जीवका ज्ञान जायगा। उस ज्ञानको निर्मल बनायें यह ही धर्म है। रागद्वेष मोह उत्पन्न न हो, सिर्फ एक ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी अवस्था बनाना सो धर्म है।

व्यवहारधर्मका प्रयोजन निश्चयधर्मकी ओर झुकाव—अब व्यवहारमे गृहस्थ जन देवपूजा, गुरूपासना आदिक षट्कर्म करते। तो जो ज्ञानी गृहस्थ है वह कर तो रहा है देव- पूजा आदिक कर्म, मगर ज्ञान है कैसा, जैसा कि आप लोग पूजामें पढते हो—अस्मिन् ज्वलद्वि- मल केवल बोध वह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। सब कुछ करके भी उसकी दृष्टि है निर्मल केवलज्ञान रूपी वैभवमे। जैसे किसीके घरमें किसीका वियोग हो गया तो वह सब कुछ करता है अतिथि सत्कार आदिकके कार्य, पर उसकी दृष्टि है, उसकी धुन है एक उसी जगह, जिसका कि वियोग हुआ। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुषने अपने आपके आत्माका अन्तःस्वरूप अनुभव कर लिया और उस अनुभवमें एक अलौकिक आनन्द पा लिया तो बस उसकी धुन उस ही ओर है और उसीलिए ये ६ आवश्यक कार्य कर रहे कि हमारा कहीं पापरूप परिणाम न हो, विपरीत ख्याल न आ जाय। हममें ऐसी पात्रता रहे कि हम अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव पा सकें, इसके लिए ये क्रियाकाण्ड हैं, न कि क्रियाकाण्डोंपर दृष्टि रखनेके लिए क्रियाकाण्ड हैं। भगवान महावीर प्रभुने जो उपदेश दिया, उन्हींकी परम्परामें आचार्य संतोंने रहस्य बताया, अपने आपको पहिचाना, ध्यानसे पहिचाना, ज्ञानसे पहिचाना, युक्तिसे पहिचाना, अपने आपमें इस देहमन्दिरमे भगवान आत्मा किस स्वरूपका है, मैं क्या हूं, इसका सही परिचय मिल जायगा तो नियमसे कष्ट दूर होंगे। और एक आत्मतत्त्वका परिचय न मिला तो आप कितने ही काम कर लें, कष्ट दूर नहीं हो सकते। इससे इस जीवनका ध्येय बनायें कि हमको जीवन मिला है तो आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मरमणकी धुन बनानेके लिए एक कोई प्रोग्राम होता है। इस जीवनका ध्येय और कुछ नहीं। कोई भूल जाये, भटक जाये, खराबी लग जाय तो उसे समझायें कि तू गलत काम मत कर, इसके लिए तेरा जीवन नहीं है। तेरा जीवन है अपने आत्मा भगवानकी श्रद्धा करनेके लिए, दृष्टि करनेके लिए और उस ओर लगनेके लिए। यह तो बडी विपदा है जो यह कल्पना जगती है कि घर है, स्त्री है, पुत्र है, हमारा इनपर अधिकार है, हम ही करेंगे तब ही होगा आदिक, क्योंकि घरमें लोग हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं क्या ? उनका भाग्य उनके साथ नहीं है क्या ? आपके वे कुछ मातहतमें हैं क्या ? फिर हृदयमें क्यों वही वही बसे रहते है ? यह तो अधकार है, विपत्ति है, विडम्बना है।

मानव जीवनकी परमार्थ मनोरथस्थानमें पहुंचानेमें बुद्धिमानी—एक अपना ज्ञान- स्वरूप भगवान आत्मा जो अनादिसे परिपूर्ण है जिसकी खबर न लेनेसे दर-दर भिखारी

बनना पड रहा है। उस भगवान आत्माकी सुध लें तो सारे सकट दूर हो जायेंगे। बाहरी बातोमे कुछ हिसाब मत लगावें—इतनी सम्पदा थी, इतनी कम हो गई, बडा कष्ट है अथवा अमुक हानि हो गई बडा कष्ट है। अरे बाह्यमे हमारा है क्या ? परमाणु मात्र भी है क्या इस जीवका ? है तो नही, पर कितना अधेर है कि इन प्रकट भिन्न परपदार्थोको अपना मानते है। इस जीवका अधिकार तो इस अपने पाये हुए देहपर भी नही है। बताओ आपका इस देहपर भी कुछ अधिकार है क्या ? अगर अधिकार है तो फिर ये बाल सफेद न होने दो, इसे बूढा न होने दो। इस देहपर भी हमारा कुछ अधिकार नहीं है और विकल्प यह मचाया है कि हमपर गृहस्थीका भार लदा है। सभी लोग अपने अपनेपर भार मान रहे हैं। जिसका जो कुछ है वह उसके भावमे, उसकी योग्यतामे पडा हुआ है। आपका दूसरेपर कोई अधिकार नही, आपपर किसीका भार नही। आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास, यह स्थिति न बनावें। हम आये है मनुष्यजीवनमे तो आत्माको पहिचानकर आत्मामे तृप्त होनेका उपाय बनानेके लिए आये हैं। यह पक्का निर्णय है फिर मर्जी आपकी। देखो—जैसे किसीके दोनो ओर पास एक ओर रख देवे रत्न और एक ओर रख देवे खलीका टुकडा और वह कहे देखो भाई तुम जो टुकडा मांगोगे सो दे दिया जायगा और वह मांग लेवे खलीका टुकडा तो उसकी बेवकूफी पर क्या किया जाय ? ऐसे ही हम आपके पास इस भावनासे दोनो ही चीजें मिलती है– ससार मिलता और मोक्षमार्ग मिलता। कष्ट मिलता, शान्ति आनन्द मिलता। इस ज्ञान से किसी परपदार्थमे प्रीति मोहका यत्न कर डाला तो बस हाजिर है दु.ख, जितना चाहे दु ख पूरा मिल जायगा, और सबसे निराले विभक्त एक अतस्तत्वकी सुध आ जाय, इन्द्रिय व्यापार बद करके आंखोसे बाहर कुछ न देखकर कही किसीका विकल्प न कर क्षणमात्र एक स्तब्ध रह जाय, स्वय सहज अपने आपमे एक सहज आनन्दका अनुभव होगा तो किसके द्वारा पाया आपने यह वैभव ? ज्ञानके द्वारा। कोई पराधीनता तो नही है। धन होगा तभी धर्म मिलेगा, ऐसी कोई पराधीनता नही है या दूसरे आदमी खुश हो जायें तो धर्म कर पायेंगे, हमे ऐसी पराधीनता तो नही। कोई अगर रस्सीसे भी कस दे शरीरको और जेलकी सांकलमे भी बांध दे, तो भी वह पराधीन नही। वहाँ भी यह ज्ञान द्वारा अपने आपमे सहज चैतन्यकी दृष्टि करेगा, अलौकिक आनन्द पा लेगा। धर्म किसी की आधीनतासे नही है। धर्म तो अपने आप एक ज्ञानदृष्टिसे प्राप्त होता है।

ज्ञानसाधन द्वारा अभीष्टकी सिद्धि—आपके पास एक ज्ञान साधन है तो उस ज्ञान साधन द्वारा चाहे तो ससारके कष्ट पा ले, तैयार है और चाहे तो सत्य अलौकिक आनन्द पा ले। बोलो क्या चाहिए ? यदि कोई कहे कि हमे तो ये ही लडके बच्चे वैभव चाहिएँ तो जैसे खल मांगनेकी बेवकूफी पर तरस आती ऐसे ही अपने आपकी बेवकूफीपर क्यो तरस नही

आती ? प्रभुस्वरूपमे और अपने आपके इस स्वरूपमे कोई जातिका अन्तर है क्या ? जैसे गाय और भैस इनकी जाति जुदी-जुदी है गधा और गाय—दूध गायसे मिलता, गधासे नही, तो इनकी जाति जुदी है, ऐसी जुदी जाति है क्या हमारी और भगवान की ? यद्यपि हम बिल्कुल ही अलग पदार्थ हुए और भगवान एक विशिष्ट पदार्थ हुए। चैतन्य जातिकी अपेक्षा देखें तो बात वही की वही है। जैसे एक पत्थर है उसपर कुछ चित्राम कर दिया। कुछ बिना चित्राम का रह गया, कुछका चित्राम विघट गया तो भले ही कही चित्राम है, कही नही है, पर पत्थर तो एक प्रकारका है ना ? ऐसे ही यहाँ कर्मोंका क्षय कर दिया इसलिए परमपवित्र अनन्त आनन्द विकास उनके प्रकट हो गया। वही चीज मैं हू, लेकिन कर्मकी उपाधि है। भावना दूषित है, विषय कषायसे प्रीति है तो इस समय आत्मवैभव इसका ढक गया, तिरोहित हो गया, अभिभूत हो गया। तो उपाय क्या है कि हममे वह स्थिति प्राप्त हो ? उपाय यह है कि अपने ज्ञानको सभालें। इस ज्ञानको सभालनेके लिए ही व्यवहार धर्म है, यह ध्यानमे रखिये। अगर और और काम करनेका प्रयोजन ज्ञान न रहता तो वह धर्म न होता। धर्म तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, ये ही हैं, हाथ पैर चलाना, कुछ और काम करना, तपश्चरण करना, अनशन आदिक करना, ये वह धर्मकी पात्रता बनानेके लिए है, न कि स्वय ऐसे ही पूरे धर्म है। ध्यानमे लाइये—हम अपने ज्ञानको सभालेंगे तो हम सुख शान्ति प्राप्त कर पायेंगे और ज्ञानकी सभाल तो की जाय नही और जैसे बहके है दर्शन चारित्रके बाबत ऐसा करो धर्म हो गया, ऐसा करो धर्म हो गया, अरे करें तो सब, मगर यह प्रयोजन समझें कि यह सब-कुछ करना भी एक ज्ञानकी साधनाके लिए है। ज्ञानकी साधनाका सम्बन्ध मिटा कि धर्मका वहाँ नाम नही है।

ज्ञानकी साधनाका उपाय—ज्ञानकी साधना क्या है ? मैं ज्ञानमात्र हू ऐसा अनुभव बने, मैं ज्ञानानन्दसे भरपूर हू ऐसा स्वभावका निरखन बने, मै किसी पर्यायरूप नही हू, होते हुए भी नही हू, यह दृष्टि रखनी होगी। कही यह पर्याय इस जीवके साथ नही जाती। यही आप देख तो—जब तक आप देहको देखेंगे कि यह मै हू, ये हाथ पैर है, मेरी यह पोजीशन है, मुझको यह करना चाहिए, बतलाओ आपका दिमाग कहाँ दौड गया ? आकुलतामे कि निराकुलतामे ? उपयोग क्या कर रहा ? और थोडी देरको यही बैठे हुए आखें बन्द कीजिए, कुछ मत सुनें, कुछ मत विचारें। चिन्तन करें तो एक शुद्ध आत्माका चिन्तन करें और उस का भी इस ढगसे चिन्तन करें कि अपने स्वभावका, शुद्ध आत्माके विकासका एक सम्बन्ध मालूम पडे और इतना भी न चिन्तन करिये, इतना चिन्तन करनेके बाद स्तब्ध हो जाइये। विश्राम लीजिए, जिसे कहते है कि दिलमे कोई परपदार्थ नही आ रहा, उस समय आपको देहका भी भान नही, जहां वैठे उस स्थानका भी भान न रहे, मन्दिरमे बैठे तो मन्दिरका भी

भान न रहे, यह मैं कितने बजे बैठा—यह भी ध्यान न रहे। बस ध्यानमे यही रहे कि मैं एक शुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र यह हू, ऐसा क्षण-क्षणमे एक अन्त प्रकाश जगे तो आप यही अनुभव करेंगे कि हमको निराकुलता हुई, शान्ति मिली। तो यह बात जीवतत्त्वको समझे बिना नही हो सकती। इसलिए जीवका परिचय करनेके लिए अधिकाधिक प्रयत्न करना है, समय नही खोना है। मनुष्यजीवन एक दुर्लभ जीवन है। तो दुर्लभ है ऐसा गा-गाकर समय न गवाये, किन्तु उसका उपयोग करें। गृहस्थीमे है तो वहाँ दो ही काम करनेके हैं—एक आजीविका और दूसरा धर्मसाधना। आजीविकाके लिए समय जाय तो लगाओ खूब जितना चाहे लगाओ—पर आजीविकाको छोडकर वाकी जो समय बचे वह समय स्वाध्यायमे जाय। अगर कठिन विषय समझमे नही आता है तो सरल विषयका ग्रन्थ ले लो। पढो, घर न बैठो, काम हो तो घर बैठो। वाकी समय दोपहर हो तो क्या, सध्या हो तो क्या, खाली समय है तो जाइये मदिरमे, स्वाध्याय करने लगो। अगर ज्ञानमे चित्त रहेगा तो पाप घटेंगे, पुण्यरस बढेगा, सत्यप्रकाश मिलेगा। और ज्ञानसाधना की बात न होगी तो मोक्षमार्ग तो न मिलेगा और और पुण्य करके मानो स्वर्गमे भी उत्पन्न हो गए, पर कर्मोंसे मुक्त हुए बिना सकट न टलेंगे। इससे यह आवश्यक है कि जीवके भावोको पहिचानें। यही बात दूसरे अध्यायमे कही है कि जीवके ५ भाव होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। बताया है ना?

सहज स्वतत्त्वकी उपासनामें सकटोद्धारक धर्मका पालन—पच जीवतत्त्वका वर्णन सुनकर जिसने कुछ विवेक किया वह जिज्ञासु एक प्रश्न कर उठता है कि जीवके स्वतत्त्व ये ५ कैसे हो सकते? स्वतत्त्व तो केवल एक ही होना चाहिए जीवत्वभाव। परमपारिणामिक, चैतन्यस्वरूप ये औपाधिक भाव तो मिट जाते है, ये जीवके स्वतत्त्व कैसे? क्षायोपशमिक मिट जाता, औदयिक साक्षात् विकार है, ये जीवके स्वतत्त्व कैसे? उत्तर—भाई विवक्षा समझना चाहिए। जीवके परिणाम औपशमिक, औदयिक होते, आखिर है जीवके परिणमन। कही खम्भेमे तो ये नही हो रहे, पुद्गलमे नही हो रहे, इस कारण जीवके स्वतत्त्व हैं। अब उन स्वतत्त्वोमे भी यह एक ध्यान बनावें कि उपादेय कौनसा स्वतत्त्व है और छूट जाने वाला हेय कौनसा स्वतत्त्व है। हेयकी भी व्याख्या आपेक्षिक है। अतमे यह ही बात आयगी कि मेरा जो चैतन्यस्वरूप है, उसकी दृष्टि, उसका आलम्बन यह तो है मेरा शरण और इस ही शरण को ग्रहण करनेका फल है औपशमिक भाव बने, क्षायिक भाव बने, उच्च विकास बने। काम एक करना है, धुन एक रखनी है, दृष्टि एक की बनानी है, शरणमे एक ही लाना है। वह क्या? मेरा अपने आप सत्त्वके कारण जो सहजस्वरूप है वह तत्त्व है, उसका ख्याल बनायें। तो परिणाम तो वेगको भी कहेगे, स्वाभाविकको भी कहेगे, औदयिकको भी कहेगे, पर उनमे

अच्छा बुरा सब कुछ पहिचानकर, फिर सब पर्यायोकी अपेक्षा दृष्टि आलम्बन करके एक विशुद्ध स्वभावकी दृष्टि बनाना यह है एक मानवजीवनमे करनेका पौरुष। गुप्त रूपसे करो, जता कर करनेकी बात नही, जहाँ बैठे वही ध्यान करो, आखिर यह चीज पाना है—आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान, आत्मरमण। बार-बार इस मनको सयत बनाकर बाहरसे हटाकर अपने आपके स्वरूपमे लगावो, उस ओर मुडिये, अगर इस जीवनमे यह धर्मसाधना कर लिया तो जीवन सफल है और यदि यह धर्मसाधना न बनी तो आगेका न जाने क्या होगा? अनन्तकाल जैसे व्यतीत हो गया, चौरासी लाख योनियोमे जैसा भटक गया यह कि वैसी ही बात आगे रहेगी। फायदा क्या हुआ यह मनुष्यजीवन पानेका? इससे बुद्धिमानी यह है कि इन १०-२०-५० वर्षोंके लिए मिले हुए या मिल सकने वाले समागमोकी आशा तजकर, इसकी मोह प्रीति छोडकर जब जैसा बने, सहज बने, एक ध्यानमे लायें अपना परमपावन चैतन्य भगवान अतस्तत्त्वकी उपासनाको। अरहत सिद्धकी भक्ति इसीलिए है, साधुजनोकी सेवा इसीलिए है, बाकी व्यावहारिक क्रियाकाण्ड इसीलिए है, एक यह ध्यान लाये, यह अपनी डोर अपने हाथमें रहेगी तो यह उपयोगरूपी पतग आकाशमे कितनी ही दूर चली जाय पर आपके हाथ है और एक अपने आपकी सुध भूल गए तो डोर आपके हाथसे छूट गई, पतग यत्र तत्र डोलती रहेगी, लडखडाती रहेगी, लोग लूट डालेंगे। इसलिए अपने उपयोग-पतगकी डोर जो निजमे है ज्ञानशक्ति ज्ञानस्वरूप उसको पकडनेका यत्न करिये, बहुत सरल काम है। थोडा उस ओर उपयोग नही दिया इसलिए कठिन जच रहा है, मगर ऐसा ज्ञान, ऐसी साधना बनायें, तो यह ही चीज सरल हो जायगी। अपनेको जानें, अपनेमे रमण करे, परपदार्थोंका मोह रागद्वेष तजें, यह ही सुख शान्तिका वास्तविक उपाय है।

निःसंकट परमपारिणामिक भावमय अन्तस्तत्त्वकी चिन्तना—हम आप सभी जीव समस्त सकटोसे छूटनेका भाव रखते है। मुझपर किसी भी प्रकारका सकट नही, भाव तो ऐसा रखना है, पर सकट न आये, इसके लिए हमे अभी बहुत कुछ पुरुषार्थ अपने अन्तरमे करना है। पहले तो यह ही जानें कि मैं क्या हू जो मैं सकटोसे छुटकारा चाहता हू। दूसरी बात—वे सकट क्या हैं जिनसे हमे छुटकारा चाहिए और सकटोसे छुटकारा हो ले तो हम किस ढगमे रहेगे, इन तीन बातोका बहुत साफ निर्णय होना चाहिए। चलो करें निर्णय, मैं क्या हू—इसके उत्तर दो प्रकारसे आयेंगे एक तो यह कि वास्तवमे मै क्या हू जो सदा रहने वाला हू, सहज क्या हू? दूसरा उत्तर यह है कि मेरी हालत क्या हो रही है क्योकि हालत मुझसे अलग नही रही जा रही है। तो उस हालतके रूपमे मैं जिस ढगका हू वह क्या हो रहा है? उसके निर्णयमे इसकी बातका समाधान चाहिए। मैं सहज क्या हू, इसका उत्तर तो इस ढगसे मिलेगा कि मान लो कि मैं मात्र मैं ही हू, मेरे साथ कोई दूसरी चीज नही

लगी, न शरीर हो, न कर्म हो, न संग हो, कुछ भी दूसरा मेरे साथ न हो तो मैं किस स्वरूप मे रहता हूं, तो सोच लीजिए—मैं कोई एक वास्तविक पदार्थ हू, शरीरसे निराला हू। शरीरको दृष्टिसे हटा लें, इन्द्रियके व्यापार वद करें, कुछ न सोचकर एक चुपचाप बैठ जायें, शरीरका भाव ही न रहे, ऐसी स्थिति बने, उस समय प्रयोगात्मक परिचय होगा कि मैं क्या हूं ? मैं शरीरसे निराला हू। तो ऐसा निराला मैं क्या ? एक चैतन्यप्रकाश। एक ऐसा परम आत्मतत्त्व जो चैतन्यसे परिपूर्ण हूं। चिदात्मक है, उत्कृष्ट ज्योति है, प्रतिभासात्मक है, ऐसा मैं देहादिक समस्त पदार्थोंसे न्यारा एक चैतन्य तत्त्व हू, इस तरह की दृष्टि जगे तो खुद अनुभव कर लेंगे कि उसमे कोई संकट नही, ऐसा भाव परमपारिणामिक भाव जीवत्व है ५३ भावोमे सिरताज।

संकटोका स्वरूप—सकट क्या है ? जरा दूसरी बातपर इस समय आयें। सकट है इस अपने सहजस्वरूपकी दृष्टिमे जब न रहते हो तो किसी बाहरी पदार्थका ख्याल होता है, विषयोका आश्रय होता है, आकुलता होती है, क्षोभ मचता है, ये है सारे सकट। सकट यह नही है कि धन कम हो गया। धन तो धनमे है, यहाँ न रहा और जगह हो गया। उससे मेरा क्या मतलब ? उससे मेरेमे क्या सकट बनता ? जहाँ बाहरमे यह ख्याल बनाया कि मेरे पास धन कम है, यह विकल्प सकट है। धनका कम होना कोई सकट नही। कोई पुरुष निर्धन होकर भी उसका कुछ ख्याल नही रखता और उससे अपने पर कोई प्रभाव नही मानता, विकल्प नही करता, प्रभुभक्तिमे रहता, आत्मध्यानमे रहता। देख लो साधुजनोके पास तो एक भी पैसा नही होता, दुनियाके लोगोके देखनेमे तो वे निर्धन ही है, निर्धन कौन ? जिसके पास धन नहो। तो साधुजन तो निर्धन होते है, केवल शरीर उनके साथ होता, फिर भी उनके किसी प्रकारका विकल्प नही होता, इसलिए कोई सकट नही होता। तो सकट बाहरी चीजोके न होनेका नाम नही है किन्तु बाहरी पदार्थोंका ख्याल बनाकर जो भीतरमे विकल्प बनाये जाते हैं, जो कि स्वभावके विपरीत हैं उन विकल्पोका जो लदान चल रहा है यह है सकट। मुझे सकटोसे छूटना है— इसका अर्थ यह लगायें कि मुझे कषायोसे छूटना है। कषाय ही सकट है, दूसरा और कोई सकट नहो। मानो घरमे कोई इष्टवियोग हो गया, कोई पिता या पुत्र वगैरह मर गया तो आप यह बताओ कि आपके आत्माका उस दूसरे जीवके साथ कुछ नाता है क्या ? जरा भीतरी बात सोचकर बताओ। जैसे जगतमे और जीव है निराले उतने ही निराले वे जीव हैं जो परिवारके लोग हैं। वे कोई कम निराले नही है स्वरूपकी ओरसे देखो। मोहियोका उत्तर तो गडबड आयगा, पर स्वरूपकी ओरसे देखो—मैं अपने स्वरूपमे रहता हू, परिवारके सभी जीव अपने-अपने प्रदेशोमे रहते हैं। मैं अपने प्रदेशोसे बाहर रच भी कुछ नही कर सकता, न जा सकता। वे भी अपने प्रदेशोसे बाहर मेरो

और कुछ नही कर सकते । जो कर रहे है वे अपने आपमे कर रहे है, मैं जो कर रहा हू सो अपने आपमे कर रहा । फिर सम्बन्ध क्या है कि वे मेरे कहलाये ? कोई दूसरा जीव मेरा कहलाये ऐसी गुजाइश कहाँ है ? आप कहेगे कि यह है गुञ्जाइश—स्त्री रोटी बनाती, हम कमाते, लडके बच्चे भी कुछ काम आते है, जीवन चलता है, सम्बन्ध कैसे नही ? तो यह सम्बध सत्त्वमे नही है किन्तु यह गुजारेका सम्बंध है और गुजारा हो रहा है पर्यायोका, शरीर का । सो यो तो इस तरह नही करते और दूसरे लोग हैं उनका ससर्ग बना लेते, नौकर रखते, यो गुजारा चल जाता । यह परिवार तो एक तरहकी कम्पनी है जो सभी लोग मिल जुल-कर काम कर रहे है । तो मेरे आत्माका काम कुछ नही हो रहा और हो रहा है तो विकल्प का काम हो रहा है । ये विकल्प ही सकट है, मुझे सकटोसे छूटना है । सकटोसे छूटकर मेरी क्या स्थिति होगी ? इसका भी भली प्रकार स्पष्ट निर्णय करिये, इसमे इस जीवका लाभ है ।

मेरा परमार्थस्वरूप और परिस्थित रूप—मैं क्या हू ? सहज चैतन्यप्रकाश, एकरूप, जिसको जीवके ५३ भावोमे जीवत्व नामसे कहा गया है, शुद्ध जीवत्व अर्थात् चैतन्य प्राणमय रहना । अच्छा हू तो मैं यह सहज और मुझपर गुजर क्या रहा है ? ये चार प्रकारके भाव–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक । वर्तमानमे क्षायिक भाव नही जगा, पर आत्माके नातेसे ही तो बात चल रही है । यही न सही, हमारी तरहके और है, उनपर क्षायिक भाव आ रहे है । यहाँ बात औपशमिक, औदयिक व क्षायोपशमिककी तो है ही । इन भावोके मायने क्या है ? देखिए यहाँ दो बाते समझ लीजिए—मैं वास्तवमे हू क्या और मुझ पर गुजर रहा क्या ? जिसको इतना भी पता नही है वह अपनी शान्तिके लिए पुरुषार्थ ही क्या करेगा ? जसे यहाँ किसी आदमीको यह पता न हो कि मैं हू क्या और मुझपर गुजर क्या रहा ? कहाँ रहता हू, कौन ढग है, कौन घर है, तो उसका नाम आप क्या रखेंगे ? जैसे यहाँ भी एक भाई सडकपर कभी-कभी नगे या फटे कपडेमे फिरते रहते हैं, चिल्लाते है तो आप उन्हे क्या कहते है ? पागल कहते है ना ? इसी तरह जिस जीवको यह भान नही है कि मैं क्या हू और मुझपर क्या गुजर रहा है उसको आप क्या कहेगे ? तो उसे भी आप पागल कहेगे ना ? जिसे यह भान नही कि मैं वास्तवमे क्या हूँ और मुझपर क्या गुजर रही है उसका चित्त बाहरी बातोमे लग रहा, विषयसाधनोमे और विषयसाधनोके न होनेसे महत्त्व और हीनताका निर्णय किया जा रहा है । दूसरोकी चर्चा भी कर ली जाती है, वह इतना बडा है, इतना वैभव है, वह यो मर गया मेरा वैभव यो मिट गया, ये सब स्वप्न निद्रा जैसी चर्चायें की जा रही है । पर वास्तवमे मैं क्या हू और मुझपर क्या गुजर रही है यह ठिकाना नही समझते । अच्छा यह बात तब समझमे आयगी जब गुजारेका कारण भी कुछ विदित हो ।

मेरे परिस्थित रूपके कारण—मुझपर गुजर रहा है क्या ? कषायें गुजर रही हैं, विकार गुजर रहे हैं। कभी-कभी अच्छे भाव भी आ जाते, सम्यक्त्व भी हो जाता, कभी आत्माकी ओर शान्ति पानेके लिए कुछ दृष्टि भी देते हैं, अपनेमें रमण भी करते, ऐसी बातें गुजर रही हैं ना तो ये क्यों गुजर रही हैं ? इसका कारण क्या है ? कारण दो प्रकारसे समझे जायेंगे। गुजर तो मैं ही रहा हूं, इन परिणतियोंको मैं ही तो कर रहा हूं। तो उपादानकी ओरसे उत्तर आया कि मैं कर रहा हूं, मेरी जैसी योग्यता है उस प्रकार परिणमता हूं, मगर यह तो बताओ कि अनेकरूपताका जो किसी एक वस्तुमें परिणमन होता तो ऐसा क्यों होता है ? जब मैं एक हूं, सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूं तो मुझको परिणमन एक ही प्रकारका चलना चाहिए। यह नाना प्रकारका हमपर क्यों परिणमन चल रहा ? मालूम होता कि मेरे साथ कोई दूसरी विपरीत चीज लगी है, लदी है, उसमें बंधे हैं, इस कारण उसका निमित्त पाकर मैं नाना प्रकारसे परिणमता हूं, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह तो गणित जैसा हिसाब है। कोई चीज है, वह एक है तो एकरूप रहो, अपने स्वभावरूप परिणमे, उसमें नाना परिणमन क्यों हो ? जैसा पानी है तो रहो एक, वह क्यों कभी गर्म होता, कभी ठंडा ? क्यों उसके बीच नाना प्रकारकी अवस्थायें बनती। तो ऐसी नाना अवस्थायें बननेका कारण क्या है ? वही बिजली, गर्मी, कूलर आदिकका संयोग। तो ऐसे ही मुझमें सुबह कुछ भाव है, दोपहरको कुछ भाव है, शामको कुछ भाव है। कभी ऐसे परिणाम होते कि जरासी और विशुद्धि हो जाय तो मानो मोक्षमें जायें। कभी ऐसे परिणाम होते कि राक्षसवृत्तिकी ओर बढ़ते। तो यह विचित्रता जो हो रही है उसका कारण यह है कि उसके साथ लगा हुआ है कोई दूसरा पदार्थ। वह है निमित्त कारण। उसीको कहते हैं कर्म। कर्मकी विविध परिस्थितियाँ यहांकी विषमताका निमित्त है।

कर्मलीला—कर्मके बारेमें वैसे तो सब लोग देते हैं कि कर्म है, तकदीर है, जैसा किया वैसा भोगेगा, पर कर्म वास्तवमें क्या है, इसका निर्णय जैनशासनमें है। कर्म है एक सूक्ष्म मैटेरियल, पौद्गलिक स्कंध, जब वे अपने स्वरूपमें भी नाना प्रकारके हैं। और जब यह जीव कषाय भाव भी करता है, और मोह अभिप्राय रखता है, अज्ञान रखता है तो वे ही कर्म नाना प्रकारसे बंध जाते हैं। जिसे कहते हैं ८ प्रकारके कर्म। ये कर्म लगे हैं, हैं जीवके साथ। अब लगे तो हैं इस जीवके साथ, इतना तो मानना ही पड़ेगा। अगर इतना नहीं मानते तो इसका उत्तर क्या है कि नाना रूप क्यों परिणम रहा है ? इस जगतमें कोई भी एक पदार्थ ऐसा बता दीजिए उदाहरणके लिए कि उसके साथ किसीका सम्बन्ध नहीं, संयोग नहीं, अकेला ही है और वह नानारूप विषम परिणम जाता है ? तो ऐसा कोई न मिलेगा। अगर नाना तरह की उसमें अवस्थायें बनती हैं तो समझो कि कोई दूसरे पदार्थका संयोग है। यहां जीवके

साथ वह दूसरी चीज क्या है ? कर्म । इस तथ्यसे हट नही सकते । भले ही जब निश्चयनय की दृष्टि लगाये तो वहाँ एक ही पदार्थ दिखता है । इस दृष्टिका विषय एक पदार्थ है और वहाँ यह ही उत्तर आयगा कि यह आत्मा अपनी योग्यतासे अपना ऐसा-ऐसा परिणमन करता हुआ चला जा रहा है, पर यह तो एक वस्तुके देखनेकी बात है । उसमे भी लाभ है । मोक्ष मार्गमे चलने वालेको इसमे भी लाभ मिलता है । पर निर्णय तो नही बना यह । ऐसा होता क्यो है, ऐसा नाना रूप परिणम क्यो रहा है, ऐसी यहाँ योग्यतायें क्यो चल रही है । कोई कहेगा—स्वभावसे । तो बस, फिर तो बेडा गर्त हो गया । स्वभावसे है तो ऐसी बात चलती रहेगी, वह फिर मिटेगी नही । तो वे कर्म अपनी एकग्र लग फैक्ट्री रखते है, उनमे अनुभाग है । जब अनुभाग शक्तिका उदय होता है तो उन्हीमे बडी विरूपता आती है । वे कर्म जड है, जानते नही है कुछ, लेकिन जो-जो जीव यहाँ कर रहा वही-वही बात वहाँ कर्ममे चली है । वहाँ अनुभव नहो है, यहाँ अनुभव है । वहाँ पौद्गलिक ढगसे है, यहाँ चैतन्यके ढगसे है । जब वे कर्म दबते है तो यहां कुछ परिणाम निर्मल होता है । वे कर्म जब हट जाते है तो परिणाम मूलसे निर्मल होते है । तो ऐसी उन कर्मोकी दशाका निमित्त पाकर जीवकी यह दशा होती हैं । यह बात आयी ना ध्यानमे ।

औदयिक आदि भावोको जीवके स्वतत्त्व कहे जानेका कारण—अब यहाँ एक शङ्का बनती है कि जब जीवमे ये दशायें कर्मके उदयानुसार बनती है, कर्मके उपशमके अनुसार बनती हैं तो ये सब पौद्गलिक है भाव । इन्हे जीवके भाव क्यो कहा ? औपशमिक, क्षायोप-शमिक, क्षायिक, औदयिक ये भाव जीवके क्यो कहलाते है ? यह सब तो पुद्गलकी छाया है, पुद्गलकी ऐसी झलक है कि इस प्रकारकी बात जीवमे प्रकट हुई । वहा जीवके भाव क्यो कहे जाते ? तो उत्तर यह है कि बात तो सही है कि ये कर्मोके उपशम आदिकका निमित्त पाकर होते हैं, जीवके निजके गाँठके भाव नही हैं, क्योकि सहज स्वय स्वतत्र अकेला रहकर जीवका भाव एक प्रकारका है, लेकिन इतनेपर भी परिणमा तो जीव है । जैसे कागजपर आग रखो तो कागज जल गया । कागज अब संसर्ग बिना स्वय तो नही जला । जला तो स्वयं कागज, दूसरा कुछ नही जला, मगर ऐसा जलना अग्निका सम्बन्ध पाकर हुआ ना । तो सम्बन्धकी ओरसे तो उत्तर है कि यह जलनेकी बात कागजकी नही है, यह तो आगने कराया । परतु कागजकी ओरसे, उपादानकी ओरसे उत्तर यह है कि जला तो कागज ना, दूसरा और कुछ तो नही जला । और-और बातें ले लो, पानी गर्म हो गया अग्निका सयोग पाकर इसलिए वह अग्निकी उष्णता कहलाती है व्यवहारमे, मगर गर्म पानी हुआ कि आग ? आग तो अपनेमे गर्म है, जो पानी गर्म हुआ तो पानी ही अपनी ठडी पर्यायको त्यागकर गर्म हुआ । तो ऐसे ही कर्मोका उपशम आदिक तो हुआ, मगर परिणमा तो जीव ही ना । तो जीव

की अवस्थायें हैं इसलिए ये सब जीवके स्वतत्त्व हैं ।

निजको जानकर निजधाममें पहुंचनेका विलास—देखो जब जिसकी दृष्टि बाहरकी ओर होती है, विषयोंकी ओर होती है, देहकी ओर होती है, यह मैं हू, जब यह मैं हू तो इसके बडप्पनके लिए काम करना चाहिए। जब शरीर मैं हू तो शरीरके बडप्पनके लिए काम चलना चाहिए। तो उसके लिए धन चाहिए, संयोग चाहिए, सम्बध चाहिए, और इसके साथ नामवरी चाहिए। वह भी तो एक सतोषका कारण बन रहा लोगोका। इसका साधन जुटना चाहिए, तो बस साधनमे जुट रहा यह जीव। और वे साधन अपने अधिकार की चीज हैं नही, तो बस सारे सकट इस जीवपर लदे है। भावना बने कि मुझको इन सकटो से छुटकारा पाना है।

देखो यह चार दिनकी चमक-धमक यह जरा भी काम न आयगी, अब भी काम नही आ रही, मगर आज समझमे नही आ रही, कुछ दिन बाद समझमे आ जायगी। मोहियो को समझमे न आयगा, मगर समझदार लोग तो समझ हा जायेंगे। यह चमक-धमक इस जीवका कुछ साथ न देगी। हम है, हमेशा रहेगे, इसलिए अपने भविष्यका बहुत चिन्तन करना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि मुझे इन १०-२० वर्षोंके जीवनके लिए ही कुछ ओटपाये नही करना है। मेरा भविष्य कैसे सुधरे, कैसे शान्तिमे बीते, उसका उपाय बतायें तो अभी भी शान्ति मिलेगी और आगे भी शान्ति मिलेगी। भला जो उपाय इस समय भी शान्ति करा दे और भविष्यके लिए भी शान्ति करा दे, वह उपाय अच्छा है या जो उपाय इस वक्त भी भ्रममे डालकर अपनेको बेहोश करा रहा और भविष्यमे भी नाना दुःखोका साधन बना दे वह उपाय अच्छा है ? उपाय वह करना चाहिए कि जिस उपायसे वर्तमानमे भी शान्ति हो और भविष्यमे भी शान्ति हो। वह उपाय क्या ? 'निजको निज परको पर जान, फिर दु खका नहि लेश निदान।' यह तो है लेश निदानके न रहनेकी बात। यानें अब कारण न रहेगे, मगर इससे आगे और कुछ बढना है—'राग त्यागि पहुचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ?' वह तो सम्यक्त्वकी चीज है—निजको निज पर को पर जान, फिर दु खका निदान न रहेगा। करना तो दोनो है। जैसे किसीको रोग हो गया तो पहले तो उस रोगका निदान न हो याने वे वे चीजें न खायें, जिससे वह रोग बने, फिर उस रोगका इलाज करें, अपथ्य सेवन न करें। ऐसे ही ससरण रोग न बढे - एतदर्थं 'निजको निज परको पर जान' भान यह तो है सम्यक्त्व और चिकित्सा बने—यह कहलाता है चारित्र।

सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके सुपरिचयमे सकल समस्याओका सहज समाधान—

भैया ! अपनेको जानें । अपनेको जाने बिना विडम्बना है । जगह-जगह डोलेंगे सुख ढूँढनेके लिए, जगह-जगह आशा बनायेंगे ज्ञान पानेके लिए—अपने दो ही तो स्वरूप है । हम आप ज्ञानवान है । ज्ञानविकास बिना इस जीवको चैन नही मिलती और आनद पाये बिना भी चैन नही मिलती । यह उमग सबके है । कोई चीज जा रही हो तो उसे जब तक देख न लेंगे तब तक चैन नही पडती । मतलब उससे कुछ नही, मगर सामनेसे कुछ चीज गुजरी तो उसे दूसरोसे पूछकर मालोमाल कर लेगे । ज्ञानविकासकी ओर भी उमग होती है और आनन्द पानेकी ओर भी उमग होती है । तो जिसमे ज्ञान और आनन्दकी बात पडी है, ज्ञान और आनन्दका स्वरूप बसा हुआ है तब ही तो ज्ञान और आनन्द मिल रहा इसे । तिलमे तेल भरा है तभी तो उसे कोल्हूमे पेलनेपर तेल निकलता है, और रेतमे तेल नही है तो उसके पेलनेपर तो तेल नही निकलता । तो ऐसे ही मुझमे ज्ञान और आनन्द है तभी तो ज्ञान और आनन्द मुझमे प्रकट होगा । अगर ज्ञान और आनन्द मुझमे न हो तो कहांसे प्रकट हो जायेंगे । भले ही इस समय दूसरे पदार्थोंपर ध्यान देकर ज्ञान और आनन्द नही बन पा रहा, बनना था ज्यादा, मगर रह गया कम, फिर भी ज्ञान और आनन्दसे हम आपका स्वरूप रचा हुआ है । अपने स्वरूपकी दृष्टि करें कि मैं वास्तवमे क्या हू और मुझपर गुजर क्या रहा है और यह क्यो गुजर रहा है ? गुजर यो रहा है कि कर्मके उदय आते है और यहाँ उसका छाया प्रतिफलत होता है । तो जैसे सूर्यके नीचे बादल आनेपर सूर्यका प्रकाश तिरस्कृत हो जाता है, ऐसे ही कर्माक्रमणके समय ऐसा हो निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीवके स्वभाव का तिरस्कार हो गया, यह जीव दब गया, उस समय यह जीव अधीर हो जाता है और उस समय इसको विषयकषायोकी बात सूझती है, और यो यह प्रकट सकटमे पड जाता है । यदि यहाँ भेदविज्ञान करें कि कर्मकी छाया माया हो रही, मगर यह मैं नही हूँ, मैं तो स्वभावतः चैतन्य प्रकाशमात्र हू तो इस चिन्तनमे वह बल आता है कि हम उस छाया मायामे लिप्त नही होते । तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने आपको जानें और ये इन्द्रियाँ मेरे लिए कलक है, ये मेरे शृंगार नही है, ये मेरी शोभा नही है, ये तो पंक है । इनको राजी रखनेके लिए हम सकल्प न बनायें, किन्तु इनसे निराला एक चैतन्यमात्र अपने आपको अधिकाधिक सोचे । मैं सबसे निराला एक चैतन्यमात्र हू, ऐसी दृष्टि बनेगी तो एक अनुपम आनन्द प्राप्त होगा ।

ज्ञानकलापर सुख, दुःख व शान्तिकी निभरता—जीवके सुखी शान्त होनेका उपाय केवल धर्म है । वह धर्म क्या है ? जिससे यह जीव शान्त हो जायगा । जीवको शान्त किधर होना है ? अन्दरमे होना है या कही बाहरमे होना है ? जीव तो अन्दर है, बाहर तो होता नही है, अन्दरमे शान्त होना है । तो अदर शान्त होनेके लिए कोई बाहरमे काम करना है या अन्दरमे काम करना है । बाहरमे कोई काम किया ही नही जा सकता, अंदरमे काम करना

है। वह क्या काम है कि जिससे यह जीव शान्त हो जाय ? अन्दरमे क्या-क्या करता यह जीव ? जानकारी केवल जानन, जानन चलता है तो बस इस ही जाननकी कलामे शान्ति है और इस ही जाननकी कलामे दुःख है। इसका निर्णय तो जानें। तो जो चाहिये हो सो पा लो। जाननेकी कलासे सुख पावें, जाननेकी कलासे दु ख पावें, जाननेकी कलासे शान्ति पावें। अब दुःख क्या है ? जो परवस्तु है उसको चित्तमे लेना, उससे सुखकी आशा करना, उसपर अपना अधिकार जमाना, ये सब दु खके जनक हैं। जो अनहोनी बात है उसे होनी बनानेका प्रयत्न करें तो दु ख होगा। यह बात बिल्कुल अनहोनी है कि मैं बाहरमे जो चाहू सो कर दूं। पुण्य योगसे हो जाय यह बात अलग दे, मगर अधिकार नही है मेरा एक परमाणुमात्रपर कि मैं जो करूँ, जैसा मै चाहू वैसी बात बाहरमे हो जाय। तो जो भिन्न पदार्थ है, विनाशीक हैं उनमे अपना लगाव रखना यह तो है दु ख पानेके लायक जाननेकी कला, और जो निज वस्तु है, ध्रुव वस्तु है, स्वभाव भाव है, परमार्थ स्वरूप है उसमे ज्ञान बनायें कि मैं यह हू और मैं स्वय शान्त हू, स्वय आनन्दमय हू, स्वरूप मेरा एक विशुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र है, अविकार अविशेष ज्ञानस्वभावका जानना बनाये रहना यह कला है शान्त होनेकी और सुखी होनेकी कला क्या है ? जो दु खी होनेकी कला है सो सुखी होनेकी कला है। दु ख और सुखमे अन्तर नही है। दु ख नाम है उसका जो इन्द्रियोको बुरा लगे। दुः मायने बुरा, ख मायने इन्द्रिय, और सुख नाम है—सु मायने सुहावना लगना, ख मायने इन्द्रिय, याने जो इन्द्रियोको सुहावना लगे सो सुख। जब इन्द्रियोको सुहावना लगे उस काल मे भी जीवको आकुलता रहती है और जब इन्द्रियोको बुरा लगे तो उस कालमे भी जीवको आकुलता रहती है। इसलिए आकुलताके हिसाबसे जैसे दु ख है वैसे ही ससारका सुख है। इन दोनोमे अन्तर नही है। इसलिए सुख दुःख दोनोसे परे जो आत्मीय शान्ति है उसका उपाय बनावें।

शान्तिका उपाय अविशिष्ट परिणाम—शान्तिके उपायको एक शब्दमे अगर कहे तो यह होगा कि सुख दु खका तो उपाय है अपनेको विशिष्ट बनाना और शान्ति पानेका उपाय है अपनेको अविशिष्ट बनाना। जैसे समुद्र है उसमे विशेषतायें नजर आयें तो उसे कहते हैं क्षुब्ध। लहरें उठ रही, भवर उठ रहे, चार ६ फिट ऊँची लहरे उठती है, लहरें उठती है तो क्षोभ हो रहा, आवाजें आती हैं, लोगोकी जानें चली जाती है, बहुतसे गाँवके गाँव बह जाते हैं। समुद्र बडा क्षुब्ध हो रहा और वह समुद्र अविशेष रहे याने विशेपता उसमे न बने, सामान्य, साधारण, शान्त, सहजसा अगर बन जाय तो वहाँ क्षोभ नही बनता। ऐसे ही यह आत्मा जब यह समझता है कि मैं मनुष्य हू, अमुक पोजीशनका हू, मैं इतने परिवार वाला हू, मैं ऐसी इज्जत वाला हू, या जिस तरहका भी मानो दु.खी हू, सुखी हू, रक हूँ, राव हूं, किसी

तरहकी अपनीमे विशेषता लाते है तो उसे कहते है दु:ख व सुख और अपनेमे विशेषता न लाना, जैसा अपना सहजस्वरूप है उस रूप अपनेको मान लें—मैं यह हूं, यहां है आनन्द। परमात्मामे खासियत क्या है, वे अविशिष्ट हो गए, साधारण हो गए, सामान्य हो गए, उनमे अब विशेषता न रही। दुनियाके लोग तो विशेषताको महान समझा करते है और धर्म अविशेषताका नाम है, सामान्य स्थिति हो जानेका नाम है, सर्व समभाव हो जानेका नाम धर्म है। अब जितने हमारे हलचल है, ओटपाये है, क्रियायें है, चेष्टायें है, प्रवृत्तियाँ है, ये हमको आकुलताकी ओर ले जाते हैं और मनको शान्त किया, वचन बंद किया, कायको संयत किया, कुछ विचार ही न आये। ऐसा मन स्थिर किया तो वहाँ निराकुलता है। परको न जाना तो ज्ञान बिना तो आत्मा रहेगा नही। ज्ञान तो वह करेगा ही करेगा, पर जब ज्ञान परको न जाने ऐसी स्थिति बना ली जायगी तो ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वरूपको ही जाना करेगा और कुछ न जानेगा, बस इस ही के मायने है आत्मानुभव। तो आत्मानुभव बिना जीवनमे कोई सार न मिलेगा। आत्मानुभव करे।

धार्मिक संस्कारोंकी उपयोगिता—देखो धर्मका कोई संस्कार रहेगा, व्यवहार क्रियाकाण्डके मार्गसे संस्कार बना रहेगा तो कोई समय ऐसा भी आयगा कि मन, वचन, काय स्थिर हो जायेंगे और ज्ञानमे सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव होगा। इसके लिए संस्कार बचपन से डालना चाहिए। अपनेको सुधारो। अपनी सुधार करने के लिए गृहस्थीमे यह आवश्यक है कि परिवारको सुधारो। जो परिवार उल्टा उल्टा चलता है, धर्मके खिलाफ चलता है उस परिवारका नायक धर्मके मार्गमे निर्विघ्न चल नही सकता। इसलिए आवश्यक है कि गृहस्थी मे रहकर अपने बच्चोको सुधारें। इसमे भी अपनी ही दया है, किसी अन्यकी नही और साक्षात् दया यह है कि अपनेको जाप सामायिक आदिकके प्रसगोमे लगाये। ऐसा एक विशुद्ध ज्ञान बनायें कि ज्ञानमे ज्ञानका स्वरूप ही आये और कुछ आये ही नही। यह है अपनी साक्षात् दया। जब बालक ८ वर्षका हो जाता है तबसे उसको पूजा पाठ आदिकके काममे लगावें, उसे सिखावें, यह अपने आपको भी काम देगा। जब बच्चे विनयशील रहेगे, धार्मिक रहेगे तो आप भी आनन्दसे रह पायेंगे। और जब बच्चे कुपूत निकल जायेंगे, व्यसनी हो जायेंगे तो आप भी दु:खी हो जायेंगे। ८ वर्षकी आयु हो जाय तो बच्चेको स्वाध्यायमे, पूजा पाठ आदिमे लगावें, उसको धार्मिक शिक्षा दें। जो गृहस्थ संतानोकी ओरसे उपेक्षा रखेगा उसकी संतान बिगड जायेगी। गृहस्थोका कर्तव्य है कि वे गृहस्थीके कार्य भी करें और आत्मा का कर्तव्य भी करें। भला बताओ गृहस्थजन धर्ममे न रहे, धर्मके प्रसंगोमे न रहे तो फिर खाली समयमे करेंगे क्या? कही अखबार पढेंगे, गप्प मारेंगे, दिल बहलायेंगे, विषयोमे लगेंगे और दु:खी भी हो जायेंगे। धर्म बिना आपके आत्माको, मनको विश्राम तो न मिला। आपने

ने बाहरमे मन फसाया और कल्पनाओमे मौज माना, मगर वास्तविक शान्ति तो आप नही पा सकते। और एक धार्मिक प्रसगोके बीच आयें, प्रातःकाल जगनेके बाद चित्तमे और कोई बात न हो। हाँ जैसे आवश्यक काम है गाय भैंस आदिक दुहनेके तो वे भी करें, पर नहाना-धोना, दर्शन करना, पूजा-पाठ करना, सत्सगमे आना, प्रवचन सुनना आदिक इन प्रसंगोको प्राथमिकता दें। एकान्तमे कही बैठकर चाहे दूकानमे हो या घरमे हो या वनमे हो, बारह भावनाओका चिन्तवन करें। अपना व परिवारका धार्मिक वातावरण अपने लिये शान्तिका साधक होगा ऐसा समझें व प्रयत्न करे।

पदार्थोंको स्वतंत्र जानकर, उनसे मोह हटाकर सहज अन्तस्तत्त्वमे लीन होनेकी सारता—देखो भैया! अपनी एक खास समस्याका समाधान कर लो। मेरे लिए जगतमे कौन सी वस्तु है जो सर्वस्व सार है? कुछ नही। देखो बड़े पुरुष वे हैं जो कीचडमे नही फसते और अपना सारा जीवन पवित्र बनाते हैं और जो ऐसा नही कर सकते वे कुछ समय बाद चिन्तन तो करेगे, अपनेको अविशेष अनुभव करेंगे। मैं वह हू जैसे सब—एक चैतन्यस्वरूप जाननहार, देखनहार, जहाँ किसी प्रकारकी उपाधि नही, ऐसा एक अपने आपका सहज शुद्ध स्वरूप वह ज्ञानमे लायें, मैं यह हू, और यह मैं हो क्या गया हू? यह तो बडी विडम्बना है कि कभी मनुष्य बनते, कभी पशु-पक्षी बनते, कभी कीट पतिगा बनते, इनमे क्या तत्त्व रखा है? यहाँसे मरे, फिर जन्मे, फिर लदे फिरे, फिर मरे, फिर जन्मे। यहाँ सार किस बातमे है? मेरेको शरण कौन है? कौन मुझे दुर्गतिसे बचायेगा? प्रभु बचा देंगे क्या? प्रभु भी न बचा पायेंगे। कुटुम्ब और मित्रकी बात तो अत्यन्त दूर है, प्रभु भी न बचा पायेंगे। क्यो न बचा पायेगे कि प्रभुको क्या पडी है कि वे ऐसा करें कि किसीको बचायें, किसीको सकटमे डालें? क्यो वे अपने अनन्त आनन्दके अनुभवसे चिगें और ससारी बनें, अपवित्र बनें? तो फिर हम प्रभुका सहारा क्यो लेते है? प्रभुका सहारा हम यो लेते हैं, प्रभुकी भक्ति हम इस कारण करते है कि प्रभुका ध्यान करनेसे, प्रभुके स्वरूपकी उपासना करनेसे मेरेको अपने अन्त. बसे हुए प्रभुके स्वरूपका अनुभव होता है। तो जो मेरा है, यह मेरी प्रभुताका अनुभव यह है अविशेष। यह मेरे चैतन्यप्रकाशका अनुभव यह मेरेको पार करेगा, अन्य कोई मेरेको पार करने वाला है ही नही।

भाई इस मनुष्यभवमे मुख्य काम है यह कि अपनेमे धर्मकी बढवारी करें। ये वैभव मकान आदिक, मित्र पक्ष पार्टी आदिक ये सब भी काम नही दे रहे। इस जीवको अगर कोई शरण है तो इस जीवको अपना एक सहज विशुद्ध परिणाम है, भाव है, स्वरूप है। मैं क्या हू, असलमे क्या हू, ये विचार विकल्प आदिक भी मैं नही, यह सब तो कर्मकी छाया

है। मनुष्य पशु पक्षी आदिक मैं नही, क्योकि यह सब कर्मकी छाया है, मैं हू एक सहज ज्ञानज्योति जिसमे मात्र जाननेका काम रहता है। सिर्फ जाननेके काममे कोई तरंग नही, रागद्वेषादिक नही, ऐसा एक अपने आपके स्वरूपका अनुभव करें, सबसे निराला हू, ऐसा ध्यान अगर एक क्षण भी बन जाय तो वह आत्मानुभव है। आत्मानुभव जिसे हो गया उसे फिर जगतकी कोई अन्य चीज नही सुहाती। उसे तो एक अपना आत्मानुभव ही सुहाता, यह ही धर्म है। यह अविकार ज्ञानस्वरूपका ज्ञान जिसे प्राप्त हुआ है उसके इच्छायें दूर हो जाती है। जिसके इच्छायें दूर हुई वह सतुष्ट रहेगा, आनन्दमय रहेगा, पवित्र रहेगा, मोक्षमार्ग मे बढेगा, उसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। हमारे समस्त विकासोपर कुठाराघात करने वाली यह है इच्छा और इच्छाको पुष्ट करने वाला साधन है मोह और मोह मिला है अज्ञानसे, इसलिए सबसे बडा पाप अज्ञान है। देहको मानना कि यह मैं हू, बाह्य पदार्थोंको मानना कि ये मेरे हैं, यह ही अज्ञान है, यह ही मोह है, यह ही इच्छाका जनक है। जहाँ इच्छा हो वहाँ समस्त कष्ट ही कष्ट है। इसलिए भाई अपनेपर करुणा करके यह भाव बनायें कि मेरेमे इच्छा न रहे, ऐसी पवित्रता बने तो भला है। इच्छा न बने इसके लिए चाहिए कि मेरेको मोह न रहना चाहिए। मोह न रहे इसके लिए चाहिए कि मेरेमे अज्ञान न रहे। अज्ञान न रहे इसके लिए चाहिए कि जीव अजीवका, स्व-परका सही स्वरूप समझें कि परमाणु परमाणु स्वतत्र है, प्रत्येक जीव स्वतत्र है।

शाश्वत शान्तिके लाभके अर्थ जीवनको निर्दोष पवित्र बनानेकी आवश्यकता—जिसका जीवन दोषोमे बीता है उसको मरणके समय बहुत दीनताका अनुभव होता है और उसका भविष्य बिगड जाता है। जिसका जीवन पवित्र रहता है, दोषोसे अछूता है उसको अपने आपमे कुछ महत्त्वका अनुभव रहता है और उसका भविष्य उत्तम है। यद्यपि लोग वर्तमानके सुखोके पीछे न्याय अन्याय पाप अज्ञान कुछ भी न गिनकर जिसमे वर्तमानमे मौज मिले उस प्रकारसे अपनी प्रवृत्ति करते है, लेकिन यह निश्चित है कि जो जैसा करता है जो जैसे भाव बनाता है उसके अनुकूल कर्मका बन्धन होना है, नियमसे होता है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है। यद्यपि ये दो चीजें अलग-अलग है कर्म और जीव, लेकिन इनका विकार एक दूसरे के निमित्त हुआ करता है। यह जीव यह जानता है कि जो मुझको १०—२०—५० वर्षकी जिन्दगी मिली है और इसमे जो कुछ हमे प्रसग मिले है ये सब अपूर्व है, अद्भुत हैं—किन्तु काल कितना है? अनन्तानन्त जितना काल व्यतीत हो गया वह भी अनन्त और जो काल व्यतीत होगा वह उससे भी अनन्तानन्तगुना, यद्यपि अनत गतका भी नही है तो भी भविष्य सदा अतीतसे अधिक ही रहेगा। उस सारे भविष्यका कुछ ख्याल नही करता। वर्तमानमे थोडे समयको कुछ सुविधा मिल जाय उसका यह बड़ा मान रखता है। पर दु:ख और सुखमे छाँट

करो। एक होता है वैषयिक सुख और एक होता है नाना प्रकारका दुःख। अच्छा इस सुख और दुःखमे कुछ अपेक्षाकृत भला क्या है ? सुख भला है या दुःख भला है ? सुखमे प्रभुकी याद नही रहती, सुखमे धर्मके लिए समय नही मिलता, सुखमे ऐसा गर्व हो जाता है कि महान पुरुषोका भी तिरस्कार हो सकता है। सुख हर दृष्टियोसे बुरा है। भले ही वह मोही थोडे समयको मिले हुए सुखमे ऐसी प्रीति रखता है कि जैसे मानो सर्वस्व वस्तु हो, लेकिन इस सुखमे बडे दोष हैं, सुखमे अपवित्रता है, सुखमे गदगी है, सुखमे इस जीवका पतन है, जब कि दुःख सुखसे कही श्रेष्ठ है, दुःख पडनेके बाद मोक्ष तो हुआ है ऐसे आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे, मगर वैषयिक सुख पानेके बाद मोक्ष हुआ हो, ऐसा कोई उदाहरण न मिलेगा। बडे बडे मुनिराज सुकौशल, गजकुमार आदिक अनेक लोग बडे-बडे उपसर्ग सहकर मुक्तिको प्राप्त हुए। बल्कि अन्तःकृत दस महापुरुष होते हैं उनका ही एक जुदे अगमे वर्णन है। तो सुखसे दुःख कही श्रेष्ठ है। जहा आत्माकी सुध नही वहाँ सारी विडम्बना है। यहा तो जरा से लालचमे बह गए, मगर भविष्यमे नरक निगोद आदिककी कितनी यातनायें भोगनी पडेंगी इसका कुछ ध्यान नही इस कारण पापोसे दूर होना और अपने आत्माकी विशुद्ध आराधना मे लगना यह जीवके लिए मुख्य कर्तव्य है इस मानव-जीवनमे। पचपापोसे ही तो जीवनमे मलिनता होती है और पचपापोके त्यागसे ही जीवनमे पवित्रता होती है। पवित्रतासे जीवन गुजरेगा तो सतोष रहेगा। और मलिनतासे जीवन गुजरेगा तो जीवन भर भी शल्य रहेंगे और मरण समयमे भी शल्य रहेगी। इससे हमारा कर्तव्य है कि हमारा जीवन सतोषमे बीते।

जीवनको संतुष्ट निर्दोष पवित्र बनानेका आधार तत्त्वज्ञान—सतोषमे जीवन बीतनेके लिए क्या करना चाहिए ? पचपापोका और चारो प्रकारकी कषायोका त्याग, पर यह त्याग उसीके निभ सकेगा जिसने निजको निज परको पर जाना। जो विशुद्ध ज्ञाता बन गया है उससे ही यह त्याग निभेगा। तो अपना सम्यग्ज्ञान बनायें, पचपापोका त्याग करें, कषायो को दूर करें, तुम्हारे जिम्मेदार तुम ही हो, दूसरा कोई नही है, इसलिए जो असल बात है उसकी तो उपेक्षा न करें और जो अपने वशकी बात है ही नही उसके पीछे कमर कसकर न रहें। बाह्य पदार्थ कुटुम्ब धन वैभव आदिक ये सब कैसे आयें, कैसा ढग बने, यह अपने अधिकारकी बात नही है, यह सब पूर्वकृत पुण्य कर्मका ठाठ है इसलिए यहाँ घबडायें नही, किन्तु अपने परिणामोमे उज्ज्वलता लायें। परिणामोमे उज्ज्वलता हर परिस्थितिमे रखना आवश्यक है, चाहे कुछ सुखकी स्थिति हो, चाहे दुःखकी, परिणामो की निर्मलता इस जीवका मित्र है और इसको शरण है, सहाय है, दूसरा कोई इसका मददगार नही। इससे ज्ञानका अर्जन और परिणामोकी निर्मलता—ये दो बातें करें और यहांके परिग्रहोके प्रसगमे उनकी तृष्णामे इस जीवनको उलझायें नही। आसानीसे जो आय हो उसमे सतुष्ट रहे, पर परिणामो

मे निर्मलता रहे और ज्ञानस्वभावी परमात्मतत्त्वके प्रति दृढता बन जाय, ऐसा एक अपना निर्णय होना चाहिए।

औपशमिक आदि भावोको जीवके स्वतत्त्व माननेके समर्थनका उपसंहार—तत्त्वार्थसूत्रमे मोक्ष जानेकी कुञ्जीका वर्णन है। मोक्षका मार्ग क्या है—इसका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रमें है और इसी कारण तत्त्वार्थसूत्रके प्रति पूज्यताका भाव प्राय: सभी जनोको है। मोक्षमार्ग क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है—आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप है उस रूपमे अपना श्रद्धान बनाना कि मैं तो यह हू, इसे कहते है सम्यग्दर्शन और इस ही अतस्तत्त्व की जानकारी बनाये रखना यह है सम्यग्ज्ञान और ऐसी ही जानकारीमे रमना यह है सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेके लिए याने सहज आत्मस्वरूपमे 'यह मैं हू' ऐसा श्रद्धान बनानेके लिए उपाय क्या है? जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, इन ७ तत्त्वोंका सही परिचय करना। तो तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम अध्यायमे तो इन सबके परिचयके उपायोका वर्णन है, प्रमाण नयका वर्णन है। प्रमाण और नयोसे जीवादिक तत्त्वोका ज्ञान होता है। सो उन उपायोका वर्णन करने के बाद दूसरे अध्यायसे इन तत्त्वोका वर्णन चलता है। दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन है। प्रथम यह बताया है कि जीवके स्वतत्त्व क्या है? तो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये भाव है। जीवके स्वतत्त्व खूब निवरणके साथ यह वर्णन चला। उसके बाद यह आशका हुई कि जीवका स्वतत्त्व केवल चित्प्रकाश मानना चाहिए। एक चैतन्यस्वभाव जो सहज है, स्वतंत्र है, निरपेक्ष है, आत्माका प्राणभूत है, वही मात्र स्वतत्त्व है। शंकाकारका कहना एक नयसे तो ठीक है, वहाँ कोई भेद न आना चाहिए, पर यह परिचयका प्रकरण है। जीवमे जो-जो बात हो सकती है चाहे उपाधिवश हो, चाहे उपाधि बिना हो, वे सब जीवके परिणाम कहलाते है, इसलिए वे सब जीवके स्वतत्त्व है, इस तरहसे परिचय कराया गया है। पदार्थ जिस रूपमें परिणमता है वह परिणाम उस पदार्थमे तन्मय है और उस समय वह उसका लक्षण है, वह उसका तत्त्व है, इस दृष्टिसे भले ही कर्मके उपशमका निमित्त पाकर कोई जीवमे परिणाम जगा, पर जीव ही तो वैसा परिणमा, अजीव तो नही परिणमा, इसलिए ये भाव जीवके स्वतत्त्व हैं। यही उत्तर क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावमे है। हाँ पारिणामिक भावमे जो सहज जीवत्व भाव है उसे तो शंकाकार मानता ही है।

अमूर्त आत्माका मूर्त कर्मपुद्गल द्वारा अभिभव होनेकी चर्चा—जीवके स्वतत्त्वका वर्णन किये जानेके बाद अब एक आशंका होती है कि आत्मा तो अमूर्त है। उसमे रूप, रस,

गंध आदिक नही। तो आत्माके इस स्वभावका, आत्माके इस चैतन्यप्रकाशका तिरस्कार हो कैसे गया? और तिरस्कार हुए बिना औपशमिक, औदयिक आदिक भाव नही बन सकते। आत्मा अमूर्त है, उस आत्माका अभिभव न बनना चाहिए। बस स्वतत्त्व एक ही रहना चाहिए। जीवत्व, चैतन्य भाव, चित्स्वभाव ये भाव जीवके न कहलाने चाहियें, क्योकि अमूर्त आत्माका तिरस्कार ही नही हो सकता। इस आशंकाका समाधान यह है कि देखिये आत्मा चैतन्यवान है। यह तो सब लोग मानते हैं। अब अनादि निरुपाधि चैतन्यभावमय आत्माके जो-जो भाव होते है वे सब चेतन कहे जाते कि नहीं? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक ये चेतन हैं कि नही? तो जैसे चेतन परिणाम वाले जीवके जो-जो भी भाव है वे चेतन कहे जाने चाहिएँ, यहाँ तक कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये चेतन है। तो जैसे चैतन्यवान आत्माके परिणामोको चेतन बताया गया है ऐसे ही आत्माके साथ कर्म भी तो लगे हैं। अनादि कालसे सततिबद्ध कर्मका जो बोझ लदा है सो कर्मवान भी तो आत्मा है। फर्क यह है कि चैतन्यवान होना सहजस्वरूप है, कर्म परपदार्थ है। आत्मा चैतन्यवान है स्वरूपसे तो सम्बन्धसे यह कर्मवान भी है। तो ऐसे अनादि कर्म वाले जीवके जो-जो भाव होगे, चूंकि कर्म हैं मूर्तिक और कर्म वाला बन रहा यह जीव तो मूर्तिकवान जीवके भाव मूर्तिक हो जायेंगे तो मूर्ति कर्मसे मूर्त आत्माका अभिभव बन जायगा।

कथंचित् अमूर्त व कथचित् मूर्त संसारी आत्माके अभिभवका निर्णय—आत्मा ससारअवस्थामे एकान्ततः अमूर्त नही, वह बधकी दृष्टिसे मूर्त है, लक्षणकी दृष्टिसे अमूर्त है। जब इस जीवको बधन चल रहा है तो लक्षणकी दृष्टिसे हीं तो कह रहे हैं कि बधन है नही जीवके, पर वह लक्षणकी ही तो बात रही। उससे कही निर्बन्ध अवस्थाके फल तो न मिल जायेंगे। जैसे गायको बाँध लिया एक रस्सीसे, तो उसके बाँधनेकी तरकीब क्या है कि रस्सीके एक छोरसे रस्सीके दूसरे छोरमे गाँठ लगा दी, यह ही तो गायको बाँधनेकी तरकीब हैं या यो है कि गायका गला और रस्सी पकडा और दोनोंकी गाँठ लगाया। इस तरह तो कोई नही करता और अगर करे तो गाय मर जाय। तो जैसे गायका बधन हो गया है। अब यहाँ लक्षणसे देखो, गायके स्वरूपसे देखो तो गाय नही बधी, मगर इस स्वरूपके देखनेका लाभ क्या? गाय कही जा सकती नही। वही कोई खाना पीना दे तो खा पी ले अन्यथा तकलीफ भोगे। और कोई कहे कि वाह गायके स्वरूपको देखो वह बधी ही नही है, अरे तो गावो यह बात, मगर निर्बन्ध दशाका फल तो उस गायको न मिला। उसे तो बधनेका ही फल मिलेगा, परतन्त्रता मिलेगी, स्वतन्त्रताका घात है, अपने आप कुछ कर नही सकती। तो जैसे गायकी ओरसे देखें तो निर्बन्ध है और वर्तमान परिस्थितिकी ओरसे देखें तो बधी है, ऐसे ही इस आत्माको लक्षणकी ओरसे देखो तो अमूर्त है और परिस्थितिकी ओरसे देखो तो

मूर्त बन रहा है। कथंचित् मूर्त, कथंचित् अमूर्त, ऐसा अनेकान्तसे सिद्ध करके फिर निर्णय बनायें स्वतत्त्वका। जो लोग इस आत्माको एकान्ततया अमूर्त कहे उन्हे दोष और जो एकान्त से मूर्त कहे उन्हे दोष, मगर कथचित् मूर्त, कथचित् अमूर्त रूपसे इस सिद्ध हुए ससारी जीव को ये सब बातें घटित होती हैं। वहाँ कोई बाधा नही।

दृष्टान्त द्वारा आत्माभिभवका दिग्दर्शन—आत्मा अमूर्त है और उस अमूर्त होनेपर भी इस ससार अवस्थामे उसका तिरस्कार हो रहा, अभिभव हो रहा, यह बात दृष्टान्तसे भी समझ सकते है। जब कोई मनुष्य शराब पी लेता है तो यह जीव बेहोश हो जाता है कि नही? इसको कुछ ज्ञान रहता क्या? सुध रहती क्या? समझ रहती है क्या? उस समय क्या निर्णय या विवेककी बात बता सकता है क्या? खुद विकल जैसा हो जाता है। तो शराब तो मूर्तिक है और जीव अमूर्त है। जीवमे तो रूप, रस, गध, स्पर्श नही, लेकिन वर्तमानमे ही देख लो, शराब पीनेसे जीवका तिरस्कार होता, बेहोशी होती, पागलपन आ जाता। देख लीजिए, इससे ही सिद्ध हो जायगा कि अमूर्त होनेपर भी आत्माका पौद्गलिक कर्मके द्वारा अभिभव देखा जाता है और जब कर्मका उपशम है तो औपशमिक भाव हो गया, कर्मका उदय है तो औदयिक भाव हो गया। तो जैसे यह जीव शराब पीकर अपनी स्मृति नष्ट करके काठ पत्थरकी तरह पड जाता, बेहोश हो जाता, अभिभव हो जाता, इसी प्रकार कर्मोदयसे अभिभव बनता है आत्माका तो आत्मा भी अपने स्वलक्षणकी पहिचान नही कर पाता, चेतना, शुद्धि, जानकारी इनको व्यक्त नही कर पाता। उस समयमे यह जीव मूर्त ही कहा जाता। यह एक अपेक्षासे बात चल रही है। इस प्रसगमे बात यह कही जा रही है कि जैसे शराब पीने से जीवकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह बेहोश काष्ठ पत्थरकी तरह पडा रह जाता है ऐसे ही कर्मोंके अनुभागका स्फुटन होनेसे वहाँ उसका निमित्त पाकर जीवके इन विकारोका प्रादुर्भाव होता है और यह अपना स्वरूप दृष्टिमे नही रहता। वह बेहोश हो जाता है।

शराबपानसे इन्द्रियाभिभव बताकर ज्ञानाभिभवका निषेध करने वाली शंकाका समाधान—यहाँ एक शंका हो सकती है कि शराब पोनेसे तो जीवका अभिभव नही होता, किन्तु इन्द्रियका होता, इन्द्रियाँ बेहोश होती, मन बेहोश होता। तो मद्य पीनेसे इन्द्रियको मोह बना, जीवको नही बना। जीव तो अमूर्त है, उस अमूर्त जीवका कैसे तिरस्कार हो सकता, अमूर्तपर कैसे आवरण आयगा? यह सब तो इन्द्रियोपर प्रभाव पड रहा है। शराब पी ली, इन्द्रियां बेसुध हो गईं, ऐसी शका करने वाले यह बतायें कि शराव पीनेसे इन्द्रियके बेहोशी तो बताते हो, पर ये इन्द्रिया चेतन हैं या अचेतन? क्या चेतन इन्द्रियोकी बेहोशी हुई या अचेतन इन्द्रियोकी बेहोशी हुई? अगर कहो कि इन्द्रिया अचेतन हैं और शराब पीने

से इन इन्द्रियोको मोह उत्पन्न होता है, ये बेसुध होती तो शराब पीनेसे अचेतन इन्द्रियको बेहोशी हुई है याने शराब पीनेसे अचेतन बेहोश हो जाता। तब तो सबसे पहले जिस बर्तनमे शराब रखी है उस अचेतन पदार्थको बेहोश हो जाना चाहिए, पर ऐसा तो नही देखा जाता। शराबके सम्बन्धसे जड पदार्थ बेहोश होता है क्या ? यदि कहो कि नही, इन्द्रियां चेतन है और शराब पीनेसे ये चेतन इन्द्रिया बेहोश हो जाती है तो लगता तो है कुछ ऐसा कि ये इन्द्रियाँ चेतनसी है, मगर यह तो बतलावो कि ये इन्द्रिया चेतन अपने आप है क्या या चेतनके सम्बन्धसे हैं ? जो चेतन आत्मा है उसका सम्बन्ध है इन्द्रियात्मक शरीरसे, इस कारण इन्द्रिया चेतन है या इन्द्रियाँ अपने स्वरूपसे चेतन हैं ? अगर कहो कि इन्द्रिया अपने स्वरूपसे चेतन है तो यह बात तो नही पायी जाती, क्योकि इन्द्रिया तो भौतिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मेलसे मानते ही हैं शङ्काकार।

तो इनमे चेतना कहा है ? यह तो चेतनके सम्बन्धसे चेतन कहा जा सकता है। तो अब स्वरूपसे तो चेतन न रही इन्द्रिया। चेतनके सम्बधसे चेतन मानी गई इन्द्रिया तो बेहोश हुआ चेतन। मायने जो मूल है, ज्ञान है वह ही बेसुध हो गया। यहा इतनी बात समझनी है कि मूर्तिक पदार्थके सम्बधसे चेतन बेहोश हो जाता है। चेतन ही तो बेहोश होगा, अचेतन कहा बेहोश होगा ? तो यहा यह बात आयी कि मूर्तिक शराबके सम्बन्धसे अमूर्त जीवपर प्रभाव पड गया, यह ही बात कर्मके साथ है। कर्म है मूर्तिक पुद्गल, उसमे अनुभाग है, उस मे अपने ढगकी सब बात है। उसमे जब यह जवानी होती है मायने उदय होता है, अनुभाग खिलता है उस कालमे उस अनुभागका प्रतिफलन इस जीवमे होता है और वहा जीव बेसुध हो जाय, प्रभावित हो जाय, जीव स्वभावका अविभव हो जाय तो मूर्तिक कर्म पुद्गल द्वारा अमूर्त जीवका अविभव इस ससार अवस्थामे बना रहता है जब कि सम्बन्धवश बधवश कथ-चित यह जीव भी मूर्त कहलाता है।

जीवतत्त्वके अभावकी एक आशका—यहा आशका होती है कि जीव तो कुछ चीज ही नही है। किसीने देखा क्या जीवनसे पहले जीवको, किसीने देखा क्या करनेके बाद जीव को, किसीने देखा क्या जिन्दाकी हालतमे जीवको ? जीव कोई चीज नही है, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि वायु इनका संयोग होनेसे एक प्रकारकी विचित्र अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, उसे ही लोग जीव कह देते है, एक ऐसी यहा शका रखी जा रही है। जैसे कि गुड, कोदो और ऐसी चीजें जिनमे खुद मद नही पाया जा रहा, शराबका गुण नही पाया जाता उन्हे तो लोग चावसे खाते हैं, वे चीजें शराब तो नही कहलाती, मगर उनका सम्बन्ध हो, वे सड़ते रहे, उनका एक विशिष्ट सम्बन्ध बन जाय तो जैसे उस सयोग विशेषमे मदशक्ति व्यक्त हो जाती है ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इनमे जीवत्व कुछ नही है, पृथक्-पृथक् पडे है,

उनमे क्या है ? जड हैं, पर उनका सम्बध बन जाय, सयोग विशेष हो जाय तो उसमे एक शक्ति उत्पन्न होती है। जिसमे विकल्प हो, जानकारी हो, चेतना आ जाय, इस तरहकी बात उत्पन्न हो जाती है। जीव नामका पदार्थ कोई अन्य है, फिर जीवके स्वतत्त्व कहना यह कोई योग्य बात नही है, ऐसी एक आशका होती है। कुछ सुनने वाले लोग कहते है कि कैसी विचित्र शका की जा रही है ? तो भले ही एक ऊपरी ढगमे एक अद्भुत बात लगे, मगर इस विश्वासके मनुष्य बहुसख्यक है कि जीव नामकी कोई चीज नही है। यह तो सब पृथ्वी वगैरा के मेलसे बन गया है। सिद्धान्ततः तो चार्वाक मानते है और प्रयोगात्मक रूपसे कुछ मनुष्यो को छोडकर बाकी सभी मानते है। यह जीव तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके मेलका परिणाम है, ऐसा प्रायः सभी लोग मानते हैं।

जीवतत्त्वके अभावकी आशंकाका परिहार—अब इस शंकाके प्रतिपादनमे सोचें—क्या यह चेतना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके सयोगसे बनी ? अगर इनकी चीज है चेतना तो देखो जैसे रूप, रस आदिक इस शरीरमे पाये जाते है तो शरीर पिण्डरूप रहे तो रूप, रस आदिक रहते है और शरीर अगर बिखर जाय, छिद जाय तो भी रूप, रस आदिक रहते है, और इसमे कोई हानि पडे तो वह क्रमसे हानि होती है। ऐसे ही अगर इस शरीरमे चेतना है तो शरीर जब मिला हुआ है तब या शरीर बिखर जाय तब, उस बिखरेमे भी चेतना पायी जानी चाहिए, और उस चेतनाका लोप हो, हानि हो, अगर कुछ कमी आये तो वह उसमे क्रमसे आना चाहिए, मगर पृथ्वी आदिकके रूपादिकमे जैसी बात है वैसी बात चेतनामे नही है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके सम्बन्धका नाम अगर चेतना है तो जब यह शरीर मुर्दा हो जाता है तब भी तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका सबन्ध है कि नही। वहाँ फिर चेतना क्यो नही रहती ? अगर यह कहा जाय कि है तो सही पृथ्वी, जल, अग्नि वायुका पिण्ड, किन्तु है वे सब मुर्दा, उसमे सूक्ष्मभूत न रहा, कोई सूक्ष्मभूत था वह निकल गया याने जो दिख रहा है वह तो स्थूलभूत है, स्थूलभूत तो बराबर पडा है। भूत मायने पिंड पृथ्वी, जल, आदिकका समुदाय स्थूलभूत तो पडा रहेगा, मगर उसमेसे सूक्ष्मभूत निकल गया इसलिए उसमे अब चेतना न रही। तो पहले तो एक यह ही विरुद्ध बात है, अरे सूक्ष्मभूत निकल गया, उसका प्रभाव आना चाहिए या स्थूलभूत पडा है उसका प्रभाव आना चाहिए। सूक्ष्मभूत न रहा, स्थूलभूत तो है, सो चेतना बराबर रहना चाहिए। स्थूलभूतका असर बडा होना चाहिए और कहते कि नही, यह बात स्थूलभूतमे पायी नही जाती, यह तो सूक्ष्मभूतमे पायी जाती है। तो इसमे फर्क क्या है ? सिर्फ नामका फर्क है। तुम कहते हो सूक्ष्मभूत और हम कहते है जीव। नामका अन्तर पडनेसे पदार्थके स्वरूपमे अन्तर तो नही पड जाता और फिर दूसरी बात अब भी अगर हठ करो कि हम तो सूक्ष्मभूतको जीव नामसे कहेंगे ही नही,

वह भी पृथ्वी, जल आदिक है, स्थूलभूत भी पृथ्वी जल आदिक है, तो इस हठपर फिर यह मानना पडेगा कि वह चेतन समुदायसे नही बनता, किन्तु सूक्ष्मभूतका ही असाधारण गुण है। नामपर ही डटे रहे, मगर वह पिंड बननेसे कोई शक्ति व्यक्त हुई है यह बात न आयगी, किन्तु वह सूक्ष्मभूतका ही असाधारण गुण है चेतना। हम कहते है जीवका असाधारण गुण। स्वीकार तो यह कर लेना चाहिए कि जैसे सूक्ष्मभूतका अस्तित्व माननेपर आप आयेंगे तो उसी तरह आत्माका भी अस्तित्व मान लेना चाहिये।

पदार्थ दो है—पुद्गल और जीव। इनमे यह बात कहकर मत टालो कि शराव पीनेसे इन्द्रियाँ बेहोश होती है, जीव बेहोश नही होता, जीव अमूर्त है, उसका अभिभव नही बनता और अभिभव बने विना ये जीवके स्वतत्त्व कहना ठीक नही मालूम होता। मूर्तिक कर्म पुद्गलके सम्बधसे, बधके प्रति एकत्व हो जानेसे इस अमूर्त जीवका अविभव हुआ करता है और अच्छा देखो जो इस हठपर अडे है कि शरावके सम्बधसे इन्द्रियको ही बेहोशी हुई है तो वे यह बतलायें कि किन इन्द्रियोकी बेहोशी कह रहे, वे अन्तःकरण हैं या बाह्यकरण? अन्त.करणकी बेहोशी कहते हो या बाह्यकी। बाह्यइन्द्रिय तो अचेतन हैं, उन्हे तो व्यामोह हो नही सकता और अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय) की बेहोशी कहेगे तो उनमे ये दो बातें तो सोचनी पडेंगी कि वे चेतन हैं या अचेतन? अचेतन हैं तो बेहोशी हो नही सकती और चेतन है तो ज्ञान ही रूप तो कहलायगा वह। जिसे कहते हैं भावेन्द्रिय। भावेन्द्रियमे बेहोशी होना मायने जीवको बेहोशी होना। इस प्रकार मूर्त पुद्गल कर्मके सम्बधसे जीवके स्वभावका अभिभव बनता, तिरस्कार होता, ऐसी स्थितिमे उपाधिके उपशम आदिकके भेदसे जीवमे ये औपशमिक आदिक तत्त्व बन जाते है और इन तत्त्वोसे जीवका बोध बनता है। औपशमिक आदिक भावोको देखकर जीवके स्वरूप और जीवकी परिस्थितिका सब परिचय मिल जाता है। यो जीवके स्वतत्त्वके परिचय करनेके प्रसगमे प्रथम जीवके स्वतत्त्वका वर्णन हुआ।

बन्धदशामे एकत्व होनेपर भी विविक्तताके परिचायक आत्मलक्षणकी जिज्ञासा— हम आप सब जीव है और इस देह पिण्डके अन्दर बँधे हुए हैं। जीवका स्वरूप तो चैतन्य है जो कि अमूर्त है, किन्तु बन्धन दशामे यह बन गया मूर्तिक। अमूर्त होकर भी बँधा हुआ होनेसे यह मूर्तिक जैसा बन गया। तब दो दृष्टियोसे यहाँ परखा जा रहा है कि बधके प्रति एकत्व होनेसे याने गाढ बधन होनेसे यह जीव मूर्तिक है, किन्तु जीवके लक्षणकी ओरसे देखा जाय तो जीवका लक्षण तो सदा एकस्वरूप है। लक्षण अव्याप्त नही होता कि कभी पाया जाय, कभी न पाया जाय। तो उस लक्षणकी ओरसे देखते हैं तो जीव अमूर्त है। जब बधके प्रति एकत्व समझा और उस दृष्टिसे निहारने चले तो जीवमे औदयिक आदिक भावोकी सिद्धि होती है। कषायादिक परिणाम जीवके स्वतत्व हैं, और जब मात्र त्रिकालव्यापी लक्षणभूत

चैतन्यस्वरूपकी ओरसे देखा जाता है तब कहा जायगा कि इस जीवका स्वतत्त्वमात्र जीवत्व भाव है। देखिये ५३ भावोमे एक भाव जीवत्व और शेष भाव ५२ ये एक ओर, यह एक ओर। ५२ भावोमे कुछ न कुछ अपेक्षा लगी हुई है। यद्यपि भव्यत्व और अभव्यत्व भावको भी पारिणामिक कहा है। वह कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे नही है, लेकिन परम्परया उन कारणोकी अपेक्षा तो बन गई है। एक जीवत्व भाव जीवका सुलक्षणभूत त्रैकालिक पारिणामिक स्वरूप है। यो निष्कर्ष यह निकला कि जब बंध दशाको देखते है तो जीव की नाना दशायें होती है और जब लक्षणकी ओरसे देखते है तो जीवका एक जीवत्व चैतन्य स्वरूप है। ऐसी चर्चाके बाद यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि वह लक्षण क्या है ? उसे विस्तारसे समझना चाहिए कि लक्षणके होनेसे यह जीव बधनदशामे भी शरीरादिकसे न्यारा है, एकमेक नही हुआ है, वह लक्षण क्या है ? उस ही लक्षणका वर्णन करते है।

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

जीवके लक्षणकी आख्या—इस सूत्रका अर्थ तो इतना ही है कि उपयोग लक्षण है। अब किसका लक्षण है यह शब्द इस सूत्रमे नही दिया है, लेकिन दूसरे अध्यायमे जो सबसे पहला सूत्र है उसमे 'जीवत्व' शब्द आया है। जीवस्य स्वतत्त्व—इससे जीवस्य शब्दकी अनुवृत्ति की। उपयोगो लक्षण, इस सूत्रका तात्पर्य बहुत ध्यानसे क्रमशः सुनेंगे तो इसमे आपको कितना ही तथ्य मिलेगा। सूत्रमे केवल इतने ही शब्द है उपयोग लक्षण है। किसका लक्षण है यह बात सूत्रमे नही लिखी, लेकिन जो पहला सूत्र है, जिसमे लिखा है जीवस्य स्वतत्त्व, औपशमिक आदिक जीवके स्वतत्त्व है, उस सूत्रसे जीवस्य निकालकर यहाँ रखा, तब अनुवृत्ति करने के बाद सूत्र बना—जीवस्य उपयोगो लक्षण, जीवका लक्षण उपयोग है। आप सोचेंगे कि पहले सूत्रके बाद ६ सूत्र और आ चुके है। इन ६ सूत्रोका व्यवधान होने पर भी कैसे जीवस्यकी अनुवृत्ति यहाँ लगाई गई ? बहुत पहले सूत्रमे एकदम शब्द हो उसकी तो अनुवृत्ति हो जायगी। जैसे कोई कथा लिखता है ना, कोई बात कहता है, तो सर्वनाम शब्द जो होता है उस प्रयोगसे जो प्रथम वाक्यमे हो वह ही तो लिया जायगा कि बहुत पहले कहे हुए, कल कहे हुए, जिसका नाम किया वह आदि शब्दसे कैसे ले लिया जायगा ? तो 'जीवस्य' यह शब्द ६ सूत्रोसे व्यवहृत हो गया, फिर कैसे लिया गया ? तो उत्तर यह है कि जो ६ सूत्र है उन सूत्रोमे भी जीवस्यकी झाँकी चली आ रही है।

जैसे दूसरे सूत्रमे कहा है कि २, ६ आदिक भेद वाला है, कौन है ? स्वतत्त्व। किसके ? जीवके। तीसरे सूत्रमे कहा है कि औपशमिक और चारित्र। किसके ? जीवके। प्रत्येक सूत्रमे जीवस्यकी झाँकी चली आयी। इसलिए उस झाँकीके सिलसिलेमे यह भी 'जीवस्य' शब्द रहा। जीवका लक्षण उपयोग है।

स्वतत्त्व और लक्षणमें अन्तर—देखिये इस सूत्रसे पहले जीवके स्वतत्त्वका वर्णन है। जीवके स्वतत्त्व ५ है–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। और यहाँ कह रहे–जीवका लक्षण उपयोग है, तब दो बातें आयी ना तुलनामे–स्वतत्त्व और लक्षण। जीवके स्वतत्त्व तो और हैं और लक्षण कुछ और हैं। स्वतत्त्व और लक्षणमे अन्तर क्या है? क्यो जुदे-जुदे रूपसे यह कहा गया है? हाँ अन्तर है। स्वतत्त्व तो लक्ष्य है और उपयोग लक्षण है। वह किस प्रकार? उपयोग द्वारा क्या परखा जाना है? परखा तो जाना है जीव, मगर जीव क्या पर्यायोसे भिन्न रहता है? प्रत्येक पदार्थ पर्यायमे होता है। पर्यायशून्य कोई द्रव्य नही होता। तो जीवकी पर्यायें इन ५ भावोरूप हैं। तो उन ५ भावोमे से देखिये दो है—क्षायिक और क्षायोपशमिक। क्षायिक भावमे केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायोपशमिक भावमे तीन मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभगावधि और ४ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान और तीन दर्शन–चक्षु, अचक्षु, अवधि, इन सब भेदोमे व्यापकर रहने वाला है उपयोग। देखना भेद तो बन गए ये, मगर ये रहे स्वतत्त्व और इनमे व्यापकर रहने वाला है उपयोग। तो जो सामान्य उपयोग है वह जीवका लक्षण है। यह न कह सकेंगे कि केवलज्ञान जीवका लक्षण है या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि कोई उपयोगविशेष जीवका लक्षण है, क्योकि लक्षण होता है त्रैकालिक। लक्षण कुछ लक्ष्यमे रहे, कुछ लक्ष्यमे न रहे, ऐसा नही होता। तो उपयोगसामान्य, ज्ञानसामान्य, दर्शनसामान्य यह जीवका लक्षण है और यह उपयोग इन १२ प्रकारकी पर्यायोमे, तत्त्वोंमे व्यापक है। यदि मति, श्रुत आदिक ज्ञानोको लक्षण कह दिया जाय, उपयोग विशेपको जीवका लक्षण कह दिया जाय तो वह लक्षण अव्याप्त रहा, सबमें नही पाया गया। जो केवलज्ञानी है उसमे ही केवलज्ञान है, सब जीवोमे तो नही। जो मति-ज्ञानी हैं उनमे मतिज्ञान है, सबमे तो नही, किन्तु सामान्य सब जीवोमे पाया जाता है, इस-लिए जीवका लक्षण उपयोग है। स्वतत्त्व तो विशेष बात है और उपयोग सामान्य बात है। इस तरह इस सूत्रका अर्थ हुआ—उपयोगः जीवस्य लक्षण, उपयोग जीवका लक्षण है।

उपयोगका स्वलक्षण—उपयोग शब्दकी व्याख्या अकलकदेवने ऐसे नपे-तुले शब्दोमे की है कि जिसमे इस जीवके अनेक तथ्योपर प्रकाश डाला है। अकलकदेव एक बहुत बडे नैयायिक, सैद्धान्तिक, वैयाकरण और आचार-विचारके बहुत निष्णात विद्वान् थे। बडे-बडे आचार्योंके द्वारा जो लेखनी चलती है, न उसमे कोई शब्द व्यर्थ होता है और न कोई बात छूट जाती है।

उपयोगका लक्षण अकलकदेवने बताया है—बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भव-मुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। इसमे कितने पद है? बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वय-सन्निधाने यथासम्भव उपलब्धुः चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः। जीवका लक्षण उपयोग

है, यह वात तो सूत्रमे कही है, और उपयोगका लक्षण क्या है, किसको उपयोग कहते हैं ? कैसे हम समझें कि यह उपयोग है ? तो कहा—परिणामः उपयोगः। परिणाम उपयोग है। कौनसा परिणाम ? परिणाम तो जगतमे सब पदार्थोमे है ही। तो शब्द आया चैतन्यानुविधायी, जो चैतन्यका अनुविधान करता है, ऐसा परिणाम उपयोग है। जो चैतन्यस्वरूपके अनुसार बना करता है, व्यक्त होता है वह परिणाम उपयोग है। उपयोग शब्द एक ऐसा साधारण शब्द है कि जिसका लोग अक्सर करके प्रयोग किया करते है। जैसे—अजी, यह चीज तो खरीद लाये, पर इसका उपयोग तो करो। आपको अमुक चीज भेंट देते है, इसका उपयोग कीजिए। यह ग्रथ लीजिए, इसका आप उपयोग कीजिए। आपने ज्ञान पाया है उसका उपयोग कीजिए। धार्मिक जितनी सुविधायें मिली है उनका उपयोग कीजिए। यो इस उपयोग शब्दका बहुत प्रयोग होता है, पर वह उपयोग है क्या चीज ? कोई उसका एक फल।

तो आत्माका उपयोग आत्मासे भिन्न नही होता। आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है उसका जो उपयोग बनेगा वह आत्माका ही एक भाव है। वह भाव उपयोग है। क्या शब्द दिया है ? जो चैतन्यका अनुविधान करने वाला परिणाम है वह उपयोग है। खाली परिणाम का नाम उपयोग नही और खाली चैतन्यका नाम उपयोग नही। केवल चैतन्य जीवका लक्षण नही और केवल परिणाम जीवका लक्षण नही। मुझमे चैतन्यस्वरूप है कि नही है और परिणाम बनता कि नही, जानकारी रहती कि नही। कुछ न कुछ जानता रहता है ना, वह है परिणाम। जानता न हो, परिणाम हो तो क्या वह उपयोग है ? परिणाम न हो, चैतन्य मात्र हो तो क्या वह उपयोग है ? इन शब्दोमे साख्य सिद्धान्तको चेतावनी है। इस सिद्धान्त मे आत्माका चैतन्यस्वरूप तो माना गया है—चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूप, मगर परिणाम नही माना। जो यह परिणाम है जानकारी रखनेका, यह सब प्रकृतिका धर्म माना गया है। दो पदार्थ है इस सिद्धान्तमे, प्रकृति और पुरुष याने आत्मा और जड वस्तु। तो ज्ञानादिक जितने भी परिणाम है ये जड वस्तुके परिणमन है, आत्मामे परिणमन नही होते। मेरा तो मात्र चैतन्यस्वरूप है। युक्तिसे विचारो, अनुभवसे समझो, परिणाम विना कोई सत् ही नही। देखिये—कैसे नपे-तुले शब्द है कि जिन शब्दोसे असाध्य सिद्धान्तोका निराकरण होता है और अपने आपमे कुछ उपलब्धि भी होती है। चैतन्यका अनुविधान करने वाला परिणाम उपयोग है। परिणामका भी बहुत जगह प्रयोग होता है। इसका परिणाम क्या है ? इसका परिणाम क्या निकलेगा ? इसका परिणाम तुम ही भोगोगे। वह परिणाम क्या है ? एक स्फुटन, एक व्यक्तपना। क्या व्यक्त होगा, क्या बीतेगी वह सब परिणाम। तो चैतन्यका अनुविधान करने वाला चैतन्यकी व्यक्तिरूप जो एक परिणाम है उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम किसका होता है ? उपलब्धु, यह शब्द डाला है। मायने आत्मा उपलब्धि करता है।

कुछ पाता है आत्मा। उस आत्माका है यह परिणाम उपयोग। देखो इसमे भी साख्य सिद्धान्तका संशोधन होता है। प्रकृतिका नही है परिणाम उपयोग, किन्तु उपलब्धः का है, पुरुषका है, चेतन आत्माका है। तो इतनी बात आयी कि आत्माके चैतन्यस्वरूपका अनुविधान करने वाले परिणामको उपयोग कहते हैं।

बाह्याभ्यन्तर कारण नाम देकर भी द्वय शब्द और लिखनेका तथ्य—उपयोग बनता कैसे है ? तो उसके लिए कहा है कि बाह्य और अन्तरङ्ग इस कारणद्वयके सन्निधान होनेपर यह परिणाम बनता है। देखिये जब कारणोका जिक्र किया जायगा तब आप यह परखते जायेंगे कि ऐसा कारण तो सब जीवोको नही मिलता। फिर उनका उपयोग कैसे बनेगा ? इसीलिए एक शब्द दिया है—यथासम्भव। जिन जीवोको जो हेतु मिल सकता है, मिलेगा और उसके सन्निधान होनेपर आत्माके परिणाम बनते हैं, जानकारियाँ चलती हैं प्रतिभास चलता है उसका नाम उपयोग है। अब कारणकी बात देखिये, क्या कहा गया—बहिरग और अतरंग, इस कारणद्वयका सन्निधान होनेपर कितने कारण कहे गए हैं ? दो—बहिरग और अतरग, लेकिन एक शङ्का यह हो सकती है कि जब दो कारणोंके नाम डाल दिये बहिरग और अन्तरङ्ग तो दो कारण तो अपने आप आ ही गए। फिर इसके बाद यह क्यो कहते है कि इस कारणद्वयके सन्निधानमे अगर इतना ही कह दिया जाय कि बहिरग और अन्तरङ्ग कारणका सन्निधान होना तो इसमे और उसमे क्या अन्तर आया ? और 'दो' शब्द डालनेकी जरूरत भी नही रहती। शब्द तो जितने कम बोले जायें उतना ही भला है। अर्थ पूरा आना चाहिए। तो इतना अगर कह दिया कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणोका सन्निधान होनेपर, तो भी वह ही बात थी और ऐसा कह दिया कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग इस कारणद्वयका सन्निधान होनेपर तो वही बात रही। द्वय शब्द और क्यो डाला इसके अन्दर ?

तो समाधान समझो—आचार्योंकी बात कोई व्यर्थ नही होती, उसमे कोई तथ्य होता है। यह व्यर्थ पडा हुआ द्वय शब्द यह सूचित करता है कि दो कारणोकी बात नही कही गई, किन्तु २ × २ = ४ कारणोकी बात कही गई। दो बहिरङ्ग कारण और दो अतरङ्ग कारण, ऐसे चार कारणोका सन्निधान होनेपर उपलब्धःके चेतनका सम्बन्ध रखने वाले परिणामको उपयोग कहते हैं। देखिये— आत्माके परिणामको उपयोग कहते है, इतना भर नही कहा, क्यो कि आत्माके परिणाम तो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि अनेक हैं, पर उन सबमे से जो चैतन्यका अनुविधान करता है उन परिणामोका नाम उपयोग है। चैतन्य मायने ज्ञान दर्शन, इन ज्ञान दर्शन गुणोके जो परिणाम हैं वह उपयोग है।

उपयोजनके दो बहिरङ्ग कारणोका वर्णन—हाँ कारणोकी बात सोचिये—बहिरङ्ग

कारण दो है और अन्तरङ्ग कारण दो है। हम आप जो जानकारियां किया करते हैं इसमे बोलो रोशनीकी जरूरत पडती कि नही ? नही है रोशनी तो नहीं जान पाते। और आँख वगैराकी भी जरूरत पडती कि नही ? आँख फूटी है तो नही देख पाते। तो आँखे भी बहिरग कारण है और दीपक भी बहिरंग कारण है। आँखें कोई आत्माकी चीज तो नही, जो द्रव्येन्द्रिय है वे तो जड है, भिन्न चीज है। तो बहिरग कारण दो रूपोमे आया। प्रकाशादिक और इन्द्रियाँ। इनमेसे इन्द्रियाँ तो आत्मभूत है और दीपक अनात्मभूत है। देखिये अपेक्षासे अर्थ समझना है। कही बहिरग कारण भी आत्मभूत होता है क्या ? न होना चाहिए, क्योंकि आत्मभूत है तो बहिरग क्यो और बहिरंग है तो आत्मभूत कैसे, लेकिन इसमे अपेक्षा लगाना है। इस प्रकार कि दीपक तो अत्यन्त भिन्न कारण है। उसका तो कोई आत्मासे किसी भी प्रकारका बन्धन नही और द्रव्येन्द्रिय बहिरग होने पर भी उस दीपक कारणकी अपेक्षासे ये आत्माके निकट है। आत्मा है, इन्द्रियमे आत्मप्रदेश है। द्रव्येन्द्रिय भी तो बाह्य निवृत्ति और अन्तरग निवृत्ति दोनोसे बनी है, तो प्रदीपकी अपेक्षा ये इन्द्रियाँ आत्मभूत हैं। आखिर जब दो कारण है एक प्रकाशादिक और एक इन्द्रिय तो उनमे कुछ फर्क नही है क्या भेद-अभेदका ? आत्मासे सम्बन्ध और असम्बन्धका। ऐसे दो बहिरग कारण होते है। उपयोग बनानेके लिए हमारी जानकारियां चलता। यह बात सर्वत्र ध्यान रखनी कि जो बात कही जा रही है यह सब जीवोमे घटित नही होती। क्या केवली भी इन्द्रियसे जानते है ? क्या उनको भी दीपककी आवश्यकता है ? औरको जाने दो, बिल्ली सिह आदिकको भी जरूरत नही प्रकाशकी, वे बिना प्रकाशके ही देखते रहते है, इसीलिए यथासभव शब्द दिया है। जहाँ जैसा सम्भव है उस प्रकार इन कारणोका सन्निधान होता है तब जीवका उपयोग चलता है।

उपयोजनके दो अन्तरङ्ग कारणोका वर्णन—अच्छा, अन्तरङ्ग कारण भी देखिये, अंतरंग कारण भी दो प्रकारके है– अनात्मभूत और आत्मभूत। यहाँ भी आप एक शंका कर सकते है कि अन्तरग है तो अनात्मभूत कैसे और अनात्मभूत है तो अन्तरग कैसे, लेकिन अपेक्षा तुलना करनेसे समस्याका समाधान स्वय होता है। अनात्मभूत अतरंग कारण है मन, वचन, कायकी चेष्टा, योग। मन लगे, ज्ञान करना चाहिए, कुछ यह प्रयत्न होता है, मन, वचन, कायमे कुछ, वह अन्तरग कारण है। मन, वचन, कायका प्रयत्न इन इन्द्रियोसे भी और नजदीककी चीज है इसलिए अतरग कारण है, पर जीवस्वरूपसे भिन्न है, अतएव अनात्मभूत है, किन्तु मन, वचन, कायके योगका निमित्त पाकर जो भावयोग होता है और साथ ही वीर्यान्तिराय और ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षयोपशमसे जो आत्मामे एक प्रसाद होता है निर्मलता और प्रसाद मायने अभिमुख होना, ऐसा जो प्रसाद है वह आत्मभूत अन्तरग कारण है। इस प्रकार दो प्रकारके बहिरग कारण, दो प्रकारके अन्तरग कारण, इनका यथासम्भव

सन्निधान होनेपर आत्मामे चैतन्यका सम्बन्ध रखने वाले जो परिणमन है, परिणाम है उसे उपयोग कहते है और यह उपयोग जीवका लक्षण है। यह इस सूत्रका अर्थ है।

उपयोगकी जीवलक्षणताका उपसंहार—अब तक यह बात कही गई है कि जीवका लक्षण उपयोग है और प्रकरणानुसार यो कह लीजिए कि स्वतत्त्वमय जीवका लक्षण उपयोग है। कभी उपयोग लक्षण है और स्वतत्त्व लक्ष्य है, क्योकि स्वतत्त्वकी जीवसे अभिन्नता है। जिस कालमे, जो भाव है उस कालमे उस भावसे जीव तन्मय है। उस जीवकी पहिचान करायी जा रही है, किस लक्षण द्वारा ? उपयोग द्वारा। उपयोग जीवमे सर्वदा पाया जाता है और चाहे ५९ किसी स्वतत्त्वमे हो, कषायमे हो, सम्यक्त्वमे हो, केवलज्ञानमें हो, अच्छे बुरे किसी भी भावमे जीव हो जीवमे उपयोग नियमसे है, ऐसा ज्ञान दर्शन सामान्यात्मक उपयोग जीवका लक्षण है। वह उपयोग कैसे उत्पन्न होता है ? उसका कारण भी बताया गया है—बाह्य कारण और अन्तरग कारण ये यथासम्भव मिल जाये तो आत्माके चैतन्यस्वरूपसे सम्बन्ध रखने वाला जो परिणमन होता है उसको उपयोग कहते है। सो देख लो जीवकी पहिचान उपयोग द्वारा ही हो पाती है। जैसे कोई पूछे कि बताओ कुर्सी, कागज, कलम आदि ये जीव है कि नही ? तो कहते है कि नही हैं, क्योकि ये जीव नही है, इनमे उपयोग नही पाया जाता, और बैल, घोडा, मनुष्य आदिक ये जीव है कि नही ? हाँ है। कैसे समझा कि इनमे उपयोग पाया जाता है। तो उपयोग कहो याजानना देखना कहो, जो चैतन्यसे सम्बन्ध रखने वाला परिणमन है वह उपयोग है और यह उपयोग जीवका लक्षण है, ऐसा अनेक युक्तियोसे सिद्ध किया गया है।

लक्षणका लक्षण तथा प्रकार—अब इस प्रसंगमे एक नई चर्चा आयी। उपयोगकी व्याख्या तो कर दी गई। अब सूत्रमे बचा हुआ जो दूसरा शब्द है लक्षण, बस लक्षणकी बात कही जा रही है कि लक्षण किसे कहते है। लक्षणका लक्षण है परस्पर मिले हुए पदार्थोंमे जिसके द्वारा भिन्नता ज्ञात होती हो उसको लक्षण कहते है। जैसे लोकमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी तो एक जगह मिल रहे है और अनेक तो ऐसे मिले हुए है कि बधनमे भी है, ऐसे अनेक पदार्थोंमे से जीवकी छाँट करें, जिसके द्वारा उसे जीवका लक्षण कहेगे याने जिसमे ज्ञान दर्शन है सो जीव। जिसमे उपयोग है सो जीव। तो अब देख लो, जीवके अलावा बाकी पदार्थ छूट गए ना ? वे लक्षणसे बहिर्भूत हो गए। तो परस्पर मिलावट होनेपर जिसके द्वारा किसी पदार्थकी भिन्नता जाँच ली जाय उसको लक्षण कहते है।

जैसे दृष्टान्तमे ले लो स्वर्णका लक्षण क्या है ? एक विशिष्ट पीलापन गुरुपन। पीला होकर भी वजनदार होना यह स्वर्णका लक्षण है। अग्निका लक्षण क्या ? गर्मी। और छतरी वालेका लक्षण क्या ? छतरीका सम्बन्ध होना। तो बहुतसे पदार्थ जहा

हैं, उनमे से किसी पदार्थकी भिन्नता जिस चिन्हके द्वारा जानी जाय उस चिन्हका नाम लक्षण होता है तो ये लक्षण दो प्रकारके मिलेंगे, जिनसे पदार्थोंकी पहिचान बनती है। वे लक्षण कोई तो उस पदार्थसे अभिन्न होते जिनका लक्षण किया जाता, इसे कहते आत्मभूत तथा कितने भिन्न होते है इसे कहते है अनात्मभूत। जैसे अग्निका लक्षण गर्मी है तो यह आत्म-भूत हुआ, क्योंकि गर्मी अग्निसे अलग चीज नहीं है। गर्मीकी ही आत्मा, अग्निकी ही आत्मा। तो जैसे अग्नि और गर्मी ये भिन्न नहीं है, तो यह लक्षण कौनसा कहलाया ? आत्मभूत। कोई लक्षण अनात्मभूत होता है याने लक्ष्यमे मिला हुआ नही, लक्ष्यसे न्यारा है। जैसे टोपी वालेका लक्षण क्या है ? टोपी। जो टोपी लगाये हो सो टोपी वाला। तो वह टोपी उस आत्मामे मिली है क्या ? न्यारी है। अलग अपनी सत्ता रखने वाली टोपी इस मनुष्यके साथ संसर्गमे है इसलिए इसे टोपी वाला कहा जाता है। डंडा वाला, छतरी वाला, केले वाला—तो ये भिन्न लक्षण है। लक्षण दो प्रकारके होते है कोई होता है आत्मभूत और कोई होता है अनात्मभूत।

होना पडेगा। तो बच्चे वालेका लक्षण है बच्चा। तो यह आत्मभूत है कि अनात्मभूत ? अनात्मभूत और वाहियाद अनात्मभूत।

जीवके लक्षण उपयोगकी आत्मभूतता—लक्षण दो प्रकारके हुआ करते हैं—कोई आत्मभूत और कोई अनात्मभूत। तो यहा जो बताया जा रहा है सूत्रमे उपयोगो लक्षण, जीवका लक्षण उपयोग है, सो यह बतलावो कि आत्मभूत लक्षण है या अनात्मभूत ? यह आत्मभूत है, क्योकि जीवका जो चैतन्यस्वरूप है उसीका ही तो यह उपयोग है। वह जीवसे निराला नही है। देखो निरालेपनका यह परिचय है कि वह रहे अन्य प्रदेशमे, यह रहे अन्य प्रदेशमे। जीव तो रहता हो अपने प्रदेशमे, उपयोग रहता हो इससे अतिरिक्त प्रदेशमे तब तो समझो कि ये भिन्न है। किन्तु जीव व उपयोग एक ही जगह है, एक ही आधार है, एक ही स्वरूप है, तो उपयोग जीवका लक्षण है, इसे कहेगे आत्मभूत लक्षण। मेरा स्वरूप ज्ञानदर्शन है, उसका जो व्यक्त रूप है, परिणाम है वह उपयोग है। ज्ञान दर्शनका उपयोग क्या ? जानकारी होना, प्रतिभास होना। उपयोग विशेपको जीवका लक्षण नही कह सकते। जैसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान ये जीवके लक्षण नही है। यद्यपि जीवमे पाये जाते है, किन्तु यदि श्रुतज्ञान जीव का लक्षण कह दिया जाय तो जिसमे श्रुतज्ञान नही है वह अजीव बन बैठेगा। भगवानमे श्रुतज्ञान नही है तो वे अजीव हो जायेंगे। केवलज्ञान जीवका लक्षण नही है, क्योकि जहा केवलज्ञान न हो वे अजीव हो जायेंगे, हम आप अजीव बन बैठेंगे। सो उपयोगविशेष जीवका लक्षण नही, किन्तु उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है। चाहे सिद्ध भगवान हो, चाहे ससारी हो, निगोद हो सबमे उपयोग पाया जाता है।

सही लक्षणका परिचय—अच्छा थोडा अब लक्षणके परिचयकी बात समझिये। लक्षण सही कौन कहलाता है ? लक्षण मायने एक पहिचान, जिससे पदार्थोंकी परख होती है। जानते सब हैं, चाहे कोई मुखसे नही बता सके, मगर परखमे सब है।

अच्छा बतलाओ चनेका लक्षण क्या है ? आप कहेगे कि जो गोल हो सो चना, तो बात नही बनी। जिसमे नोक निकली हो सो चना। यह भी बात नही बनी। गोल हो, नोक निकले हो, किनारे निकले हो सो चना, तो यह भी बात नही बनी, कितना ही बोलते जायें आप मुखसे न बोल पायेंगे, मगर परिचय जरूर है। चना देखकर कह उठते ना, यह है चना। लक्षण बिना परिचय नही बनता है। तो वह लक्षण निर्दोष कौनसा है जिससे कि लक्ष्यकी पहिचान हो ? लक्षण ऐसा होना चाहिए कि जिसका लक्षण किया जाय वह सबमे पाया जाय और उसके अलावा अन्य किसीमे न पाया जाय। वह लक्षण सही होता है। जिसका लक्षण किया जाता है उसका नाम क्या है ? लक्ष्य। और जिस पहिचान द्वारा लक्ष्य को पहिचाना जाता है उस पहिचानका नाम क्या है ? लक्षण। लक्ष्य और लक्षण—ये दा

बातें समझना।

जैसे अग्निका लक्षण गर्मी, तो लक्षण क्या हुआ ? गर्मी होना। लक्ष्य क्या हुआ ? अग्नि। जैसे जीवका लक्षण उपयोग। लक्षण क्या हुआ ? उपयोग, लक्ष्य क्या हुआ ? जीव। तो लक्षण पूरे लक्ष्यमे रहे और लक्ष्यको छोडकर अन्यमे न रहे, मायने अलक्ष्यमे न रहे। जो हमारा लक्ष्य नही है, जिसका हम लक्षण नही कर रहे उसमे वह न पाया जाय तो लक्षण सही है। तो देखलो उपयोग लक्षण सब जीवोमे है। कोई जीव छूटा नही और जीवके अतिरिक्त अन्य किसीमे है ही नही, मायने अलक्ष्यमे नही है, पुद्गलमे नही, धर्ममे नही, अधर्म, आकाश, कालमे नही, इस कारण जीवका लक्षण उपयोग किया है वह बिल्कुल सही है। तो लक्षण वही सही कहलाता जिसमे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नही है। अव्याप्ति मायने क्या हुआ ? पूरा लक्ष्यमे न रहना, इसको कहते है अव्याप्ति। अ मायने नही, व्याप्ति मायने रहना, कुछ रहना, पूरा लक्ष्यमे न रहना इसका नाम अव्याप्ति है, यह दोष है। अगर उपयोग लक्षण ज्ञान दर्शन सामान्य सब जीवोमे न होता तो उपयोगको जीवका लक्षण नही कहा जा सकता। चूंकि उपयोगसामान्य सब जीवोमे पाया जाता है, इस कारण उपयोग जीवका लक्षण है और यदि उपयोग जीवके अलावा अन्यमे जीव पुद्गलमे रहता, धर्ममे रहता तो अतिव्याप्ति दोष होता। फिर उपयोग जीवका लक्षण न कहलाता। सो देखो उपयोग जीवको छोडकर अन्य किसी पदार्थमे नही है। न पुद्गलमे, न धर्ममें, न अधर्म मे बस असभव दोष तो इन दोनोके लक्षणसे ज्ञानमे आ जायगा। लक्षण लक्ष्यमे रहे ही नही उसे कहते हैं असम्भव दोष। जैसे कह दें कि जीवका लक्षण है रूप रग होना, यह बिल्कुल असम्भव है। जीवमे रूप रंग होता ही नही है।

जीवके विशुद्ध लक्षणकी चर्चा—अब देखो अगर और गहरी दृष्टिसे पहिचानना हो तो जरा बतलावो जीवका लक्षण लो। कषाय है क्या ? जहाँ कषाय हो सो जीव। जो कषाय करे सो जीव, जो क्रोध मान, माया, लोभ करे सो जीव। आप कहेंगे कि कभी यह जीव क्रोध करता और कभी क्रोध नही करता। पर घमडसे बैठा है या मायाचारसे बैठा है, अन्य किसी कषायमे है तब तो वह जीव अजीव बन जायगा। अगर जीवका लक्षण घमड करो तो जब घमडमे नही है, लोभमे लगा है तो वह अजीव बन जायगा। इससे क्रोध, मान, माया, लोभ ये जीवके लक्षण नही है, किन्तु कषाय सामान्य जीवका लक्षण है, ऐसा कोई कहे तो क्यो कि कषाय सबमे पायी जा रही है, क्रोध है तो कषाय, मान है तो कषाय, तो यह जीवका लक्षण बन जायगा। बताओ यह बात ठीक है क्या ? कषाय करना यह जीवका लक्षण नही है, क्योकि कषायरहित जो जीव है, बडे योगीश्वर या अरहंत सिद्धभगवान, फिर तो ये अजीव बन बैठेंगे। कषाय जीवका लक्षण नही। अच्छा अब जरा और किसी दृष्टिसे पहिचानें

यह तो हुआ एक लक्षण दीपके कायदेके मुताबिक । अब यहाँ स्वरूपसे पहिचाने कि जब कषाय जीवमें उत्पन्न होते और कषाय स्वतत्त्व है, जीवके स्वतत्त्व ५३ कहे हैं, उनमे कषाय भी तो है । तो जब कषाय भाव जीवका स्वतत्त्व है तो उसे फिर लक्षण क्यो नही कहते ? अब न्याय-विधानकी दृष्टि छोड दो, हम न्यायकी युक्तिसे बात नही करते, हम सीधी बात करते हैं कि जब जीवमे कषाय पायी जा रही है तो वह जीवका लक्षण क्यो नही ? तो अब जरा बहुत गहरे उतरकर लक्षण बनाओ, जो जीवमे अपने आप सहज अपने ही अस्तित्वसे पाया जाय सो जीवका लक्षण । और जो परके सम्बन्धसे, परके प्रभावमे जो बात बनती हो वह जीवका लक्षण नही । अब अध्यात्मपद्धतिसे जीवके लक्षणकी बात समझिये । जैसे कि समयसारमें जीवाधिकार और अजीवाधिकारमे बताया गया है । जीवका लक्षण सहज चैतन्यस्वरूप है ।

औपाधिक भावोकी जीवलक्षणता न होनेका कारण—बात यह होती है कि जब जीव कषायभाव करता है तो उस समय उसके कषाय भावका निमित्त पाकर जो अनेक कार्माणवर्गणायें लगी है जीवके साथ वे कर्मरूप परिणम जाती है । मायने ऐसा सूक्ष्म पुद्गल अणु मैटीरियल कि जो वज्रसे भी न छिदे, इतनी सूक्ष्म कार्माणवर्गणा है, सो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीव मिथ्यात्वमे हो, कषायमें हो तो वे कार्माण कर्मरूप बन जाते हैं, मायने उनमे अनुभाग बन जाता है, वे पिंडरूप हो जाते है, कर्म खुद बिगड जाते हैं, कर्म अपने असली पहले स्वरूपमे नही रह पाते । जो विस्रसोपचयकी दशामें हैं उनमे स्वयं एकत्व था । आप जब बहुत बढिया लड्डू बनाते हैं तो आप भी बिगडते और लड्डू भी बिगडता । आप तो ऐसा बिगडते कि आपकी शकल उस समय बिगड जाती है, विश्वास न हो तो उस समयकी फोटो खिचाकर देख लो और लड्डू भी बिगडता कि नहीं, मुँह खाकर देख लो । यो ही जब जीव कषाय करता है तो जीव भी बिगडता और कर्म भी । जो कर्म सम्बन्धमे आये उन कर्मोंमे बहुत बिगाड हुआ, अनुभाग पडा, प्रकृति व्यक्त हो गई, स्थिति बन गई, जीवके साथ बन्धन हो गया, उसमें भी तो बहुत बिगाड हुआ, पर कर्म बेचारे जड हैं, सो जैसे चौकी जल जाय तो चौकीकी बलासे । उसे क्या कष्ट है ? चौकी तो बोलती नहीं मगर कोई यदि चौकीकी ओरसे बोले तो वह यही कहेगा कि हमारा तो कुछ भी गया नहीं । न रही चौकी, राख बन गई, चौकी रहती तो जो चाहे उसपर बोझा रखता, हम तो बच गये, राख बन गए हैं । पुद्गल तो यों बोलता नहीं, उसकी ओरसे कोई यदि ऐसा बोल सकता है अथवा यों कहो कि दुष्ट और सज्जनमें जब लड़ाई हो जाय तो लोग कहते हैं कि इसमें इस दुष्टका क्या बिगाड ? वह तो बिगडा ही है । बिगाड तो इस सज्जनका है । तो कर्मबंध हुआ तो कर्मोंमें बहुत खराबी हुई, अनुभाग बना और उसका प्रभाव तो बताओ कि जब जीवमें कषायभाव बनता है तो यहाँ तो घबड़ाहट है, [illegible] है, अशान्ति है ऐसा सब यहाँ

में भी है, क्योकि उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर ही तो यह हुआ है। दर्पणके सामने ४–५ रंगका रंगा हुआ कपड़ा रखा है तो दर्पणमे जो ४–५ रगका फोटो है उसको देखकर आप यह कहेगे ना कि वह कपडा भी उतने ही रंग वाला है। जिसका कि निमित्त पाकर दर्पणमे यह यह फोटो आयी। तो इसी तरहसे जीवमे जितनी अपवित्रता है, जो क्षोभ है, जो खराबी है, वैसी वही सब कर्ममे है, क्योकि कर्मका अनुभाग जब खिलता है तो चूँकि जीव और कर्मका अधिकरण बाह्य आधार एक है, निमित्त बन्धन रूपमे भी एक है तो वह सब इस उपयोगमे प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन एक आक्रमण है, तिरस्कार है, अधकार है। यह जीवका स्वरूप नही।

कर्मानुभाग प्रतिफलन व चैतन्यस्वरूपमें भेदविज्ञान करनेकी महिमा—देखो पूर्वबद्ध कर्मके अनुभागका जो यहाँ खेलन हुआ, खिलना हुआ वह प्रतिफलन प्रकाशके रूपमे नही, किन्तु अधेरेके रूपमे, तिरस्कारके रूपमे, बस यहाँ जो भेदविज्ञान कर सका सो तो सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी जीव है, उसको फिर किसी प्रकारका कष्ट नही। जो यहाँ भेदविज्ञान न कर सका वह कहाँ करेगा? जैसे कोई बहुत ढालकी गली होती है, ऐसी कि जिसपर कोई गाड़ी मोटर चले तो एकदम लुढकती चली जाय। तो किसी एक ऐसे टीलेपर से वह गाड़ी चलनेको हुई कि वही अगर आप ब्रेक लगा सकें, रोक सकें तब तो भला है और वही अगर न रोक सके तो वह तो ऐसा वेग है कि फिर आगे रोकना कठिन है। जो अपने आपके अन्दर इस उपयोगमे कर्मानुभागका प्रतिफलन है उसमे और जीवका स्वभाव चेतना—इनमे भेद नही डाल सकते और वहाँ लगाव बना दें तो उस लगाव बननेके बाद यह अधीर होकर पञ्चेन्द्रियके विषयोमें लिप्त होता है, दुःखी होता है और दुखी होकर कदाचित् ऊबकर यहाँ भेदविज्ञानका प्रयास करें कि यह मेरा नही, इन विषयोंसे मेरा क्या मतलब? इस धनसे मेरा क्या मतलब? तो यहाँ भेदविज्ञान करनेमे बहुत श्रम लगा रहा है, मगर सफल नही हो पा रहा, क्योकि मूलमें ब्रेक न लगा सका। मै चेतन हू और यह ठाठ, यह माया, छाया, यह फिसाद यह कर्मका प्रतिफलन है। यहाँ जिसने भेद किया उसे सर्वत्र भेद है।

उपयोगविशेषकी जीवलक्षणरूपता न कहकर उपयोगसामान्य को जीवका लक्षण कहनेमे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य—अब यो समझो कि ये कषाय जीवके लक्षण नही हैं। अच्छा कषाय तो जीवके लक्षण नही, मगर जो फुटकर हमारी जानकारियाँ चल रही, वह ज्ञान तो हमारा लक्षण होगा? हम जान रहे हैं कि यह मन्दिर है, यह चौकी है, यह अमुक है, जान रहे, जो ऐसा जाने सो जीव। और उसके द्वारा हम सबकी परख भी कर लेते हैं तो ये विशिष्ट जानकारियाँ ये मेरे लक्षण हैं कि नही? जीवके लक्षण है कि नही? नही है, क्यो नही हैं कि इनमे अव्याप्ति दोष है, एक बात, यह तो हुआ न्यायशास्त्रके अनुसार उत्तर। चूकि ये

विशिष्ट जानकारी, यह उपयोग विशेष सब जीवोमे नही रह रहा। सिद्धमे कहाँ ऐसी बात है ? आप लाल मिर्च खाना अच्छा मानते, मजा मानते, तो ऐसी जो जानकारी है सो आपके हो रही और के तो नही हो रही, और तो लाल मिर्चसे घबडा जायेंगे। अच्छा रही जानकारियाँ, वैषयिक जानकारिया ये पवित्र आत्माओमे कहाँ हैं, अरहत सिद्धमे कहा है ? यह अव्याप्ति दोष है। यहां है अव्याप्ति दोष, न्यायशास्त्रके अनुसार तो यह उत्तर हुआ, मगर सोधे सादे मैदानमे उत्तर देते है अपने आपकी मूलका। ये जानकारिया जीवका लक्षण नही, क्योकि ये जानकारिया जीवमे सहज अपने ही अस्तित्वके कारण परके ससर्ग बिना होती नही है, इसलिए जीवका लक्षण नही। फिर कैसे होती है ? ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो, मन, वचन, कायका योग हो, इतने फिसादोके बीच ये हमारी आपकी जानकारिया बन रही है, ये जीवके स्वरूप नही हैं। तो जीवका स्वरूप क्या ? अनादि अनन्त अहेतुक जो जोवका स्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है, सहज ज्ञान दर्शन है वह जीवका स्वरूप है। निश्चयसे तो उत्तर यह आया और व्यवहारसे कहो, पर्यायसे कहो, उत्तर यह आया और व्यवहारसे कहो, पर्यायसे कहो, उत्तर यह आया कि उपयोग जीवका लक्षण है। यहाँ देखो उपयोगमे और सहज चैतन्यमे अन्तर आ गया, मगर उपयोग निरन्तर रहता है, इस कारण जीवका लक्षण उपयोग बताया है। यह उपयोग सामान्य जीवका लक्षण है।

जीवके लक्षणपर विचार—जीवका लक्षण क्या है ? इसपर विचार चल रहा है। बात यह आयी कि जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है। यद्यपि उपयोगके विशेष हैं, पर उन विशेषोको जोवका लक्षण न कहा जायगा, किन्तु वह स्वतत्त्व है यह कहा जायगा, क्योकि लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोपसे रहित होना चाहिए। वह उपयोग विशेष चाहे मतिज्ञान हो, श्रुतज्ञान हो और चाहे केवलज्ञान हो, इसको अगर जीवका लक्षण कहा जायगा तो अव्याप्ति दोष आयगा मायने केवलज्ञान सब जीवोमे तो नही, मतिज्ञान सब जीवोमे तो नहीं, किन्तु उपयोग सामान्य चाहे कोईसा भी उपयोग विशेष हो, पर उपयोग अवश्य रहेगा। इस कारण जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है, उपयोग विशेष जीवका लक्षण नही। इस बातका समर्थन अभी अनेक प्रकारोमे आ चुका है और यह भी बताया गया कि यह उपयोग विशेष मतिज्ञान होना, श्रुतज्ञान होना आदिक ये यथासम्भव बहिरंग और अन्तरग कारण मिलनेपर हुआ करते है सो यथासम्भव है ना, वही यह बात बतलाते हैं कि कारणोंके अनुसार उपयोग मे विशेषतायें हैं, मगर कुछ भी कारण मिले, न उससे मतलब, कोई भी उपयोग विशेष हो न उससे मतलब, किन्तु जब जीवका स्वभाव चैतन्य है तो उस चैतन्यका उपयोग निरन्तर चलता ही रहता है। उपयोग बिना कोई पदार्थ ठहर ही नही सकता। उसका यह अर्थ नही कि दूसरा उपयोग उठाये तो उपयोग है। परिणामका नाम उपयोग है। तो जीवके चैतन्यका

जो परिणमन है उसे उपयोग कहते है और यह उपयोग जीवका लक्षण है ।

जीवके लक्षण उपयोगमें व जीवमें भेद अभेदकी चर्चा—अब जरा थोडेसे और न्याय के काट-छाटमे आइये । क्या बताया है ? जीवका लक्षण उपयोग है और यह लक्षण आत्मभूत है या अनात्मभूत ? तो क्या बताया ? आत्मभूत है । अब यहाँ एक शका उठती है कि हमको तो उपयोग लक्षण आत्मभूत नही जंचता, क्यो नही जचता कि उपयोग गुण है । जो गुण है वह ही गुणीसे अलग रहा, अगर यह आत्मभूत होता तो एकको गुण कहना, एकको गुणी कहना, यह पक्षपात क्यो ? जो आत्मभूत हो गया, जो एकमेक हो गया अब उसमेसे यह कहना कि यह तो गुण है, यह गुणी है । तो कुछ तो फर्क आया । किसीकी महिमा बढा दी, किसी की महिमा घटा दी । कोई प्रधान बन गया, कोई अप्रधान बन गया । जैसे किसीका कोई नौकर बहुत ही आज्ञाकारी हितकारी है, आप साथमे जा रहे है, आपको तो पहुँचाने जा ही रहा है, किसीने रास्तेमे कहा कि यह आपका कौन है ? तो आप कहते है कि यह हमारा ही आदमी है । कहा तो बडी शानसे कि मानो एकरसपना हो जाय और अपमानजनक शब्दोमे न आये, बोला तो सम्मानजनक शब्दोमे यह हमारा ही आदमी है, मगर इतना भी कहनेमे आयी तो अपमानकी झाँकी । शब्दमे जो वाच्य है वह तो बन गया महान और जिस को आदमी कहा वह बन गया हलका ।

जीवका लक्षण है उपयोग, तो भले ही आत्मभूत कहकर बताया जाय, लेकिन आत्मभूत होता तो दोनोका एक रसपना होना चाहिए था । यह भेद पड गया । इसमे तो लक्षण की आत्मभूतता न रही । वह हल्कापन आया । वह जीवका सेवक बन गया । तो गुण होने के कारण हम जीवका लक्षण उपयोगको आत्मभूत नही कह सकते । समाधान यह है कि जब किसीका लक्षण किया जाता हो और वह लक्षण उसके लक्ष्यसे अत्यन्त अभिन्न है तो भी उनमे भेद डाले बिना उसकी बात नही कही जा सकती, इसलिए गुणगुणी मात्रका भेद है । आत्मभूत जीवका लक्षण उपयोग याने प्रतिभास जानना देखना ये अभिन्न है कुछ, तब फिर शकाकारका यह कहना है कि हम तो इसे भिन्न ही मानेंगे । जीव अलग है, गुण अलग है, यह गुणी है यह गुण है, ये भिन्न होनेसे आत्मभूत नही है । कहते है कि एकान्तभेद न करें गुण और गुणीमें कथचित् अभेद है कथचित् क्या है तो अभेद ही, मगर समझानेके लिए एक अभेद वस्तुमे लक्ष्य लक्षणका भेद किया जाता है । जीवका लक्षण उपयोग है और वह जीव में ही है ।

निज सहजचित्प्रकाशमें अहंप्रत्यय होनेकी महिमा—जो जीव अपने निधानमे दृष्टि नही करते वे ससारमे पुण्य पापके फलमे अटके रहते है और वे वास्तविक शान्ति नही पाते । अपनेसे बाह्यमे दृष्टि लगे तो वह बाह्य प्रसंग चाहे कितना ही भला मिले, लेकिन उसे ? ह :-

सन्तोष नही हो सकता। आखिर वैषयिक सुखोको भोगकर बाह्यमे दृष्टि यहाँ वहाँ डालकर अज्ञानी जीव तो आकुलित ही रहते है। ज्ञानी जीव उसका प्रायश्चित करता है। अगर ज्ञान है, बुद्धि है, विवेक है तो अवश्य वैषयिक सुखोमे लगनेके बाद वह पछतावा करेगा कि ये जीवनके अमूल्य क्षण मैंने यो ही गवाँ दिए। बाहरकी दृष्टि हटाकर, बाहरमे अपने सम्मान अपमानका विकल्प न करें। अगर बाहरी सम्मान अपमानमे अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे उल्टे चलते हो तो यह है मेरा अपमान। लौकिक अपमानमे क्या दड मिलेगा? अधिकसे अधिक लोग यह कहेगे कि यह कुछ नही है, इससे अधिक कोई दण्ड नही दे सकता, पर यह आध्यात्मिक अपमान यदि अपना कर रहे हैं, अपने आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे चिग कर बाह्य विषयोका आश्रय लेकर कर्मफलमे अगर हम डूब रहे है तो यह है अपने इस अन्त आत्माका अपमान। इस अपमानका फल है नरक, निगोद, तिर्यंच, कीट, स्थावर आदि खोटी योनियोमे जन्म होना।

तो लौकिक सम्मान अपमान महत्त्वकी चीज है या आध्यात्मिक सम्मान अपमान महत्त्व रखता है? जरा विचार करो। आज जितनी यह मन वाली दुनिया है ये सब प्रायः लौकिक सम्मान अपमानमे अपना सारा निर्णय रखते है और तभी धनकी तृष्णा होना, जरा जरासी बातमे लडाई होना, अपमान महसूस करना—ये सारे ऐब, ये सारी आपत्तिया क्यो आ रही हैं? जो अपने अतस्तत्त्वका अपमान करता है उसपर खडे बैठे हर जगह अनेक आपत्तिया आयेंगी ही और जिसने अध्यात्म सम्मान किया, अपने आपकी दृष्टिमे अपने सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमे लिया, यह हू मैं, उसको संतोष मिलता है। बस धर्मकी जड इतनी है, फैलाव बडा है। जड तो मूलमे छोटी ही होती है। धर्मकी मूल क्या है? यह समझमे आ जाय कि अपने सहज चैतन्यस्वभावको निरखकर ज्ञान द्वारा ज्ञानमे यह बात स्वीकार हो जाय कि मै तो यह सहज चैतन्यस्वरूप हू, अन्य कुछ नही हू, बस वह धर्म है। अब उसका धर्म चलेगा, मोक्षमार्ग बनेगा, मुक्तिके निकट जायगा, सदाके लिए जन्ममरणके सकटोसे छूट जायगा। मूलमे यह बात करनी है कि अपनी ही दृष्टिमे अपना यह चैतन्यस्वभाव नजरमे आये, अनुभवमे आये और यह स्वीकार हो जाय कि मै तो यह हू।

सहज परमात्मतत्त्वके निर्णयमे कष्टजालका अनवसर—कोई नाम लेकर थोडी निन्दा करता है तो यह घबडा जाता है, बौखला जाता है, तमतमा जाता है, आँखें लाल हो जाती है। यह क्या है? अज्ञानकी लीला है। भले ही आप कहे कि जब गृहस्थीमे रहते हैं तो कुछ थोडा दिखाना तो पडेगा, नही तो ऐसी दशा हो जायगी कि जैसे एक सांपको किसीने उपदेश दिया कि तुम बिल्कुल शान्त रहा करो। तो वह बिल्कुल शान्त हो गया। अब उसे हर एक कोई पकडे, घुमाये, छेडे, मारे, वह बेचारा सांप बडा परेशान होकर

अपने उपदेशकके पास पहुचा और बोला—महाराज जबसे आपने हमें उपदेश दिया कि तुम शान्त रहो तबसे हमपर बडी विपत्तियाँ आ गई है। क्या विपत्तियाँ आ गई ?…महाराज कोई पकडता है, कोई घुमाता है, कोई मारता है, हम बडे परेशान है। तो उपदेशकने कहा—देखो हमने तुम्हे कहा कि तुम शान्त रहो, उपद्रव न करो, हमने तुम्हे फुकारनेके लिए मना नही किया। अब क्या था, जो भी साँपके पास पहुचे तो झट वह फुकार मारे, सभी लोग डरकर उसके पाससे भागे। तो भाई ऐसे ही समझो उपदेश है गृहस्थोको कि तुम शान्त रहो, पर मुनि जनो जैसा शान्त होकर तो गृहस्थ नही रह सकते। उनके सामने अनेक झझट है, तो उन्हे कुछ झुँझलाहट जैसी बातें करनी पडती है। ठीक है, करें, दिखावटी किसी समय शान रख ले, प्रयोजन ही तो है, मगर उसे यह मत समझें कि यही मेरा सर्वस्व है, मेरा महत्त्व इसीमे है, इन सबको कलंक समझें। जितने गृहस्थीके प्रसग है करते हुए भी—दूकान भी करते हैं, परिजनोसे भी बोलते है, सब कुछ करते हुए भी समझे यह कि यह तो मेरे लिए कलक है। तब फिर सही तत्त्व क्या है ? सही तत्त्व है—मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। यह मैं हू। और ऐसा मै देखता रहू तो काम क्या होगा ? ऐसा काम होगा कि दुनियाकी समझ मे न आयगा, दुनिया तो यह जानेगी कि यह तो प्रमादी है, ठलुवा है, कुछ करता नही, कायर है, लेकिन कार्य होगा वह जो स्वभावमे मिल जायगा और इसलिए वह विशिष्ट न हो पायगा, पर अन्तः ही अनन्त आनन्दके स्वरूपकी झाँकी आयगी—मैं यह हू।

सहज अतस्तत्त्वके बोध बिना चेष्टाओकी मात्र परिश्रमरूपता—दुनियामे घूम-घूमकर कुछ भी चेष्टायें कर लो, कुछ भी काम कर लो, लेकिन सतोष कही नही है। मोहको नीदमे स्वप्न भले ही दिखेंगे कि मैं बहुत अच्छा हू, मै अब नेता बना हू, मेरी बहुत प्रतिष्ठा है ·, कुछ समझ भी रहा, मगर यह तो बडी विपत्ति है, बडी विडम्बना है। उसने अपने लिए तो कुछ नही किया। आत्मज्ञान बिना सब बेकार बातें हैं इस आत्माके लिए, आत्मकल्याणके लिए। तो वह आत्मा क्या है ? उसका ही एक प्रकरण चल रहा है। हम आत्माको पहिचाने किस तरह ? आत्माको पहिचानें उपयोग द्वारा, जिसमे प्रतिभास है, समझ है, जानन-देखन चल रहा, ऐसा एक अमूर्त आत्मा हू मैं। और वह इस ही अपनेमे है, अपनेसे बाहर नही है। कुछ क्षण यदि अपने आपमे कुछ भी लीन होनेका प्रयत्न न रखें और धर्मके नामपर बाहरी कुछ भी काम कर लिए जायें तो बाहर-बाहर ही भटकना रहा। जिस धर्मभावके कारण कर्मका विनाश होता है, निर्जरा होती है, सतोष होता है, मुक्तिके निकट पहुचते है वह बात रच भी नही पायी। और एक इस आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपकी झाँकी हो जाय तो आप धर्मके नामपर कही भी कुछ भी कर रहे हो उसमे धार्मिकता कई गुणित हो जायगी। आप रसोई बनाने बैठें तो आटा भी गूथो, पतीलीमे चावल भी डालो, रोटियाँ बनाकर तवेपर भी

डालो, रोटी पकनेका इतजार भी करो, बार-बार चूल्हा भी फूको, यो रोटी बननेके सारे प्रयत्न तो खूब कर डालो, पर एक जो रोटी बननेका मूल साधन अग्नि है वह न हो तो क्या रोटी पक जायगी ? नही पक सकती। आगके बिना तो यहाँ की जाने वाली सारी चेष्टायें व्यर्थ हैं, समय ही व्यर्थ खोता है, और सारा सामान खराब हुआ सो अलगसे। तो वहाँ रसोईघरमे मूल गल्ती क्या हुई ? रसोई बननेका जो मूल कारण अग्नि है उस अग्निका तो कुछ काम ही नही किया। तो इसी तरह हम कर रहे हैं सब कुछ धर्मके नामपर भी, गृहस्थी के नामपर भी, सामायिक, पूजा, पाठ आदिक, पर उनमे एक टाल मटोल ही रहा। मगर एक जो आत्मबोध होता है उस सम्यग्ज्ञानकी अग्नि पाये बिना हमारी मन, वचन, कायकी समस्त चेष्टायें परिश्रममे शामिल हुईं और जीवन बेकार गया वह अलगसे बात है।

यद्यपि व्यवहारमे तो कर्तव्य यह है ताकि और लोग भी दर्शन करें, स्वाध्याय करें, पूजन करें, वह परम्परा चले और इनमे रहकर कभी कोई सद्बुद्धि रखकर कुछ आत्मज्ञानको पावे, मगर जो आत्मज्ञानका उद्देश्य रखता ही नही इस ओरसे कुछ भी बात चित्तमे नही आती और करने करनेकी बात बनी हुई है तो उसका है यह फल, ऐसे रसोईकी चेष्टा करने वालेकी तरह। अपना उद्देश्य बनावें, चित्तमे लगन तो रखें कि हमको तो सहजपरमात्म-स्वरूपका अनुभव करना है, इसके लिए ही हम सब काम कर रहे हैं, इतनी बात चित्तमें आये तो उसका भी काम बनेगा।

जीवकी उपयोगात्मकताका प्रकाश—आत्मा क्या है ? उसके समझानेको यह सूत्र है—उपयोगो लक्षणं, मोक्षशास्त्रका द्वितीय अध्यायका। इसके बारेमे कुछ वर्णन तो हुआ था। अब यह चर्चा चल रही है कि वह उपयोग जीवसे अभिन्न है या भिन्न ? बताया अभिन्न, पर शकाकार यह कहता है कि हम तो भिन्न समझते है, क्योकि यह गुण है, आत्मा गुणी है। एक नैयायिक सिद्धान्त, मीमासक सिद्धान्त भी यह मानता है कि आत्मा अलग चीज है और गुण अलग चीज है। द्रव्य अलग, गुण अलग। यद्यपि थोडी बुद्धिमानी तो की उन्होंने, उसका समवाय सम्बध माना और अनादि सम्बध माना, लेकिन दृष्टि देखो कि अनादि सम्बध है याने ऐसा भी नही है कि ज्ञान पीछे आया हो, आत्मा पहलेसे। जबसे आत्मा है तबसे इसके साथ ज्ञान लगा है, लेकिन ज्ञान अलग पदार्थ है आत्मा अलग पदार्थ है और उसका एक समवाय सम्बध बन रहा है। ऐसा जैनशासनने नही स्वीकार किया। जैन-शासन कहता है कि आत्मा ज्ञानात्मक है, दो भिन्न पदार्थ नही है और तब ही ज्ञान कह दो तो आत्मा कहा गया और आत्मा कह दो तो ज्ञान कहा गया। जीव और ज्ञान—इनमे गुणगुणीका भेद समझाने भरके लिए है। कैसे लोगोको समझायें कि जीव क्या है ? कुछ तो कहना चाहिए। सो समझानेके लिए भेद किया गया है। कही पदार्थमे भेद नही पडा। जीव

ज्ञानात्मक है गुणगुणी भेद कथचित् अभिन्नमे बन सकता, भिन्नमे गुणगुणी बन ही नहीं सकता।

जो लोग कहते है कि ज्ञान अलग पदार्थ है, जीव अलग पदार्थ है उनके यहाँ गुण-गुणी की कल्पना ही नही बन सकती, क्योकि अगर भिन्न पदार्थोंमे गुणगुणीकी बात कही जाय तो कोई अटपट कह दे तो क्या है ? कोई कहे कि ज्ञान तो भीतका लक्षण है, ज्ञान तो पुद्गलका लक्षण है। जब अत्यन्त भिन्न है तो यह कैसे कहा जायगा कि यह लक्षण इसका है ? लक्ष्य-लक्षणभेद कथचित् अभिन्नमे होता है। यहाँ जीवका लक्षण उपयोग बताया है। वह उपयोग जीवसे न्यारा नही है, जीव ही उपयोगात्मक है। उपयोग जरा प्रसिद्ध है, जीव जरा अप्रसिद्ध है। तो प्रसिद्धके द्वारा अप्रसिद्धका ज्ञान कराया जाता है। लक्ष्य-लक्षण भाव बनानेका यह तथ्य है। जीवका लक्षण क्या ? ज्ञान। यह ज्ञान जीवसे अभिन्न है, भिन्न नही। भिन्न होता तो यह जीवका ज्ञान है, ऐसा कैसे कहा जाय ?

लक्ष्यसे लक्षणकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर लक्षणत्वकी अनिष्पत्ति—अगर कहो कि भाई जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं वे भी तो लक्षण बन जाते है। जैसे किसीने कहा कि जरा अमुक सेठजीको बुलाना तो वह दूसरा बोला—हम नही जानते कि अमुक सेठ जी कौन है ? अजी जो टोपी लगाये है वह। तो सेठजी का लक्षण टोपी हो गया। उसके द्वारा वह पहिचान लेगा कि यह है अमुक सेठजी। तो टोपी तो भिन्न चीज है। डडा वालेका लक्षण डडा। भिन्न है ना डडा। तो भिन्न भी तो लक्षण होता है, ऐसे ही जीवका ज्ञान जीवसे भिन्न रहा आये तो जीवका लक्षण बन जायगा। इसका उत्तर यह है कि लक्षण सर्वथा भिन्न होता ही नही। कोई न कोई रूपसे अभेद है, सम्बन्ध है, कुछ बात है, सम्पर्क है, ससर्ग है, अगर बिल्कुल भिन्न लक्षण बन सके तो यह लक्षण है, इसकी भी पहिचान नही बन सकती। लक्षण की लक्षणता कहनेमे यह दूसरा लक्षण जरूर बना देंगे जिससे यह समझ आ जायगी कि यह लक्षण इसका है तो फिर उसकी समझके लिए तीसरा बनावें और उसकी समझके लिए चौथा आदि लक्षण बनाते रहे तो पदार्थ समझमे न आयगा। इससे मानना पड़ेगा कि लक्षण लक्ष्यसे अत्यन्त जुदा नही होता है। अपनेको अनुभव करें, इन्द्रियका व्यापार बद करके, दृष्टि बद करके, सबका ख्याल छोडकर भीतरी अनुभव करें तो अपने आप समाधान होगा कि यह है सहजस्वरूप। बस वह ज्ञानसामान्य जीवका लक्षण है, यह बात इस सूत्रमे कही गई है।

आत्मपरिचयसे मुक्त्युपायका प्रारम्भ—ससारके सज्ञी जीव सकटोसे छुटकारा चाहते हैं और सदा सुखी रहे ऐसी सुख शान्ति चाहते है। जो सब चाहते हैं उसी बातका वर्णन इस मोक्षशास्त्रमे किया गया है। भला बतलाओ कि जो हमारी भावना है, जो हम चाहते है वही

बात यदि मिल जाय तो कितना अपने सौभाग्यकी बात है ? उस ग्रन्थमे मोक्षमार्गका वर्णन है याने ससारके सकटोसे छुट्टी पा लेनेके उपायका वर्णन है। तो वह उपाय क्या है, जिसको तुम सकटोंसे छुट्टी दिलाना चाहते हो ? उसका सही स्वरूप जान लें, बस इस उपायके बलपर सब उपाय बनते चले जायेंगे। मैं आत्मा क्या हू, सही अपने आप परके सम्बन्ध बिना मैं स्वय क्या हू ? तब यह निर्णय बनेगा। देखिये निर्णय बनता है अनुभवपूर्वक। अनुभवमे पार उतर आये तो वह सच्चा निर्णय कहलाता है। तो अपने आत्माके इस सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव हो, ज्ञान बने, विश्वास बने और फिर उसीकी धुन रहे, फिर बाह्य उपाय कुछ करने पडेंगे, क्योकि अनादिसे बहुत उल्टा यह जीव चला आया है। बाह्य उपाय नि सगता है, नि.सगता याने समस्त परिग्रहोका परित्याग। उस उपायसे फिर अपने आपमे रमण करने का काम करें। कर्म टूट जायेंगे, जन्ममरण टूट जायगा और शाश्वत सत्य शान्ति प्राप्त होगी ?

आत्मपरिचयके उद्यममें प्रकृत प्रयास—लो अब कराये आत्माका परिचय। अच्छा, हाँ आचार्योंने आत्माका परिचय कराया है किस ढगसे कि पहले यह जानें कि तुम जीव हो तो तुम्हारा स्वरूप तो बहुत सही है, चैतन्य है, पर तुम सत्य मान रहे हो, कोई तुम्हारे साथ दूसरी चीज लगी है, उसका नाम है अजीव। जीव और अजीवका जब संघर्ष है तो कैसा है ? पहले जीव अजीवका सम्बध बना, आस्रव आना हुआ, बध बना, उसके बाद उसका उदय उदीरणा रूपसे निर्जरा चली, जीवको संकट बन गया। तब क्या करना ? पहला काम यह करना कि आस्रव न बने, फिर बध न होगा, और निर्जरा सो चलती रहेगी, क्योकि जो परिणाम आस्रव और बधको ध्वस्त कर सकते हैं वे ही परिणाम पहले बाधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर देते है। लो अब सही मिल जायगा मोक्षमार्ग तो इन ७ बातोका वर्णन आवश्यक समझा गया। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, अच्छा इनका वर्णन चलेगा, मगर वर्णन चलानेसे पहले थोडी और भूमिका रह गई, क्या कि इन सबको जाननेके तरीके है क्या ? पहले तरीकोका निर्णय कर लिया, फिर उन तरीकोसे इसकी जानकारी बनावें तो वे तरीके मुख्य है प्रमाण और नय। इसीके अन्तर्गत फिर और उपाय बताये गए। एक प्रयोगात्मक सत्, सख्या, क्षेत्र, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, निर्देश, स्वामित्व आदिक, निक्षेप व्यवहारका तरीका, इन सब तरीकोका वर्णन पहले अध्यायमे हो चुका। अब इस तत्त्वका वर्णन चलना है तो दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन है। जो उपाय बताया गया वह भी जीवकी कला है, इसलिए पहले अध्यायको भी कह लीजिए जीवतत्त्वका वर्णन है, पर विधिवत् तो दूसरे अध्यायसे जीवतत्त्वका वर्णन है। अब जीवका परिचय पाना है तो परिचय पानेका उपाय पर्याय है, व्यवहार है, यह है प्रारम्भिक उपाय। हम किसी भी चीज

को अवस्थाओंसे ही तो परखेंगे। तो प्रथम जीवके स्वतत्त्व कहे गए। उन स्वतत्त्वोंमे पर्याय रूप भाव व एक जीवत्वभाव, वह एक द्रव्यदृष्टिका भाव है। तो स्वतत्त्वका भली-भाँति वर्णन हुआ। उसके बाद यह प्रश्न आया कि जिस जीवके ये स्वतत्त्व बताये जा रहे है, जिस जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावके रूपमें स्वतत्त्व बताये जा रहे है उस जीवका लक्षण क्या है ? पहिचान क्या है जिससे हम जीवको समझ सकें ? तो उसकी पहिचानको बताने वाला यह सूत्र है—उपयोगो लक्षरण। जीवका लक्षण उपयोग है। इस सम्बंधमे बहुत कुछ ज्ञातव्य बातें की जा चुकी है। आज एक नई आशका चलेगी। यह बताया था कि जीवका लक्षण उपयोग जो है सो जीवसे अभिन्न है। जीवका उपयोग याने ज्ञान दर्शन जीवसे अभिन्न है, अलग नही है। जो दार्शनिक अलग मानते है कि वे गुरण अलग है, पदार्थ अलग है उनका निराकरण हो चुका।

उपयोगकी जीवसे अभिन्नता होनेपर एक आशंका—आज यह बात चलेगी कि शंकाकार यह कह रहा है कि तुम उपयोगको जीवसे अभिन्न बतला रहे हो याने जीव उपयोगात्मक है। तो देखो जो पदार्थ यदात्मक है उसका उस रूपसे उपयोग न होगा। जीव अगर ज्ञानदर्शनात्मक है तो जीवका उपयोग ज्ञान दर्शनरूपसे हो नही सकता। कैसे ? उनका दृष्टान्त है—जैसे दूध, क्षीर। दूधका नाम क्षीर है, दुग्ध दुग्धात्मक है, दूध दूधरूप है, अभिन्न है, तन्मात्र है। वही तो है। तो दूध जब दूधमय है तो उस दूधका दूध रूपसे उपयोग तो नही होता, दही रूपसे होगा, और और रूपसे होगा, याने दूधका दही बनावे, और कुछ बनावे, और और तरहसे उपयोग होगा। दूधका दूध रूपसे क्या उपयोग है ? यह तो दूधरूप है ही। ऐसे ही अगर ज्ञान दर्शन जीवसे अभिन्न है तो जीवका ज्ञान दर्शन रूपसे उपयोग न होना चाहिए, अन्य रूपसे होता रहे, यह एक आशका रखी गई है। अच्छा अभी शंकाकार यह कहता जा रहा है।

अब दूसरी बात शंकाकारकी सुनो—जीव उपयोगात्मक है, उपयोगमय है तो यह कह रहे हो कि जीव उपयोग रूपसे परिणमता है और बताये जा रहे हो तदात्मक, एक रूप, तो जब एक रूप हो गया जीव और उपयोग तो दोनोंकी समान बात होनी चाहिए। हम यह कह देंगे कि उपयोग जीवरूपसे परिणमता है। तुम कह रहे हो जीवका लक्षण उपयोग है, हम कह बैठेंगे कि उपयोगका लक्षण जीव है। जब जीव और उपयोगको अभिन्न कह दिया, एक कह दिया उस मय है तब उसमे यह भेद कैसे हो सकता कि यह इसका लक्षण है ? यदि भेद डालेंगे तो हम उल्टी बात कहेगे। उसका क्या निराकरण ? तो यदि सर्वथा अभिन्न है जीव और ज्ञान दर्शन यह एकमेक है तो जीवका ज्ञानदर्शन रूपसे उपयोग नहीं बन सकता। ऐसी आशंका एक किसी दार्शनिकने रखो है।

जीवसे अभिन्न उपयोगके विषयमें की गई शंकाका समाधान—देखिये कुछ आपत्तिया युक्तियोपर निर्भर होती है और उनका निराकरण अनुभव करता है। और युक्तियाँ भी करेंगी। तो युक्तियोसे तो शंकाकारने ठीक निभा लिया। जो चीज जिसमय है। उसका उस रूपसे उपयोग नही हो सकता। दूध दूधमय है तो दूधका दूध रूपसे उपयोग क्या? अन्य रूपसे उपयोग होता है। युक्तियाँ तो आ गईं, मगर आपका हृदय स्वीकार नहीं करनेका। युक्ति ही तो है। तो उनमे जो निर्बलता है उसको प्रकट करना, समाधान करना, चूंकि जीव उपयोगमय है, जीवसे उपयोग अभिन्न है, इसी कारण जीवका ज्ञानदर्शनरूपसे उपयोग बनता है। जो जिस रूप है उसका उसी रूपसे उपयोग होता है, यह भी एक युक्ति है। यह कैसे समझा? अच्छा तो इससे उल्टी बात समझो। जो जिस रूप नही है, जो जिससे बिल्कुल जुदा है उसका उस रूपसे उपयोग होना सम्भव है क्या? जैसे आकाश और रूप। रूप तो पुद्गलका अभिन्न गुण है ना? रूप आकाशका तो गुण नही तो कभी आकाश रूपसे परिणम सकता क्या? नही परिणम सकता। क्यो नही परिणम सकता? आकाश बिलकुल जुदी चीज है, रूप बिल्कुल अलग वस्तु है। जहाँ भिन्नता है वहाँ तो यह सकते हो कि वह उस रूप नही परिणम सकता। जो अभिन्न होगा वही उस रूपसे परिणम सकेगा। शंकाकार क्यों उल्टी-उल्टी बात कह रहा? जीव ज्ञान दर्शनमय है, इस कारण जीव ज्ञान दर्शनरूपसे उपयुक्त होता है। साथमे दूसरी बात भी सुनो—शंकाकार खुद ठीक वचन नही बोल पा रहा। उसका यह कहना था कि दूध दूधात्मक है, इस कारण दूध दूधरूपसे उपयुक्त नही होता। दूधका दूध रूपसे उपयोग नही बन सकता, क्योंकि वह दूध रूप ही है। अरे भाई यह बात ठीक नही। दूध चूँकि दूधरूप है इसलिए उसका दूध रूपसे उपयोग चल रहा। देखो दूध क्या चीज है? गायने तृण खाया, पानी पिया, सो ये तृण जल आदिक जो दूध रूपताको प्राप्त होनेके सम्मुख पुद्गल है, वही तो दूध संज्ञाको प्राप्त होने वाला है। तो जिसमें दूध की शक्ति है उनसे अव्यतिरेक है, अभिन्न है, देखो वह दूध रूपसे परिणम रहा है ना। और अब दूध बननेके बाद भी वह दूध दूधरूपसे परिणमता रहता है ना। ऐसे ही आत्मा भी आत्मामे जो ज्ञानका स्वभाव है उस शक्तिकी व्यक्ति हो रही है। घट जाना, पट जाना, अमुक पदार्थ को जाना तो देखो हमारा यह ज्ञानस्वरूप, हमारी यह ज्ञानशक्ति इन इन पदार्थोंके जाननेके रूपसे परिणम रही है कि नही? स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानरूप है। तो वह ज्ञानरूपसे परिणमता है और ज्ञानरूपसे उपयोग चलता है। हाँ, जीव अगर भिन्न होता, जीव ज्ञानरूप न होता तो उसका ज्ञान उपयोग नही बन सकता। बात तो है यह और शङ्काकार उल्टी बात रख रहा है।

जो जिस स्वरूप है उसका उस रूपसे परिणाम न मानने वाले शङ्काकारका स्वयं

पतन— क्या कह रहा शङ्काकार कि जो जिस रूपमे है, जो जिस स्वरूप है वह उस रूपसे परिणमता नही, वह उस रूपसे उपयोग करता नही, तो ऐसा कहने वाले शङ्काकार बहुत बुरी तरहसे फसे। कैसे ? जरा हठ पर अड़ा रहा शङ्काकार। वह यह कह रहा है कि जो चीज जिस स्वरूपमे है, जिसमे तन्मय है उसका उपयोग उस रूपसे नही होता। उसका कहना यह है। तो अच्छा बताओ कि तुम जो वात कह रहे हो, कोई भी पुरुष जो भी बात कहता है बडे ढगसे युक्तिपूर्वक तो उसकी बातमे दो चीजें पायी जाती है। अपने पक्षका समर्थन करना, और विपरीत बातका खण्डन करना। बातमे ये दो गुण होते ना ? कोई कुछ बात रखे तो अपना समर्थन करे और दूसरेका निराकरण हो जाय। यह ही तो बात है। हमने कहा, घडी तो घडी है, यह बात बन जाय और कुछ नही है सो अन्यका निराकरण हो जाय। कोई भी बात बोलेगा तो उस बातमे ये दो तारीफ होती है—अपने पक्षका साधन करना और दूसरेके पक्षका दूषण देना। यह होता है समस्त उपदेशोमे। अब शङ्काकार इस बातपर अड गया कि जो जिस स्वरूपमय है उसका उपयोग उस रूपसे नही होता तो बताओ तुम्हारे वचन अपने पक्षके साधकरूप है कि नही ? तुम्हारी बात अपने पक्षको सिद्ध करने वाली है कि नही ? हाँ है। और दूसरी बातका निराकरण दूषण करने वाला है ना ? हाँ है। तो तुम्हारे वचन स्वपक्षके साधनरूप हैं, परपक्षके दूषणरूप हैं। ध्यान देनेकी बात है। जो भी आप बोल रहे हो, जो भी आप प्रस्ताव रख रहे हो, जो भी आप चीज बता रहे हो वह अपनी बातका समर्थन करने रूप है और अन्य बातका दूषण देनेके लिए है और साथमे यह भी कह रहे कि जो जिस रूप है उसका उपयोग उस रूप नही हो सकता, उसके खिलाफमे होगा, दूसरा रूप होगा। अच्छा देखो—तुम्हारे वचन तुम्हारे पक्षका साधकरूप हैं तो इनसे उल्टा हो जायेगा, क्योकि जो जिस रूप है उसका उस रूपसे परिणमन नही है, मायने अपने पक्षका दूषण रूपसे उपयोग बनेगा और दूसरेके पक्षका साधन करनेरूपसे उपयोग बनेगा आपका। तो आपको दोनों तरफसे मात खानी पडी। यह हठ न करो कि जो पदार्थ जिस स्वरूपमय है उसका उस रूप से उपयोग नही होता बल्कि यह कहो कि जो पदार्थ जिस स्वरूप है उसका उसही रूपसे उपयोग होता है, दूसरे रूपसे नही। जीव चूंकि ज्ञान दर्शन रूप है इसलिए जीवका उपयोग ज्ञान दर्शनरूपसे ही होता है। जानन देखनरूपमे ही जीवका उपयोग बनता है, इसलिए उपयोग जीवका लक्षण है और वह जीवसे अभिन्न है।

जो जिस स्वरूप है उसका उस रूपसे परिणमन होनेका शङ्काकारके सिद्धान्त द्वारा समर्थन—अब और भी बात देखिये—ये शंकाकार याने चार्वाक आदिक तो यह कह रहे हैं कि जो पदार्थ जिस रूपमय है उसका उस रूपसे परिणमन नही होता, उसका अन्य रूपमे परिणमन होता है। दृष्टान्त क्या दिया ? दूध दूध रूपमे क्या परिणमेगा ? वह तो दूध है, दही

रूपमें परिणमेगा। ऐसा कहने वाला शङ्काकार अपने पक्षका भी विरोध कर रहा है। देखो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमे रूपादिक है कि नही ? ये दार्शनिक पृथ्वीमे तो गध मानते, जलमे रस मानते, अग्निमे रूप मानते और वायुमे स्पर्श मानते। जो बात जरा ज्यादह समझमे आयी उसको मान लिया और जैनसिद्धान्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन सबमे चारो बातें—(रूप, रस, गंध, स्पर्श) मानता है। जो जिस रूपमय है उसका उस रूपसे परिणमन तो तुम मान रहे हो। जो कुछ दिख रहा है ये पृथ्वी, अग्नि आदिक ये गधरूप हैं, तो उनका इस रूप से परिणमन तो तुम मान रहे हो। तो जैसे यहा इन दिखने वाली वस्तुओका, रूप, रस, गंध वाली चीजोका रूप, रस आदिक रूपसे परिणमन मानते हो, उपयोग मानते हो, ऐसे ही आत्मा ज्ञान दर्शनमय है, तो उसका भी ज्ञान दर्शन रूपसे उपयोग होता है, इसमे कोई शङ्का नही।

जीव है, ज्ञान दर्शन रूप है, इसमे जानने देखनेकी शक्ति है और यह जानन देखन रूपसे अपना परिणमन करता है, ऐसा यह उपयोग जीवका अभिन्न लक्षण है। तो यह बात न कहनी कि जो जिस रूपमय है, जो पदात्मक है, जिस आत्मामे है वह उस रूपसे नही परिणमता, बल्कि यह कहो कि जो पदार्थ जिस रूपमे है उसका उस रूपसे परिणमन होता है। देखो दूधका दूध रूपसे परिणमन चल रहा है। जब गायसे निकाला गया दूध तो कुछ गर्म निकला। थोडी देरमे ठडा हो गया, फिर छानकर उसे गर्म किया, उसमे फिर शक्कर गुड वगैरा डालकर उसे मीठा कर दिया, कुछ भी हो, दूध दूधरूप ही तो चल रहा। गर्म था तब दूध, ठडा हुआ तो दूध ही परिणमा था। तो दूधके परिणाम कैसे नही है ? दूधका दूध रूपसे उपयोग है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञानरूप है। कभी मतिज्ञानरूप परिणमे, श्रुतज्ञानरूप परिणमे, अवधिज्ञानरूप परिणमे, केवलज्ञानरूप परिणमे, ज्ञान ज्ञानरूपसे ही तो परिणमेगा। जो जिस रूप है वह उस रूपसे ही परिणमेगा, अन्य रूपसे नही परिणमता। जो जिस स्वरूप मे है वह उस रूपसे न परिणमे तो उस पदार्थका अभाव हो जायगा। अगर दूध दूधरूपसे न परिणमे तो फिर दूध कहाँ रहेगा ? इसी प्रकार यह जीव ज्ञान दर्शनमय है, इसका अगर ज्ञान दर्शनरूपमे उपयोग न होगा तो जीव ही कुछ न रहा। इसलिए जीवका ज्ञान दर्शन उपयोग है उस रूपसे इसका परिणमन होता रहता है और यह उपयोग जीवका अभिन्न लक्षण है।

केनचित् प्रसिद्ध व केनचित् अप्रसिद्धकी प्रसिद्ध लक्षण द्वारा साधना—लक्षण बताये जाते है अप्रसिद्धकी सिद्धि करनेको। लक्षण वह होता है जिसको सब जानें, जिसके जाननेमें ज्यादा असुविधा नही है, जो प्रकट है, और जिसके बारेमे कम समझ बनती है, अप्रसिद्ध है वह होता है लक्ष्य। जैसे बहुत आदमी बैठे है—उनमे से किसी ने किसीसे कहा कि भाई

फलाने चदको बुलाओ । कौन है फलाने चंद ? जो इस इस तरहसे बैठे है वह हैं । तो यह बात झट देखकर समझमे आ जायगी कि अमुक पुरुष है फलाने चंद । तो लक्षण होता है प्रसिद्ध और जिसकी पहिचान करायी जाती है वह होता है अप्रसिद्ध । यह ही बात जीव और उपयोगके बारेमे है । ज्ञानकी तो बडी प्रसिद्धि है । हर एक कोई जान रहा है । यदि कोई यह कहे कि जीव है ही नही तो उससे कहो कि जीव है नही, ऐसा तुम्हारा ज्ञान चल रहा है कि नही ? हाँ ज्ञान तो चल रहा है । ज्ञानको कौन मना करे ? जीवको मना कर रहे तो उसे समझा दो धीरेसे कि जिसमे यह ज्ञान चल रहा कि जीव है ही नही, सब गपोल बात है । जो यह ज्ञान चल रहा है जिसमे वही जीव है, ज्ञान है प्रसिद्ध और जीव है अप्रसिद्ध । ज्ञान तो अपनेपर गुजर रहा ना, इसलिए ज्ञान तो स्वसम्वेदन है और जीव जीव एक समूचा है, उसके बारेमे कुछ शका होती है, उसका समर्थन किया ।

एक बात और समझो कि लक्षणके द्वारा वह लक्ष्य जाना जाता जो किसी रूपमें प्रसिद्ध है और किसी रूपमे अप्रसिद्ध है । अगर लक्ष्य पूरा अप्रसिद्ध है, जरा भी उसके बारेमें मालूमात नही है तो उसका लक्षण नही बन सकता, और यदि वह पूरा प्रसिद्ध है, स्पष्ट है, तो लक्षण न बनेगा । लक्षण तो पहिचाननेके लिए बनाया जाता । अब वह हो गया प्रसिद्ध । लक्षण काहेको करना ? जैसे किसीको समझाते है—देखो अग्नि है, क्योकि गर्म होनेसे । अब गर्मी अग्निका लक्षण बना । तो गर्मी तो प्रसिद्ध है ना ? जिसके द्वारा हम आग पहिचाना करें, वह लक्षण तो बिल्कुल स्पष्ट है, मगर अग्नि क्या अप्रसिद्ध है ? नही । क्या प्रसिद्ध है ? नही । जो यह है इतनी बात तो प्रसिद्ध है । कोई चीज सामने दिख रही है जिसको हम अग्नि बता रहे है तो जो यह है उतना वस्तुरूपसे तो वह प्रसिद्ध है, पर आग है इस रूपसे अप्रसिद्ध था, उसे यो सिद्ध कर रहे कि यह आग है । कोई भी आप लक्ष्य-लक्षण बनावें यह ही तरकीब मिलेगी सबमे । लक्षण होता है प्रसिद्ध और लक्ष्य होता है किसी रूपमे अप्रसिद्ध और किसी रूपमे प्रसिद्ध । जिस रूपसे प्रसिद्ध है उसमे अप्रसिद्धकी बात घटाना यह ही कहलाता है लक्ष्यमे लक्षणना ।

कथञ्चित् प्रसिद्ध व कथञ्चित् अप्रसिद्ध जीवकी प्रसिद्ध उपयोगलक्षण द्वारा सोदाहरण सिद्धि—किसीने पूछा कि भाई गायका लक्षण क्या है ? जो गायको नही जानता था कि यह गाय है, गायका लक्षण क्या है ? तो कहा—देखो जिसके गलेसे कधेके जोड़ तक झाल लटकती हो उसे गाय कहते है । तो अब देखो झाल तो दिखती है, झाल रूपसे वह प्रसिद्ध है और जिसको हम गाय जानना चाहते वह गाय अप्रसिद्ध है । पशुरूपसे तो प्रसिद्ध है, पर वह गायरूपसे अप्रसिद्ध है उसकी निगाहमें, तब ही तो लक्षण बना । अगर वह पशुरूप या किसी रूपसे भी सामने न हो गाय तो लक्षण न बनेगा । किसका लक्षण बने ? और अगर

गाय रूपसे एकदम खुलासा सिद्ध है तो लक्षणकी चर्चा करना बेवकूफी है । क्यो समय खोते, जानते तो है । किसी रूपसे अप्रसिद्ध हो और किसी रूपसे प्रसिद्ध हो तो प्रसिद्ध अप्रसिद्धको समझनेके लिए लक्षणकी जरूरत पडती है । तो यह जीव ज्ञानरूपसे तो प्रसिद्ध है। जाननेका किसे ज्ञान नही ? अब यह बतला रहे कि जिसमे ज्ञान है उसे जीव कहते है । यो जीवका लक्षण ज्ञान दर्शन अथवा उपयोग है । और यह उपयोग जीवसे अभिन्न है । दूसरी बात—अगर जीवका ज्ञान दर्शन रूपसे परिणाम नही मानते तो अब यह परिणामरहित हो गया ना, पर्यायरहित हो गया । तो अब वह कूटस्थनित्य हो गया । जो कूटस्थनित्य है, जिसमे कुछ भी अदल-बदल नही, उसका कोई स्वभाव नही, और जिसका कोई स्वभाव नही उसकी सत्ता ही नही । जीव ज्ञानदर्शनमय है, उसका ज्ञानदर्शन रूपसे उपयोग है और वह उपयोग जीवसे अभिन्न है ।

जिस जीवके औपशमिक आदिक स्वतत्त्व बताये गए है उस जीवका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर इस सूत्रका अवतार हुआ है । जीवका लक्षण उपयोग है, वह उपयोग चैतन्यस्वभावका परिणाम है । यह परिणाम आत्माका है और यथासम्भव अंतरग कारण और बहिरङ्ग कारण मिलनेपर होता है । इस कथनमे सब जीवोको लक्षित किया गया है । यथा-सम्भव कारण मिलनेकी बातसे सर्व बातें सर्व जीवोके ध्यानमे आती हैं । एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनइन्द्रिय बहिरग कारण और तत्सम्बन्धी भाव अन्तरग कारण है । उनको अन्य बाह्य पदार्थोंके कारण भी नही होते । दो इन्द्रिय जीवके केवल दोइन्द्रियका व्यापार ही कारण है, ऐसे ही जिसके जितनी इन्द्रियाँ है उतनी इन्द्रियाँ ही साधन है । सैनी जीवोके उपयोगका साधन मन भी है, । अधिक बाह्य कारणोमे कितने ही जीव सिंह, बिल्ली आदिक बिना प्रदीप के ही जान जाते है । मनुष्य प्रदीपका सन्निधान, प्रकाशका सन्निधान होनेपर जानते है । जो अवधिज्ञानी जीव है वे इन्द्रियके व्यापार बिना ही जान जाते है । केवलज्ञानी जीवोको इन हेतुवोकी रच भी आवश्यकता नही । कारण ही न चाहिए, ऐसा यथासम्भव अन्तरग कारण और बहिरग कारण मिलनेपर जीवके चैतन्यका सम्बध रखने वाला जो परिणाम है वह उप-योग है । ऐसा इस सूत्रमे कथन किया गया है ।

लक्ष्यभूत आत्माका अभाव होनेसे उपयोगके लक्षणत्वकी अनुपपत्तिकी शंका—अब उपयोगलक्षणको सुनकर एक शकाकार कहता है कि इतना अधिक परिश्रम एक व्यर्थ ही किया जा रहा है । बडे सूत्र रचे जा रहे है, उपयोग लक्षण है, बडी मेहनत की जा रही है । अरे आत्मा नामकी कोई चीज ही नही है, फिर लक्षण बनानेकी जरूरत क्या ? अरे कोई चीज हो उसका लक्षण बनाओ । जैसे पुरुष है, कोई तो उसका लक्षण बनाओ । पदार्थ चौकी वगैरा है तो बना लीजिए लक्षण, पर आत्मा नामकी तो कोई चीज ही नही है, उसका लक्षण

क्या ? उपयोग लक्षण नहीं हो सकता। जो चीज नही है क्या उसका भी लक्षण बनाया जाता ? यदि असत्का लक्षण बनाया जाने लगे तो खरगोशके सींगका लक्षण बनाओ, आकाशके फूलका लक्षण बनाओ, मेढककी चोटीका लक्षण बनाओ। जो असत् है उसका लक्षण क्या बनाओगे ? अगर कोई पूछता है कि आत्मा असत् है यह कैसे समझा ? तो बहुत सीधी बात है, आत्माका कोई कारण नही है। जिसका कारण नही उसकी सत्ता कैसे हो ? अरे ईंधन है तो अग्निकी सत्ता है। बिना कारणके सत्ता कहाँसे आयगी ? एक बात। दूसरी बात, इस आत्माका कोई कार्य ही नही दिख रहा। जिसका कोई कार्य नही वह तो बेकार है, उसकी सत्ता क्या ? जैसे—गधेके सींगका कुछ काम होता क्या ? किसीके चुभ जायगा क्या ? जब उसका कोई कार्य ही नही है तो फिर सत्ता क्या ? और तीसरी बात बहुत सीधी यह है कि आत्मा दिख ही नही रहा, प्रत्यक्ष ही नही, पाया ही नही जा रहा, नही तो हमारी हथेली पर धर दो, हम कह देंगे कि हाँ आत्मा है, और घोषणा करा देंगे। तो जब आत्मा नही दिखता है, न प्रत्यक्ष है, न उसका कोई कारण है, न कार्य है तो उसकी सत्ता कैसे ? और जो है नही उसके बारेमे बहुत-बहुत प्रलाप करनेसे फायदा क्या है ? इसलिए उपयोग लक्षण कहना ठीक नही और सूत्र बनानेका क्यो प्रयास किया जा रहा है ? ऐसी एक आशंका हो रही है।

अकारणवान कहकर आत्माका अभाव बताने वाले शंकाकार द्वारा दिये गये अकारणवत्व हेतुमे असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक दोष आनेसे आत्माकी स्पष्ट सिद्धि—अब उक्त आशकाके समाधानमे कहते है—क्या कहा शकाकारने ? आत्मा नही है, क्योकि उसका कोई कारण नही, उसका कोई कार्य नही, उसकी उपलब्धि नही, तीन युक्तियोंको रखा है शङ्काकारने। तो अब पहली युक्तिपर विचार करें। शङ्काकारका कहना है कि आत्माका कोई कारण नही है जिससे कि आत्मा बनता हो तो उसकी फिर सत्ता कैसे ? सो देखिये—इस विषयमे चार बातें समझनी है पहली बात तो यह है कि शङ्काकारका यह हेतु असिद्ध है, आत्माका कारण है। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पशु, पक्षी यद्यपि एक दृष्टिसे ये पर्याय कहे जाते हैं, मगर ये पर्याय हो तो लें आत्माके बिना। ये आत्मासे अभिन्न है। तो ये आत्मा ही है। व्यवहारमे ये जीव ही कहे जाते हैं। नारकी जीव, पशु जीव, पक्षी जीव, देव जीव, ये जीव ही तो कहे गए है और इन जीवोका कारण है। मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम, कषाय और योग—ये सब बातें इन गतियोमें उत्पन्न होनेके कारण है ना ? ये गतियाँ ये सब कोई जीव ही तो है। लो कारण बन गया। दूसरी बात यह समझो। तुम क्या कह रहे हो शंकाकार ? आत्मा नही है, क्योकि कारणरहित होनेसे। अरे तुम तो कारणरहितका हेतु कहकर आत्माका अभाव बताना चाहते हो और बात यहाँ उल्टी तुमपर घटती है। अरे जो कारणरहित है वह

डटकर द्रव्य है। आत्मा है क्योंकि कारणवान न होनेसे। जो कारणवान होगा वह द्रव्य न होगा, उसकी आदि होगी। हम आत्माकी आदि नही मानते। आत्मा तो अनादि कालसे है और आत्माकी अनादिसे सत्ता तब ही है जब कि वह स्वयसिद्ध है। उसका कोई कारण नही। किसी कारणसे आत्मा बना नहीं, इसीलिए आत्मा भले प्रकार अनादि अनत अस्तित्वको लिए हुए है। जो जो भी पदार्थ है वे कारणरहित ही है। यदि कहो कि नही, है तो वह कारणकी जरूरत क्या? ऐसा कोई भी पदार्थ नही है जगतमे जिसकी सत्ता हो और कारणवान हो। कारणवान तो पर्याय होती है, वस्तु नही होती कारणवान। पर्यायमे कारण चाहिए। जो है पदार्थ उसकी अवस्थायें बननेके लिए कारण चाहिए। पदार्थोंके अस्तित्वके लिए कारण नही। अगर कारण है तो उसका अस्तित्व नही, क्योकि जिसका कारण है वह पहलेसे "है" न होगा। कारण बननेके पहले सत्ता न मानी जायगी। अगर कारणवान है आत्मा तो कारण जुटाने के बाद ही तो आत्माका अस्तित्व कहलायगा और कारण जुटानेसे पहले आत्माका अस्तित्व न रहा, क्योकि कारण तो इसलिए जुटाया जाता है कि कार्य बन जाय। तो तुम्हारा जो हेतु है कि अकारणवान है इसलिए आत्मा नही है यह तो विरुद्ध हेतु हो गया। इस ही हेतुसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो गया। तीसरी बात असिद्ध विरुद्ध और अनेकातिक दोष भी है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तो पदार्थ अकारणवान है और पर्यायार्थिक दृष्टिसे पदार्थ कारणवान है।

आत्माका अभाव सिद्ध करनेके लिये कहे गये दृष्टान्तोकी स्वपक्षसाधनमे असमर्थता— चौथी बात यह है कि जो दृष्टान्त दिया है कि मेढककी चोटी, सो सर्वथा असत् है ही नही। बोलो गधेके सीग, खरगोशके सीग, आकाशके फूल ये जो दृष्टान्तमे दिया है ये सर्वथा असत् नही है। अगर सर्वथा असत् होते तो इनके बताने वाले शब्द भी न होते। जितने शब्द है उतने अर्थ है। ऐसे कोई शब्द न मिलेंगे जो किसी असत्का नाम बताते हो। है तब ही तो उसका शब्द बना। शब्दका अर्थ क्या है? शपति आह्वयति अर्थं इति शब्दः, जो पदार्थका नाम कहे उसको शब्द कहते है। यह सस्कृत धातु है शप्, तो शब्द ही यह बताता है कि उसका वाच्यभूत पदार्थ है। अच्छा, अब देखो मेढककी चोटी निकलवाते है।

देखो कर्म आवेश विभिन्न होते है। कोई जीव कर्मोदयसे मेढककी पर्यायमे पहुँचा, मेढक बन गया। अब वह ही जीव (मेढक) मरकर स्त्री हो गया। अब स्त्रीभवमे तो चोटी है ना? और जीव वह एक ही है। जो मेढक था सो स्त्री बना। तो जब जीव एक है, एक दृष्टि से कह देंगे कि मेढककी चोटी। अच्छा आपके पुराणोमे जो बहुत वर्णन आता है ना—कमठ ने उपसर्ग किया पार्श्वनाथ भगवानपर। बताओ यह बात सच्ची है क्या? सच नही है। अरे कमठ तो था तब जब यह मरुभूति था, उसके भाईका नाम था कमठ। अब पार्श्वनाथके समय मे कमठ है कहाँ? वह तो गुजर गया, कितने ही भव गुजर गए। अब तो ज्योतिषी देव

बना है, उस ज्योतिषी देवने उपसर्ग किया, कमठने नही। पर कहते तो सब यही है कि कमठ ने उपसर्ग किया पार्श्वनाथपर। तो उसका अर्थ यह है कि जो कमठ पर्यायमे जीव था वही जीव भव धारण कर करके ज्योतिषी देव हुआ, और उस ज्योतिषीने क्या उपद्रव किया सो उसे कहते है कमठके द्वारा उपद्रव हुआ। तो पुराणोमे तो यह बात बडी शानके साथ कहते हो, फिर मेढककी चोटीकी बात कहनेमे क्यो डरते हो ? अरे जो पहले मेढक था वह मरकर स्त्री हो गया, वहाँ चोटो हो गई, सर्वथा असत् तो न रहा। एक नयवाद ऐसा है कि वह किसी भी व्यवहारका लोप नही कर सकता। तो एक जीवके सम्बंधसे मडूक शिखड कहा जा सकता है। इसका नाम शिखंड है, जिसे चोटी कह दो। अच्छा अब कारणकी बातमे चलो, मडूक शिखण्डमे कारण है कि नही ? याने जो अभी मेढककी चोटी बतायी उसका कारण है कि नही ? है कारण। स्त्री भोजन करती है उससे शरीर बढता है, बल बढते है, चोटी बनती है, बिना कारणके तो नही है।

तो शकाकारका जो अकारणवान है आत्मा ऐसा कहकर उसका जो नास्तित्व सिद्ध करनेका प्रयत्न है, वह युक्त नही है। अच्छा आकाशका फूल। यह सर्वथा असत् नही है। कैसे ? देखो फूल मायने क्या ? वनस्पति नामक नामकर्मके उदयसे एक वृक्ष उत्पन्न हुआ। वह वृक्ष क्या है ? जीव और पुद्गलका समुदाय है। खाली पुद्गल पुद्गलका नाम पडा है क्या जीव और पुद्गल। इन दोनोका समुदायरूप पर्याय है वह। उस वृक्षका हुआ फूल और इसके साथ-साथ और भी पुद्गल परमाणु है, उसकी जडमे आये, पानी आया, मिट्टी आयी, खाद आयी, वे ही सब भिन्न भिन्न फैल गए। कारण बन गए। तो वह पुष्प वृक्षका है, इसमे तो सदेह नही। इतना कहा जाता कि यह वृक्षका फूल है, क्योकि वह फूल वृक्षमे व्याप्त है, वृक्षमे लगा है। तो जैसे फूल वृक्षमे व्याप्त है, ऐसे ही वह फूल आकाशमे व्याप्त नही क्या ? जैसे वृक्षसे अलग कही फूल नही पडा, ऐसे ही आकाशसे अलग कही फूल है क्या ? वृक्षमे व्याप्त है। आकाशमे व्याप्त है और बल्कि फूल टूट जाय तो वृक्षसे तो मतलब नही रहा, पर आकाशमे अब भी व्याप्त है। इतना डबल सिद्ध है कि फूल आकाशका है। फूल वेचारा वृक्षसे टूट जाय तो वृक्षमे व्याप्त अब न रहा, मगर आकाशमे व्याप्त अब भी है। एक इस चीजको समझनेकी बात है केवल। शकाकार जो शंका कर रहा है उस शङ्काके निराकरणमे कितनी ही बातें कही जाती हैं, अन्य दृष्टियोसे और बात है। तो शंकाकारने जो दृष्टान्त दिया वह दृष्टान्त भी ठीक घटित नही है, ऐसे ही सभीमे ले लो।

कहीं प्रसिद्धका अन्यत्र समवाय जोड़नेका नाम लोकव्यवहारगत असत्त्व— अब दूसरी बात यह है—जैसे कह रहे गधेके सीग, अरे तो अर्थ यह है, सर्वथा असत् कुछ नही। सीग भी होते हैं, गधा भी होता है। अब जो सीग गाय, भैस आदिकमे समवायसे रहता है वह सीग

इस गधेके सीगपर समवायसे नही है। बात तो इतनी है कि कही गधेका और सीगका सर्वथा अभाव नही है। सर्वथा अभाव हो तो उसका शब्द ही नही दुनियामे। तो इस प्रकार आत्मा अकारणवान है—ऐसा कहकर आत्माको नास्तित्व नही कहा जा सकता।

अकार्यत्व हेतुकी असिद्धता होनेसे आत्माके अभावकी सिद्धिकी असंभवता—इसी तरह आत्मा अकार्य है, ऐसा कहकर भी आत्माका लोप नही किया जा सकता। कौन कहता है कि आत्माका कार्य नहीं ? सुख होना, दुःख होना, ज्ञान होना ये किसके कार्य है ? तो आत्मा कार्यवान है इसलिए आत्माका अस्तित्व है।

आत्माका अभाव सिद्ध करनेमे अप्रत्यक्षत्व हेतुकी विफलता—तीसरी बात शङ्काकारने यह कही थी कि आत्माका प्रत्यक्ष ही नही हो रहा, अप्रत्यक्ष है, जैसे गधेके सीग, ये अप्रत्यक्ष हुए। हो तो बताओ। तो जो अप्रत्यक्ष है, जो दिख नही रहा है उसका तो अस्तित्व नही, ऐसे ही आत्मा अप्रत्यक्ष है तो उसका अस्तित्व नही है। शकाकारका यह कहना भी युक्त नही। पहली बात तो यह है कि यह हेतु असिद्ध है, आत्मा अप्रत्यक्ष है सो ठीक नही, बराबर आत्मा प्रत्यक्ष है। केवलीभगवान जानते है, अवधिज्ञान अमूर्तको नही जानता, मगर ऐसे कारणोसे वहुत स्पष्ट अनुमानसे जानता है। हम आप लोग अनुमानसे जानते, आगमसे जानते, वह अप्रत्यक्ष नही। अच्छा देखो—थोडा न्यायकी छटासे बात कह रहे तीन चार मिनट। ध्यान देकर सुनना तो समझमे बात आयगी। शकाकार कह रहा कि आत्मा अप्रत्यक्ष है। तो अप्रत्यक्षका अर्थ बता दो क्या है ? अप्रत्यक्षके दो अर्थ होंगे। अप्रत्यक्ष मायने परोक्ष, प्रत्यक्ष नही, किन्तु और कुछ है, एक अर्थ यह होगा—प्रत्यक्ष नही, और आगे बोलो कुछ नही है। जहाँ निषेध आता है वहाँ दो अर्थ होते हैं—(१) प्रसज्यप्रतिषेध और ( ) पर्युदास। हर बातमे। अजी इस आदमीको मत लावो, तो इसके दो अर्थ हो गए—मायने दूसरेको ले आवो, एक तो यह अर्थ हुआ और एक यह हुआ कि लावो ही मत। तो अप्रत्यक्षमे दो अर्थ हुए—(१) प्रसज्यप्रतिषेध और (२) पर्युदास। मायने प्रत्यक्ष नही है आत्मा, किन्तु परोक्ष है। चलो रहने दो, परोक्ष है, है तो सही आत्मा। अगर अप्रत्यक्षका अर्थ यह किया जाय कि परोक्ष है तो उससे तो आत्माकी सिद्धि हुई। और यदि अप्रत्यक्षका यह अर्थ किया जाय कि प्रत्यक्ष नही, आत्मा प्रत्यक्ष नही, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा तो है, प्रत्यक्ष नही है। शब्द ही यह बात बतलाता है, क्योकि निषेध उसका किया जाता जो चीज है।

जैसे घडा नही है, मायने घडा कोई वस्तु है, उसका अभाव है तो आत्मा कोई वस्तु है, उसका अभाव है, यह ही तो अर्थ हुआ अनुपलम्भका। किन्ही भी शब्दोमे बोलो, आत्मा को मना नही कर सकते। अरे जो तुम बोलने वाले हो, समझने वाले हो, कहने वाले हो,

मना करने वाले हो तो तुम भी हो कोई कि नही ? जिसमे ऐसा ज्ञान जगता है, मना करते हो वह ही तो आत्मा है । अब उसका नाम तुम चाहे कुछ रख लो । चेतन और अचेतन—इन दो का कोई निराकरण नही कर सकता । इस कारण आत्मा अप्रत्यक्ष है, ऐसा हेतु देना असिद्ध दोषसे दूषित है ।

दूसरी बात यह है कि जो अप्रत्यक्ष है उसका ज्ञान होता कि नही, यह बतलाओ ? जो तुम्हारे सामने नही आया उसका भी ज्ञान होता कि नही होता ? अगर होता है तो तुम्हारा हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है । गधेके सीग, बोलो इनका ज्ञान होता कि नही ? ज्ञान तो होता और सीग सो है नही, मगर एक ध्यान हो तो देनेकी बात है । ध्यान देकर गधेके हिरण अथवा भैसके जैसे सीग लटका दो । तो ऐसा जान नही सकते क्या ? तो यह दलील देना कि अप्रत्यक्ष है, यह बात युक्त नही ।

स्वसम्वेद्य ज्ञानकी तरह आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि—दूसरी बात यह है कि ज्ञान ही का नाम आत्मा है और ज्ञान स्वसम्वेद्य है, अपने ही द्वारा अपनी समझमे आ रहा । कितनी ही कल्पनायें करते, गुनगुनाते, जानते, वह आत्मा नही है क्या ? और योगियोको प्रत्यक्ष है । तो जैसे स्वसम्वेद्य होनेसे ज्ञानकी तुम सत्ता मानते हो, ऐसे ही स्वसम्वेद्य होनेसे आत्माकी भी तुम सत्ता मानो । ज्ञान और आत्मा जुदा नही । तो देखो पद-पदमे शकाकारो की ड्यूटी बदल रही है । एक आत्माका निषेध करने वाले चार्वाक, एक आत्माका निषेध करने वाले ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध । ज्ञानको तो मान लेंगे कि है, मगर आत्माको न मानेंगे । क्यो भाई ज्ञानकी तरह आत्मा मान लेंगे तो क्या नुक्सान है ? तो उसका शकाकारके पास यह जवाब है कि ज्ञान तो होता है क्षणिक । वह हर समय नही चलता । एक समयको ज्ञान हुआ दूसरे समय न रहा, दूसरे समय दूसरा ज्ञान हुआ । तो अगर आत्मा मान लोगे कि यह सदा रहने वाला है, पहले भी था तो हमे अपनी खबर रहेगी कि मै था, मै हू, उस आत्माकी हम धारा बनायेंगे तो हम बडी गडबडीमे पड जायेंगे । अभी तो यह है कि आत्माका निषेध करें, मोक्ष पा लेंगे । आत्मा है नही, इसलिए इसका क्या ? मुक्ति पा लें ऐसा शकाकारका सिद्धान्त है, लेकिन नही, आधार बिना गुण नही, गुण बिना द्रव्य नही, सो चूकि ज्ञान है तो उससे तन्मय आत्मा है । तो शंकाकारने यह शका उठायी थी कि तुम उपयोग लक्षण है, उपयोग लक्षण है, बार-बार क्यो बोल रहे हो ? अरे आत्मा ही कुछ नही है तो लक्षण किसका बताते हो ? उस शकाके समाधानमे यहा दो बातें रखी गई है कि आत्माका अस्तित्व है और भिन्न-भिन्न हेतुवोको देकर आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चाहा शंकाकारने उन्ही हेतुवोसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया गया है । आत्मा है और वह अप्रसिद्ध है । सबकी जानकारीमे है नही, तो उसकी कोई प्रसिद्ध बात बतानी जरूरी है । सो उस जीवकी प्रसिद्ध पहिचान है

उपयोग, जिसका सब लोग अनुभव कर रहे हैं। यह उपयोग जीवका लक्षण है।

नास्तित्व व अप्रत्यक्षत्व धर्मके आधारभूत आत्माकी सिद्धि—प्रसंग यह चल रहा है कि नास्तिकवादी यह कह रहे हैं कि आत्मा है ही नही, फिर आत्माके बारेमें कोई चर्चा करना बिल्कुल बेकार है। आत्मा नही है—इस बातको सिद्ध करनेके लिए कोई अधिक असुविधा नही है। सीधा हेतु है, नही है, दिखता नहीं है, अप्रत्यक्ष है इसलिए आत्मा नहीं है, ऐसी शंका करने वालेको इस समाधानसे सतोष हो ही गया होगा, और न हुआ हो तो अच्छा वे यह बतायें कि आत्माके बारेमे यह कह रहे हो कि आत्माका नास्तित्व है, आत्मा अप्रत्यक्ष है, इस कारण आत्माका अभाव है। तो यह बतलावो कि आत्मामे नास्तित्व धर्म है कि नही? अप्रत्यक्षत्व मायने प्रत्यक्ष न होना, यह धर्म आत्मामे है या नही? अगर कहो कि नास्तित्व आत्मामे नही है तो इसका अर्थ यह हो गया कि आत्मा है। अगर कहो कि नास्तित्व आत्मामे है तो आत्माकी सिद्धि हो गई किसी भी रूपसे सही, है एक ऐसा आत्मा कि जिसमे नास्तित्व धर्म है। अब यह अर्थ लगा लो कि परकी अपेक्षा नास्तित्व है। है कोई ऐसा आत्मा जिसमे अप्रत्यक्षत्व धर्म है। अर्थ लगा लो—प्रत्यक्ष तो नही है, मगर परोक्षसे आत्मा जान लिया जाता है। कोई भी वचन केवल विधिको सिद्ध करने वाला नही है व केवल निषेधको सिद्ध करने वाला नही है। विधि और निषेध दोनोका समाधान करने वाला होता है वचन।

ज्ञानकार्यके चिन्हसे ज्ञाता आत्माकी सिद्धि—अच्छा अब सीधी बात देखो, आत्मा मायने ज्ञाता, गृहीता, जाननहार। तो ऐसा आत्मा है, क्योंकि इतनी बातें तो देखी जाती हैं कि विषयका ज्ञान चल रहा। कोई पदार्थ जाना गया तो जानना तो चल रहा ना? अब यह जानना इन्द्रियमे नही है, यह जानना इन्द्रियजन्य विज्ञानसे नही, यह जानना किसी जडमे नहीं, तो इसमे तो बाधा न जानना और जानना सो चल रहा है। अपने-अपने अनुभव करो, बोलो जानता है ना खुद? आप लोग कुछ न कुछ जान रहे है कि नही? जान रहे हैं। तो यह ज्ञान जिसमे हो उसीका नाम आत्मा है। तो ज्ञानधर्मसे आत्माकी सिद्धि होती है, वही ज्ञानका पर्याय है उपयोग। उपयोग जीवका लक्षण है जो जीव नही। उसमे उपयोग नही होता, जिसमे उपयोग नही वह जीव नही कहलाता। हम लोगोको अपने आत्मा का कुछ विश्वास होता कि नही कि मैं ही देखने वाला, जानने वाला हू। जिसको मैंने कल देखा था वही देखने वाला मैं आज हू, तो मबकी बात मैं याद कर रहा हू। तो देखो आत्मा का बोध हो रहा कि नही।

आत्माके विषयमे संशय विपर्यय होनेका अर्थ आत्मकी सिद्धि—और देखो, अगर कोई यह कहे कि हमको तो आत्माके विषयमे संशय हो गया। अच्छी बात है। अगर सशय

हो गया तो यह तो बहुत अच्छी बात है अज्ञानकी अपेक्षा तो आत्माकी सिद्धि की हकमे । सशय तो वस्तुमे होता कि अवस्तुमे ? अगर आत्माके बारेमे संशय हो गया है तो इससे ही सिद्ध है कि आत्मा वस्तु है । अगर रस्सीमे सदेह हो गया है कि यह रस्सी है या साँप, तो रस्सी हैं या साँप— इस विकल्पका जो लक्ष्य है, ऐसा कोई मैटर पडा है तब हो रहा ना संशय "यह" इतनी बात तो सही है ही । अब रस्सी है या साँप है, यह बात आगे निर्णयकी है । "यह रस्सी है या साँप है ।" इसमे यह जिसके लिए कहा वह ज्ञान तो सच्चा है । अब सशय ज्ञान हुआ तो सशयज्ञानमे कुछ तो सच्चाई है और कुछ मिथ्यापन है, बिल्कुल मिथ्या नही । यह मनुष्य है या खम्भा तो मनुष्य और खम्भा रूपसे निर्णय तो नही हुआ, मगर 'यह' इस शब्दने जिसको बताया, दिखाया वह तो पक्का है ना ? हाँ पक्का है ही । अब क्या है ? इस विशेषतामे संदेह है । तो जिन जीवोको आत्माके बारेमे सशय हो गया तो उनके इस संशयके कारण ही आत्माकी पुष्टि हो जाती है । कोई कहे नही हमको तो आत्माके बारेमें विपर्यय ज्ञान है, बिल्कुल उल्टा ज्ञान हो रहा । उल्टा सही, पर उल्टे ज्ञानमे भी यह इतना तो कहते ही है । जैसे पडी तो थी सीप और कहा—यह चाँदी है, तो 'यह' इस शब्दसे जो जाना गया वह तो पक्का है । अब चाँदीका धर्म है या नही, यह आगेकी बात है । तो अगर आत्माके बारेमे विपरीत ज्ञान हो जाय तो चलो यह भी अच्छा है । हुआ तो किसीके बारेमे विपरीत ज्ञान । तो जिसको लक्ष्यमे लिया, यह है आत्मा, शरीरको मान लिया जैसे आत्मा तो यह हू मै तो शरीर तो न रहा मैं, मगर 'यह' जिसके लिए कहा वह कुछ वस्तु तो अवश्य है । तो इससे सिद्ध है कि आत्मा अवस्तु नही । हो गया ना मैं हू, अनादि कालसे हू, अनन्त काल तक रहूगा और मुझमे सब प्रकारके परिणमन चलते है ।

आत्माके क्षणिकत्व व असत्त्वकी असिद्धि—यहाँ शकाकार कहता है कि नही । आत्मा बहुत देर ठहरने वाला नही, थोडा भी ठहरने वाला नही है, किन्तु अपने समयमे आत्मा उत्पन्न हो जाता, दूसरे समयमे वह नष्ट हो जाता । और उसमे जो यह भ्रम लग गया है कि वही आत्मा हू मैं जो सुबह था, जो कल था, उसका नाम है । वह सब सतानसे जाना जाता है । जैसे एक दीपकमे तेल जल रहा है तो तेलकी एक-एक बूंद दीपक बनती जाती है, भ्रम ऐसा लगा कि यह दीपक तो घटे भरसे जल रहा, मगर दीपक तो उसे कहते हैं जो तेल बिन्दु जला और रोशनी हुई । मगर भ्रम रहता ना कि वही दीपक है जो सुबह था, सो अब है । तो वहाँ भ्रम हुआ, निमित्तकी सतान चल रही याने एक तेलका दीपक बना तो तुरन्त दूसरे बूँदका दीपक बना, फिर तुरन्त ही तीसरे बूँदका दीपक बना । तो जैसे वे दीपक है तो भिन्न-भिन्न, मगर भ्रम हो गया । ऐसे ही क्षणिकवादी कहते हैं कि आत्मा है तो भिन्न-भिन्न, एक समयमे एक ही आत्मा है, दूसरे समय नही ठहरता, मगर उसके बारेमे भ्रम हो गया

तब सतान, तो उत्तर देते है कि तुम्हारी संतान वास्तविक है या काल्पनिक ? वास्तविक है तो उसीका नाम आत्मा है। केवल नाममे फर्क हो गया। तुम उसका नाम रखते हो सतान, हम उसका नाम रखते है द्रव्य, आत्मा। लो यो सिद्ध हुआ कि आत्मा है, और अनुभव भी बताता है कि जिसमे सुख होता, दुःख होता, कल्पनायें जगती, वह ही तो आत्मा है, और जो दृष्टान्त दिया है, यहाँ दीपका उपादान तेल तो है, सो असत्‌की उत्पत्ति तो नही, सो आत्मा जब है तो उसकी पहिचान करें, क्योकि सतोष मिलेगा तो आत्मामे ही रमनेपर सतोष मिलेगा। बाहरी पदार्थोंमे कही भी आप चित्त लगायें तो शान्ति नही मिल सकती। इसलिए आत्मज्ञान करना आवश्यक है।

उपयोगकी अनवस्थितता होनेसे जीवलक्षणताके अभावकी आशंकाका समाधान— अच्छा देखो जो आत्माका अभाव सिद्ध कर रहे है उन्होंने यह भी कहा था कि अगर आत्मा को भी मानो, प्रथम तो है नही, और कदाचित् मान लो कि है आत्मा, तो उसका लक्षण उपयोग नही बन सकता। सूत्र बनाया ना—उपयोगो लक्षण, जीवकी पहिचान क्या है ? उपयोग, सो कहते हैं कि उपयोग लक्षण नही बन सकता, क्यो नही बन सकता कि उपयोग अनवस्थित है। कभी कुछ जाना, कभी कुछ। तो यह उपयोग चचल है, एकसा नही रहता, इसलिय यह लक्षण नही बनता। कोई कहे कि न रहे एकसा, और बन जाय लक्षण तो सुनो— एक अनजान आदमी आया और उसने किसीसे यह पूछा कि फलाने लालका घर कौनसा है ? तो वह कहता है कि देखो दाहिने हाथकी तरफ मुड जाना, और जिस मकानपर कौवा बैठा है वह है फलाने लालका मकान। तो देखिये—क्या पहिचान बतायी ? कौवा। और अगर वह कौवा उड जाय तो फिर ? तब तो फिर यह लक्षण बनाना सही न रहा ना ? जो अस्थिर है वह लक्षण नही बनता। तो ऐसे ही कौवाकी भाँति यह उपयोग चचल है। अभी कुछ जान रहे, अभी कुछ। तो जो चचल है, अस्थिर है वह जीवका लक्षण कैसे बन जायगा ? शंकाकारने अपना बुद्धिबल लगाकर अच्छी शका की।

उत्तर इसका यह है कि उपयोग एकान्तसे अस्थिर नही है। जो उपयोग विशेष है वह तो स्थिर नही है। अभी अमुकको जान रहे, उसे छोड दिया दूसरी चीजको जानने लगे तो यह स्थिर तो न रहा उपयोगविशेष, जानकारियाँ ये न रहो स्थिर, सो ठीक है, मगर जो उपयोगसामान्य है, कुछ भी उपयोग बने, मगर रहा तो उपयोग ही। यह उपयोगसामान्य स्थिर है, स्थायी है, और हम उपयोगसामान्यको ही जीवका लक्षण बता रहे, इस कारण उसमे किसी भी प्रकारका दोप नही है। उपयोग जीवका लक्षण है, यह उपयोगसामान्य, उपयोग तो स्थिर है, क्योकि यह द्रव्यदृष्टिसे परखा गया तत्त्व है उपयोगसामान्य। सो यह उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है। है ना उपयोग सदा जीवमे कि उस कौवाकी भाँति है जो

मकानपर बैठा, तो थोड़ा बैठा और उड गया, ऐसा क्या जीवमें उपयोग होता है कि अभी तो जीवमे उपयोग है और बादमे उपयोग न रहेगा, ऐसा नही है। अगर ऐसा हो जाय कि जीवमे कभी उपयोग आया, फिर मिट गया तो इसके मायने है कि जीव भी न रहा। दूसरी बात—किसी उपयोगका उत्पाद हुआ और किसीका विनाश हुआ तो होने दो, एक उपयोग मिटा, दूसरा उपयोग हुआ, हो जाने दो, फिर और उपयोग मिटा, फिर और हुआ तो होने दो। होता रहेगा ऐसा। उनमे जो उपयोग सामान्य है वह है जीवका लक्षण, क्योंकि अगर उपयोगका सर्वथा विनाश हो जाय, जैसे कि मकानसे कौवा उड गया, इस तरह आत्मासे अगर उपयोग खतम हो जाय, रहे ही ना, ऐसा सर्वथा विनाश हो जाय तब तो किसीको किसी बात की याद न रहना चाहिए। आत्मा क्षण भरको हुआ और मिट गया, अब नया आत्मा आया तो पहले आत्माके किए हुए कामका उस दूसरे आत्माको कैसे ख्याल रहेगा ? सो उपयोगका अगर विनाश मान लिया जाय तो फिर कभी यादगारी ही नही रह सकती। स्मरण चलता, वह सिद्ध करता है कि उपयोग पहले था, अब है, आगे रहेगा। उपयोगका कभी अभाव नही है, तो ऐसा जो उपयोगसामान्य है वह है जीवका लक्षण। यहाँ तक कितनी बातें सिद्ध हुईं ? जीव तत्त्व है और उसका लक्षण उपयोग है।

जीवसे अभिन्न उपयोगमे जीवलक्षणताकी प्रसिद्धि—अब एक नया शंकाकार यह बात रख रहा कि उपयोगका सम्बन्ध जीवका लक्षण है, न कि उपयोग लक्षण है। जैसे टोपी वाले आत्माका लक्षण क्या है ? टोपी। शङ्काकार कहता है कि गलत। टोपी लक्षण नही है किन्तु टोपीका सिरमे सम्बन्ध बताना यह है लक्षण। डंडा वालेका लक्षण क्या ? डंडा। शकाकार कहता है कि डडा लक्षण नही है, किन्तु डडेका सम्बन्ध होना, यह है लक्षण। इस प्रकार जीवका लक्षण उपयोग नही है, किन्तु उपयोगका सम्बन्ध होना जीवके साथ यह है जीवका लक्षण।

तो शकाकारका यह कहना सही नही है, क्योंकि उपयोग और जीव यदि जुदे-जुदे रहे तो इनका कभी जीवके साथ सम्बन्ध हो नही बन सकता। तो जुदे रहने वाले दो प्रदेशो मे जैसे मानो हिमालय और एक विन्ध्याचल, तो इन दो प्रदेशोमे कभी आदान प्रदान स्वागत सत्कार हो जायगा क्या ? ऐसे ही जीव जुदा हो और उपयोग जुदा हो तो किसी समय उपयोगका जीवके साथ सम्बन्ध नही हो सकता।

अब और जरा स्पष्ट भाषामे समझो—जीवका लक्षण ज्ञान बताया और बतलाते हैं कि ज्ञान जुदा पदार्थ है, जीव जुदा पदार्थ है। ज्ञानका जीवके साथ सम्बन्ध बन रहा इसलिए जीवको लोग ज्ञानी कह डालते हैं। जीव तो खाली सूना चैतन्यमात्र है तो उनके सिद्धान्तमें ज्ञान जीवका लक्षण नही है। जीव ज्ञानात्मक नही है। किन्तु जीवके साथ ज्ञानका सम्बन्ध

है, यह ही जीवका लक्षण है, सो यह बात यो नही बनी कि अत्यन्त जो भिन्न हैं उनका आपसमे सम्बन्ध नही। तो इस कारणसे उपयोग जीवका लक्षण नही हुआ और यह उपयोग जीवसे अभिन्न है याने जीवका आत्मभूत लक्षण है, जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका यह लक्षण है ऐसा मत कहो। यह तो समझानेके लिए है, पर वास्तविकता यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है और उस ज्ञानके द्वारा ही हम आत्माकी पहिचान करते है। अब जरा भीतर निहारो—मै जानने वाला पदार्थ हू। किसको जान रहा हू ? निश्चयसे अपनेको ही जान रहा हू, बाह्य पदार्थोंका जानना नही बन रहा मुझमे। बाह्यपदार्थ तो विषयमात्र है और इस कारणसे यो कहा जाता व्यवहारमे कि हमने इसको जाना, इसको समझा, यो कहते है, मगर वास्तवमे आत्मा अपने आत्माको जानता।

अब जैसा विषय आया, पदार्थ आया ज्ञान उस रूपसे आत्माको जानता। यो ज्ञान जीवका लक्षण नही, किन्तु ज्ञानका सम्बन्ध जीवका लक्षण है तो उनकी इस कथनमे ये आपत्तियाँ आती है कि अगर ज्ञानका जीवके साथ सम्बन्ध जोड़े तब जीव ज्ञानी कहलाता। तो जब ज्ञानका सम्बन्ध न जोड पाया था तब जीव क्या था ? वह अजीव था क्या ? अचेतन था क्या ? फिर जीव बना क्या ? नही। जीव द्रव्य, सभी द्रव्य अनादि अनन्त है। आत्माका ऐसा ही स्वरूप है झलकने वाला कि इसमे जो सत् है उनके बारेमे परिचय बन जाता है। तो यो जीवका लक्षण उपयोग अभिन्न है और ऐसा अभिन्न है कि चाहे ज्ञान कहो, चाहे जीव कहो दोनो एकार्थक बन जाते है, केवल समझानेके लिए उनमे गुणगुणीका भेद डालते हैं। गुणी तो आत्मा है और उसमे ज्ञान गुण रहता है। इससे अपनेको क्या शिक्षा लेनी है कि मैं सहज ज्ञानात्मक हू। ज्ञान सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हू। ज्ञानको ही मैं करता हू, ज्ञानको ही मैं भोगता हू, इतना दृष्टिमे रहे तो इसे ज्ञानानुभूति बनती है और फिर ससारके सकटोंसे छूट जानेका उपाय इसे हस्तगत हो जाता है।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद ॥६॥

जीवोंके लक्षणभूत उपयोगके भेदोके वर्णनका प्रारम्भ—इस सूत्रमे उपयोगके भेदोका वर्णन है। उपयोग जीवका लक्षण है, यह उपयोग जीवके स्वतत्त्वमे से ही है, परतु लक्षणरूप से उपयोग ही है। जीवके भाव ५३ कहे गए है। २ औपशमिक, ९ क्षायिक, १८ क्षायोपशमिक, २१ औदयिक और ३ पारिणामिक। इन ५३ भावोमे से जीवकी पहिचान कराने वाले कुछ भाव है। यद्यपि औपशमिक आदि भावसे भी जीवकी पहिचान होती है, मगर डाइरेक्ट नही होती, ज्ञानसे औपशमिक भाव जाना और ज्ञानको जाना सीधे तरहसे, तो ऐसा लक्षण तो उपयोग है जो क्षायिक भावमे केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायोपशमिक भावमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, चक्षुर्दर्शन,

अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, ये जीवकी पहिचान बताने वाले भाव है। वैसे कषायसे भी जीवका परिचय होता है कि यह जीव है, क्योंकि यह कषाय हो गई, मगर जीवका लक्षण नही बन सकता, इसका कारण यह है कि किन्ही जीवोमे कषाय है किसीमे नही है। अगर कषाय जीवका लक्षण होता तो सब जीवोमें कषाय पायी जाती। चूंकि सब जीवोमे कषाय नहीं है इस कारण कषाय जीवका लक्षण नहीं है और इस दृष्टिसे उपयोगके भेद भी जीवके लक्षण नही।

जैसे कहे कोई कि मतिज्ञान जीवका लक्षण है तो मतिज्ञान सब जीवोंमें क्यों नही पाया जाता। अव्याप्त है मतिज्ञान, अतः यह जीवका लक्षण नही। उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है तथा उन ५३ भावोमे जो उपयोगके भेदरूप हैं उनका आधारभूत जो सामान्य उपयोग है, वह जीवका लक्षण है और शेषके जो भाव है औपशमिक आदिक तन्मय जो आत्मा है वह लक्ष्य होता है याने ५३ भावोमे लक्षणभूत भाव तो उपयोग है और शेष भाव लक्ष्य है। मोक्षशास्त्रमे जीवतत्त्वकी चर्चा चल रही है कि जीव कैसे-कैसे होते हैं, तो यह वर्णन तो पहले दूसरे अध्यायके सूत्रोमे है कि ५३ भावोंमे जीव पाया जाता है। उन भावोमें जो उपयोग है वह तो लक्षण है और बाकी भाव सब लक्ष्यभूत है। तो जीवका लक्षण जो उपयोग है उसके कितने भेद है ? उन भेदोकी बात चल रही है।

उपयोगके मूल भेदोंका वर्णन—उपयोग दो प्रकारका है— (१) साकार उपयोग और निराकार उपयोग, चाहे यह कहो कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो सामान्यको विषय करे वह तो है निराकार याने दर्शनोपयोग और जो विशेषको विषय करे वह है साकार मायने ज्ञानोपयोग। देखिये— जाननहार भी सामान्यविशेषात्मक है और जो जाननेमे आता है पदार्थ वह भी सामान्यविशेषात्मक है। जो भी सत् है, वस्तु है वह सब सामान्यविशेषात्मक है। तो ज्ञेय पदार्थकी ओरसे कहो जो सामान्य विषय हो रहा है वह तो है दर्शनोपयोगका विषय और जो विशेष विषय हो रहा है वह है ज्ञानोपयोगका विषय। इतना ही नही, किन्तु यह समझना कि सामान्यविशेषात्मक ज्ञेय पदार्थका जो सामान्यरूपसे चेतन हो रहा है वह तो है दर्शनोपयोग और सामान्यविशेषात्मक पदार्थका जो विशेषरूपसे चेतन हो रहा वह है ज्ञानोपयोग। अब जीवकी ओरसे देखिये—प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक होता है, तो जीव भी सामान्यविशेषात्मक रहा। तो जीवका जो स्वभाव है चेतना वह चैतन्य सामान्यविशेषात्मक रहा। तो जो सामान्य चेतना है वह तो है दर्शनोपयोग और जो विशेष चेतना है वह है ज्ञानोपयोग। उपयोगके भेदोसे उपयोगकी बात भली प्रकार समझमे आती है। जीवका लक्षण उपयोग है। इस सूत्रके इतने पदका अर्थ यह हुआ— सः द्विविधः, वह उपयोग दो प्रकारका है। और वह दोनो प्रकारका उपयोग अष्ट चतुर्भेदः, आठ चार भेद वाला है। ८ भेद है ज्ञानोप-

योगके और ४ भेद है दर्शनोपयोगके तो अपने आप क्रम यह बन गया कि उपयोग दो तरहका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ।

ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगमें प्रथम ही ज्ञानोपयोग शब्द देनेका प्रयोजन—ज्ञानोपयोग को पहले क्यों कहा और दर्शनोपयोगको बादमें क्यों कहा ? उपयोग दो तरहका—(१) ज्ञानोपयोग और (२) दर्शनोपयोग । तो ज्ञानको पहले कहनेका कारण है कि ज्ञान द्वारा ही सब कुछ जाना जाता है । ज्ञान पूज्य है, आदरणीय है, क्योंकि ज्ञानने ही दर्शनकी खबर दिलाया। ज्ञान ही समस्त पदार्थोंको प्रकट कराता है तो ज्ञान तो है पदार्थोंका ज्ञान कराने वाला विभावक और दर्शन है केवल अवलोकन मात्र । एक प्रतिभास हो गया । सो यद्यपि हम आपके पहले होता है दर्शन, बादमे होता है ज्ञान । फिर भी इस क्रमका उल्लघन करके ज्ञानको पहले कहा है, दर्शनको बादमे कहा । इसका कारण यह है कि ज्ञान ही सबका परिचय कराने वाला है ।

जैसे णमोकार मत्रमे ५ परमेष्ठियोमे सबसे महान् सिद्धभगवान है, क्योंकि आत्माकी सर्वोपरि स्थिति सिद्धप्रभुकी है । अरहत भी बहुत दिनो तक अरहत नही रह पाते, वह भी सिद्ध हो जाते है, तो सर्वोपरि परमेष्ठी सिद्ध है तिसपर भी णमोकार मत्रमे अरहत भगवानका नाम पहले लिया णमो अरिहताण । इसका कारण यह है कि अरहतभगवानके यहाँ दर्शन हो सकते, उनका समवशरण भी होता है, उनका दिव्य उपदेश होता है । तो जिनका जो कुछ आगम है, जितना हम शास्त्रो द्वारा जानते हैं उस सबकी परम्परामे मूल अरहत भगवान हैं, और अरहत भगवानके उपदेशसे ही सिद्धप्रभुका परिचय मिला है । इस कारण बडे सिद्ध होनेपर भी अरहतका नाम पहले लिया है । यह बात थोडे अन्तरमे ही फब सकती है । अरहत और सिद्ध दोनो सर्वज्ञ है, वीतराग है, भीतर दोनो एक समान हैं । सिर्फ बाहरी भेद है कि सिद्धके शरीर नही, अरहतके शरीर है । सिद्धके अघातिया कर्म भी नही, अरहतके अघातिया कर्म हैं । तो यह उपरी ही दोष थोडासा रह गया है, अन्दर दोनोमे समानता है, इसलिए उनमे तुलना करके सिद्धसे पहले नाम लिया । नही तो कोई कहने लगे कि पहले तो साधुका नाम लो, क्योंकि उससे पहले वास्ता पडता है तो सिद्धमे और अरहतमे इतना अन्तर है । बहुत अन्तरमे नही सोचा जा रहा । अरहत और सिद्ध ये निकट है, केवलज्ञानी हैं, वीतराग हैं, निर्दोष हैं, मुक्त हैं, पवित्र है, केवल अघातियाकर्मका अन्तर है, और फिर समस्त उपदेशोके मूल अरहत प्रभु है । तो जैसे सर्व तत्त्वोका स्पष्ट ज्ञान होनेमे मूल निमित्त अरहत प्रभु है, इसलिए अरहतका नाम पहले रखा है, इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन—इन दो मे दर्शनकी भी समझ बनाने वाला और पदार्थोंकी भी समझ बनाने वाला ज्ञान है, इसलिए उपयोगके क्रममे ज्ञानोपयोग पहले और दर्शनोपयोग पीछे बताया ।

अष्टचतुर्भेदके कथनसे प्रथम ज्ञानोपयोगका नाम देनेकी सूचना—अब एक शंका यहाँ यह हो सकती है कि सूत्र तो इतना ही है कि वह दो प्रकारका है और ८ व ४ भेद वाला है। सूत्रमे तो ज्ञानोपयोगका सकेत पहले दिया, दर्शनोपयोगका बादमे दिया। यहाँ तो कुछ नही लिखा। सूत्रका अर्थ तो इतना ही है कि वह दो भेद वाला है और ८ व ४ भेद वाला है, फिर कैसे जाना कि सूत्रमे ज्ञानोपयोग पहले कहा, दर्शनोपयोग बादमे कहा ? तो यह बात समझाई गई है—८ व ४ भेद वाला है, इन शब्दोसे यहां तो स्पष्ट है ना ८ पहले कहा, ४ बादमे कहा। अब ८ भेद है ज्ञानोपयोगके, इसलिए पहले ज्ञानोपयोग आया। ४ भेद है दर्शनोपयोगके इसलिए बादमे दर्शनोपयोग आया। तो हम लोगोके दर्शनोपयोग पहले होता, ज्ञानोपयोग बादमे होता, लेकिन वर्णनके प्रसंगमे ज्ञानोपयोगका नाम पहले लिया और दर्शनोपयोगका नाम बादमे लिया।

दर्शनोपयोग क्या चीज है ? दर्शनोपयोग तो वास्तवमें यह है कि जाननहार आत्मा का जो एक निर्विशेष प्रतिभास है वह है दर्शनोपयोग, लेकिन छद्मस्थ जीवोमे दर्शनोपयोग किस तरह होता और केवलज्ञानीमे किस तरह होता, इसमे भेद आ गया। और वह भेद है आवरणके कारण। भगवानका ज्ञान दर्शन निराकरण है इसलिए ज्ञान और दर्शन दोनो उपयोग एक साथ चलते है। वे किस तरह चलते कि ज्ञानके द्वारा तो त्रिलोक त्रिकालज्ञात हुए और त्रिकाल त्रिलोकका ज्ञान करने वाले इस आत्माका प्रतिभासके साथ-साथ चल रहा तो यह दर्शनोपयोग भी साथ ही साथ हो रहा। भगवानके ज्ञानोपयोगमे अन्तर नही आना, इस लिए निरन्तर ज्ञानोपयोग है तो अगर ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग वहाँ साथ न हो तो यो कहो फिर कि दर्शनोपयोग कभी होगा ही नही। उनके ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग दोनों ही प्रतिसमय चलते है, किन्तु छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमे आवरण पडा है, उनका क्षयोपशम चलता है। तो जिस समय जीव ज्ञान कर रहा है उस समय ज्ञानकरनहार आत्माका प्रति भास करलें यह छद्मस्थ जीवोमे नही बनता, किन्तु जब किसी वस्तुका ज्ञान नही कर रहा यह जीव, ज्ञान कर चुका, अब दूसरी वस्तुका ज्ञान करे तो बस एक वस्तुका ज्ञान कर चुका, दूसरेका ज्ञान करने वाला है, इस बीचमे आत्माका सामान्य प्रतिभास होता है जो कि नवीन ज्ञानको उत्पन्न करने के लिए बल देता है वह दर्शनोपयोग है छद्मस्थका तो यो कहो कि दर्शनोपयोगमे जो विषय बना, जो सामान्य प्रतिभास हुआ उसको जीव अगर इस तरह पकड ले कि यह हू मैं तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन हुआ है उसको इस सहज त्रैकालिक चैतन्य सामान्यके अनुभवसे हुआ है। उसमे यह विकल्प नहीं बनता उत्पन्न होनेके समय कि यह मैं हूं, मगर उसकी प्रतीतिमे उस 'मैं' का अनुभव रहता है और वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो दर्शनोपयोग यह पहले होता है, हम आपके, फिर भी

दर्शनोपयोगका और और पदार्थोंका इस आत्माका ज्ञान कराने वाला ज्ञानोपयोग है, इस कारण ज्ञानोपयोगका प्रथम पाठ है।

ज्ञानोपयोगके भेदोका वर्णन—हाँ तो ज्ञानोपयोग है ८ प्रकारका—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान। इनमे ५ तो है सम्यक् और तीन है मिथ्या और उन ५ मे एक केवलज्ञान तो है परिपूर्ण और शेष ४ है अधूरे। मतिज्ञान नाम किसका कि इन्द्रिय और मनके व्यापारके निमित्तसे जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, जैसे आँखे खोली, देखा, परिचय हुआ यह मतिज्ञान है, फिर मतिज्ञानसे जो जाना उस ही के बारेमे कुछ और-और बातें भी समझी जायें जैसे मतिज्ञानसे समझा कि यह भीत है, अब उसे और समझा कि यह इस जगहकी भीत है, इसने बनवाया है, ऐसा स्वरूप है आदिक विशेषतायें जाने तो कह कहलाता है श्रुतज्ञान।

अब देखते जाना कि इन ज्ञानोसे जब हम जानते हैं तो यह उपयोग लग रहा कि नही। उपयोग लगनेकी बात मुख्य ससारी जीवोमे है, छद्मस्थमे नही, भगवानके उपयोगमे नही लगता, मगर जानते तो है इस कारण उनके ज्ञानोपयोग कहा है। उपयोग लगनेकी बात तो छद्मस्थ जीवोमे होती है और उपयोग लगनेका फल है पदार्थका परिचय होना, जानना बने, इस फलके कारण भगवानके भी ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कहा, पर उपयोग नही लगाते वह। उसकी पर्याय बन रही है। तो इन सब ज्ञानोमे देखिये उपयोग काम कर रहा। उपयोगका अर्थ है कि ज्ञेय वस्तुके जाननेके लिए ज्ञानका अभिमुख होना। अवधिज्ञानसे जाना कुछ मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थको, वह इन्द्रिय और मनकी सहायतासे नही ज्ञान हुआ, लेकिन अवधिज्ञानका उपयोग करनेसे पहले कुछ विकल्प तो बनता है। किसीने पूछा कि मैं पहले भवमे क्या था तो ये मुनिराज उसका उत्तर देनेके लिए कुछ उस ओर चिन्तन तो करते है। अब जानने चले अवधिज्ञान द्वारा तो वहाँ इन्द्रिय और मनका काम नही हो रहा, केवल आत्मीय शक्तिसे स्पष्ट ज्ञान हो गया। कैसा स्पष्ट ज्ञान होता अवधिज्ञानमे कि जैसे आख द्वारा हमको यह स्पष्ट ज्ञान होता कि यह अमुक चीज है, इसी तरहसे इससे भी और अधिक स्पष्ट उनको परिचय मिलता है रूपी पदार्थमे। वहाँ भी उपयोग है, मनःपर्ययज्ञानमे भी उपयोग है। ये मुनिराज किसीके मनकी बातको जाननेका जब उपयोग करते, विकल्प करते तब तो वह मतिज्ञान श्रुतज्ञान है और जब वे मनःपर्ययज्ञानके क्षेत्रमे उतरते हैं तो वहाँ इन्द्रिय और मनकी सहायता नही है। केवल आत्मीय शक्तिसे दूसरेके मनसे रहने वाले विकल्पको स्पष्ट जान जाते है। उपयोग यहा भी हो रहा और केवलज्ञानमे, वह उपयोग तो नही लगा रहे अगर जानन हो रहा है स्पष्ट समस्त विश्वके पदार्थोंका तो ज्ञानका जो परिणमन है वह भी उपयोग है। इसे कहो उपयोगका होना और इन्हे कहो उपयोगका लगाना। इस तरह भी इन

का अन्तर समझा जा सकता है और उपयोग जैसे मति, श्रुत, अवधिमे लगाया जाता ऐसे ही कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमे भी ज्ञान तो वही है, पर मिथ्यात्वका सम्बध होनेसे यह मिथ्याज्ञान है और मिथ्यात्वका सम्बन्ध न होनेसे वह समीचीन है। तो ज्ञानोपयोगमें उपयोग पाया जाता है, उपयोग सामान्य है, वह जीवका लक्षण है। उसके भेदोमे ये सब बातें कही जा रही है।

दर्शनोपयोगके ज्ञातव्य तत्त्वका प्रकाश—अब दर्शनोपयोगको देखिये दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—(१) चक्षुर्दर्शन, (२) अचक्षुर्दर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। वैसे प्रकार दो ही है—(१) क्षायोपशमिक दर्शन और (२) क्षायिक दर्शन। क्षायोपशमिक दर्शन ३ है, इस प्रकार दर्शनोपयोग चार है। चक्षुर्दर्शन—आँखके निमित्तसे उस ज्ञानसे पहले जो आत्माका सामान्य आलम्बन हुआ, सामान्य प्रतिभास हुआ जिसके बलसे चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान बनने वाला है उसे कहते है चक्षुर्दर्शन और आंखोको छोडकर बाकी इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान होने वाला है उस ज्ञानोपयोगसे पहले जो एक आत्माका सामान्यप्रतिभास है, आत्मा का आलम्बन है, जिसके बलसे ज्ञान प्रकट होने वाला है वह अचक्षुर्दर्शन है।

देखिये, दार्शनिकोने आश्रय तो आत्माका लिया। जिनका यह भी कथन है कि दर्शन उसे कहते हैं कि सर्व पदार्थोंका सामान्य ग्रहण है, तो यह बतलावो कि सब पदार्थोंका सामान्य ग्रहण किस तरह होता है ? जगतमे अनन्तानन्त पदार्थ है। इन समस्त पदार्थोमे जो सामान्य तत्त्व है, सामान्य सत्ता, जिसमे सर्व पदार्थ गर्भित हो जाते है, उसका जब अवलोकन होगा तो कोई पदार्थ उसके चित्तमे है क्या ? अगर कोई पदार्थ चित्तमे है तो वह विशेष प्रतिभास कहलायगा, सामान्य प्रतिभास नही। तो सामान्य प्रतिभासके समय पदार्थ विशेष की चेतना नही चलती। तो अगत्या आत्मा तो कही गया नही, उसकी चेतना चलती है, मगर खेद तो यह है कि यह जीव पाई हुई सुविधाका सदुपयोग नही करता, इस जीवको सुविधा है, क्योकि दर्शनोपयोग इसके चलता रहता है। दर्शनोपयोगमे आत्माका बल, ज्ञानके लिये सम्पन्न होता है, आत्माका आलबन होता है, आत्माका विषय होता है, मगर इस मोही जीवमे ऐसा वेग और प्रवाह है कि उस समय यह अनुभव नही कर सकता कि मैं यह हू। यह ही खेदकी बात है। इस परमात्माका परमात्मत्व देखो कि इसकी बान निरन्तर मिल रही है, जिसे कहे एक उदाहरण उस परमात्माका सेम्पिल निरन्तर दिखता जा रहा है, मगर यह मोही जीव उस परमात्मत्वके सेम्पिलको ग्रहण नही कर पाता कि ओह यह मैं हू। तो चक्षु और अन्य इन्द्रिय मनके द्वारा जो ज्ञान होने वाला है उससे पहले जो सामान्य प्रतिभास है, आत्मबलका प्रकट करने वाला है, जानकारीके लिए बलाधायक ये सब चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन हैं, अब अवधिदर्शन अवधिज्ञानसे पहले होने वाले दर्शनको अवधिदर्शन कहते है।

अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके लिए यह जीव पहले तो विकल्प करता है। जानूं, किसे जानूं · ऐसी एक चित्तमे बात उठती है कि इसे जानूं। उसके बाद होता है अवधिदर्शन और अवधि-दर्शनके ही तुरन्त पश्चात् अवधिज्ञान होता है। मनःपर्ययज्ञानसे पहले दर्शन नही है, किन्तु मतिज्ञान होता है। उस मतिज्ञानसे पहले दर्शन था। इस प्रकार ये क्षायोपशमिक दर्शन ३ हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन। केवलदर्शन क्षायिक है। कैसा निरन्तर ज्ञान दर्शनका उपयोग चल रहा कि समस्त पदार्थ जाननेमे भी निरन्तर आ रहे और समस्त पदार्थोंके जाननहार आत्मामे भी प्रतिभास निरन्तर चल रहा है।

आत्माकी ऋद्धियोका हेतु सहज अन्तरतत्त्वका आलम्बन—ऐसा महान केवलज्ञान बने, केवलदर्शन हो, मन.पर्ययज्ञान हो, सम्यक् अवधिज्ञान हो, इन बातोको सुनकर तो चित्तमे होता है कि यह मेरे प्रकट हो जाय, मगर ऐसा सोचनेमे यह निधान प्रगट नही होता, किन्तु आत्माका सम्यक् बोध करके, इन विकल्पोको हटाकर आत्मरसका जो अनुभव लेता है उसके ये सब ऋद्धियाँ अपने आप उत्पन्न होती हैं। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, इनको ऋद्धि बताया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो ऋद्धि नही, मगर मतिज्ञानमे कोई अतिशय बन जाय तो वह भी ऋद्धि कहलाती है। जैसे दूरसे देख लेना, सुध लेना, चक्रवर्तीके कटक की भी आवाज हो तो उसे पृथक् पृथक् सुन लेना, ये ऋद्धियाँ बन जाती है। श्रुतज्ञान तो ऋद्धि नही है, मगर आगमका विशेष ज्ञान हो तो वह ऋद्धि बन जाता है। जैसे दसपूर्वविद् होना, द्वादशाग वेदी बनना, ये सब ऋद्धियाँ हो जाती है। तो ये ऋद्धियाँ चाहनेसे नही मिलती, किन्तु सर्व चाह छोडकर एक सहज आत्मतत्त्वका आराधन चले तो ये ऋद्धियाँ स्वय-मेव प्राप्त होती हैं और ऐसी ऋद्धियाँ है कि जिसे प्राप्त हो जायें उसे कहो खबर भी न रहे कि मुझे कुछ ऋद्धियाँ प्राप्त हुई है, पर उसके ऐसी अद्भुत योग्यता और शक्ति प्रकट हो जाती है।

ये सब ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग जिस उपयोगके भेद हैं वह उपयोग सामान्य यहा जीवका लक्षण कहा गया है। इस प्रकार दूसरे अध्यायमे इस प्रसग तक जीवके स्वतत्त्व क्या है, इसका वर्णन हुआ। ये स्वतत्त्व जिस जीवके है, उसका लक्षण क्या है यह भी वर्णनमे आया, वह लक्षण है उपयोग और जो उपयोग जीवका लक्षण है उस उपयोगके कितने भेद हैं इसका वर्णन इस सूत्रमे कहा गया है।

मोक्षमार्ग समझानेकी प्राथमिकताका कारण—मोक्षशास्त्रमे सर्वप्रथम सूत्र आया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। बस इस समस्त ग्रन्थका आधार यही सूत्र है। इस सूत्रमे जो बताया है उस विषयके बाहर इस ग्रन्थका एक भी अक्षर नही है। इस सूत्रके बारेमे कुछ शकायें हो सकती हैं कि सर्वप्रथम

यह मोक्षमार्गकी ही बात क्यो कही ? पहले मोक्षकी बात कहते कि मोक्ष यह है फिर मोक्ष-मार्ग बताते । एक बात । दूसरी बात मोक्षसे पहले तो ससार है । तो क्रमभग क्यो किया ? ससारकी बात पहले बताते, फिर मोक्षमार्ग और मोक्ष ये सब बातें कहते और बध, बधमार्ग और फिर मोक्ष कहते । ऐसा न बताकर एकदम मोक्षमार्गकी बात कही, सो ऐसा कहनेके कुछ कारण है । पहली बात यह है कि आचार्य महाराजका यह उद्यम ससारके जीवोको सुगम विधिसे ससारके दु:खोसे छूटकर मोक्षमे पहुच जानेके उपाय बतानेके उद्देश्यसे है । अगर बध और बधमार्ग बता देते तो यह ससारका रोगी घबडाकर यह सुनना ही छोड देता और बात जाने दो । यह तो जब बधकी विधियाँ बतायी जायेंगी तो उसमे उलझ जायगा । ससारके रोगीको तो एकदम सीधा दु:खोसे छूटनेके उपायकी बात चाहिए । फिर क्या रोग, क्या नही है, इसकी थोडी तसल्ली हो जानेके बाद तसल्ली कर दी जाती । यो बध और बधमार्गकी बात पहले नही कही । रही मोक्षकी बात, क्यो नही मोक्षकी पहले बात की ? मार्ग पीछे बताते । जिसका मार्ग बताना है उसकी बात तो कहनी चाहिए ना । तो मोक्षकी बात यो नही आवश्यक समझी कि मनुष्य मोक्षमार्गके बारेमे विवाद नही रखते । सामान्यतया सभी दार्शनिक मोक्ष मानते है और सामान्यतया मोक्षका अर्थ भी यह कहते कि सब दु:खोसे छुटकारा होना । कर्म छूटें, ससारमे रुलना छूटे यह मोक्ष है ऐसा सब समझते तो मोक्षके स्वरूपमे विसम्वाद हो न रहा । कुछ सूक्ष्म दार्शनिक बातमे विसवाद है सो उसको कहनेका शुरूमे कोई मतलब नही । तब मोक्षके मार्गमे विवाद है अतएव मोक्षमार्गकी बात प्रथम कहनी पडी । कोई मानता है कि बस ज्ञानभर करलो मोक्ष हो जायगा । कोई मानता है कि अरे अभी यज्ञ करो, ध्यान करो, प्राणायाम करो, ऐसे-ऐसे क्रियाकाण्ड करो तब मोक्ष मिलेगा । तो मोक्षके मार्गके बारेमे लोगोको बहुत विसम्वाद है । कुछ लोग कहते है कि कुछ भी कर लो रास्ते अनेक है मोक्षमे पहुचनेके । जिस रास्तेसे जावोगे उसीसे मोक्षमे पहुच जावोगे । तो यो अनेक प्रकारके लोग भाव रखते है । उस विसम्वादको दूर करनेका प्रयोजन होनेसे सर्वप्रथम मोक्षमार्गका वर्णन किया ।

मोक्षशास्त्रकी रचनाका आधार मोक्षमार्गका प्रतिपादन—अब इस मोक्षमार्ग वाले सूत्रसे ही समस्त ग्रन्थोका सम्बन्ध है, कह तो दिया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पर ये हैं क्या तो सम्यग्दर्शनकी बात पहले कही । बात तो कहे वह जो लोगोको प्रथम-प्रथम बताना चाहिए और जो निश्चयसे सम्यक्त्व है वह भी स्वय अनुभव कर लिया जाता है अथवा किसी विधिमे निश्चयदृष्टिसे समझेंगे तत्त्वोको तो पा लेंगे । सम्यक्त्वको बताया—तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यक्त्व है । अच्छा तो वे तत्त्व कितने हैं, कौनसे हैं, जिनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व होता । तो जीवादिक ७ तत्त्व कहे—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा

मोक्ष। अच्छा इन सब बातोको हम समझें कैसे ? लोगोको बिठायें कैसे ? तो प्रथम अध्याय मे केवल जानकारीका उपाय बताया है। प्रमाणसे जानो, नयसे जानो, अन्य अनुयोग द्वारोंसे जानो। सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन आदिकसे जानो। तो उपायोका वर्णन है प्रथम अध्यायमे कि पदार्थ जाना किस उपायसे जायगा ? जब उपायोका वर्णन कर चुके और इसमे प्रथम अध्याय समाप्त हो गया तो अब जीवादिक ७ तत्त्वोकी चर्चा चलेगी, ऐसा उनका सकल्प हुआ और उसके अनुसार द्वितीय अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन है। जीवतत्त्वका इतना बडा वर्णन है कि थोडी-थोडी बात बताने पर भी ग्रन्थरचनामे जो अध्याय विभागकी माप सोची उससे अधिक हो जाती है। इस कारणसे दूसरा तीसरा चौथा इन तीन अध्यायोमे जीवतत्त्वका वर्णन है। कोई कह सकता ऐसा कि तीन अध्यायोमे क्यो वर्णन किया ? एक ही अध्यायमे सब कह देते, दूसरा रहने देते। तो साहित्यकी दृष्टिसे सूत्ररचनाका ही एक इस तरहका ढांचा होता कि उनमे जो विभाग बनाया, उनमे रचना पूर्ण रूपसे समान तो नहीं, मगर करीब-करीब समान होना चाहिए, एक बात। दूसरी बात यह है कि जीवके स्वरूपके वर्णनके वे भी जुदे विभाग है। दूसरे अध्यायमे जीवोका एक सामान्य तौरसे वर्णन है। तब तीसरे अध्यायमे गतियो और उन गति वाले जीवोंके निवास स्थान आदिकके हिसाबसे वर्णन है, मगर देवगति का स्वतत्र चौथे अध्यायमे वर्णन किया। तो दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन है।

जीवके स्वतत्त्वके और जीवके लक्षणके प्रतिपादनपर जीवके भेदविस्तारकी निर्भरता— द्वितीय अध्यायमे पहले जीवके स्वतत्त्व कहे। औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र आदिक ५३ भाव है वे जीवके स्वतत्त्व है। उनका वर्णन करनेके बाद एक जिज्ञासा हुई कि ये स्वतत्त्व जिस जीवके कहे उस जीवको पहिचाननेका लक्षण क्या है ? तो उत्तर दिया—उपयोगो लक्षण। जीवका लक्षण उपयोग है। अब उपयोग और स्वतत्त्वमे फर्क क्या ? पहले बताया जीवके स्वतत्त्व ५३ भाव और अब कहते जीवका लक्षण उपयोग है। तो अन्तर यह था कि स्वतत्त्व और स्वतत्त्व वालेको ही पहिचानना है, इसलिए वे सब लक्ष्यमे चलेंगे। पहिचान तो उपयोग है और कौनसा उपयोग ? सामान्य उपयोग। उपयोगके भेद भी बताये गए—ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, लेकिन ये जीवके लक्षण नही हैं, हैं जरूर उपयोगके भेद, मगर लक्षण वह होता है कि जिसका लक्षण किया जाय उस सबमे पहुचे। और जिसका लक्षण नही करना उसमे न पहुचे तो मतिज्ञान सब जीवोंमे नही पहुचता। सिद्ध छूट गए। केवलज्ञान सब जीवोमे नही है। ससारी ये छद्मस्थ छूट गए। न तो केवलज्ञान जीवका लक्षण है, न मतिज्ञानादिक लक्षण हैं। लक्षण है उपयोगसामान्य, जिसके ये १२ भेद हैं—८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग। यह सब वर्णन होनेके बाद अब विशेष वर्णन करनेके लिए यह जानना आवश्यक हुआ कि उपयोग लक्षणके द्वारा जिस जीवतत्त्वकी पहिचान करायी गई वे

जीवतत्त्व किस प्रकारसे कहाँ कैसे अवस्थित है, क्या उनकी स्थिति है ? यह बात बतानेके लिए प्रथम सोपाधि निरुपाधिकी दृष्टिसे भेद बतानेको सूत्र प्रारम्भ होता है ।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

उपयोगलक्षणसे लक्षित जीवके भेदके प्ररूपक प्रकृत सूत्रकी रचनामें लाघवका सुझाव और उसका अनौचित्य—उपयोग लक्षणके द्वारा जिस जीवतत्त्वको दर्शाया गया वे जीव दो प्रकारके है—(१) ससारी जीव और मुक्त जीव । जो प्रकृत सूत्र रचना हुई है उसमे तीन शब्द पड़े है—ससारिण. मुक्ता· च, ससारी और मुक्त जीव । तो इस रचनापर एक आशका हो सकती है कि अगर दो ही नाम ले लेते ससारी और मुक्त और समास कर देते तो सूत्र बहुत छोटा हो जाता—ससारिमुक्ताः । उसमे णः न लेना पडता और न "च" । दो अक्षर कम हो जाते और ऐसे कई सूत्र है । जहाँ स्थावरके भेद बताये तो एकदम कह दिया पृथिव्यप्तेजीवायुवनस्पतयः स्थावरा. लगातार नाम है । न बीचमे विभक्ति है और न च शब्द है और न कुछ टूट है । एक समास है, जिसका अर्थ है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, अर्थ सही हो जाता है । तो ऐसे ही ससारी और मुक्त इन दोनोको इकट्ठा रख देते, क्यो अलग किया और क्यो च शब्द दिया ? तो ऐसा कोई शकाकार सोच सकता है, मगर आचार्यजन इतने प्राज्ञ होते है कि सहज ही उनके मुखसे वाणी निकली और उसमे कोई दोष नही आता । तो यहाँ जो सूत्र कहा है ससारिणो मुक्ताश्च, ससारी और मुक्त यह सूत्र ठीक है । यह योजना ठीक नही कि इस विस्तारको न लेवे और बनावे ससारिमुक्ताः समास हो गया और खुश होवे कि णः भी मिट गया, च भी मिट गया । सो ऐसी शङ्का रखना व्यर्थ है । सोचो इसका छोटा सूत्र क्यो नही बनाया ? ससारिमुक्ताः । तो आचार्यके कौशलयको अकलकदेव बतलाते है कि यदि ऐसा कर देते ससारिमुक्तः, अलग-अलग विभक्ति न रखते और च शब्द न डालते तो इसका पूर्व सूत्रसे सम्बन्ध हो जाता । उपयोगी दो तरहके है । उपयोगका ही तो सूत्र था पहले । दूसरी बात यह है कि जब समास करते हैं ना—ससारिमुक्तः तो समासके कायदेके अनुसार मुक्त शब्द पहले आ बैठता तब बनता मुक्तससारिणः । क्यो मुक्त शब्द पहले बैठाल दिया जाता कि समासमे यह नियम होता है कि जिसमे थोडे शब्द हो वह पहले रखा जाता है । यह है द्वन्द्व समास । द्वन्द्व समासमे सब शब्द प्रधान होते है । जैसे कोई आदमी दो चार लडकोका नाम लेकर बुलाये कि फलाने तुम आवो, फलाने तुम आवो तो वे सब लडके प्रधान है, सबको बुलाया, तो मानो चार लडके है । चारोके चार नाम है, अब किसीका बहुत बडा नाम है । मान लो किसीका ६-७ अक्षरोमे नाम हैं, किसीका दो तीन अक्षरोमे नाम है । आप जब बुलाने बैठेंगे तो प्रकृत्या आपके मुखसे छोटे अक्षर वाला नाम पहले निकलेगा और द्वन्द्व समासमे भी यही कायदा है । तो यो मुक्त शब्द पहले लग बैठता तो अर्थका अनर्थ हो जाता,

फिर यह अर्थ होता कि छूट गया है ससार जिसका वह जीव है और बाकी सब अजीव हो गए। संसारीकी बात ही न आ पायगी। और यहाँ बताते है जीवके भेद कि जीव दो प्रकार के है—ससारी जीव और मुक्त जीव।

अवनतिसे उन्नतिकी ओरका क्रम— सूत्रमे जो क्रम दिया है उसके अनुसार अब व्याख्या बनायें। ससारी किसे कहते और मुक्त किसे कहते ? देखिये—जीव जातिकी अपेक्षा सब समान है और इसी कारण जीवका लक्षण उपयोगसामान्य किया गया है। जिस लक्षणकी निगाहसे मुक्त हो चाहे ससारी हो सब समान हैं ? कोई प्रधान हो, कोई अप्रधान हो सो नही। स्वरूप दृष्टिसे चैतन्यमात्र जीव है। कुछ अध्यात्मसे तो यह बनावें कि जो एक चैतन्य सामान्य है, जीवत्व भाव है उसका उपयोग जिसके नही है उसकी पूर्ण विशुद्धता जिसके नही है वह है ससारी और जिसके जीवत्व केवल प्रकट हो गया, उपाधि भी न रही वह है मुक्त जीव। इसमे यह उपाय भी समझ लेना कि जो जीव अन्तः जीवत्वभावकी आराधना करते हैं यह मैं हू, देखिये कितना सरल तरीका है सर्व झझटोसे छूट जानेका। परवाह न करें, निर्धन है तो बीमार है तो, या अन्य किसी प्रकारकी असुविधा है तो इस जीवको रच भी असुविधा नही। कैसे हो असुविधा, ? पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, जीव जुदे-जुदे है, अणु-अणु जुदे हैं। एक द्रव्यपर दूसरा द्रव्य करेगा क्या ? कोई किसी दूसरेकी परिणति नही कर सकता। असुविधा क्या ? अब हम ही अगर संसारके बहुतसे जीवोसे ममता करके उन्हे अपनायें या अपनी नामवरी, कीर्ति या शरीर किसी भी चीजसे ममता करके उसे अपनायें तो दुःख भोगने कोई दूसरा न आयगा। वस्तुस्वरूपमे अन्याय नही है कि गडबडी तो कोई करे और दुःख कोई भोगे। जो गडबडी मचायेगा सो ही दुःखी होगा। जो जड वैभवोकी कीर्तिमे शरीरमे ममता रखेगा, उसका ख्याल बनायेगा वही दुःख भोगेगा, दूसरा नही। और जो इन बाहरी बातोकी परवाह न करके एक अपने अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्यस्वभावको ज्ञानमे लेकर 'यह मैं हू' ऐसा अपना अनुभव करेगा वह मोक्षमार्ग पायगा, मोक्ष पायगा।

मोहकी महापापरूपता और मोहसे मुक्ति होनेपर सर्वसकटोंसे मुक्त होनेकी सुगमता— शरीरमे आत्मदृष्टि करना महा पाप है। कषायसे भी अधिक पाप है मोह। कोई कषाय तो कम रखता हो, क्रोध भी न करे, शान्तसा रहे, घमड भी न बगराये, प्रथम तो यह बात जरा असम्भव है कि जिसके मिथ्यात्व लगा, शरीरमे आत्मबुद्धि है उसके कषाय भी कम हो जाय, यह कही बिरलेके हो सकता है। नही तो कुछ लोकापवादसे डरकर कि हम कषाय न करें, क्रोध न करें, घमड न करें, नही तो लोगोमे हमारी प्रतिष्ठा न रहेगी। मायाचार तो गुप्त चीज है, उससे तो डरता नही, क्योकि उसकी मायाचारी किसीको आंखो दिखती नही, परन्तु इस मायाको तो शल्य बताया है। यह माया शल्य कांटेकी तरह चुभा

करती है। लोभकी भी करतूत लोगोको दिख जाती। उससे भी भय करते कि अधिक लोभ न करें, नही तो लोगोमे प्रतिष्ठा खत्म हो जायगी। तो जब तक मिथ्यात्व नही छूटा, देहमे ममता नही छूटी, अहकार नही छूटा तब तक वास्तविक मायनेमे कषायोपर विजय करना भी कठिन है अगर सीधा और वृक्षको मूलसे हटाना ही है तो जडसे ही तो लोग प्रहार करते हैं कि फिर न उगे, तो ऐसे ही यदि दुःखोको मेटना है तो सीधे अपने अनादि अनन्त चैतन्य-स्वभावमे 'यह मैं हू,' ऐसा अनुभव करना है। बाकीके लिये बच्चे बन जावो। परवाह न करो कि हमारी प्रतिष्ठा है कि नही, धन वैभव है कि नही। जो मोक्ष चाहता है, मोक्षमार्गमे लगना चाहता है उसको बडे-बडे बलिदान करने पडते हैं। किसका बलिदान ? विषय कषायोका, कीर्ति, नाम, लोभ घमड आदिक विकारोका बलिदान करना होता है। तो मुक्त होनेका उपाय तो एक निज सहज चैतन्यस्वभावमे 'यह मैं हू' ऐसा अनुभव करना है। ऐसे अनुभवको त्यागकर, ऐसी प्रतीतिको त्यागकर किसको रिझानेके लिए क्या चेष्टा करना है, सो बतलावो ? किसको रिझाया जाय कि सुखी हो लें ? है कोई दुनियामे ऐसा ? फिर क्यो इस अनुभवके मार्गसे हटना और दुःखके मार्गमे लगना। इस सहज स्वभावका जिसने आत्मसात् किया वह पुरुष मोक्षमार्गी है, मुक्त होगा।

जीवोका स्वरूप एक होनेपर भी व्यक्तित्वकी अप्रतिषेध्यता होनेसे जीवकी विविधता— यह जीवसमुदाय सब लक्षण दृष्टिसे सब समान है, एक है फिर भी यह भेद निषिद्ध नही है। मना नही किया जा सकता। ये दो भेद है ही—कोई ससारी और कोई मुक्त। जिसके ससार लगा है वह ससारी और जिसका ससार छूट गया सो मुक्त। ससार मायने क्या कि अपने आत्मा ही द्वारा जो कर्मोंका ढेर लगा लिया, बध गए उसके फलमे इस आत्माको नये नये भवो की प्राप्ति हुई, इसे ससार कहते हे। आत्मा ही कर्मोंको संचित करता है मायने आत्माके मोह और कपाय भावका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती है, और जब उनका उदयकाल आता तो इस आत्मामे ही विकारोका भव धारणका योग लेना पडता। एकके किएको दूसरा नही भोगता। आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है। यह बात संसारी जीवोके लक्षणके जाननेके प्रकरणमे भली भांति समझ लेनी चाहिए। जैसे कि अन्य कोई दर्शन मानते कि प्रकृति तो करती है और आत्माको फल भोगना पडता है, उनका स्पष्ट मतव्य है, जो तीन गुण वाली प्रकृति है—सत्त्व, रज, तम। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही ज्ञान करे, घमड करे, शरीरको अपनाये, शरीरको वनाये, विपयोको भोग, विषयों को पैदा करे, ये सब प्रकृतिके काम बताये और पुरुष मायने आत्मा। तो प्रकृतिके किए हुए कर्मोंके फलको भोगता है, करता है अचेतन और भोगता है चेतन। देखिये–जो कोई भी दार्श- हुए, सामान्य बुद्धिके तो वे भी न थे, उनकी कुछ व्याख्या की जावे तो अपने को भी ऐसा,

लगेगा कि करता कोई है और भोगता जीव है। भोगने वाला तो जीव ही है और कौन भोगेगा ? छोटी-छोटी बातें लो चले जा रहे, कहीके पत्थरकी चोट लग गई और दुःखी हम हो गये या भीतका पत्थर सिरमे लग गया तो चोट तो पत्थरकी लगी सिरमे, मगर दुःखी जीव हो गया, और जो लोग कहते कर्मके उदयसे जीवको फल भोगना पडता और कषाय कर्मके उदयसे होती है तो कर्मके उदयसे कषाय हुई और कषायमे जीवको दुःखी होना पडा। जो बंध हुआ उसका कारण क्या ? तो किसीने किया यह ओटोपाये। क्रोध, मान, माया, लोभादिक किसने कराये ? कर्मके उदयसे हुए। कर्मने ही बधन कराया, पर भोगना किसे पडा फल ? जीवको। कुछ कुछ लगेगा ऐसा, पर वास्तविकता नही है ना यह, तो उसमे दोष आता है। अगर यह बन जाय नियोग कि करने वाला और है, भोगने वाला और है, प्रकृतिने तो पाप कराया, कषाय कराया, बंध कराया, बधन कराया, जन्म मरण कराया और भोगना पडा जीवको। अगर ऐसी बात बने तो जीवका कभी मोक्ष हो ही नही सकता, क्यो कि जीव अगर करने वाला होता तो कुछ वश भी चलाता, अधिकार भी चलाता। विकार न करना, थोडा करना, डरकर करना, मगर जब प्रकृति करने वाली है जीवकी तो इसके हाथ पैर कट गए, अब क्या अधिकार रहा जीवका ? उसका तो फल भोगने भरकी बात रह गयी। तो करे कोई और फल भोगे जीव तो करने वाला गम क्यो खायगा ? वह क्यो नम्र पडेगा, क्यो हल्का बनेगा, अपना कुल क्यो मिटायेगा। सो प्रकृति करती रहेगी, जीव फल भोगता रहेगा, मोक्षकी क्या गुंजाइश ? और कहो कि नही, कुछ कुछ जीवकी चलती तो अन्यके करने की बातका नाश कर दिया इस जीवने। यह ही बात कर्म और जीवके बारेमे भी है।

कर्मानुभाग विपाकका निमित्त होनेपर होने वाले उपयोग परिणामकी चेतन क्रिया-निष्पन्नता — कोई यो पूछ बैठे कि जैन भी तो यह कहते हैं कि कर्मका उदय होता है उस समयमे कषायादिक जगते हैं तो कर्मने किया ना कषायोको, और भोगा किसने ? कर्म थोडे ही भोगने आयेंगे। अचेतन क्या भोगेगा ? जीव ही तो भोगता, सो यह उलाहना देना ठीक नही। वास्तवमे कर्म नही करता कषाय। कर्म तो अपना खेल रचता है। कर्ममे अनुभाग बधा था, उस अनुभागका उदय आया, कर्ममे अनुभागका विरूप बना, कर्मकी दशा बिगडी, बस, चूँकि यह जीव उपयोगस्वरूप है, ज्योतिस्वरूप है तो इसमे वह सारा अधेरा झलक गया, प्रतिफलित हुआ। ऐसा एक निमित्तनैमित्तिक योग है। सूर्यके नीचे बादल आ जायें और यहाँ प्रकाश न रहे, कुछ अधेरासा हो गया तो लोग कह तो देंगे यह कि बादलने आज अधेरा कर दिया, मगर बात यह गलत है। बादलने अधेरा नही किया। बादलोने तो अपने ही प्रदेशमे अपना फैलाव बनाया, घूम रहे हैं वे बादल, यहाँ अधेरा नही करता, मगर वह निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा कि प्रकाश तो हो और उस पर बादल आ जाये तो वह प्रकाश

अभिभूत हो जाता है, अधेरा आ जाता है। तो अधेरेको करने वाला वह ही पदार्थ है, जिस पर अधेरा है, पर योग है ऐसा। यही बात कर्मके बारेमे है। कर्मका अनुभाग उदयमे आया तो वह प्रतिबिम्बित हुआ तो वह उपयोग भी अंधेरेमे हो गया। अब यह अधीर होकर, घबडा कर विषयोमे लगता है। इसकी फिर परम्परा बनती है संसारकी। तो यहाँ वश है, कुछ थोड़ा किसी प्रकार बोध हो जाय उसका भी उपाय है। जब जान गए कि यह कषाय मेरे गाँठकी चीज नही है, जैसा रग रूप उन कर्मोमे है, जैसी क्षोभ कषाय उन कर्मोमे बसी है उसका प्रतिफलन है, उसमे मै जुड गया इसलिए मैं कषायवान बन गया। मैं क्यो जुडूँ ? मै अपने चैतन्यस्वरूपका ही अनुभव करूँ, यह हू मैं, अन्य कुछ नही हू। तो देखो मोक्षमार्ग चलने लगा ना उसका। तो आत्माके द्वारा ही वे सब बातें बधनकी चलती है। वहाँ भी निमित्तनैमित्तिक योग है और आत्माको ही उन कर्मोवश होकर भवान्तरोको प्राप्त करना पडता है, बस यह ही संसार है। यह संसार जिसके लगा वह ससारी और यह ससार जिनका दूर हो गया उन्हे कहते है मुक्त जीव। सूत्र भावसे पढ़ तो सब लेते है पर इस तरह क्यो बना सूत्र, इसका क्या अर्थ है, इसमे कुछ और परिवर्तन करें तो क्या हर्ज है, ये सब बातें समझने पर आगम के प्रति एक भक्ति प्रकट होती और तथ्य बड़ा स्पष्ट हो जाता है। तो यहाँ इस सूत्रसे 'ससारिणः मुक्ताः च' इन तीन शब्दोमे रखना पडा।

जीवकी मूल अभिलाषा और पौरुष्य—सबकी मूल अभिलाषा यह है कि मुझे सुख शान्ति चाहिए। अपनी सुख साताके एवजमे कितना ही कुछ कही हो जाय सब कुछ मजूर है, पर अपने को सुख साता मिले। तो इसमे निष्पक्ष दृष्टिसे यही वर्णन है कि मेरेको साता कैसे मिल सकती है ? इससे सबसे पहले उस 'मैं' को समझना है जिसको साता शान्ति चाहिए। और फिर परखते जाइये—एक गणित जैसे हिसाबसे कि हाँ यह ही शान्तिका उपाय है या नही। मै हू एक जाननहार वस्तु। जो जानता रहता है वह मै एक पदार्थ हू। जिसका चेतना, आत्मा, जीव, ब्रह्म आदि ये सब नाम है, इस मुझको शान्ति चाहिए। जहाँ यह ख्याल आया वहाँ शरीर तो उड गया। उस ही के साथ अगर शरीर जुडे तो सारी भूल होती जायगी। शरीरको अलग रखें, इस दृष्टिसे स्थूल बात भी यह ही है कि जब शरीरको छोडकर जीव चला गया तो यह शरीर तो यही सडता है, गलता है, जलता है। मैं शरीर नही, इतनी हिम्मत बनाकर एक आत्मवेगसे इस बातको समझनी है कि मैं शरीर नही, मैं जीव हूं, आत्मा हू, मेरेको शाति चाहिए, उस आत्माके नातेसे बात सुनना समझना और करने योग्य है, सो करना। यह सभी जीवोकी बात है। कहाँ कल्याणके मार्गकी बात है जिसमे कुछ न कुछ सोचा जा रहा ? यह न सोचा जाना चाहिए कि मै अमुक धर्मका हू, मजहबका हू, अमुक कुलका हू या अमुक पोजीशनका हू। इन सबकी होली करनी होगी अपनी दृष्टि द्वारा

और केवल एक सामने बात रखनी है कि मै जीव हूं और मैं भ्रमवश अनादिसे ससारी बना हू, दु ख पा रहा हू, बस अब हमने समझा देखा, अब मुझे न चाहिए, मुझे चाहिए कि वह आत्मीय आनन्द मिले। अब तो उस आनन्दके अनुभवकी ही वांछा है और कुछ नही। जिसकी दृष्टिमे इस प्रयोगके सामने तीन लोकका वैभव जीर्ण तृणवत् जचे वही मोक्षमार्गमे कदम बढा सकता है।

व्यावहारिक परिचयका प्रयोजन विभक्तताका प्रत्यय—मैं जीव हू, ऐसे ही जीवका कुछ व्यावहारिक परिचय कराया जा रहा है कि जीव होते कैसे-कैसे है, किस-किस दशामे है ? तो भेदसे शुरू हुआ। ससार और मुक्त दो प्रकारके जीव है—जो कर्मबन्धनसे छूट गया, जो विषय कषायके भावबन्धनसे छूट गया, जिसको अब शरीर कभी न मिलेगा, जो केवल ज्ञानपुञ्जके रूपमे रहता है, ऐसा ज्ञानप्रकाशमात्र वह शुद्ध परम आत्मा मुक्त जीव है। ऐसा मैं हो सकता हू, क्योकि यह तो सब हिसाब जैसी बात है। जातिमे अन्तर नही है। मुक्त जीवमे और मुझमे जातिका कोई अन्तर नही। चैतन्यस्वरूप वे है, चैतन्यस्वरूप मैं हू, और चैतन्यस्वरूप होनेके कारण आनन्द दर्शन ज्ञान वहाँ है, यह भी है। फर्क एक दूसरी चीजके सम्बन्धसे बना। वहाँ दूसरी चीजका सम्बन्ध नही। यहाँ सम्बन्ध है, क्या क्या ? कर्म अणुवोका सम्बन्ध, शरीर परमाणुओका सम्बन्ध और इन्ही सम्बन्धोके कारण विकारका सम्बन्ध, इस सम्बन्धके कारण अन्तर आ गया मुझमे और मुक्त जीवमे। यह सम्बन्ध न रहे तो वही स्वरूप मेरा है। तो क्या ऐसा हो सकता कि सम्बन्ध न रहे ? हां, क्यो नही हो सकता ? जब आत्मा भिन्न चीज है, विजातीय बातें हैं और उनका सम्बन्ध बनाता है तो वह तो बेमनका मिलाप है। वह तो जबरदस्ती और परिस्थितिका मिलाप है। स्वरूप तो सूट नही करता कि वे दोनो मिले रहे। तो जब ये दोनो अलग वस्तु हैं चेतन अचेतन, तो इनका वियोग होनेमे कोई सदेहकी बात नही हो सकती। मगर कैसे हो ? जैसे कोई बुड्ढा अपने नाती पोतोसे लगाव रखे और बच्चे तो बदर जैसे ही होते है, वे इस पर चढते हैं, कूदते हैं, कष्ट होता है। सो वह अपने मनसे लगाव रखता तो उन बच्चोसे कैसे छूटे ? ऐसे ही जब हम अज्ञानवश इस देहसे, कीर्तिसे, पोजीशनसे, बाहरी प्रसगसे, परिग्रहसे लगाव रखते है तो छूटनेकी कहाँसे आशा ? छूट तब सकते है हम जब इन बाह्य परिकरोसे मोह न करें और स्पष्ट जानते रहे कि ये सब भिन्न है और मैं इनसे निराला हू, यह पहला उपाय है इन झझट और उलझनोसे छूटनेका। बात सब आत्माके नातेसे चल रही है।

बहिस्तत्त्वका बहिष्कार अन्तस्तत्त्वके आत्मसात्कारका उपाय—आत्मत्वके ध्यानके प्रसगमे जरा भी ध्यान न दो कि मैं ऐसे शरीर वाला हू, ऐसी पोजीशनका हू, अमुक हू, अमुक परिवारका हू, ये सारी फिसादें अलग कर दें और यहाँ तक कि यह भी ध्यानमे न आये कि

मैं किस जगह बैठा हू और किस समय बैठा हूँ, केवल एक दृष्टि रहे कि मैं आत्मा हू । जाननहार वस्तु हूँ । मेरा इतनेसे ही मतलब है । यह ही मेरी दुनिया है, यह ही मेरा परलोक है, यही मेरा सर्वस्व है; इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नही, यह भाव दृढ हो तो उसे मोक्षमार्ग क्यो न मिलेगा ? क्या वजह है कि जब हम परवस्तुसे लगाव रख रहे, मोह कर रहे तो ससार मिल रहा, ससारमार्ग चल रहा । तो जब मोह और लगाव न रहेगा तो क्यो न मोक्ष मिलेगा, क्यो न मुक्तिमार्ग होगा ? होगा, होना ही पडेगा वह विधि ही ऐसी है । तो ससारी जीव अपने आपके अन्तः बसे हुए उस सहजपरमात्मतत्त्वका ध्यान करें जिसे परमब्रह्म कहते है तो उनको सर्वशान्तिका मार्ग मिलेगा, शान्ति मिलेगी । यह बात करनेकी है । यह बात अगर कर ली गई तो चाहे भिक्षासे उदरपूर्ति करना पडे, चाहे कैसी ही परिस्थिति आये भली बुरी, वह न कुछ चीज है और एक आत्मदृष्टि चल रही है तो यह तो भगवानके मार्गके धामोमे पहुच चुका है । उसे आनन्द ही आनन्द है । परेशानी बहुत है । जब आँखें खोलकर देखा अनेक धनी, नेता, चला वाले, प्रतिष्ठा वाले, जब इन चमडेकी आँखोके द्वारसे नजर आता है तो इस मनको शामना कठिन हो जाता है, लेकिन ज्ञानप्रकाश एक ऐसा अतिशय है कि वह प्रकट हो जाय तो तीन लोकका वैभव भी सामने पडा हो दृष्टिमे तो पड़ा ही रहता है वह । इसके लिए उसमे कुछ चीज है । आत्माका तो तिलतुष मात्र कुछ है ही नही । एक अपना भाव, अपनी बात, अपना गुण, अपने प्रदेश, इसके अतिरिक्त जीवका है क्या ? जो सासारिक मायामे लुभे रहते है और उससे मौज मानते है उनके लिए तो सर्व सग प्रसग बधन है । जैन शासन पानेका तो फल यह होना चाहिए कि हममे ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि हो । मरण तो होगा ही । अगर अज्ञान और रागमे मरण हुआ तो दुर्गतियोका सिलसिला लग जायगा । इससे ज्ञान और वैराग्यका इतना प्रभाव, इतना महत्त्व समझें और उसीको उपादेय मानें, जिसके सामने सब कुछ मेरे लिए बेकार है । इस अतःस्वरूपके दर्शनका फल है मुक्त हो जाना ।

सूत्रोक्त 'च' शब्दसे विदित तथ्य--इस सूत्रमे उपयोगलक्षण वाले जीवके भेद बताये जा रहे है । जीव दो प्रकारके है—ससारी और मुक्त । सूत्र क्या कहा—'ससारिणो मुक्ताश्च ।' इसमे तीन शब्द दिये—ससारी, मुक्त और च शब्द । जिसका अर्थ है कि जीव ससारी और मुक्त होते है । सूत्ररचनाके बारेमे कुछ तो प्रकाश डाला जा चुका । आज 'च' शब्दका प्रयोजन समझिये—शंका यह हो सकती है कि जब दो नाम अलग-अलग ले लिया, समास भी नहीं किया—संसारिणो मुक्ताः । तब फिर 'च' शब्द लगानेकी क्या जरूरत है ? पूरे पूरे नाम ले लें । 'च' शब्द बिल्कुल अनर्थक लगता है ।

समाधान—देखिये सूत्ररचनामे यदि कोई शब्द ज्यादा पड़ा हो तो वह कुछ न कुछ

प्रयोजन रखता ह । 'च' शब्द यह बात बतला रहा कि चूकि उपयोगका प्रकरण है । जीवका लक्षण उपयोग है और उन प्रक्रियावोके भेद किए जाते है । भेद किसके किए जा रहे ? उपयोगी पदार्थोके । उपयोगी मायने जीव । जिसके उपयोग पाया जाय । तो उपयोगवान पदार्थ के दो भेद कहे—ससारी और मुक्त । तो यह 'च' शब्द जो व्यर्थ पडा है वह यह जाहिर करता कि उपयोगवानमे मुख्य तो ससारी जीव हैं, और मुक्त जीव गौण है । कैसे ? उपयोग लगाना, उपयोग जोडना, उपयोग करना, यह चेष्टा ससारियोमे होती है । मुक्त जीवोमे उपयोग लगानेकी चेष्टा नही है । अच्छा तो फिर क्या उनके उपयोग नही ? हाँ प्रधानरूपसे विचारा जाय तो उनके उपयोग नही है, फिर क्यो बताते कि उनमे उपयोग है, केवलज्ञान है वह भी तो उपयोगका भेद है । कहते हैं कि उपयोग लगानेका फल है ज्ञान, जानकारी और यह जानकारी वहाँ चल रही है बहुत बडी तो उस फलको ले करके उपचारसे कहा है कि मुक्त जीव भी उपयोग वाला है । देखिये ग्रन्थ तो व्यावहारिक है, मगर केवल एक शब्द 'च' शब्द के देनेसे कितनी आध्यात्मिकतापर प्रकाश डालता है । प्रभु है ज्ञाताद्रष्टा निरतर जानने वाला, जानन चल रहा है, यह बात तो सही है और तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ प्रभुके ज्ञानमे है, यह भी बात सही है, मगर उपयोग लगाकर ज्ञान करते हो, यह बात वहाँ नही है । एक चीज पडी है झिलमिलाती हुई, वह ज्योति है उसे जगमग करती हुई, उपयोग लगाने की बात वहाँ नही है । तो उपयोगवानोमे मुख्य ससारी है और गौण है मुक्त जीव, इस बात का उद्योत होता है 'च' शब्दके देनेसे ।

संसारी और मुक्त जीवोमें उपयोगकी प्रधानता व गौणताका दृष्टान्त और युक्तिसे परिचय—अच्छा अब इसी बातको और समझें । कैसे हम जानें कि मुक्त जीवोमे तो गौण है उपयोग और ससारी जीवमे मुख्य है उपयोग ? आप इस तरहसे जान लेंगे कि चूंकि प्रभुके ज्ञानमे अर्थान्तरकी बदल नही होती, प्रभुके जाननकी बदल नही होती और हम आपके जानन की बदल होती है । अभी इस वस्तुको जाना, अब इस पदार्थको जाना, हमारी तो यह बदल चलती है, इससे जाहिर है कि उपयोगमे हम लोग मुख्य हैं । उपयोग करनेमे भगवान मुख्य नही, वे गौण हैं । तो इससे कही अपनी शाबाशी न समझना कि देखो उपयोग जीवका लक्षण है, उसमे हम भगवानसे बडे हो गए । गौण यो है भगवानका उपयोग कि उनमे परिणामान्तर नही होता । बस जान लिया वही जानन त्रिकाल चलता रहता है । वहाँ कोई भार नही है । एक विशुद्ध आत्मतत्त्व है । स्वभावसे सारे ज्ञेय ज्ञानमे आ रहे हैं । उपयोग जोडनेका वहा काम नही है । चूंकि उपयोगका फल जानना यहाँ पाया जा रहा, इससे सबसे महान् जानने वाले भगवानको हम उपयोग कहते है । वह गौण है, ससारीमे उपयोग मुख्य है, यह बात 'च' शब्दने जाहिर की । इसके लिए एक दृष्टात लो । जैसे हम आप ध्यान करते है तो ध्यान कहाँ

तक बताया है ? १४वें गुणस्थान तक। और ध्यानका स्वरूप क्या है ? एक ओर मनका रोकना इसे कहते है ध्यान। अब भगवानके तो मन है ही नही, वे तो मनसे अतीत है, तो ध्यानका लक्षण तो प्रभुमे न घटा। ध्यान तो हम आप लोगोमे पाया गया। १२वें गुणस्थान तक ध्यान पाया गया, पर चूकि ध्यानका फल है कर्मका विनाश होना सो १३वें, १४वें गुणस्थानमे ध्यान नही है, लेकिन कर्मविनाश तो चल रहा है, इस कारण वहाँ भी उपचारसे ध्यान कहा। यह ही बात उपयोगकी समझना कि उपयोगमे संसारी तो मुख्य है और मुक्त जीव गौण है। देखिये ससारी शब्द अलग रखा, मुक्त अलग रखा, च शब्द अलग किया, इन तीनका प्रयोजन है वह सब बताया गया।

सूत्रमें मुक्त शब्दसे पहिले संसारी शब्द रखनेका कारण—अब एक इस विषयमें थोडीसी शङ्का रह गई कि मुक्त तो बडे है, ससारी छोटे हैं, तो यो बनाना चाहिए सूत्र—मुक्ता. ससारिणः, पहले ससारी रखा फिर मुक्त, यह क्रम ठीक नही जचा। भगवानका नाम लो पहले और संसारी ऐरा-गैराका नाम लो पीछे। ऐसा न कहकर ससारीको क्यो कहा ? उसका उत्तर यह है कि एक बात तो यह है कि ससारी जीवोका फैलाव है बहुत। गति, इन्द्रिय, काय, योग, किन-किन शब्दोमे, किन-किन अवस्थाओमे कैसे कैसे रहते है ? मुक्त जीव तो एक समान है ज्योति-ज्योति। वहाँ कुछ फैलाव ही नही है। यहाँ भेद है। दूसरी बात यह है कि संसारपूर्वक मोक्ष है। पहले ससार है, संसार छूटा मोक्ष हो गया तो ससार पहले होता है इस कारण ससारीका नाम पहले किया। तीसरी बात यह है कि संसारीका तो हमे खूब परिचय है, ज्ञान है, यह स्वसम्बन्ध है। हम अपनेको जानते हैं इस कारण ससारी शब्दका पहले ग्रहण किया।

संसारी जीवोके भेदोका विस्तार करनेका उपक्रम—जीव दो प्रकारके बताये— ससारी और मुक्त। अब ससारी तो वे हुए जो शुभ अशुभ कर्मफलको अनुभवने है और मुक्त जीव कैसे है कि वे इन सारी गडबडियोंसे अलग है। ससरण अब वहाँ नही है। ये दो प्रकारके जीव बताये। तो मुक्त जीवोंका तो वर्णन अधिक नही है, क्योंकि उनका क्षेत्र ही ज्यादा नही। इस कारण मुक्त जीवोके बारेमे अब वर्णन न चलेगा। एक ही शब्दसे सब कुछ जान लें यही, आगे सब संसारी जीवोका विस्तार चलेगा। संसारी जीव क्या हैं ? मुक्त जीव छूट गए यहाँ वर्णनमे। ये सबसे अन्तमे आयेंगे १०वें अध्यायमे। ९वें अध्याय तक ससारियोका वर्णन है। कैसे ससारी है ? कैसे संसार छूटे, क्या उपाय है, ये सब बातें चलेंगी। तो सबसे पहले हमे जानकारी ससारियोकी करनी है तो संसारियोका सर्वप्रथमे भेद यह बतलाते है।

पूर्व सूत्रोक्त दोनों शब्दकी अनुवृत्ति करने पर विडम्बना—इस सूत्रका अर्थ कितना है ? मन वाले और मनरहित। ऐसे दो तरहके है। कौन ? ससारी। शंकाकार कहता है कि

तुम अपनी ओरसे 'ससारी' शब्द क्यो लगा रहे ? इतना ही कहो कि दो तरहके हैं वे जीव। कौन ? सैनी और असैनी। कौनसे जीव ? जो पहले सूत्रमे कहा—कौन ? ससारी और मुक्त। तो ससारी है मन वाले और मुक्त जीव है मनरहित। यो अर्थ लगाओ। शङ्काकार कह रहा, किन्तु उस सूत्रमे जो अर्थ बढिया बैठ रहा है उस अर्थको क्यो छोडा जाय ? ससारी और मुक्त। फिर कहते है सैनी और असैनी। तो इसका अर्थ हुआ कि ससारी हुए सैनी और मुक्त हुए असैनी। तो मानो कोई शङ्काकारके पास दूसरा वैठा था तो बोला—हाँ बिल्कुल ठीक कहते हो। मुक्त जीव तो मनरहित है ही, इसलिए इनकी बात बिल्कुल सही है कि सैनी तो संसारी हैं और असैनी मुक्त है। इसका समाधान यह है कि यदि इस तरह अर्थ लगायें कि ससारी तो हैं मन सहित और मुक्त जीव है मनरहित तो इससे सारे ससारी मन सहित सिद्ध हो जायेंगे, पर कहाँ है सब मनसहित ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीडा, कीडी, भँवरा—ये जो चार इन्द्रिय तकके जीव है ये सब असज्ञी है और पञ्चेन्द्रियमे जलके साँप असैनी। असैनी उसे कहते है जिसके मन नही है अर्थात् जो शिक्षा उपदेश ग्रहण नही कर सकते। अब बहुतसी चीटी जहाँ है वहाँ कोई उन्हे उपदेश देने लगे— देखो तुम सब चीटी एक जगह खडी हो जावो, ध्यानसे हमारे उपदेशपर ध्यान दो, फिर तुम अपना कल्याण करो, तो वे कुछ ध्यान देंगी क्या ? अरे वे कैसे ध्यान देंगी। वे तो मनरहित है। मगर ऐसा क्रम बना दिया जाय तो यह आपत्ति आयगी कि सारे ससारी मन सहित सिद्ध हो जायेंगे। और मुक्त जीव मनरहित हो जावेंगे। तो एक बार मान लो है भी मुक्त जीव मनरहित, मगर यहाँ मनरहित होना जो कहा है वह तो बुरा है। जिसकी योग्यता कुछ भी नही है ऐसे एकेन्द्रिय आदिकको मनरहित बताया जा रहा। तो दो प्रकारके जीव जो हैं वे ससारियोमे कहे गए। ससारी जीव दो तरहके है—सज्ञी और असज्ञी।

संसारी जीवोके ही भेद है इस सूत्रमे इसका सूत्ररचना द्वारा प्रमाण—कोई शङ्काकार पूछे कि आपने ऐसा मतलब क्यो लगा लिया तो मतलब यो लग गया कि अगर संसारी और मुक्त इस क्रमसे सज्ञी और असज्ञीका अर्थ करना होता तो दो सूत्र ही अलग-अलग क्यो बनाते ? एक ही सूत्रमे काम चलता। अलग-अलग दो सूत्र बनाये गए। इसका यह मतलब बना कि ससारी जीव ही सज्ञी और असज्ञी होनेसे दो प्रकारके हैं, फिर भी शङ्काकारको चैन न पडी तो पूछा कि तुम तो अपने आप धोखापट्टी कर रहे, एक जगह बना दो तो क्या, इकट्ठा हो तो क्या ? समाधानमे कहते है कि एक बात ध्यान देनेकी है कि इसके आगे जो सूत्र है "ससारिणस्त्रसस्थावरा:" उसमे भी ससारी शब्द दिया तो कुछ यह सूत्र अलग लिखा इस वजहसे और कुछ आगे ससारिणः शब्द दिया तो उस ससारिणः शब्दका प्रकाश भी इसमे आया। तब सूत्रका अर्थ हुआ कि ससारी जीव दो तरहके हैं—सज्ञी और असंज्ञी।

अब वह शकाकार अभी उसके चित्तको चैन नही पड सकी। फिर बोलें—अच्छा हम मान लेंगे कि ससारिणस्त्रसस्थावराः इस सूत्रमे ससारिणः का प्रकाश पडा इस सूत्रपर। तब अर्थ हुआ कि ससारी दो तरहके है—(१) सज्ञी, (२) असंज्ञी। तो जरा और बढो, त्रसस्थावरा का भी अर्थ जोडें तो यह हो जायगा कि त्रस है सज्ञी और स्थावर है असंज्ञी, उसे क्यों छोडते ? कहते है कि नही, अगर उसका मतलब होता तो ये दो सूत्र न बनते, इन्हे जो पृथक् पृथक् बनाया, सो इस सूत्रका अर्थ यह जाहिर होता है कि केवल निकट रहने वाले ससारी शब्दका प्रकाश है। त्रस, स्थावरा की बात अलग हैं। तो ये जीव यो दो प्रकारके है। ससारी जीवके भेद पहले बताये सज्ञी और असज्ञी। जो यह प्रथा है कि पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद है—संज्ञी, असंज्ञी। वे पञ्चेन्द्रियमे छांट करनेके लिए है। अगर सारे ससारी जीवोमे जब छाँट करने बैठें तो एकेन्द्रियसे लेकर कुछ पञ्चेन्द्रिय तक असज्ञी है, बाकी जीव सज्ञी जीव है। इस तरह ये दो भेद हुए।

जीवोके मूल भेदोंको अलग-अलग तीन सूत्रोंमे कहे जानेका तथ्य—जीवतत्त्वकी जानकारीके प्रसगमे यह स्थल चल रहा है कि जिसका लक्षण उपयोग है वे हैं जीव और ऐसे-उपयोगवान जीवके भेद किए गए है। इसको लगातार तीन सूत्रोमे बताया है कि संसारी और मुक्त और फिर बताया है कि सज्ञी और असज्ञी, फिर बताया है कि वे ससारी त्रस और स्थावर है ऐसे दो तरहके होते है। इन सूत्रोमे कुछ आपत्ति यह आती है कि सूत्रोसे ही एकदम सीधा स्पष्ट अर्थ नही विदित हो पाता। उसमे कुछ आगे पीछेका सिलसिला सोचना पडता है और इस सिलसिलेपर जो समस्यायें उठी उनका समाधान भी हुआ। सक्षेपमे वह समाधान यह है कि पहला सूत्र कहता है कि जीव दो प्रकारके है—ससारी और मुक्त। दूसरा कहता है कि सज्ञी और असज्ञी। अब यहाँ सज्ञी और असज्ञी किसके भेद हैं, यह सूत्रमे उल्लिखित नही है, क्योकि दो हो शब्द है समनस्क और अमनस्क। तो इसके लिए यह उपाय ज्यादह भला सोचा कि आगेका जो सूत्र है संसारिणस्त्रसस्थावरा:, उससे ससारी शब्द का प्रकाश लाया गया। तब अर्थ हुआ कि ससारीके ये दो भेद है—सज्ञी और असज्ञी। इसपर दो शकायें हुई थी कि यदि हम ऐसा कर दें कि ससारी और मुक्तके ये भेद हैं क्रमसे सज्ञा और असंज्ञी याने ससारी तो सज्ञी है और मुक्त जीव मनरहित है। दूसरी शका यह आयी कि यो लगा लो आगेके सूत्रमे क्रमसे कि सज्ञी जीव तो त्रस है और असज्ञी जीव स्थावर, मगर ये दोनो बातें सिद्धान्तके विरुद्ध है और इस बातको बतानेके लिए अन्तमे यह समझना कि यदि समनस्क अमनस्कका ससारी मुक्तमे क्रम बनाओ या त्रस स्थावरमे क्रम बनाना होता तो तीनो सूत्रोका एक सूत्र बना दिया जाता। ससारिमुक्ताः समनस्कमनस्का त्रसस्थावरा। एक ससारी शब्द भी कम हो जाता। वहाँ च शब्द भी कम हो जाता और तीनोका एक सूत्र बन

जाता, पर ऐसा नही किया जाता। उससे यह साफ जाहिर होता कि तीनोंके अलग-अलग मतलब हैं। तो उपयोगवान जीवके प्रथम तो उपाधिके भेदसे दो भेद है, जिन जीवोंमें उपाधि लगी वे हैं ससारी और जिनके उपाधि नही रही वे हैं मुक्त। अब मुक्तका तो वर्णन कुछ होना नही, ज्यादह वर्णन नहीं। है वर्णन, उनके गुणोंका कौन वर्णन कर सके, मगर विविधता रूपमे (फैलाव रूपमे)। कुछ नहो है। सब एक रूपसे है। जब संसारका वर्णन चल रहा वे ससारी दो तरहके है—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी, यह बात इस सूत्रमे कही जा रही है।

समनस्काऽमनस्काः इस सूत्रमे प्रथम समनस्क शब्द कहनेका प्रयोजन—अब एक बात और विचारनी है कि पहले समनस्क शब्द क्यो दिया, पीछे अमनस्क दिया? सज्ञी और असज्ञी, जब कि एक उन्नतिके सिलसिलेमे असंज्ञीका नम्बर पहले आना चाहिए और संज्ञीका बादमे। जैसे बोलते ना— एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय उन्नतिका क्रम बनता तो यहाँ भी असज्ञी पहले बोलते, संज्ञी बादमे। ऐसा न कहकर पहले संज्ञो कहा। इसका कारण मुख्य तो यह है कि संज्ञी जीव आदरणीय है और हित करनेकी योग्यता रखते हैं, सम्यक्त्व पा सकते हैं। समस्त असंज्ञी जीवोसे संज्ञो जीवोकी महिमा विशेष है। इस कारण सज्ञी जीवको पहले ग्रहण किया और शब्द शास्त्रकी दृष्टिसे समनस्क पहले कहा और अमनस्क बादमे कहा। समनस्क शब्द पहले देनेसे कितने शब्द इसमें आये—७ शब्द आये और अमनस्क शब्द पहले दिया जाय तो ८ शब्द बनते हैं। तो एक शब्दकी कमी होती है, इसलिए तो शब्दशास्त्र कहता है कि समनस्क शब्द पहले दो और चूंकि संज्ञी जीवसे ही हितका मार्ग प्राप्त हो पाता है, असंज्ञी तक नही कल्याणमार्ग बना, इसलिए समनस्क शब्द पहले दिया। अब जो संज्ञी और असंज्ञी इन दो भागोमे विभक्त किया है।

संसारियोंके विस्तारमूलक पद्धतिसे विभक्त त्रस व स्थावरका आख्यान—वे ससारी दूसरी तरहसे कितने प्रकारके है? सो कह रहे है—संसारिणस्त्रसस्थावरः, संसारी जीव दो प्रकारके है—त्रस और स्थावर। त्रस नामकर्मका उदय होने पर जो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रियमें जन्म हुआ है और स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर होता। अब यहाँ विडम्बना देखिये—जीव तो सब एक समान अपने स्वरूपमे है, एक ज्योति है, चेतन है, मगर उपाधिके सम्बन्धसे कितनी विडरूपता आतो है? त्रस बन गए, स्थावर बन गए। ये सभी भगवान ही तो हैं, स्वरूपसे परमात्मा ही तो है, मगर दशा कैसी बिगडी हुई है? पेड पौधे बन गए तो कैसी पत्तियां है, कैसी पत्तियोंके नशाजाल हैं? जैसे फैले है कैसे लम्बे फूल गए, ऐसे ऐसे आत्माके प्रदेश फैलने पडे और कितनी तरहके जीव पाये जाते है इडक अटपट, कैसा कैसा इस जीवको फैलना पडता है, यह विडम्बना है। तो यह अपने आपके स्वरूपका संचेतन न होनेसे विरूपता आयी और ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि जिसके उदयमे

जीवकी ऐसी दशा हो गई। जब हम जीवत्वको देखते है और संसारकी इन स्थितियोको देखते है तो एक ताज्जुब वाली बात है और उसका समाधान भी है—कैसा यह जीव अनेक परिस्थितियोंमे विवश हो गया। तो संसारी जीवोके भेद बताये जा रहे हैं कि दो है—त्रस और स्थावर।

त्रसनामकर्मके उदयसे प्राप्त भवकी त्रसरूपता—कोई यह पूछ सकता है कि त्रस जिस धातुसे बना है उसका अर्थ तो चलना होता है। जिसे अंग्रेजीमे मूविंग कहते है। तो जिनके त्रसपना हो, जो हलनचलन कर सकें उन्हे त्रस कहते है। जो शब्दमे अर्थ है सो ही अर्थ मानो ना। क्यों ऐसी कल्पना करते कि त्रस नामकर्मका उदय होना सो त्रस है। सीधा ही कहो कि जो चल फिर सकें, हलन-चलन कर सकें, चेष्टा कर सकें उन्हे त्रस कहते हैं। तो देखो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय सब चेष्टा करते है। अर्थ भी ठीक बन गया, पर यह बात आगमको पसंद नही है। कारण यह है कि यदि चलन क्रियाके आधारपर उन्हे त्रस कहा जाय तो जो गर्भके जीव है या अंडामे जीव है, अब वे त्रस और पञ्चेन्द्रिय तक है और फिर वे चल फिर सकते नही तो उन्हे क्या स्थावर बोल देंगे ? त्रस न कहेगे क्या ? तो फिर कोई पूछ सकता तो फिर त्रस नाम क्यों धरा ? जो शब्दका अर्थ है वह अर्थ मानते नही तो फिर नाम त्रस क्यों धरा ? तो बात यह है कि नाम तो कुछ रखना पडता और जो अधिकतर जीवोमे पाया जाता सो नाम है, पर एक चलने फिरनेका नाम रख दें, उससे नही एकान्त न करना, जो चले फिरे सो ही त्रस है। आगममे तो यह दर्शाया है प्रभुने कि जिन जीवोके त्रस नामकर्मका उदय है उन्हे त्रस कहते है। एक बात और जाननी चाहिए कि अंगोपाङ्ग त्रस जीवोंके कहे जाते है। स्थावर जीवोके अंगोपाङ्ग नही होते। भले ही मनुष्योंके अगोपाङ्ग अच्छे हैं, हाथ पैर अच्छे है, बन्दरोंके तनक घटिया हैं, अन्य पशुओके और घटिया हैं, चार-इन्द्रिय जीवोके और घटिया हैं, तीनइन्द्रिय दोइन्द्रियके और घटिया हैं। बडा लम्बा होता है केचुवा, मगर उसके अङ्गोपाङ्ग है, मगर स्थावर जीवोंके अंगोपाङ्ग नही होते। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पतिमे अङ्गोपाङ्ग नही होते। भले ही कह देते वनस्पतिकी शाखाओ को वनस्पतिके अगोपाङ्ग, मगर वह तो एक फैलाव है। ये अंगोपाङ्ग नही। तो त्रस नामकर्म के उदयसे जिन्होंने परिस्थिति पाया है वे जीव त्रस कहलाते हैं।

स्थावर नामकर्मके उदयसे प्राप्त भवकी स्थावररूपता—स्थावर कौन कहलाते ? स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको एक विचित्र शरीर मिला है उन्हें स्थावर कहते है। स्थावरका भी शब्दसे अर्थ तो यह बनता कि जो स्थित रहे, स्थानशील हों, चल-फिर न सकें, हिल-डुल न सकें उन्हें स्थावर कहते है, मगर यह अर्थ न लेना। अगर यह अर्थ ले लिया जाय कि जो हिले डुले नही नही सो स्थावर तो पहली बात तो यह है कि बहुतसे जीव जो गर्भस्थ

है, कोई अडेमे है, वे भी तो हिल-डुल नही पाते, तब तो फिर वे स्थावर हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि और नही तो जल, अग्नि और वायु ये तो खूब हिलते डुलते है। अग्नि जलती है, ज्वाला हिलती है तो क्या वे स्थावर न रहे? वायु तो बहुत तेज चलती है, लेकिन ये सब तो है स्थावर। तब यह ही अर्थ ठीक बैठेगा कि ये स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको कोई परिस्थिति प्राप्त हुई है वे स्थावर कहलाते है। बच्चोको समझानेके लिए भले ही कोई बोल दे कि त्रस उन्हे कहते हैं कि जो चल फिर सकें, स्थावर उन्हे कहते है कि जो चल फिर न सके, मगर यह लक्षण सही नही है, यह अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषसे दूषित हैं।

त्रस और स्थावरमें त्रस शब्दका पहिले प्रयोग करनेका कारण—ससारी जीव दो प्रकारके बताये गए—त्रस और स्थावर। इनने त्रसका नाम पहले रखा, स्थावरका नाम बाद मे रखा, जब कि उन्नतिकी विधिमे स्थावर पहले आता है, निगोद जीव स्थावर हैं, आदि धाम स्थावर है फिर त्रसको पहले क्यो रखा गया? तो उसके दो कारण है—एक तो यह है कि त्रस मे दो शब्द है, स्थावरमे तीन शब्द है। जितने स्वर होते है उतनेसे शब्दकी बात बोली जाती है। तो त्रस शब्द चूँकि कम अक्षरोका है इसलिए पहले त्रस नाम दिया। दूसरी बात यह है कि त्रस तो अरहत भगवान तक है और लट केचुवा आदिक भी त्रस हैं और अरहत परमेष्ठी भी त्रस है, मनुष्य त्रस है। तो त्रसमे विशेषतायें है, इस कारण त्रसका नाम यहाँ पहले लिया। तब सूत्रका अर्थ हुआ, ससारी जीव दो तरहके होते है—त्रस और स्थावर। त्रस जीवोका फैलाव बनेगा तो दो इन्द्रियसे लेकर और और तिर्यञ्च तो ये हो गए दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके तिर्यञ्च। इनके अलावा नारकी सब त्रस, मनुष्य सब त्रस देव सब त्रस। जहाँ तक त्रस नाम कर्मका उदय है वे सब जीव त्रस कहलाते हैं। अब देखते जाइये, स्वरूपदृष्टिसे तो भगवान और हम समान है मगर कुछ परिस्थितियाँ भी ऐसी है कि जिनकी दृष्टिमे भी हम और प्रभु अरहत समान है। मनुष्य हम और मनुष्य अरहत। पञ्चेन्द्रिय हम और पञ्चेन्द्रिय अरहत। त्रस हम और त्रस अरहत। जो प्रभुमे योग पाये जाते वे सब हममे पाये जाते, कुछ उनसे ज्यादा भी है। मनुष्य भी वेदरहित हो सकते अरहतमे, मुनियोमे। प्रभु भी वेदरहित है। जो प्रभु नही हैं, छद्मस्थ है वे भी विषय कषाय रहित हो सकते। प्रभु भी कषायरहित है। ११वें, १२वें गुणस्थानमे कषायरहित कहा गया। परिस्थितियोसे भी देखो तो अरहत परमेष्ठी मनुष्य है, त्रस है और उस मनुष्यके नाते जो-जो चीज होती है वह करीब-करीब उनमे पायी जाती है, मगर भीतर जो प्रकाश मिला है, ज्ञानावरणका क्षय हुआ है, चार घातियाकर्म रहे नही, उसका प्रबल प्रताप है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति व अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है। अब उनका ऐसा भाव है कि कोई विकल्प ही नही, अपनेमे समा गए, आनन्द मिल गया। ये प्रभु भी त्रस हैं। विशेषता होनेसे त्रस पहिले कहा।

मोहके उत्पातका दिग्दर्शन—हम अपनेमे समा न सके सो विडम्बनायें बनती है और तिसपर भी यह तारीफ करते है कि उन विडम्बनाओसे अपना महत्त्व समझते है परिवारमे दो चार जीव जो है उन्हे समझते है कि ये मेरे है, अच्छे है, इनसे मेरी महिमा बढ़ रही है। ओहो अच्छा लग रहा और हो रही विडम्बना । क्यो किया जा रहा है ऐसा ? अन्तरमे क्यो सोचा जा रहा है ऐसा कि यह मेरा है ? जब कि ये रागादिक भाव भी मेरे नही बन पाते, क्योकि कर्मके उदयसे होते । जो मेरे विचार विकल्प उठ रहे वे भी मेरे नही बन पाते, क्योकि वह क्षयोपशमका फल है, उपयोग लगाया उसका फल है । तो जब विचार भी मेरे नही हो पाते, विकार भी मेरे नही हो पाते और शरीर भी मेरा नही हो सकता तो अत्यन्त प्रकट भिन्न जीवोमे ऐसा अज्ञान रखना कि ये मेरे कुछ है । भीतरमे यदि ऐसा अज्ञान बसा है तो यह ही मोह है, यह ही मिथ्यात्व है और इसका फल यह है कि भव-भवमे ये भाव बनेंगे और भव भवमे मिटेंगे, भव भवमे छूटेंगे और नया-नया जन्म होता रहेगा, यह उसका फल है, निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है । जैसे यहाँ लोगोको देखते है— अग्नि है, उस पर पानीका बर्तन रख दिया, गरम हो गया । जैसे यहाँ निमित्तनैमित्तिक योगसे अनेक बातें बनती है ऐसे भी यहाँ भी एक निमित्तनैमित्तिक योग है । हम मोह रखेंगे, अज्ञान बसायेंगे तो ऐसी-ऐसी विडम्बनायें होगी और मोह न रखेंगे, निजको निज परको पर जानें, ये हमारे भाव बन जायेंगे तो हम मोक्षमार्गमे आये । जिस बातमे इस आत्माका सारा नुक्सान है वह तो लग रहा है प्यारा और जिस बातमे, मार्गमे इस जीवको तत्काल भी आनन्द, आगे भी आनन्द, पवित्रता भी बने, वह बात सुहाती नही । ऐसी जिसकी मति है कि आत्मतत्त्वकी बात सुहाये नही, परतत्त्वकी बात बडी भली लगे तो यह ही तो है समरण करनेका, जन्ममरण करते रहनेका उपाय । और कोई बडा चतुर हो बोलने वाला तो यो कह देता कि हम तो संसारकी रक्षाके लिए है, क्योकि हम अगर पवित्र भाव करेंगे, तो ससारमे से हमने अपनेको कम कर दिया ना । हम तो संसारकी उन्नति करने वालोमे से है । अहो मोहका कैसा उत्पात है ?

एक ही सार बात है जीवनमे मूलभूत कि यह अपनेमें प्रत्यय रहे कि मैं तो एक सहज चैतन्य प्रकाशमात्र हू, बाकी जो कुछ हो रहा वह सब कर्मकी माया है । उसके उदयके अनुसार ये सब बातें चल रही है । वे मैं कुछ नही हूं, ऐसा परसे हट जाय और निज तत्त्वमे लग जाय तो बस वही तो भगवान बन गया । धर्मका मार्ग कितना सुखद है कि धर्मभाव करते है तो उस वक्त भी आनन्द और कोई झगडा फिसाद भी नही उठता और अगले भवमे भी आनन्द पायगा और सदाके लिए संसारके सकटोसे छूट जायगा । इतना तो धर्मभावका प्रताप है और इस धर्मभावको करनेके लिए कोई तकलीफ भी नही उठानी पडती । अपना

स्वरूप है। अपना उपयोग अपने स्वरूप पर लगाना है, इसमे कष्ट विपत्ति, कठिनाईकी बात क्या है ? और निश्चित सिद्धिकी बात है इसमे। हम अपना उपयोग अपने सहज स्वभावमे रमायेंगे तो नियमसे हित है और ससारसे संकटोसे छुटकारा है, इतना एक डटकर नियम है। क्योकि परपदार्थोके प्रति मोह रखनेमे न हमारा कुछ अधिकार है, न वह हमारा कभी हो सकता है और वियोग जब चाहे सम्भव है। आपके अनुकूल बात न बने यह हरदम सम्भव है, उसकी वजहसे दुःखी भी होना पडता। तो जिसपर प्रसगमे क्लेश ही क्लेश है उसके रुचिया तो अनन्तानन्त जीव है और जिसके आलम्बनमे आनन्द ही आनन्द है उसका कोई पवित्र भव्य जीव ही रुचिया होता है। एकको साधनेसे सब सधता है और एक की सिद्धमे सारे सकट मिटते है और उस एकको न साधा जाय तो बाहरमे कुछ भी साधो, कुछ नही सध सकता। जैसे जिन्दा मेढक कोई एक किलो तौलकर दिखा दे, कोई नही तौल सकता। यह बात जैसे असम्भव है ऐसे ही परपदार्थोमे दिल लगाकर, उपयोग लगाकर अपने लिए उससे कुछ आशा करना ही कठिन और असम्भव बात है।

जीवका अनादि धाम और अनन्त धाम—जीवका चिरगृह क्या है ? घर जैसे महिलावोके दो होते है—एक मायका और एक ससुराल। आखिरी घर है ससुराल और पहला है मायका। वह पहला घर छूटता है और आखिरी जो घर है वह नही छूटता। मरकर ही छूटेगा। ऐसे ही जीवके भी दो घर है—एक प्रारम्भका घर और एक आखिरी घर, जो स्थायी चीज है। यो तो किसी विवाहमे, रिश्तेदारोमे चले गए तो दो दिन रहे, एक दिन रहे, पर ठिकाना तो घरमे ही रहता है। तो ऐसे ही दो घर है, दो धाम है इस जीवके—निगोद और मोक्ष। ये स्थायी धाम है। शुरूका धाम है निगोद। अब कोई जीव निगोद ही निगोदमे रहा आये तो रहे, उसके लिए तो फिर कोई दूसरा धाम ही नही है। और निगोदसे निकला तो एक मोक्ष धाम ही ऐसा है कि जहाँ सदा काल अनन्त काल जीव रह सकता है। तो बीचकी जो स्थितियाँ हैं, वे तो चचल है, अस्थायी है, उनसे क्या रति करना ? और उस अनादि धामसे तो हम निकल ही आये है। बडा भारी सकट तो हमारा निकल गया है और कुछ भी नही निकला, अगर अब भी हम दुरुपयोग करेंगे तो फिर हमको निगोदमे जाना होगा, चतुर्गतियोमे भ्रमण करना होगा। तो जिस आत्माकी प्रसन्नता, निर्मलताके प्रसादसे जिससे जिस भवने प्राप्त हुए हम आज मनुष्य हो गए। अब मनुष्य बनकर यदि हम अपने इस भगवान परमात्मतत्त्वपर अन्याय ही किये चले जायें, अन्याय है विषय और कषाय जिससे यह ब्रह्म बरबाद हो रहा है, तो उसका फल यह है कि फिरसे हमे निगोद दशा मिल सकती है।

स्वसचेतनमे क्षण व्यतीत होनेमे लाभ—भैया ! क्षण क्षण चेतनेका है। हमारा समय

सब अच्छे उपयोगमें जाय, कषायोकी तीव्रता न हो, किसी जीवको हम अपना दुश्मन न मानें विषम कल्पनायें ये सब बातें तो अपने बिगाडके लिए ही है। और सही बात भी है। कोई जोव हमारा दुश्मन है ही नही, वह तो सजातीय है। जो मेरा स्वरूप है सो ही मेरा है, जो मेरे अहितमें बाधा दे, विडम्बना और विपत्तिमें विघ्न करे उसे हम शत्रु समझते है। यह तो एक उल्टी बात है। ये विषय कषायके प्रसंग ये सब विपत्ति है, विडम्बना है, इनमे जो बाधक बनते उनको हम शत्रु समझते हैं। अरे हमारे अहितको जो मिटाये वह हमारा शत्रु कैसे ? तो किसी जीवको हम शत्रु न समझें। परिग्रहमें हमको आसक्ति न बने और यह प्रकाश हमारे निरन्तर रहे कि मैं देहसे भी न्यारा, कर्मसे न्यारा, विचार विकारसे न्यारा मात्र एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं, ऐसी दृष्टि, ऐसा अभ्यास हमारा बने तो हम बहुत सुरक्षित है। नहीं तो आकुलता आकुलतामें ही जीवन जाता है। और आकुलताका कोई काम नही किसी भी मनुष्यको। मोह किया तो उसका फल आकुलता है ही, परमें लगाव रखें तो उसका फल आकुलता है ही, अन्याय कर रहे इसलिए आकुलता है। अरे दृष्टि दें अपने चैतन्यप्रकाश पुञ्ज की। यह मै हू, मैं तो सबसे निराला हूं। बाहरमें कही कुछ भी बीते, कुछ भी हो, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नही। मै तो प्रभुकी तरह शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं—ऐसा अपना दृढ़ भाव रहे तो तकलीफ तो इस वक्त भी कुछ नही है। विचार ज्ञान जैसा बनाते है वैसी ही आनन्द और दुःखकी स्थितियां आती है। दूसरेकी वजहसे हमको दुःख नहीं होता। दुःख होता है तो हमको अपने परिणामसे ही होता है। इससे अपने परिणाम ज्ञान और वैराग्यवासित बनें, इसमें हमारा हित है। अब ससार जीवके विस्तारमूलक भेदका प्रारंभ करते हैं—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

स्थावरकी परिभाषा—संसारी जीवके दो भेद किए गए थे पूर्व सूत्रमें त्रस और स्थावर। ये भेद नामकर्मके उदयके प्रभावसे सम्बंधित हैं। जिन जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय होता वे जीव त्रस कहलाते है। इसमें अंगोपाङ्ग, कर्म, चेष्टा, क्रिया इन सबकी योग्यता हो जाती है और स्थावर जीव वे कहलाते हैं कि जिनके स्थावर नामकर्मका उदय है। कर्म मूल मे दो है—घातिया, अघातिया। उनके और भेद करते है तो ८ है—चार घातिया, चार अघातिया, उनके और भेद करते हैं तो १४८ भेद है। और इतना ही नही है, उनमे और भी भेद हैं। जितनी जातियां हैं, जितनी व्यक्तियां हैं, उनका अलग-अलग प्रभाव है, अनुभाग है ऐसे भेद करें तो कितने करें ? हजार लाख, करोड़, अनगिनते। और अनुभाग की अपेक्षा अनन्त। जैसे स्थावर नामकर्म तो एक बताया गया है, मगर उसमे पृथ्वीकायक स्थावर नामकर्म, जलकाय स्थावर नामकर्म, अग्निकाय स्थावर नामकर्म, वायुकाय स्थावर नामकर्म और वनस्पतिकाय स्थावर नामकर्म और भेद करेंगे तो इसमें भी बहुत भेद हैं, क्यो कि भेद अगर न हो तो यह विषमता कैसे हो रही ? यह वनस्पति जो है वह कितनी तरहकी

वनस्पति है ? कोई बेल वाली है, कोई पेड़ वाली है, कोई धूपमे हरी होती है, कोई पानीमे हरी होती है। किसीका कोई ढग है, किसीका कोई ढंग है। इतने ढग कैसे बन गए ? जितने ढग बनते है वे यह पहिचान कराते है कि इतने प्रकारके कर्मके उदय हैं भिन्न भिन्न। तो उनमे और भेद करें तो और भेद हो जाते हैं। पृथ्वी ३२-३३ तरहकी है। कोई कडी है, कोई मुर मुर है, कोई सोना है, कोई चांदी है, कोई तांबा है, कोई कुछ है। तो उतने ही नामकर्म हैं। तो यहा पांचो ही स्थावर ले लो।

पृथ्वीकायिक जीवके संबंधित भेद—पृथ्वीकाय नामक स्थावर नामकर्मके उदयसे जो परिस्थिति प्राप्त हुई है जिसको, वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, ये भिन्न-भिन्न नामकर्म है। उनके उदयसे यह स्थिति बनती है। पृथ्वीका अर्थ क्या है ? एक पृथ् धातु है, उससे पृथ्वी शब्द बना याने जिसका पृथन हुआ, मोटापन हुआ, पिण्डपन हुआ, पृथन हुआ वह पृथ्वी। सो यह तो हुआ शब्दार्थ और वास्तविकता—पृथ्वी नामकर्मके उदयसे जो परिस्थिति हुई सो पृथ्वीकायिक। पृथ्वी चार प्रकारकी हैं, यह पृथ्वी शब्दमे जाननेकी बात—पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव। पृथ्वी नाम है अपने आप ही बन जाय, जीव नही है और वैसे ही पुद्गल परमाणु ऐसे ही मिलनेसे स्कंध बन जायें, कुछ ऐसा भी तो होता होगा कि जीव न ग्रहण करे तब भी स्कध बने, तो वैश्रसिक परिणाम से रचा गया काठिन्य आदिक गुण वाली है वह पृथ्वी है। ऐसे बहुत कम होगे, क्योकि जितने भी पृथ्वी पिण्ड नजर आ रहे हैं इनको पहले जीवने ग्रहण किया, उससे वे बढे, वृद्धि को प्राप्त हुए। फिर जीव निकल गया तो अजीव अचेतन पृथ्वी रह गई अथवा "पृथ्वी" यह सामान्य शब्द है, जो शेष तीनोमे व्यापक है। पृथ्वीकाय क्या ? कोई जीव पृथ्वी है जिसमे पृथ्वीकायका जीव रह रहा है। पृथ्वी शरीर है, उसमे से जीव निकल गया, मुर्दा रह गया उसे कहेगे पृथ्वीकाय और जब तक वह जीव है उस कायमे सजीव देहपृथ्वी, उसे कहेगे पृथ्वीकायिक। और कोई जीव अगर पृथ्वीमे पैदा होने जा रहा है और रास्तेमे मोडे वाली गतिमे वह जीव है, वह पृथ्वी जीव कहलाता है। काय उसके है ही नही। तैजस और कार्माण है, पर उदय पृथ्वी स्थावर नामकर्मका है, इसलिए वह पृथ्वीजीव कहलाता है।

जलकायादिके संबंधित भेद—जलकायमे जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव। इन जीवोके देहका आकार है पृथ्वीकायका तो विभिन्न आकार है, जो एक मोटा पर्वत दिख रहा या मोटा डला दिख रहा वह क्या पृथ्वीकाय नही है ? उसके अन्दर ऐसे अनेक पृथ्वीकाय है जिनमे पृथ्वीकायिक जीव है, उनका मिलकर एक डला दिखता, फिर भी वे निगोद जैसे नही कि एक शरीरके अनेक जीव स्वामी हो। है तो वे प्रत्येक, मगर वे इतने छोटे-छोटे कायमे जीव होते है कि जो मोटा दिख रहा इसमे बहुत पृथ्वीकाय है। जलकायमे भी बहुत

छोटे बिन्दु एक जलकाय जीव होता है। अगर पावभर पानी है तो उसमें तो अनगिनते जलकायके जीव है। छोटे-छोटे बूंद एक-एक जलकाय है और उनको मिलाकर एक मोटा दिखने लगा। अग्नि—अग्निकाय, अग्निकायिक, अग्निजीव। अग्निका आकार होता है एक सूई जैसा। अग्निमे जो ऊपर लौ निकलती वह तो अग्निका वैक्रियक शरीर है। अग्निमें विक्रिया होती है। मनुष्य तो तपश्चरण करके विक्रियाको प्राप्त कर सकते है और अग्निको वरदान है विक्रिया शरीर बन जाय (हँसी), ईंधन आये, लौ उठे तो जो लौ उठी है वह उसकी विक्रिया है, तो वह तो विक्रिया वाला है, लेकिन जो मूलमें अग्निकाय है, जीव है यह जैसे बहुतसी सूई होती है और ऐसा लम्बा रूप आकार रहता है, वायुकायका एक ध्वज जैसा आकार है, जो बहुत-बहुत हवा लगती है वह कोई एक वायु नही है। अनगिनते वायु जुडी तब शरीरको धक्का लगता है। खूब तेज वायु चले तो मनुष्य भी हवाके साथ-साथ काफी दूर तक उड जाते है। और वनस्पतिकायका शरीर बिल्कुल स्पष्ट है, आँखो दिखता है, पेड बन गया, पौधे बन गया। ये सब स्थावर जीव कहलाते हैं। ये स्थावर इस कारण नहीं कहलाते कि वे एक ही जगह पडे रहते है, किन्तु स्थावर नामकर्मका उनके उदय है इस कारण स्थावर जीव कहलाते है।

सूत्रमे पृथिवी शब्दको प्रथम रखनेका कारण—स्थावर ५ प्रकारके है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। अब इस सम्बन्धमे विचार करना कि ऐसा ही नाम क्यो बोलते ? या किसी बच्चेसे पूछो स्थावर कौन है ? तो अगर वह कहे कि पृथ्वीकाय, अग्निकाय, जलकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तो देखिये बच्चा क्रम-भग करके बोला, पर इस तरहसे क्रम-भग करके बोलने की आदत ठीक नही। यों समझिये कि इस जीवको क्रमसे बोलनेकी आदत है, मगर सूत्रमे ऐसा क्यो रखा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ? कोई भी ४–५ व्यक्ति है और उनका कोई नाम लेता है तो थोडा तो एक यह कारण होता कि जिसके नाम मे थोडे अक्षर हों उसे पहले बोल दिया जाय। लेकिन अगर विशेष उपयोग है तो इस नियम का उल्लघन हो जाता है। फिर तो उस क्रमसे बोला जाता है जैसा कि उपयोग है, राग है, जैसा कि वहाँ काम है फिर उस ढगसे नामका क्रम बोला जाता है सो यहाँ पर भी छोटा अक्षर बडे अक्षरका ध्यान नही आया किन्तु व्यवहारमे जिस ढंगकी बात है और समीप रखने की जो अनुकूलता है उस ढगसे इसका क्रम है। सबसे पहले कहा गया—पृथ्वी, इसका कारण यह है कि पृथ्वीको बडे सुखसे ग्रहण कर लेते हैं। पृथ्वीके आधारपर हम सब लोग बैठे रहे है। पृथ्वीकी मूर्ति स्थूल है, पृथ्वीका उपकार बहुत है। न हो पृथ्वी तो हम रहेंगे कहाँ ? यह पृथ्वी ही तो हमको साधे है, पृथ्वीके साधनसे ही तो बैठे हैं। पृथ्वीपर मकान बनाते बड़े सुख से रह रहे, पृथ्वीका कितना काम आ रहा तो इस उपयोग की प्रधानतासे, स्थूल मूर्ति होनेसे

और बड़े सुखसे हम पृथ्वीको जान लेते है, खूब बडी-बडी पृथ्वी है इसलिए सबसे पहले पृथ्वी शब्द दिया।

सूत्रमें जल शब्दको पृथ्वी शब्दके बाद व अग्निशब्दसे पहिले रखनेका कारण— अच्छा भाई पृथ्वीके बाद जल कहा। तो जल ही क्यों कहा पृथ्वीके बाद, अग्नि कह देते, अग्नि क्यों नही रखा पृथ्वीके बाद, जल ही क्यो रखा ? जलके यो रखा गया पृथ्वीके पास कि जलने पृथ्वी और अग्निमे अन्तर डाल दिया। तो एक व्यवहारकी बातोका प्रभाव भी वचनोंमें पड़ता है। हलाकि ऐसा नही है कि इस सूत्रमे अगर पृथ्वीके आगे आग रख दी जाय तो ये मकान जल जायेंगे ऐसा तो नही है मगर चीज तो है बाहरमे ऐसी। तो उसके अंतरालमें जल रख दो, पृथ्वीकी रक्षा हो जायगी, एक बात। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आधार है जल आधेय। इसका बहुत निकट सम्बन्ध है और भूगोल आदिकसे पृथ्वी और जलमे कितना निकट सम्बन्ध है। पृथ्वीसे चिपका हुआ जल बताते आजकलके वैज्ञानिक लोग और यहाँ पृथ्वी आधार है और जल आधेय है इसलिए पृथ्वीके बाद जल शब्दको दिया है।

पृथ्वी और जल शब्दके बाद क्रमशः अग्नि वायु व वनस्पति शब्द रखे जानेका कारण— इसके बाद अग्नि शब्द रख दो, क्यों रख दो इस ख्यालके लिये कि हम अग्निसे जरूरत पडे तो पृथ्वीको भी पका लो, चूना पकाते है, ईंट पकाते है। तो अग्निसे काम ले लिया जाता है और जलको भी आगसे पका लो दोनोका काम बन जायगा अपनी-अपनी इच्छानुसार तो तो उसके बाद रख दो अग्नि, पृथ्वी, जल और अग्नि। और इसके बाद फिर हवा रखो क्यों कि हवासे अग्निकी वृद्धि होगी। अग्निका उपकार करती है हवा। हवा न हो तो अग्नि न जल सकती न जिन्दा रह सकती और उस वायुका बिगडता क्या है ? अगर अग्निके पास वायुको रखें तो वायु मर न जायगी। तो यों पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु हुए। और अन्तमें रखा वनस्पति, क्योकि वनस्पतिके उठानेमें बढ़नेमे, जिन्दा रहनेमे ये चारो काम आते है— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। हवा न मिले तो वनस्पति हरी नही रह सकती। आमके पेड़के नीचे अगर गेहूं वगैरह कुछ बो दिया जाय। तो वहाँ अच्छा नही पैदा होता क्योकि वहाँ हवा ही उचित न रही और बिना हवा, पानीके उनका जीवन ही न रहेगा और अग्नि बिना भी नहीं जिन्दा रह सकती यह वनस्पति। घाम पड़ता है, ठंडा ही ठंढा रहे तो पाला पड जाय, पैदा ही न हो, जल जाय। तो इसे कुछ गर्मी भी चाहिए और जल भी चाहिए, पृथ्वी भी चाहिए वायु चाहिये तो चूँकि वनस्पतिमें ये चारो हेतु है इसलिए वनस्पतिको बिल्कुल अन्तमें रख दिया। यह क्रम आचार्योंकी दृष्टिमें रहा उसका एक प्रयोजन देखकर।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन पांचोंमे सबसे बडी आयु पृथ्वी और वनस्पति की हुआ करती है। हजारों वर्षोंकी आयु इनकी होती है और अग्निके ज्यादहसे ज्यादह तीन दिनकी

आयु बतायी गई है। कोई अग्नि जीव है वह अग्निकायके शरीरमे रह सकता अधिकसे अधिक तीन दिन। बादमें नही रह सकता। अव्वल तो तीन दिन भी मुश्किलसे रहेगा, थोड़ा ही रहेगा और मिट जायगा। जल भी कुछ समय तक रहता है, वायु कुछ अधिक समय तक रहतो। ये स्थूल भी होते और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म पृथ्वी, सूक्ष्म जल, ये भी सब जगह है जहाँ कि यह पोल पडी है, आकाश पडा है।

स्थावरोंमे चेतना सुख दुःख आदिका दिग्दर्शन—कैसा इन स्थावरोंका जीवन है? केवल एकेन्द्रिय है। अब समझलो—जिसके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय है, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र मन आदिक नही है वे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा क्या ज्ञान करते होगे? ज्ञान तो करेंगे सब, मगर हम तो कहेगे कि न की तरह। सुख दुःख इनके भी होता। जब पेड़ोके लिए खाद डाला पानी भी डाला, पानी बरष रहा तो ये बडा सुख महसूस करते है और हम कुछ नही समझ पाते। जैसे हम यहाँ सुखमे मुस्कराते है, हँसते है इसी तरह वे वनस्पति भी सुखमें मुस्कराते है, हसते है। इसी तरह वे वनस्पति भी सुखमें हरे होते है, कुछ उनमें पल्लव होते है, ये सब बातें पायी जाती है। और जब दुःख पड़ता है, कोई पेड़को काट रहा है तो क्या वे उस समय दुःख महसूस नही करते? उन्हे दुःख होता है। पर कौन विवेकी है ऐसा जो इनके दुःखकी याद रखे और इनकी हिंसा न करे? ज्ञानी पुरुष। साधु तो षटकायके जीवोकी हिंसाके पूर्ण त्यागी होते है, इसीलिए उनको उद्दिष्ट त्यागकी भी बात कही। उद्दिष्ट त्यागमे कोई अगर उनका नाम लेकर भी बनाये तो इससे कहीं उद्दिष्ट दोष नही होता, किन्तु केवल उनके लिए ही बनाये और अपने लिए फिर अलगसे चूल्हा चढ़ाये तो उद्दिष्ट दोष होता है। रोज-रोज अशुद्ध खाता हो कोई और आज उसका भाव हुआ कि आज हम आहारदान करेंगे और वह उसी जगह शुद्ध भोजन बनाये जहाँ कि रोज-रोज बनता था या वे सब खायेंगे तो वह उद्दिष्ट नही, चाहे किसीका नाम लेकर भी बनाया हो। बहुतसे गृहस्थोका ऐसा व्रत होता कि हम प्रत्येक रोजको आहार दान करेंगे, किसीको प्रत्येक दोजका, किसीको किसी तिथिका नियम होता है कि हम प्रत्येक अमुक तिथिको आहारदान करेंगे, यह आगमोक्त बात कह रहे है कि वह १४, १५ दिन चाहे जैसे रहे, पर एक दिनको शोध लिया, उस दिन शुद्ध भोजन बना रहा तो वहाँ उद्दिष्ट दोष नही लगता। तो उद्दिष्टका त्याग इसी कारण है कि केवल उसके ही नाम पर आरम्भ न हो। यद्यपि रोज उसी जगह बनाता खाता था फिर भी और दिनोंकी अपेक्षा आज वह निर्दोष भोजन बनायगा। खाना तो रोज-रोज बनाता था, पर आज अहिंसाकी विधिसे बनाया, हिंसाको टालकर बनाया तो बताओ उसने गुण किया कि दोष? जैसे कुछ लोग कहते कि वाह रोज-रोज तो अशुद्ध खाते, आज शुद्ध खाया तो उन्होकी वजहसे तो शुद्ध बनाया, पर यह तो बताओ कि वे जितना खायेंगे उसके अतिरिक्त क्या अशुद्ध बना

रहे ? क्या कोई नई जगह बना रहे ? आरम्भ तो जितना रोज करते थे उतना ही किया, थोडा अहिंसाकी विधिसे किया । हां कोई दो चार रोटी बना दे उनके लिए और अपने सबके लिए रसोई अलग चले तो इसमें उस श्रावकको दोष है और मालूम पड जाय तो पात्र वह आहार भी नही लेते जो उद्दिष्ट त्यागी हैं ।

स्थावर जीवोके क्लेश—ये ५ स्थावरकाय इनके परिणाम है, क्लेश है, सुख है, सभी बातें है । पृथ्वीको खोदते है तो मुरमुर भी पृथ्वी है, पत्थर भी पृथ्वी है, अदरमे जो कंकड हैं वह भी पृथ्वी है । हां खानसे निकले बाद वह पृथ्वी नही रहती । ऐसे ही जल भी जीव है । छानने पर जलकायका जीव तो न छनता होगा, त्रस जीव छन जाते है, और एक कथनके अनुसार जलकायका जीव भी नही रहता । रत्नमालिका नामक एक ग्रन्थ है, उसमें बताया है कि छना हुआ जल एक मुहूर्त तक अचित्त है और लौग आदिकसे चर्चा गया जल दो प्रहरके लिए अचित्त है और गर्म किया हुआ जल अहोरा, रात दिनके लिए अचित्त है। कुछ भी हो, मगर जलकाय इतना सूक्ष्म होता है कि वह आसानीसे दूर नही होता । तब उसे गर्म करके अचित्त कर लेते ताकि आइन्दा उसमे जीव उत्पन्न न हो । अग्निकाय—अग्निको भी दुःख होता और अग्निपर पानी डाल देते तो अग्नि किस प्रकारकी वेदना पाती है, उसका कौन वर्णन करे ? मगर आलस्य ऐसा है कि अग्निको बुझाना है तो अग्निमे यो ही पानी डाल देते, अग्नि झुलसकर मुरझा जाती । अग्निकी हिंसा इस प्रकार हुई । वायुकी हिंसा किस प्रकार होती कि वायुको लोग रबड टायर आदिमे बन्द कर देते, उसपर भार लादते, तो यह वायुकायक हिंसा है । वनस्पतिकी हिंसा फल फूल आदिकका छेदन भेदन होता, कौन इन बेचारे जीवोंकी परवाह करता ? कैसा पापकर्मका उदय है कि जिसके उदयमे ऐसे ऐसे भव ग्रहण करने पडते ? देखो सोचना है अपनेको भी । न चेते, न ज्ञानमे आये, न उस परमब्रह्म स्वरूपकी भक्तिमे रहे तो ये ही स्थितियां होनेको है, पृथ्वी बन जायें, जल बन जायें, अग्नि बन जायें और फिर ये दुःख होगे । कितने ही दुःखोसे हटकर हम आज आये है एक अच्छे भवमें और हम यहाँ प्रमाद करलें,, विषयकषायोंके भाव बनायें तो फिर वही पुरानी पाटी पढ़नी पड़ेगी । कर्तव्य तो यह है कि हम उत्तरोत्तर अच्छी स्थितिको पा पा कर सदाके लिए सकटोंसे छूट जानेका काम करें । ये धन वैभव मकान आदिक भोग साधन कीचडसे भी खराब हैं । कीचडकी यहाँ उपमा दी, पर कीचड लगनेसे अधिक हानि नही, मगर इन बाहरी पदार्थोंमें जो ममता बुद्धि है और इनके प्रति जो बाहरी विचार है, निरन्तर जो परिग्रहके पीछे परिणाम बने रहते हैं उन परिणामोसे आत्माकी कितनी बरबादी है, समझ लो कितना हमारा घात है ? इतनी बात समझ तो लेवें । समझ लें, 'तो समझ करके करेंगे तो विरक्त होकर करेंगे । अन्तर तो आयगा ना और जो ना समझ होकर करेंगे वे अध होकर आसक्त

होकर करेंगे । इन दोनों बातोमे बंधका बडा अन्तर है ।

यथार्थ ज्ञानका फल वैराग्यवासित होकर निराकुल रहना—जो यथार्थ बात है उस की ठीक समझ बनायें और सहज विरक्ति उससे लें । करणानुयोगमे जो नाना प्रकारका वर्णन है, जीवकी दशाओका वर्णन है उनको जानकर शिक्षा मिलती है कि तुम यदि चूक गए, धर्म न कर सके तो ऐसा ही बनना पडेगा । जब अजायबघरमे देखते है कैसे-कैसे पक्षी, कैसे-कैसे पशु, कैसे-कैसे सर्प और कैसे-कैसे विचित्र मगरमच्छ आदिक है तो उनको देखकर विवेकी पुरुषके चित्तमे तो यह आयगा कि हम अगर न चेते, धर्म मार्गमे न चले तो ऐसा ही बनना पडेगा जैसे कि ये जीव है । जगतके जीवोको देखकर यही तो शिक्षा लेनी चाहिए । चेतें और चेतनेका मूलमत्र यह है कि अपने आपमे ऐसी प्रतीति रहे कि मैं तो एक सहज चैतन्यप्रकाश हू, विकार मेरेमे नही । आये तो है विकार, मगर ये नैमित्तिक है । जैसा कर्मानुभागका प्रतिफलन है सो होता है, पर मेरे स्वरूपमे विकार नही । मैं तो एक शुद्ध चैतन्य-प्रकाश हू, ऐसा जिसके निर्णय होगा वह क्या परिजनोको, कुटुम्बी जनोको अपनायेगा कि ये मेरे है ? अरे वह तो इन विकारोको भी अपना नही मान रहा । तो विकारोके विषयभूत पदार्थोको कैसे अपनायें ? यहां भेदविज्ञान हुआ, कुछ दिखाना नही, सारे काम चुपकेसे होने के है और किसीको देखने जैसी बात चित्तमे आये तो वह भी विकारमे पड गया । कोई जाने तो, न जाने तो । माने तो, न माने तो, हम किसीके लिए है ही नही । मुझे कुछ चाहिए ही नही । एक दृष्टि बनायें, ऐसे अपने सहज चैतन्यप्रकाशमे 'यह मैं हू' यह अनुभव बने तो यह वह अग्नि है कि सारे कर्म ईंधनको जला देती है । एक ही काम है, हर सम्भव उपायोसे बना लें कि अपनी एक दृष्टि यह पहुच जाये कि मैं तो देहसे भी निराला, विकारोसे भी निराला एक सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हू, जो ऐसा ही रह जाऊ सदाके लिए तो निस्तरग हो जाऊ । इस ही दृष्टिका प्रताप है कि यह स्थावरोमे और और जीवोमे जन्म-मरण सब समाप्त कर देता है ।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। ।१४।।

त्रस जीवोका आख्यान—पूर्व सूत्रमे बताया गया था कि ससारी जीव दो प्रकारके है—(१) त्रस और (२) स्थावर । इनको यदि अपनी भाषामे कहना हो तो यो कह लीजिए कि ससारी जीव दो तरहके है—(१) अङ्गोपाङ्गकी योग्यता वाले और (२) अगोपागकी योग्यता न रखने वाले । इस कथनमे त्रस स्थावर अपने आप आ जाते है । तो उनमे त्रस जीव क्या होते है, कौन होते है, इसका विवेचन इस सूत्रमे है । "दोइन्द्रियोसे लेकर सब त्रस जीव है" यह इस सूत्रका अर्थ है । हिन्दीमे यो व्याख्या करेंगे 'कि दोइन्द्रिय वगैरा त्रस जीव है । दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पचेन्द्रिय और सस्कृत व्याकरणकी ओरसे यह अर्थ

होगा कि द्वीन्द्रिय है आदिमे जिनके वे सब त्रस कहलाते हैं। बहुव्रीहि समास बनेगा। जरा एक लाइनमे संसारी जीव दृष्टिमे रख दीजिये—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय। अब इस पक्तिमे दोइन्द्रियसे आदि लेकर सब त्रस जीव है। यहाँ आदि शब्द व्यवस्था और प्रकारवाची है। दोइन्द्रियको त्रस बतला रहे ना, तो त्रसपना जिस ढंगमे पाया जाता उस प्रकारके दोइन्द्रिय वगैरा सब त्रस है। सस्कृत व्युत्पत्तिमे अर्थ हुआ– दो हैं इन्द्रियाँ जिनके वे दोइन्द्रिय और दोइन्द्रिय है आदिमे जिनके वे त्रस, ऐसा एक शुद्ध परिभाषामे अर्थ है।

अब यहाँ एक आशंका होती है कि दो इन्द्रियाँ हैं आदिमे जिनके वे त्रस है। तो बहुव्रीहि समासमें अन्य पद प्रधान होता है। समासोकी यह बात है कि अव्ययीभाव समासमें अव्ययका अर्थ प्रधान है और तत्पुरुष समासमे उत्तरपद प्रधान है। जैसे राजपुरुष, किसीने कहा राजपुरुषको लावो—जो राजाका पुरुष है याने नौकर उसे लावो। तो बताओ कोई राजाको लायगा कि पुरुषको ? तो राजपुरुषमे जो राजा व पुरुप ये दो शब्द है इनका तत्पुरुष समास है। इनमे पुरुष प्रधान है और द्वन्द्वमे सभी पदार्थ प्रधान हैं और बहुव्रीहिमे अन्य पदार्थ प्रधान हैं। कैसे ? जैसे कृष्णकम्बल आनय। काला है कम्बल जिसका उसे लावो तो न कोई काला लायगा, न कम्बल, उस आदमीको लायगा। बहुव्रीहिमे जितने शब्द बोले हैं उनकी प्रधानता नही है, अन्यकी प्रधानता है। सफेद टोपी वालेको लावो। तो संस्कृतमें कहेंगे कि सफेद है टोपी जिसकी उसे लावो। तो न कोई सफेदको लायगा, न टोपीको, किन्तु पुरुषको लायगा। तो ऐसे ही जब यह बहुव्रीहि समास है कि दोइन्द्रियाँ है आदिमे जिनके वे त्रस कहलाते हैं तो इसमें दोइन्द्रिय तो पकडा ही नहीं गया, सो दोइन्द्रिय जीव त्रस नही रहता। जैसे कहेगे पर्वत है आदिमें जिसके ऐसा खेत है इसका, तो इस कथनमें क्या आया ? मात्र खेत पर्वत है इसके, यह तो छूट जायगा ? जैसे मकानकी सीमा लिखते है तो उस सीमा में यों लिखते है कि यह फैक्ट्री आदिमें है। कैसा है इसका मकान ? दालमिल है पूर्वमें जिसके वह है इसका मकान, तो क्या उसका दालमिलपर कब्जा हो जायगा ? वह तो छूट गया। तो ऐसे ही जब यह समास बना कि दोइन्द्रियाँ है आदिमे जिनके वे त्रस है तो तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तो त्रस हैं तो त्रस बन जायेंगे, मगर दोइन्द्रिय नहीं बन सकता। बहुव्रीहि समासमें यह खासियत है। जैसे परीतसंसार, हट गया है संसार जिसका, ऐसा शब्द बोलनेसे कोई अन्य चीज पकडी जायगी। कौन ? मुक्त जीव। उत्तमधनः, उत्तम है धन जिसका वह; बहुधनः, बहुत है धन जिसका वह; गोधनः, गाय धन है जिसका वह। तो इसमे न गाय पकडी जायगी, न धन पकडा जायगा, किन्तु वह आदमी पकडा जायगा। तो ऐसे ही दोइन्द्रिय आदिक हिन्दीमे तो सीधा अर्थ बना देते कि दोइन्द्रिय वगैरा त्रस है,

मगर इस ढंगसे सस्कृतमे अर्थ नही होता। हिन्दीमे है फलित अर्थ। हिन्दीमे दोइन्द्रिय है आदिमे जिनके वे सब त्रस है। तो जिसको कहा जाय वह पकडा जायगा। कौन है ? किसके आदिमे है दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, फिर दोइन्द्रियको त्रस कैसे कहा जा सकता है ? समाधान यह है कि तद्गुण सविज्ञान बहुव्रीहि है। ऐसा भी होता है कि वह भी ग्रहणमें आ जायगा। जैसे सफेद है वस्त्र जिसका उसे लावो। तो क्या वह वस्त्र सहित आदमीको न लायगा ? और अगर मान लो कि उसका सफेद कुर्ता उतरवाकर लावे कोई तो यह जानकर कि बहुव्रीहिका अर्थ तो अन्य पदार्थ है, इसका कुर्ता हटवा दो। तो लाया तो यह, नाराज कौन होगा फिर ? मालिक। हमने तो कहा था कि सफेद कुर्ता वालेको लावो, तुम तो बिना कुर्ताका आदमी लाये। सो बात यह है कि जहाँ आदि वाले पदार्थका सम्मिलन सम्भव है उसका भी ग्रहण होता है। जहाँ सम्भव नही वहाँ ग्रहण नही। जैसे पर्वतादि क्षेत्र। पर्वत है आदिमे जिसके ऐसा खेत। तो वहाँ खेत ही आयगा पर्वत नही, क्योंकि खेत और पर्वत न्यारे न्यारे है। मगर सफेद है कपडा जिसका ऐसे फलाने, इसमे फलाने और कपडा सब आ जायगा। दो इन्द्रियाँ हैं आदिमे जिसके ऐसा जीव। तो चूंकि सम्भव है ना त्रसमे तो दोइन्द्रिय भी ग्रहणमे आ जायेगा। यो शाब्दिक दृष्टिसे दोइन्द्रियका ग्रहण इस प्रकार हुआ। ये सब त्रस जीव कहलाते है।

त्रसत्वके लाभकी लोकमें दुर्लभता--

भैया ! कहते है ना कि "दुर्लभ लहि ज्यो चिन्तामणी, त्यो पर्याय लही त्रसतणी।" त्रसकी पर्याय पाना बहुत कठिन है। अनन्तकाल तो जीवका गडबड देहमे ही बीता। जहाँ अगोपाँग नही होते, काय भी ढगका नही, निगोदकी अतिनिकृष्ट दशा। वहाँसे निकले तो पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति हुये, अटपट काय वाले ये भी है। यहाँ भी असंख्याते वर्ष बीत जाते है। तो देखो लट कीट जैसा भी त्रस होना दुर्लभ रहा। अब तो जरा सोचो तो सही, आज हम आप मनुष्य है, अंगोपाङ्ग ठीक है। अच्छे हाथ पैर है, अच्छी अगुलियाँ हैं, अच्छी तरहसे सब चीजें उठा लेते, अच्छी तरहसे चल फिर लेते, अच्छे लग रहे है। और यह ही जीव जब पेड पौधेकी पर्यायमे था, मानो बरगदका पेड था, जिस बरगदके पेडको आजकल मिथ्यादृष्टि लोग देव मानकर पूजते है वह कोई पूजने योग्य चीज है क्या ? अरे वह तो कोरा स्थावर जीव है। उसमे देवत्व कहा है ? पर लोग उसे देव मानते, उसे धागोसे बाँधते उस पर पानी चढाते, उसके पैर छूते। भला बताओ ये सब क्रियाकाण्ड करनेसे उस वनस्पति जीवमे कुछ फर्क आयगा क्या ? वह क्या मौज पा लेगा ? अरे कुछ भी फर्क न आयगा। वह तो शाखा प्रशाखाओके रूपमे अटपट फैल गया। वह कितना विड्रूप शरीर है ? सो ऐसे

शरीर धारण करनेमे जीवका अनन्तकाल व्यतीत हुआ। आज हम आप लोग बडी अच्छी स्थितिमे है, मगर खेद है कि तृष्णाके कारण यहाँ हमने कितना बडा क्षोभ पाया, दु ख पाया, इसका कुछ ख्याल नही रहता क्योकि तृष्णा लगी है, इज्जत प्रतिष्ठा की चाह है। तृष्णाका फल नियमसे दु:ख है। जो लोग आज अच्छे नेता माने जाते। हम आप लोग जिनकी बडी प्रशसायें सुनते उन्हे आत्मसंतोष है क्या ? वे तो न जाने किस ओर दृष्टि किए होगे ? हमारी कीर्ति होनी चाहिए अथवा जो मिली है प्रतिष्ठा उसका निरन्तर भय रहता कि कही इससे कम न हो जाय। बहुत दिनो तक कैसे चलेगी प्रतिष्ठा ? तो क्या उन्हे कम दु ख है ? तो इस जीवको इतनी उत्तम सुविधा है। आज अच्छा शरीर, अच्छा मन मिला है अपने भाव दूसरे को बता दें, दूसरेकी बात समझते, विवेक करें, तत्त्वचर्चा कर सकें, धर्मकी चर्चा कर सकें, ऐसे पवित्र सुयोगको पाकर भी यह जीव तृष्णाके वश होकर अपनेको दीन हीन गरीब मान रहा, उसका सदुपयोग नही कर पाता जो इसने एक उत्तम प्रसग पाया।

क्लेशका कारण तृष्णाभाव—भैया! जिनको देखकर तृष्णा उपजती है उन्हे खड्डेमे जाने दो। तुम अपने स्वरूपको क्यो नही सम्हालते ? तो यह त्रस पर्याय ही बडी दुर्लभ पर्याय है, अनन्तकाल तो जीवका निगोदमे गया और बहुत काल अन्य स्थावरोमे गया। एकेन्द्रिय जीवोकी अपेक्षा लट् केचुवा आदिक दोइन्द्रिय जीव बन जाना यह ही बडी मुश्किल बात है। फिर तो देखो कितना विकास होता गया कि आज हम मनुष्य है। देखो आत्मविकासके अनुसार यहाँ देहविकासमे भी फर्क लग रहा। केचुवा पडा है लम्बासा, हाथ-पैर भी नही हैं। अगोपाग तो उसके भी हैं, मगर किस तरहके पैर है ? जैसे काली तुरैयामे तो फिर भी ऊँची-ऊँची धारें होती हैं, मगर केचुवाके तो बिल्कुल ऐसी पतली धार होती कि बहुत सूक्ष्मतासे टटोले हाथ तो थोडा-थोडा समझ पायगा। अगोपाङ्ग उसके भी है, मगर कैसा पडा है थुल्ल-मथूल। उसकी अपेक्षा देखो कि तीनइन्द्रियमे शरीर कुछ सगठित है। पैर भी निकले, कुछ शरीरका ढाचासा भी खुल गया। तीनइन्द्रियसे चारइन्द्रियका देह देखो, कितना सुडौल है, चार इन्द्रियकी अपेक्षा पचेन्द्रिय तिर्यंचोमे चलो तो देखो मछलीका कैसा बेढब शरीर है और उसकी अपेक्षा देखो तो मेढकका शरीर सुडौल है। इन्ही बातोको देखकर तो वैज्ञानिकोने यह बात निकाली कि यह मनुष्य तो पहले मछली था। अब जैसे-जैसे सुधार होता गया वैसे-वैसे मछली से मेढक बना, फिर उससे बदर बना, फिर उसकी पूँछ घिस गई तो मनुष्य हो गया। वैज्ञानिकोने ऐसा सोचा तो सही, मगर उसने और ढगसे सोचा। यहाँ इस तरह देखते कि आत्मा मे जैसे विकास होते जाते भीतर वैसे ही देह मिलते है तो उनको विकसित देह मिलता है। तो मनुष्यसे बढकर और किसका देह बताओगे ? बताओगे देवगतिके जीवोका। उनका भी

ऐसा ही शरीर है। फर्क जरा आहार वर्गणाओका है। उनके परमाणु है वैक्रियक, जहाँ हाड-मास आदिक नही और अपने (मनुष्योके) परमाणु है औदारिक। हाड-मांस भी बन रहे। तो उसमे फर्क क्या आया ? न रहे उनके हाड-मास। उनके हजारो वर्षोंमे भूख लगती, और कई-कई पखवाडोमे वे सास लेते। आखिर सांसका जल्दी लेना यह क्लेश ही तो है। देवगतिमे सुख माना गया है तो सासका कई पखवारोमे लेना, और भूख तो हजारो वर्षोंमे लगती, तो लगने दो, उससे वे सुखी थोडे ही होगे। तृष्णा जो उन देवोके साथ लगी है उसके कारण वे मनुष्योसे भी अधिक दुःखी हो सकते। बस देहका सुख है कि उनके ठड नही लगे, गर्मी नही लगे, पसीना न आये, भूख भी बहुत दिनोमे लगे, सो गलेमे ही एक प्रकारका थूक (अमृत) झड जाता, लो भूख मिट गई। मगर तृष्णा है अत. वे भी दु.खी हैं। हम आप सबके दुःखका कारण मात्र तृष्णा है।

संगप्रसंगमें विवेककी आवश्यकता—हर एक कोई यह अनुभव करता कि मेरे कम धन है। कुछ भी नही है आवश्यकतायें पूरी नही हो पाती। एककी नही, सबमे यह अनुभव चलता है, क्योकि जैसे-जैसे आवश्यकताओका प्रसार होता वैसे-वैसे तृष्णा चलती रहती। तो यह तो सब तृष्णाका काम है। बताओ रेफ्रीजेटर न हो घरमे तो आत्मा मरता है क्या ? न हो टेलीविजन तो बतलावो कौनसा कष्ट होता ? न हो पखा तो बताओ कौनसा कष्ट ? बल्कि पखेमे कष्ट होता। पसीना नही निकल पाता, सिरदर्द हो जाता, जुकाम हो जाता और पखा नही है, खूब पसीना आ रहा तो हवा चलनेपर शरीर को आनन्द आयगा, शरीरके रोग दूर होगे। भला बतलावो पान, बीडी, सिगरेट, शराब वगैरा चीजें न इस्तेमाल की जायें तो उससे इस आत्माका क्या बिगडता है ? न हुए ऊचे-ऊचे महल, झोपडीमे ही निवास हो, अधिक धन भी न हो, साधारणरूपका ही जीवन हो तो उससे क्या बिगाड है ? बल्कि यह तो एक उत्तम ढग है आदर्शरूपसे मनुष्य जीवन बितानेका। मगर अपने विषयोके मनके पोषणके लिए आवश्यकतायें बढाना और उसमे उलझे रहना यह तो अपने जीवनको व्यर्थ गवानेकी बात है। हाँ साधारणरूपसे जीवन गुजारनेमे कष्टकी एक बात यह आती है कि आज दुनियाके लोग उसे बेवकूफ कहेगे। बस उसको सहन करनेकी शक्ति आये, फिर इसको कोई कष्टमे नही डाल सकता। अगर धुंधमधुंध सम्पदा मिली है और कुछ पडौसी गरीबके उपकारमे और धर्मादिक के कामोमे त्याग करनेसे धन बचता है तो उसे ठाठबाटमे लगा दो, पर ऐसा निर्णय तो न करना चाहिए—ठाठ बाट पहले और धर्म व उपकारके काम बादमे। उनको तो फिर धर्मके कामोमे खर्च करनेका मौका ही न मिलेगा। त्रस जीवोकी बात कह रहे है कि ऐसा दुर्लभ देह और उसमें भी मनुष्य बन गए तो कुछ विचार करना चाहिए और यो ही विषय कषायोकी

तृष्णामे समय न लगाना चाहिए। यह त्रस पर्याय बहुत दुर्लभ है।

त्रसोंमें भी उत्तरोत्तर विकास—इस सूत्रमे यह कह रहे है कि दोइन्द्रिय आदिक जीव त्रस कहलाते है। अब त्रसोमे उत्तरोत्तर विकास देखते जाइये—यह आत्माकी प्रसन्नताका फल है। दोइन्द्रियमे ६ प्राण होते है। स्पर्शन रसना ये दोइन्द्रिय, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। वचनबलका सौभाग्य दोइन्द्रियसे प्राप्त हो सका। इससे पहले जो एकेन्द्रिय हैं थूबर थावर, उसका जीवन तो यो ही जा रहा। तीनइन्द्रिय हुआ तो वहाँ ७ प्राण हुए, एक इन्द्रिय घ्राण और बढ गई। तो भला बतलाओ ज्ञानमे विकास कुछ बढा कि नही? एकेन्द्रिय तो यह थे कि जिन्हे रसका, स्वादका कुछ पता ही न पडता था। उन्हे खाना होता था जडोसे, स्पर्शसे। पेडोकी जडमे खाद डाल दिया मायने भोजन परोस दिया पेडोके लिए, अब वे पेड खायें कैसे? धीरे-धीरे वे उसमे अणु प्रवेश करें, ऐसा तो उनका भोजन है। वहाँ रसनाइन्द्रियकी बात ही क्या जाने? दोइन्द्रिय हुए तो रसना तककी बात जाना, मगर जिसे और इन्द्रियाँ मिली, और मन मिला तो पहली इन्द्रियमे जैसे कुशलता बढती है अपने विषय के अनुभवनेकी, ऐसा उस इन्द्रियसे नही बनता। तीनइन्द्रियमे नासिकाका, गधका ज्ञान, चार इन्द्रियमे आँखसे देखनेका ज्ञान।

देखो यह एक कितना विकास है? तीनइन्द्रिय तक कुछ देख नही पाते, पर गध ही गध वहाँ दिखेगी। जहाँ मिठाई है वहाँ पहुच गए, पर आँखोसे कुछ नही देखते। चार-इन्द्रिय हुए तो आँखोसे भी ज्ञान होता, पञ्चेन्द्रिय हुए तो कर्णेन्द्रियसे भी ज्ञान बनता। कान से सुन लेवे। और मन वाले भी त्रस कहलाते। जिनको मन मिला है, अब मन वाले भी बहुत है, पर उनमे भी अन्तर देख लो—ये झोट (भैंसा) ये भी मन वाले है। दो चार झोटो को भी एक ८ वर्षका छोटा बालक हाँकता जायगा, उसके वशमे रहेगे इतने बलशाली झोटा भी। तो यह फर्क किस बातका है? बुद्धिका ही तो फर्क है। तो ऐसा श्रेष्ठ बुद्धि वाला भव मिला तो इसमे हमारा कर्तव्य है कि आत्मस्वभावकी पहिचान करके, उसकी दृष्टि अधिकाधिक बनाकर इस जीवनमे एक गुप्त साधना गुप्त ही कर डालें। कल्याण गुप्त ही होता। कही ऐसा नही कि कल्याण प्रकट होता हो और हम कहे कि गुप्त करो। आत्मकल्याण स्वभावदृष्टि, आत्मीय आनन्द, ये प्रकट तो होते ही नही। ये बाह्य इन्द्रियके विषय नही हैं, गुप्त ही होते है, इसलिए गुप्त पुरुष कल्याण कर लेते है। उसका उपाय है अध्यात्मभावना। चारइन्द्रिय जीवके एक प्राण और बढा—चक्षुइन्द्रिय। असज्ञी पञ्चेन्द्रियमे एक प्राण और बढा—कर्णेन्द्रिय। और सज्ञी पचेन्द्रियमे मनोबल बढा, यो १० प्राण हो गए।

प्राणोके हिसाबसे हिंसामे तरमतताका कारण हिंसकका विकारभाव—देखो प्राणोके

हिसाबसे हिंसामे तरतमता बतायी गई है। अनेक एकेन्द्रियके घातकी अपेक्षा एक दोइन्द्रिय जीवकी हिंसामे पाप विशेष है। अच्छा, और इन दोइन्द्रिय जीवोकी अपेक्षा तीनइन्द्रियके घातमे, तीनइन्द्रियसे चौइन्द्रियके घातमे, चौइन्द्रियसे पचेन्द्रिय तिर्यंचके घातमे दोष विशेष है और उनकी अपेक्षा मनुष्यके घातमे दोष विशेष है और मनुष्योमे भी व्रती, ज्ञानी, साधु सत, इनकी हत्यामे ज्यादा दोष है। सो इस बातको सुनकर कुछ लगता तो ऐसा होगा कि यह तो कुछ एक पक्षपात जैमी बात है, और कुछ उल्टा ख्याल बना देनेकी प्रेरणा है कि किए जावो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय जीवोकी हिंसा, सिर्फ मनुष्योकी हिंसा न करो। तो ऐसी प्रेरणा नही लेना है, बल्कि तथ्य यह है कि हिंसा करने वालेके परिणाम ज्यादा प्राण वालेके घातमें बहुत मलिन होते है। अभी किसी साधारण मनुष्यके दो-चार चाटे लगाने हो तो उसमें कोई अधिक मलिनता आपके परिणामोमे न होगी, वह तो एक साधारणसी बात है, पर कोई बडा पुरुष हो, साधु हो या कोई अपना लौकिक बडा हो तो उसको मारनेके लिए आपको कितना सक्लेश परिणाम करना पडेगा ? 'तो हिंसा अहिंसाका सम्बध तो भावोले है। कुछ प्राणोके हिसाबसे नहो, मगर ऐसा सम्बन्ध है कि जितना अधिक प्राण वाले को और जितना अधिक गुण वालेको कोई घात करनेकी सोचेगा तो उसे बहुत हिम्मत बहुत संक्लेश करना पडेगा, इसलिए वहाँ हिसा ज्यादा है। तो उन्नतिमे बढते-बढते एक मनुष्यजीवन पाया है तो इसका उत्तम सदुपयोग है एक आत्माके सहजस्वरूपकी झलक कर लेना। यह बहुत बडा विषपान है कि जो चित्तसे यह बात न हटे कि मै मनुष्य हू, मैं अमुक घर वाला हू, मैं इतनी सम्पदा वाला हू, मै ऐसी पोजीशन वाला हू, इतनी इज्जत वाला हू। यह बात चित्तसे न उतरे तो वह तो बडा गरीब प्राणी है। वह मोहके अत्यन्त विवश है, जैसे पिशाचने ग्रह लिया हो वह स्थिति है उसकी। और कभी आ जाय बात, राग आ गया और बात हो गई, समय है हो गया, मगर अधिकाधिक समय उपयोग मेरा इस प्रतीतिमे गुजरे कि मैं तो एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाश हू, जो अमूर्त है। अहा, कैसा विलक्षण पदार्थ है यह आत्मा कि आकाशकी तरह तो अमूर्त है, आकाशवत् प्रदेश भी है उसके और उसका चेतनागुण है, चैतन्यशक्ति है और उस शक्तिका परिणमन जानने देखने रूपमे हो रहा। कैसा अलौकिक अनुपम पदार्थ है यह जीव ? सहज अतस्तत्त्वमे 'यह मैं हू' ऐसा जिसके विश्वास है, निर्णय है, वह पुरुष अमीर है, मोक्षमार्गी है, पवित्र बनेगा और मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इस प्रसगमे जीवतत्त्वका वर्णन चल रहा। जीवके कैसे भेद है, भेदोका ही तो विवरण समझा जायगा। तो जीव दो प्रकारके है— ससारी और मुक्त। मुक्तकी तो चर्चा छोडो, क्योकि वे एक स्वरूप हैं। ससारीके दो भेद है— त्रस और स्थावर। उनमे से त्रसकी बात कही जा रही है। त्रस नामकर्मका उदय होनेसे

जिन्होने उसके अनुकूल मन पायो है, देह पाया है वे त्रस जीव है और वे दो इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, ऐसे चार प्रकारके होते हैं।

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रियोकी संख्या बतानेकी आवश्यकता—इन्द्रियां ५ होती हैं। इससे पहले सूत्र था द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। दो इन्द्रिय वगैरह त्रस कहलाते है। तो उस आदि शब्दको सुनकर यह जिज्ञासा बनी कि दो इन्द्रिय आदिक कहा तो आदिकसे कितने हम और ले लें क्योकि यह सूत्ररचना एक अपने नियम कानूनको लिए हुए है। सुनने वाले जानते है—इन्द्रियां ५ है लेकिन इस शास्त्ररचनामे जिस तरहका विवेचन चला है उससे अब तक यह विदित नही हुआ कि इन्द्रियां कितनी होती है और त्रसमे दो इन्द्रिय वगैरासे कितनी ले ली जायें, ६ इन्द्रियां ले ली जायें, ७ भी ले ली जायें, यह कोई लिखित या सकेत रूपमे अब तक बात नही आयी इसलिए इस सूत्रको कहा जा रहा है। ताकि त्रसकी जो बात कही, उसका सही निर्णय बने कि कितनी इन्द्रियो तक होते है त्रस। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियके बारेमे लोगोमे विवाद है, कोई लोग ५ मानते हैं, कोई ६ मानते है और कोई ११ मानते है। जैसे ५ तो ये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और एक मन मिला दो तो ६ हो गई और ६ कर्मकी इन्द्रियां मिला दो, जैसे हाथ पैर अपान आदिक ऐसा कुछ मानते हैं, ऐसे ११ इन्द्रियां हो जाती है, तो उनका इन्द्रियविवाद भी मिटाना है, इस कारण इस सूत्रको कहा गया है—इन्द्रियां ५ होती है।

सूत्रमे पूर्वापर शब्द रखनेकी मीमांसा—यहां शाब्दिक दृष्टिसे एक आशका बनती है कि कहा तो यह ही है ना कि इन्द्रियां ५ है। क्या बताना है? ५ बताना है कि इन्द्रियां? किसकी चर्चा करना है? ५ की चर्चा करना है या इन्द्रियकी? तो इसमे उद्देश्य अथवा विशेष्य तो इन्द्रिय है और व्यवहारमे सब ऐसा बोलते भी है कि इन्द्रियां ५ होती हैं। किसके बारेमे बात बताना है? इन्द्रियके बारेमे। वह प्रधान है, और कितने होते है? उसका ही विशेषण है कि ५ होते हैं। तब सूत्रको यो बनाना था—इन्द्रियाणि पच। जल्दी अर्थ बना, सीधा बना और जैसा कि व्यवहारमे है वहां इन्द्रियां कितनी है? पांच। यह तो बन गया ठीक और ५ क्या है? इन्द्रिया, इसका कोई प्रसग ही नही जो कि ५ से शुरू किया। हम कहते है कि ८ से, १० से, अटपट शुरू कर दें। कोई बन्धन तो न रहा। सख्या डाल दिया तो सख्याका उद्देश्य बन जाता है। इससे सिद्धात तो न बना। तो सूत्र बनना चाहिए था—इन्द्रियाणि पच। उसका समाधान यह है कि बात तो सही कही जा रही है, मगर जिसके मुकाबलेमे सूत्र लाघव होता हो तो वह भला है। यह उपदेश कुछ विद्वानोंके लिए ही तो है,

अत्यन्त मूढ, जड बुद्धिहीनोंको तो नही है । वे अपने आप उसमें समझ लेंगे । तो पञ्च शब्द पहले बोलनेसे सन्धि हो जानेके कारण एक शब्द कम हो जाता है । इन्द्रियाणि पंच, इसमे ६ शब्द आये और पचेन्द्रियाणि, इसमे ५ शब्द आये । तो यो सूत्रलाघव हुआ, सो यह महत्त्व रखेगा और समझनेकी बात सरल ही तो है । विवेकी जन अपने आप समझेंगे कि इन्द्रियके बारेमे कहा है—५ है । अर्थ हुआ—इन्द्रियाँ ५ होती है ।

इन्द्रिय शब्दका प्रथम अर्थ—इन्द्रियका अर्थ क्या है ? इन्द्रिय शब्द बना है इन्द्र शब्दसे, इन्द्रस्य लिंग इन्द्रिय , इन्द्रके पहिचाननेको इन्द्रिय कहते हैं । तो इन्द्र मायने क्या ? ऐश्वर्यवान । ऐश्वर्यवान पदार्थकी पहिचानको इन्द्र कहते है । ऐश्वर्यवान कौन है ? आत्मा । सर्व पदार्थोके स्वरूपपर दृष्टि दे तो आपको ऐश्वर्य यहाँ विदित होगा, क्योकि ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप कलात्मक सब कुछ जाननेमे आया, यह आत्मा इन्द्र है, ऐश्वर्यशाली है, उसके चिह्नको इन्द्रिय कहते है । यहा आशका होती है कि समारमे आत्मा तो ऐश्वर्यशाली है ही नही, कितना छोटा होता है, तिरस्कार है और निगोद है, स्थावर है, त्रस है, कीडा-मकौडा है । कोई कह रहा कि इन्द्र है, और इसकी हम पहिचान करा रहे । यह इन्द्रक्या ? इन्द्र मायने ऐश्वर्यशाली । इन्द्र धातुसे बना है इदन ।

तो बात यह कह रहे हैं कि लिङ्ग याने पहिचान विविक्त प्रकारकी यह मुक्त जीवोमे तो होती नही । वहा कोई बढिया बात हो नही है, इसलिए इन्द्र शब्दके कहनेसे मुक्त जीव भी पकडमे आते है, क्योकि वे भी ऐश्वर्यशाली है और वे तो खुलासा ऐश्वर्यशाली है, मगर उनका कोई यह प्रयत्न नही कि हम उनकी पहिचान बता रहे । बता रहे इस विविध भेष वालेकी पहिचान । तो इन्द्र है यह आत्मा । कर्मोसे तिरस्कृत होनेपर भी अपने किए गए कर्म का फल भोगनेपर भी, कर्मबन्ध लगनेपर भी परमेश्वरपनेकी शक्तिका सम्बध तो है ना इसमे, इसलिए इन्द्र कहलाता है, और ससार-अवस्थामे भी ऐश्वर्य तो दीखा, मगर यह इन्द्र, इन्द्रके मायने जीव है । यह अगर पेडोमे जन्म लेवे, वृक्ष बने तो कैसा उसकी बेल, शाखा, पत्ते, नशाजाल है कि वैसा कोई वैज्ञानिक जरा करके तो दिखा दे । तो देखो इस इन्द्रने तिरस्कृत होनेपर भी पेड बनकर कैसा अपने ऐश्वर्यकी छटा दिखा दी । कैसा फूल, कैसो पत्तियां ? तो तिरस्कृत होनेपर भी यह अपना ऐश्वर्य छोडेगा कहा ? जहा जायगा वहाँ अपना ऐश्वर्य बनायगा । अब ऐश्वर्यकी भिन्नताये है । किसी जगह खोटे ढगसे ऐश्वर्यको प्रकट करता है । मुक्त जीव अपने असली ढगमे ऐश्वर्यको प्रकट करता है तो कर्मसे अभिभूत होनेपर भी ससारीमे परमार्थ परमेश्वरपनेकी शक्ति है, और उसके कुछ नमूने भी यहा देखनेमे आते हैं, इसलिए इन्द्र शब्दके मायने आत्मा लेना, ऐसे ससारी आत्माकी जो पहिचान है उसे इन्द्रिय कहते हैं ।

तो उस इन्द्रियमे क्या करामात है कि देखो परमार्थपनेकी शक्ति रख रहा है यह जीव, लेकिन कर्मोंसे इतना अभिभूत हो गया कि स्वयं पदार्थोंको जाननेमे समर्थ न रहा याने मात्र आत्म-शक्तिसे यह पदार्थोंको जाननेमे समर्थ न रहा। तो ऐसे इस बेचारे प्रभुको यह बेचारा प्रभु है। दोनो बातें इसके साथ लगी है। प्रभु तो है यह जीव, मगर बेचारा बन रहा। तो यह बेचारा प्रभु स्वय पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए असमर्थ है, सो इसके उपयोगका जो उपकरण बन जाय वह इन्द्रिय कहलाता है। ये जीव संसारी हम आप जानते तो उपयोगको ही हैं ना। उस उपयोगका यह उपकरण है वह इन्द्रिय कहलाता है। यह इन्द्रियका अर्थ है।

इन्द्रिय शब्दका द्वितीय अर्थ व मनको इन्द्रियमे अन्तर्गत न करनेका कारण—इन्द्रियका दूसरा अर्थ देखिये—इन्द्रेण सृष्ट इति इन्द्रियं, इन्द्रके द्वारा जो रचा गया हो उसे इन्द्रिय कहते है। पहला अर्थ तो यह है कि इन्द्रकी जो पहिचान हो सो इन्द्रिय। अब दूसरा अर्थ यह कह रहे हैं कि इन्द्रके द्वारा जो रचा गया हो सो इन्द्रिय। तो यहा इन्द्रका अर्थ क्या लगेगा ? कर्म। तो किए हुए कर्मके विपाकसे यह तिर्यञ्च आदिकमे, देवादिकमे उत्पन्न होता है, इष्ट और अनिष्ट फलको अनुभव करता है। इस कारणसे कर्म इन्द्र है, कर्मके उदयके निमित्तसे ये इन्द्रिया बनती है, ये कर्मके उदय द्वारा रची गई है। इस कारण इन्हे इन्द्रिय कहते है। तो क्या कहा जा रहा है कि इन्द्रियाँ ५ होती है। कोई कहता है कि मनको भी शामिल करलो। मन भी एक इन्द्रिय है, मन भी कर्मके द्वारा रचा गया है और मन भी एक ससारी जीवका चिन्ह है इसलिए मनको भी इन्द्रियमे शामिल करके ६ इन्द्रियां बनाना चाहिए। तो उत्तर यह है कि मनको इन्द्रिय नही कहा जा सकता, क्योकि वह अनवस्थित है। इन्द्रियाँ तो अवस्थित हैं, पर मन अनवस्थित है। यद्यपि जो बात इन्द्रियमे कही गई वह बात यहाँ भी घटित होती है। कर्मके उदयसे असमर्थ हो गया यह जीव स्वय पदार्थोंको जाननेमे तो उसके उपयोगका उपकरण बन गया द्रव्यमन, जैसे कि ये इन्द्रियाँ बनी। तो लक्षण सब घटित हो गए, मगर यह मन अनवस्थित है। जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियका अपना-अपना स्थान है। जो जहाँ है वहाँ है। अब एक मनका स्थान बताओ। इसका अवस्थित स्थान नही। इससे एक बातपर प्रकाश आता है कि यद्यपि द्रव्यमन बताया गया है कि अष्ट पखुडीके कमलके आकारकी कोई सूक्ष्म रचना है वह मन कहलाना है। लेकिन अनवस्थित मनके कहनेसे यह जाहिर होता है कि उस मनका केन्द्र तो रहता है, मगर उसका प्रभाव इतने सूक्ष्म दर्ज वाला है कि योग्य-योग्य स्थानोमे भी उसकी प्रभा पहुचती है और किसी रूपमे उसकी रचना भी अनवस्थित चलती है। तो चूँकि मन अनवस्थित है इसलिए मनको इन्द्रियमे शामिल नही किया। यह तो बाह्य पहिचानकी बात चल रही है। मन बाहर ही नही है इसलिए इसे

इन्द्रियमे सम्मिलित नही किया। हाँ अन्तःकरण जरूर कहा है या अनिन्द्रिय कहा है। मन का नाम दूसरा है अनिन्द्रिय मायने थोडी इन्द्रिय। अन्त करण, अन्त मायने भीतरी, करण मायने इन्द्रिय। यो इसे इन्द्रियमे शामिल नही किया, गया। दूसरी बात यह है कि जिन जीवोमे मन है उनके मनका व्यापार इन्द्रिय व्यापारसे पहले हो जाता है। देखिये तो कुछ पहले मनमे कल्पना उठी फिर आँखको चेष्टा की। सुनूँ तो किसकी आवाज है? कुछ न कुछ ढगसे मनमे उसकी कल्पना जगी, पीछे इन्द्रियका व्यापार हुआ तो इन्द्रियके व्यापारसे पहले मनका व्यापार हो जाता है और यह व्यापार सूक्ष्म है, पूर्व है अप्रकट है। इन्द्रिय व्यापार वाह्य है, प्रकट है और उससे यह पहिचान चलती है इस कारण इन्द्रियाँ पाच कही गई है।

कर्मेन्द्रियोको इन्द्रियसंख्यामे न लेनेका कारण—अब एक आशंका होती है कि इन्द्रियाँ तो वहाँ मूलमे दो है—(१) ज्ञानेन्द्रिय और (२) कर्मेन्द्रिय। जैसा कि प्रायः अन्य दार्शनिकोमे भी प्रसिद्ध है—ज्ञानेन्द्रिय तो ये जीभ, नाक, आँख, कान वगैरा है और कर्मेन्द्रिय हाथ, पैर, मुख आदिक है। तो यहाँ कर्मेन्द्रियको क्यो छोड दिया? और इस तरहसे इन्द्रियाँ १० बोलो या ११ बोलो। यहाँ ५ ही क्यो कहा जा रहा? तो इसके दो कारण है—जो यहाँ इन्द्रियको ५ ही कहा और कर्मेन्द्रियको शामिल करके सख्या उसमे नही बढायी। इसका पहला कारण तो यह है कि यह प्रकरण सब उपयोगका चल रहा है। जीवके स्वतत्त्व क्या है, जीवका लक्षण क्या है? उपयोग। उपयोग जिनके पाया जाता उनके कितने भेद है? इस सिलसिलेमें यह चर्चा चल रही है। तो चूकि उपयोगका प्रकरण है। उपयोग कहो या ज्ञान कहो। तो इस ज्ञानके प्रकरणमे ज्ञानसाधककी हो बात ली जायगी और ज्ञानसाधक है ये ज्ञानेन्द्रिय ५, इस कारण इन्द्रियाँ ५ कही गई है। दूसरा कारण यह है कि अगर कर्मेन्द्रियको इन्द्रियोमे शामिल कर दिया जाय तो फिर कितने और बढाओगे? जरा इसकी निर्णायक कमेटी बनाकर उस कमेटीमे कुछ पास करके बताओ, एककी बात हम क्या सुनें? वह कमेटी मे पास हो न होगा कि कितनी कर्मेन्द्रियाँ है। वे कहेगे ५। अच्छा गिनाओ—तो हाथ-पैर, मुख आदिक। तो अच्छा कोई यो कह बैठे कि एक नाक भी इसमे शामिल कर लो, क्योकि कोई पुरुष ऐसी कला कर लेता है कि अपने आप बिना छुवे नाकको टेढी कर लेता है। अच्छा जरा आखको भी टेढी कर दो। आखकी तो बहुत-बहुत चेष्टायें होती है। कोई कोई जीव तो जैसे गाय है वह जहा चाहे वही चमडी फडफडा दे। कहो पीठमे ही फडफड कर दे। देखा होगा कि मक्खी बैठी है तो पूँछ या मुख नही चलाना पडता, उसी चमडीको अपने आप हिला देती है तो मक्खी उड जाती है। तो ऐसा कर्मेन्द्रिय बताओगे तो उसकी कोई सख्या नियत नही बनेगी। तो इसमे अनवस्था है, कोई निर्धारण नही बन सकता कि कर्मे-

न्द्रिया इतनी होती है ? इस कारण कर्मेन्द्रियको इन्द्रियमे नही कहा । वे तो शरीरको क्रियावो के स्थान हैं । आपने देखा होगा कि घोडे नाकसे फुर्र-फुर्र करते हैं, वैसा मनुष्य नही कर सकते, तो उस घोडेकी नाकको भी कर्मेन्द्रियमे शामिल कर लो । जो कर्मेन्द्रिय मानते है, ऐसी दार्शनिकोके पास तो भिन्न-भिन्न तरहकी समस्यायें आयेंगी । पक्षी तो गर्दनको इतनी टेढी कर लेते कि अपनी पीठको चोचसे खुजा लेते । तो उसकी गर्दन भी शामिल कर लो कर्मेन्द्रियमे । जब कमेटी करो तो उसके सामने ये सब प्रस्ताव लावो । गाय, बैलकी पूँछ भी हिलती है, यह पूँछ भी कर्मेन्द्रियमे शामिल कर लो, गायकी पूँछ भी कर्मेन्द्रिय बन जायगी, इस कारण कर्मेन्द्रियकी कोई व्यवस्था नही । उपयोगवान ससारी जीवकी उपयोगके नाते जो पहिचान है उसे इन्द्रिय माना है । चूकि क्रियाके कारणभूत जो इन्द्रिय हैं, अङ्गोपाङ्ग हैं, यह अनवस्था है इसलिए ये इन्द्रिया नही कहलाती । इस तरह इस सूत्रमे यह बताया कि इन्द्रियाँ ५ होती है ।

जीवपरिचयमें इन्द्रियमार्गणाका विशेष सहयोग—इन्द्रियवान जीवोमे याने ससारी जोवोंमे जो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पचेन्द्रिय हैं वे त्रस कहलाते है । इस पूर्व सूत्र का अर्थ यहा और स्पष्ट होता है । इन्द्रिया कैसे बनती हैं, इन्द्रियां कितनी तरहकी हैं, सूक्ष्म-इन्द्रिय क्या हैं, स्थूलइन्द्रिय क्या हैं, यह सब आगे प्रकरणमे आयगा, और आप सबको यहां यह अदाज लग जायगा कि उपयोगी बातोका किस-किस तरह विवेचन इस मोक्षशास्त्रमें है ? पहिचान करते जावो । पहिचान जब करने बैठते है तो इन्द्रियसे शुरुआन करते । इतनी प्रधान है इन्द्रियमार्गणा । १४ मार्गणावोमे इन्द्रियमार्गणाका जीवपरिचयके लिये बड़ा विशेप माध्यम है कि इनके माध्यम बिना हम और-और बातें समझनेमे बहुत कठिनाई मानते है, इनसे सब स्पष्ट होता है । इन्द्रियमे कही तो जा रही हैं उपयोग वाली इन्द्रिया, सो लेना तो चाहिये मात्र भावेन्द्रिय, लेकिन उसका उपकरण तो ये द्रव्येन्द्रियाँ है, और जिसमे द्रव्येन्द्रियकी जितनी भी योग्यता है उसमे ज्ञानकी उतनी ही महिमा है, सो द्रव्येन्द्रियोकी भी चर्चा है । एक मनुष्य चाहे बहिरा हो जाय, अधा हो जाये, दोनो इन्द्रिया मिट जायें और चाहे जीभ भी न हो, गूगा भी हो, फिर भी उसके ज्ञानशक्ति है । आख वाले भौंरोसे, कान वाले सापोसे बहुत ज्यादा समझनेकी शक्ति है, क्योकि उसके बाह्य उपकरणमे ही तो घात हुआ है, मूलका घात नही हुआ । ऐसी ये इन्द्रिया ५ हैं ।

इन्द्रियोकी रचनाका क्रम—देखो बच्चोको तकलीफ न पहुचे, नये समझदारोको कष्ट न हो, मानो इसी हेतु इन कर्मोंने ऐसे इन्द्रियको शरीरमे पिरोया है कि जल्दोमे समझ लें । शरीरमे हाथ धरकर स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, कर्णइन्द्रिय—

ये क्रमसे बतलाते जाइये। एक ओरसे हाथ उठावो और इन्द्रियके नाम लेते जावो। इसके लिए इन कर्मोंका आभार ही होना चाहिए कि जो हमे सीखनेमें अधिक परेशानी न पडे। इन कर्मोंमे बडे सिलसिलेमे इस शरीरमे इन्द्रियोंको पिरो दिया है और तब ही आसानीसे निर्णय हो जाता है। जैसे किसीके तीनइन्द्रिय होगी तो क्रमसे स्पर्शन, रसना, घ्राणइन्द्रिय बता देंगे। किसी इन्द्रियका उल्लघन करके कोई इन्द्रिय न मिलेगी।

अनुकूल निमित्त व योग्य उपादानके योगकी रचना—कैसी है एक इस परमेश्वरकी लीला, लोग परेशान हो गए इस जगतकी लीलाको पहिचाननेमे। कैसे बना यह संसार? और यह समझमे आया कि ऐसा जीव बन जाना, ऐसा शरीर बनना, इन्द्रिय बनना यह किसी मामूली पुरुषके वशकी बात नही है। इसको बनाने वाला तो कोई महान् ईश्वर होना चाहिए, क्योंकि आदत पडी है इन पदार्थोंके बनाने वालेके चिंतनकी। मकान बनाया, किसने बनाया? कुँवा बनाया, किसने बनाया? मदिर बनाया, किसने बनाया? ग्रथ बनाया, किसने बनाया? और उसका समाधान भी लेते। ऐसे ही पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, किसने बनाया? यह तो किसी साधारण पुरुषकी बात नही, यह तो कुछ ईश्वरकी बात है। अच्छा थोडी देर को मान लो कि ईश्वरने ये सब कुछ बनाया, मगर जब कोई अटपट बात आ जाती है ऐसा क्यों किया? यह तो अन्यायसा है? अजी नही, यह तो ईश्वरकी लीला है। वह समस्या न सुलझा सके कि आखिर ये प्राणी कैसे बन गए, ये सब प्राकृतिक दृश्य कैसे बन गए?

तो देखिये—भले ही कुम्हारने घडा बनाया तो वहाँ कुम्हार कुम्हारमे है, उसने अपने मे अपना व्यापार किया, वह बाहर ही रहा, घडेमे नही गया और मिट्टीका इस तरहका जो ढाँचा था वह परिवर्तित होकर इस तरहका बन गया। यह ही बात यहाँ जानो। कुम्हार हुआ निमित्त और मिट्टी उपादान हुई और उस सुयोगमे इस प्रकारकी परिणति हुई। यहाँ भी ऐसा देखनेकी आदत नही दुनियामे। यहाँ भी यह आदत बनी है कि कुम्हारने घडा बना लिया। निमित्त उपादानकी दृष्टिसे इन लौकिक घटनाओंको भी देखनेकी आदत नही। पहले लोकघटनाओंमे तो निर्णय बनायें कि ऐसे निमित्त उपादानके योग सयोगसे यह कार्य बना तब फिर यहाँ भी निर्णय बनेगा। जीव कर्म और शरीर परमाणुके स्कध, इनमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक योगकी बातपर दृष्टि दें तो यहाँ भी निर्णय बनेगा कि ऐसा विचित्र देह कैसे बन जाता है? सर्वत्र जो कुछ भी घटना होती है विषम घटना वह सब घटना एक निमित्त उपादानकी पद्धतिसे चलती है। तो यहाँ भी जो उसका निर्माण हुआ देहका उसपे निमित्त कारण कर्मोदय है और कर्मोदय वहाँ हो जाता है। बध है, उस बधका निमित्त कारण जीव है, ऐसी एक दूसरेके निमित्तकी बात यहाँ समझमे आये तो यह विश्व कैसे बना और इसमे

किसी प्रकारकी शंका न आये, यह सब समाधान हो जाता है ।

विकृत ऐश्वर्यकी उपेक्षा करके वास्तविक ऐश्वर्यको आत्मसात् करनेका संदेश--तो भैया ! लो, अब यह देख लो बिगडे हुए प्रभुकी लीला जब यह प्रभु प्रसन्न होता है, मायने निर्मल होता है तब यह प्रभु अपने ठीक सत्त्वमे आता है । तब इस प्रभुकी लीला है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द और जब यह प्रभु किन्ही प्रसगोमे किन्ही घटनाओके कारण, किन्ही परिस्थितियोमे जब यह झुझला जाता है—क्या करे कुछ मार्ग नही दिख रहा, विवशता आयी, कठिन परिस्थिति बनी तब इस बिगडे हुए प्रभुकी लीला तो देखो, कैसा यह पेड बन गया, कीडा बन गया, कैसे कैसे विचित्र देह मिल रहे, कैसी कैसी बातें हो रही ? इनमेसे अगर एक यह बिगडा हुआ प्रभु ही सही यह निकल जाय इस शरीरसे फिर उसमें कोई कला दिखती है क्या ? कोई कला चेष्टा, व्यवहार वचन ये कुछ दिखते है क्या ? तो जो बडे पुरुष होते हैं वे बिगड जायें तो भी बडा महान कार्य कर बैठते और प्रसन्न हो जायें तो भी बडा महान् कार्य कर बैठेंगे । ससारमे रुलना और ऐसे-ऐसे विचित्र देह धारण करना, यह कोई कम आश्चर्यकी बात है क्या ? यह भी एक ऐश्वर्य है । मगर इस उपभोगके ऐश्वर्यमे यह जीव परेशान हो जाता है इसलिए इस ऐश्वर्यका तो त्याग करें और वास्तविक ऐश्वर्यकी ओर अपनी दृष्टि करें । उसका साधन है निज सहजपरमात्मतत्त्वका आलम्बन ।

।। मोक्षशास्त्र प्रवचन एकादश भाग समाप्त ।।

मोक्षशास्त्र प्रवचन

द्वादश भाग

द्विविधानि ॥१६॥

जीव, कार्माणवर्गणा व आहारवर्गणा इन तीनके पिण्डकी भवरूपता—जो पूर्व सूत्र मे बताया था कि इन्द्रियाँ ५ होती है, वे पाँचोकी पाँचो इन्द्रियाँ दो-दो प्रकारकी होती है। हम आप जो जीव हैं यह तीन प्रकारके पदार्थोंका पिण्ड है—जीव, कर्म और शरीर। कर्म और शरीर यद्यपि एक पुद्गल जातिके ही है तो भी उनमे फर्क यह है कि जो कर्म बनने लायक कार्माणवर्गणा हैं वे शरीर नही बनते, जो शरीर वर्गणायें है वे कर्म नही बनती। सम्भव है कि चिरकालके बाद उनमे योग्यताका परिवर्तन हो जाय, मगर जैसे सोना और लोहा या सोना और मिट्टी जैसे ये जुदे है, बहुत काल तक सोना मिट्टी नही बनता, ऐसे ही कर्म और शरीर है। यह तीन प्रकारके पदार्थोका पिण्ड है, जिसमे जीवका स्वरूप तो है शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप। चैतन्य और आनन्द याने जीवकी प्रकृति है कि वह चेते, समझना तो विकार है। विचारना, समझना, तर्क करना ये सब विकार है। ये विकार क्या है कि जीवका जो ज्ञान है उसके साथ मालिन्य लगा है उस ज्ञानकी शुद्ध वृत्ति नही है, मगर चेतना यह शुद्ध वृत्ति है। चेतना तो जीवका स्वरूप है और उस चेतनेमे स्वभावतः आनन्द भरा हुआ है। वह आनन्द क्या है? परम आह्लाद अथवा निराकुलता। यह तो है एक जीवकी सम्पत्ति और कर्मका क्या है कि कर्ममे अनुभाग याने उसमे विडरूप होना, खौल जाना, क्षुब्ध हो जाना, एक बहुत विकृत रूप बन जाना, यह है कर्मकी सम्पत्ति और शरीरकी मूर्ति तो एक सीधी-सादी बात है, केवल एक माध्यम भर बनता है, पर स्वयं कुछ नही, यह जीवके विकारका निमित्त बनता है, किन्तु उसमे कोई उपद्रवकी चीज बनती है इस शरीरसे। संघर्ष जितना है सब कर्मका और जीवका है, पर इस संघर्षमें यह शरीर किसका सहायक है? मुख्य संघर्ष करने वाला नही है यह शरीर, मगर जब दो की लडाई होती है तो तीसरा आदमी प्रायः

करके ऐसा होता है कि कुछ न कुछ उन दो मे से किसी एकका समर्थक होता है। तो ऐसे ही जीव और कर्मके इस सघर्षमे शरीर कर्मका सहायक है, जीवका सहायक नही। जैसे कर्म मे असाताका उदय है तो शरीर उसका सहायक है, रोगी बनकर या अन्य प्रकार सम्मान अपमानमे भी यह शरीर सहायक बन रहा। सम्मान-अपमान मोहनीयके उदयमे होते हैं, मगर यह शरीर सन्मान अपमानका साधक बन रहा। न शरीर होना तो किस बातमे हम सम्मान अपमान मानते? तो शरीर कर्मका एक सहायक है इसलिए इस शरीरका नाम आचार्योंने नोकर्म रखा है मायने ईषत्कर्म। तो ऐसा तीनका यह ससारी पिण्ड है।

इन्द्रियोकी वास्तवमे बाधकरूपता—जीवकी प्रकृति है कि यह ज्ञानमे बढे शुद्ध चैतन्यवृत्तिमे चले, यह जीवका एक स्वभाव है। मगर इस स्वभावका तिरस्कार हो गया है कर्मविपाकसे। ऐसी हालतमे जैसे कहते है कि बडे वर्तनका खुरचन भी दो-एक मनुष्योका पेट भर सकता है। कोई बडा समारोह मनाया गया हो, जिसमे हजारो आदमियोकी पगत हो, मानो खीर बनाई गई हो तो सारे मनुष्योको खिला देनेपर भी अगर कोई दो एक मनुष्य बादमे आ जायें तो उस बडे वर्तनके खुरचनमे भी उनका पेट भरा जा सकता है, तो ऐसे ही इस जीवपर कितने ही कर्मोका अभिभव बना, तिरस्कार बना, तिसपर भी इस जीवका स्वभाव बिल्कुल दूर नही किया जा सकता है। यह ज्ञान अज्ञान नही बना सकता, कुछ न कुछ इसका ज्ञान चलता ही रहेगा। तो ऐसे ही इस तिरस्कार दशामे जब हम आप लोगोके ज्ञान चलता है उन ज्ञानोमे सहायक उपकरण इस शरीरकी इन्द्रियाँ बनती है। कोई कितना ही अन्य बातोमे दुष्टताका बर्ताव करता हो, फिर भी कभी-कभी किसी प्रसगमें वह सज्जनताका भी हठी बन जाता है, ऐसे ही यह शरीर हमारी विपत्तिका साथी तो बना, उस उस कर्मका साथी तो बना, पर इस शरीरका विभाग जो ये ५ इन्द्रिय है ये ही इन्द्रिय इस कमजोरीकी अवस्थामे ज्ञानका उपकरण बन गई। बस यह है एक कहानी इस जीवकी। कैसे यह जीव ज्ञान कर रहा है तो उसमे इन्द्रियाँ मदद दे रही हैं और उन इन्द्रियोके आलम्बनसे यह जीव अपनेमे एक ज्ञान बना रहा है। तो जीव अपनेमे ज्ञान बना रहा वह तो है भावेन्द्रिय जो एक इसका वास्तविक साधक है, और जिन इन्द्रियोके माध्यमसे ज्ञान बना, वह है द्रव्येन्द्रिय।

एकत्वमे दुविधा नही—ये इन्द्रियाँ दो प्रकारकी है। यहाँ द्विविध शब्द दिया है। यदि यहाँ दुविधा नही होती, और एक ही मात्र चैतन्य इन्द्रलिङ्ग होता तो इसके लिए बडी शान्तिका धाम स्वय होता। लोग कहते है कि यह दुविधामे पड गया। यह आत्मा अगर केवल आत्माके ही बलसे जानता रहता और इसमे यह दुविधा न आती कि शरीरकी इन्द्रियाँ हो और उसके आलम्बनसे फिर यह जीव ज्ञान करे यह दुविधा अगर इसमे न होती, केवल

एक अद्वैत, केवल एक असहाय अपने आपके ही बलपर अपने आपके चेतनेका काम करता तो इसको किसी भी प्रकारका कष्ट न था। यह दुविधामे पड गया जीव। एकमे दुविधा नही, जहाँ दो हैं वहाँ दुविधा है। किसीके एक बालक है उसको कोई प्रकारकी दुविधा नही। सारी सम्पत्तिका यह ही मालिक है। जीवनमे कोई फिसादके क्षण नही आते। जिनके दो-चार बालक हैं उनको दुविधाओके बहुत प्रसंग आते है। एकमे दुविधा नही। दो हो और अनेक हो तो उसमे दुविधा बनती है। हम अगर संसारकी दुविधावोसे दुःखोसे बचना चाहते है तो हमको एक विशुद्ध दृष्टि बनानी होगी कि मेरा रक्षक, मेरा जनक, मेरा सर्वस्व, एक मेरा सहजस्वरूप है। कोई दिन आयगा कि यह मैं अपने सहजस्वरूपमे समा जाऊँगा याने फिर यह उपयोग जहाँ यह दुविधा न रहेगी कि इस द्रव्येन्द्रियके माध्यमसे यह अपना ज्ञान बनाये। अहो, कोई फसाव बन गया है तो उसमे हम इन इन्द्रियोके माध्यमसे ज्ञानोसे काम निकालते हैं, यह बात तो एक अलग है, मगर यह भी एक बहुत विकट फसाव है कि जो इन्द्रियका सहारा लेकर ज्ञान बनाया करते है, क्योकि इस दुविधाके बाद ही विषयोमे हमारी प्रीति गई। उसका कारण तो मोह है, लेकिन एक यह मूल शुरूवात है कि हम इन इन्द्रियोके द्वारा पदार्थोंको जानते है।

इन्द्रियज ज्ञानमे अनुदारता एवं अशातिका वातावरण—हमारे ज्ञानमे और प्रभुके ज्ञानमे जातिका भी अन्तर आ गया। हम किसी फलको रसनाके द्वारा रसवान समझते है, नाकके द्वारा गधवान समझते हैं, स्पर्शके द्वारा हम उसे कोमल कडा समझते है और कर्णके द्वारा हम उसके स्पर्श वगैरामे, खाने पानेमे शब्द होता है उसे जानते हैं, मगर यह तो बतलावो कि भगवानके जब इन्द्रिय ही नही, शरीर ही नही तो वह इन रूप रस गध आदिकको किस ढगसे समझते है ? उनका वह बहुत विलक्षण ज्ञान है। हम लोगोकी तरहसे रूप, रस, गंध आदिकको वे नही जानते। यह तो इन्द्रियके द्वारा बात हो गई। वह माध्यम वहाँ रहा नही। और यदि इन फलोमे, पुद्गलादिकमे रूपादिक न होते तो हम इन इन्द्रियोके द्वारा भी क्या समझते ? प्रभुज ज्ञान सब रहे है, किन्तु जान हो रहे है सब, चेत हो रहे है सब, लेकिन हम जैसा विभक्त यह रूप है, यह रस है यह गध है ऐसा भेद करके अलग-अलग अनुभव वाले ज्ञानसे जानते, ऐसी कल्पनाभरी ज्ञप्तिमे वे नहीं जानते। चूँकि उनके ज्ञानमे चार गुण एक साथ ज्ञानमे आ रहे है इसलिए किसी भी रस आदिकका उनपर विकार करनेके लिए प्रभाव नही। जैसे एक मोटा लौकिक दृष्टान्त ले लो। कोई पुरुष एकमे या दो मे राग करे तो उस उसके रागकी एक विकट मुद्रा बनती है। यदि वह पुरुष ससारके सभी प्राणियोपर राग करे, सभी जीवोपर राग करे, अपने रागको ऐसा फैला दे कि सब जीवोसे समान रूपसे

एक प्रेम करे, राग करे तो उस रागकी विकट मुद्रा नही बनती। विकट मुद्रा बनती है एक संकुचित वृत्तिमे। उदार वृत्तिमे विकट मुद्रा नही बनती। तो हमे जो द्रव्येन्द्रियाँ मिली हैं उनके द्वारा हम जानते है सो हमारी इन इन्द्रियोसे प्रीति बन गई। इन्द्रियका जो विषय है उन विषयोको भोगकर इन इन्द्रियको राजी रखें—ऐसा इसका भाव बन गया है। तो देखिये कि बड़ेसे भी बडी विपत्ति जो आती है उसका मूल कारण क्या है? हमने इन्द्रिय द्वारा जाननेका काम किया। सारी विपत्तियाका मूल जड यह निकला। तो और बात तो दूर रहो, इन इन्द्रियोके द्वारा जानने का यत्न करना, उसमे मौज रहना और उस विज्ञानसे अपनी महिमा समझना यह सब विडम्बना है।

इन्द्रियसाहाय्य बिना सहज ज्ञान आनन्दकी प्रतीक्षा—भैया! ध्यान ऐसा जाना चाहिए कि इन इन्द्रियोसे मुझे कुछ न चाहिए। मैं इन इन्द्रियो द्वारा ज्ञान भी नही चाहता। मुझे इन जानकारियोकी भी जरूरत नही। मै सहज सिद्ध हू, सुरक्षित हू गुप्त हू, कष्टरहित हू। अपने आप जो हो सो हो। मुझे न इज्जत चाहिए, न इन्द्रिय द्वारा विविध ज्ञान चाहिए—ऐसी एक भीतरमे उमग हो और जैसे अभी रेलवेमे कामकी हडताल चली थी, ऐसे ही इन्द्रियो द्वारा ज्ञान करनेकी हडताल कर दें तो अपने आप इन्द्रियके सहारे बिना मेरेमे कोई बात आती हो वह मजूर है मगर मुझमे पराधीन होकर ज्ञानका भी काम नही चाहता। पराधीन होकर मैं आनन्दका भी काम नही चाहता। ऐसे इस इन्द्रियज ज्ञान और आनन्दसे कोई विरक्ति पाये और सहज अपने आपमे कुछ मिलता हो, उसकी ही भावना रखे तो ऐसा पुरुष इस भावनाके अभ्यास और प्रयोगके बलपर आत्माके निर्विकल्प स्वरूपका अनुभव कर सकता है। जीवतत्त्वके वर्णनमे ये सब बातें बतायी जा रही हैं, पर साथ ही साथ हम उनसे क्या शिक्षा लें, यह भी अपने आपपर घटाते रहना चाहिए। इन्द्रियसे असहयोग, सहयोग लेते हुए असहयोग करना। हम स्वाध्याय करते हैं, यह इन्द्रियसे सहयोग ही तो ले रहे। हम सत्सग मे बैठते है, जिनवाणी सुनते हैं, हम इन इन्द्रियोसे अच्छे कामके लिए सहयोग तो ले रहे हैं, मगर ऐसा सहयोग लेते हुए भी हम अपने ज्ञानमे ऐसा बढें कि वह स्थिति हमारी आ जाय कि हमारा इन्द्रियोसे सहयोग लेना बद रहे, ऐसे असहयोगमे बढें और अपने आप अपनेमे से जो अपनेको ज्ञान और आनन्द मिले उसके लिए राजी रहनेका साहस रखें, यह है वैराग्यकी एक सहज मूर्ति। यह चाहिए हमे। कहाँ दृष्टि ले गए? अपने आपके बहुत अतः सहज विश्रामपर हमारी दृष्टि गई। कितने झझटोसे बचे? ज्ञान करनेका प्रयोजन यह है कि जो हमने ज्ञान कमाया उस सारे ज्ञानका बहिष्कार कर दें चिन्तनासे, ऐसे उस कमाये हुए ज्ञानका बहिष्कार हम ज्ञानी बने बिना नही कर सकते। जैसे कोई पुरुष जिन्दगी भर कमाता है और

अन्तमे बडी उम्र होनेपर सारे कुछ अनुभव होनेपर वहाँ वह जानता कि यह सब तो छूटेगा मरण हो जायगा। सारा कमाया हुआ धन परोपकारमे लगे जिसका, त्यागमे, दानमे लगे जिसका तो देखने वाले लोग यह कहते कि कमाया किसलिए ? अतमे सब त्याग कर ही गया। तो जैसे कमाकर त्याग करनेमे वहाँ एक आनन्द जगता है ऐसे ही हर प्रकारसे ज्ञान बनाकर समस्त ज्ञानोको मिटा देनेमे एक विशुद्ध सहजज्ञान और आनन्द जगता है। ये इन्द्रियाँ मिली है, हम कुछ इनसे काम लेते है, पर श्रद्धा हमारी यह होनी चाहिए कि इन्द्रियसे काम लेना ही हमारी सारी विपत्तियोकी जड बन जाती है। मुझे इन इन्द्रियोसे कुछ करम भी न चाहिए। मै स्वयं ज्ञानस्वरूप हू, स्वय आनन्दस्वरूप हू इसलिए उस परमविश्राममे रहकर ही मैं अपने आपके क्षण गुजारूगा। मुझे और किसी बातकी जरूरत नही।

इन्द्रियोके वर्णनमे संबंधित निज तत्त्वके परिचयकी संभवता—इन्द्रिया बताई जा रही है कि ये दो प्रकार की है और वे दो प्रकारकी कौनसी इन्द्रियाँ है, उसका वर्णन सब आगे चलेगा और अपने मे जिसका रात दिन एक पाला सा पड रहा है और इसके कभी सहायक, कभी निरोधक जो अनेक प्रकारसे उसके साथ लगे हुए है उनकी चर्चा करना एक बहुत दिलचस्प बात होनी चाहिए। उसकी ही बात होनी चाहिए। कोई आदमी मेरा नाम लेकर यदि प्रशसा करता हो, सब लोग अपने आपके बारेमे घटायें तो उसमे दिलचस्प बनता कि नही। क्या कहते है, बड़े ध्यानसे सुनते। कोई अगर मेरी निन्दा कर रहा तो उसे भी ध्यानसे सुनते, मेरी कोई बात कही जा रही है। तो यहाँ जो मेरा नही है, जो मैं नही हूं उसको मान लें कि यह मै हू, यह मेरा है, उसके नामपर तो यहाँ बडी धुन बन जाती है और एक अभिमुखता बनती है। दिलचस्प जैसी प्रवृत्ति करते है। किन्तु वास्तवमे जो मै हू और उस वास्तविक मैं के खिलाफ जो कुछ सघर्ष चलता है उस सघर्षकी यदि निन्दा हो तो इसमे तो हमको बहुत ही धुन पूर्वक श्रवणमे लगना चाहिए। अगर यह हमारी धुन नहीं बनती और हम अपने कल्याण अकल्याणकी ओर कुछ दृष्टि नही करते। अकल्याणसे बचे, कल्याणमे लगें, इस ओर अगर हमारी जागृति नही होती है तो जैसे स्वप्नमे राजा बन गये, धनी बन गए, वैभव मिल गया, आनन्द कर लिया, पर नीद खुलने के बाद फिर वहाँ रहता क्या है हमारे पास ? ऐसे ही मोहकी नींदमे यह सब लग रहा कि मुझे वैभव मिल गया। मेरा ऐसा मकान है, मेरे ऐसा वैभव है, इतनी सम्पदा है, इतने घरके लोग है, बडे अच्छे मित्र हैं, यह सब मोहकी नीदका स्वप्न है। यह स्वप्न कब खतम होता, कब यह मनुष्य ठिकाने आ जाता ? दो बाते होने पर या तो वियोग होने पर या ज्ञान जगने पर। जो चीज मिली है उसका जब ज्ञान हो जाय तो इसकी समझमे आता कि वह सब स्वप्न था। यो कह

डालो या ज्ञान जग जाय तो मिली हुई हालतमे भी नही भी वियोग हुआ, सयोग है तो इस समयमे भी वह यह समझता है कि ये सारे स्वप्न है। तो वियोग होनेपर अगर समझे यह कि जो कुछ सुख समागम मिला था वह सब स्वप्न था। तो इस समझसे काम नही चलता, क्योकि वह खेदके साथ कह रहा है ऐसा कि वह सब स्वप्न था। वह ललचा कर कह रहा है ऐसा। कैसे आनन्दके दिन थे, वह सब स्वप्नमे चल रहा था, पर वह उसकी आशा कर रहा है कि यह मुझको फिर मिले। वियोग पुरुष खेदके साथ उस सब स्वप्नकी बात कहता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष प्रसन्नताके साथ और अपने आत्मामे एक विशुद्ध आनन्द लेते हुएके साथ वह समझ रहा, जान रहा कि यह सब स्वप्न है, सब भ्रम है।

चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य सब प्रसंगोसे निजका निरालापन—महिमा है उस वडे भाग्यवान, बडे सुन्दर भवतव्य वाले पुरुषकी, जो प्राप्त समागमोको आंखो सामने देखते हुए भी यह मेरा है, यह मेरा कुछ नही है, इससे मेरेको क्या लाभ है ? सच बात कह रहे। यथार्थता यह ही है, और मेरी कहां तक यह रक्षा करेगा ? क्या मेरा पार पडेगा इन बाहरी संग प्रसगोसे ? यहां कौन मेरा है, कौन पराया ? किसको अपना मानूं, किसे गैर मानूं ? बोलो जिसको गैर मान रहे वे हैं तो सब गैर मगर जिनको अपना मान रहे वे भी गैर हैं। जिसको अपना मान रहे उसका वियोग होगा। जिसको गैर मान रहे कहो उसका बधु और मित्रके भेष मे सयोग हो सकता है। ऋषिजन बताते हैं। प्राय करके बात है यह कि इस जगतमे कौन सा जीव है ऐसा जो मेरा अनेक बार बधु, मित्र, पिता या पुत्रादिक न हुआ हो ? लेकिन वह बात सब भूल जाते है और इन पर्यायोमे जो अपने सग प्रसगमे आते हैं हम उनको अपना सर्वस्व समझते है। एक कथानक है कि एक कषायी एक बकरेको मारनेके लिए कषायीखाने लिए जा रहा था। वह बकरा कषायीके पीछे-पीछे जा रहा था। रास्तेमे एक जगह एक सेठ की दुकान पडी। उस दुकानपर वह बकरा चढ गया और उस दुकान वालेके चक्कर काटने लगा। उस सेठने बहुत भगाया, नीचे ढकेला, पर वह बकरा न भगा। सेठ बडा हैरान हुआ। कषायीने कहा—हमारा बकरा नीचे ढकेल दो, सेठने बहुत ढकेलनेका प्रयत्न किया पर वह नीचे न उतरे। उस सेठको बडे प्यारसे बडी मुखमुद्रा बनाकर उससे चिपक चिपककर चक्कर काटने लगा तो वह कषायी बोला—भाई तुम हमारा बकरा दे दो नही तो तुम्हें इसके ५००) देने होगे। सेठको ५००) पर लालच आया और जबरदस्ती बकरेको नीचे ढकेल दिया। कषायी उस बकरेको कषायीखाने ले गया। इधर सेठ किसी मंदिरमे पहुचा, कोई मुनिराज मिले। मुनिराज थे अवधिज्ञानी। उन मुनिराजसे उस बकरे वाला सारा हाल कह सुनाया। तो वहां मुनिराजने बताया कि वह बकरा तेरे पिताका जीव था। वह अपने प्राणोकी रक्षाके

लिए तेरे पास आया था। मुनिराजकी इस तरहकी बात सुनकर सेठ बडा दु खी हुआ, उस बकरेकी रक्षाके लिए ५००) लेकर कषायीखाने पहुचा, पर जब वहाँ पहुचा तब तक उसकी हत्या हो चुकी थी। तो आप बताओ कि जो घरमे आज बडा है, जिसके बलपर परिवारके सब लोगोका गुजारा चल रहा है, वह ही अगर मरकर उसी घरमे कोई पशु-पक्षीके भवमे पहुंच जाय तो बताओ उससे घर वालोको उस तरहका मोह रहेगा क्या ? न रहेगा। तो ऐसी बात तो लोग सोचते नही कि जीवमे कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं ? इस जगतमे मेरा कही कुछ नही। मुझे बाहरमे कुछ जाननेको नही पडा, भोगनेको नही पडा। मैं तो स्वय परिपूर्ण हू, चैतन्यस्वरूप हू। मैं तो विश्रामसे बस बैठा हू, मै कोई चेष्टा न करूँगा। ऐसे इस ज्ञान और इस मौजकी हडताल करके जो विश्रामसे अपनेमे बैठे वह आत्मानुभव पाता है और ऐसा आत्मानुभव ही कर्मोंको काटता है और मुक्तिमे पहुचा देता है।

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

द्रव्येन्द्रियके प्रधान अङ्ग निर्वृत्तिका निर्देश—पूर्वसूत्रमे यह बताया था कि पाँचोकी पाँचो ही इन्द्रियाँ दो दो प्रकारकी होती है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। स्पर्शन भी दो प्रकार का है—स्पर्शनद्रव्येन्द्रिय और स्पर्शनभावेन्द्रिय। रसना भी दो प्रकारकी है– रसना द्रव्येन्द्रिय रसनाभावेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय भी दो प्रकारकी है—घ्राणद्रव्येन्द्रिय, घ्राणभावेन्द्रिय। चक्षुइन्द्रिय भी दो प्रकारकी है– चक्षुद्रव्येन्द्रिय और चक्षुभावेन्द्रिय और कर्ण भी दो प्रकारके हैं—कर्ण-द्रव्येन्द्रिय और कर्णभावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियका सीधा अर्थ यह है कि जो एक रचना है, पौद्गलिक है वह तो द्रव्येन्द्रिय है और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो उपयोग चलता है, जानकारी होती है वह भावेन्द्रिय है। तो इस सूत्रमे द्रव्येन्द्रियका वर्णन है। द्रव्येन्द्रियको दो भावोमे समझना है—निर्वृत्ति और उपकरण। इसका शब्दार्थ यह है कि जो रचना है उसको निर्वृत्ति कहते है—निर्मित्यः इति निर्वृत्तः, तो जो रचा जाय और कभी बने तो वह नैमित्तिक रचना होती है। जो भी निमित्त बिना बात हो वह अनादि अनन्त हुआ करती है। अगर कोई बात पहले न थी और अब हो गई है तो समझो कि वह नैमित्तिक है। निमित्तका सन्निधान पाकर हुआ और निमित्तके असन्निधानमे वह खतम हो गया। तो जो रचना है, नैमित्तिक है उसका निमित्त क्या है ? कर्म। कर्मका निमित्त पाकर जो रचा गया है उसे निर्वृत्ति कहते हैं। याने जो इन्द्रियाँ बनी है कर्ण चक्षु घ्राण आदिक, वह एक रचना विशेष तो है ही। स्पष्ट देख रहे हैं। इस ही रचनामे जो कुछ मैटर है या जो कुछ है उस सबका नाम निर्वृत्ति है। अब यहाँ यह ध्यानमे देना कि जितनी इन्द्रियाँ है उतने मे ही निर्वृत्ति समझना, बाकी कोई इन्द्रिय ही नही है। जैसे आँख जो सफेदके अन्दर काली और

कालीके अन्दर और काली मसूरके दाने बराबर जो रचना है वह निर्वृत्ति है और उसके बाहर जो और बडा काला है और उसके चारो तरफ सफेद है वह निर्वृत्ति नही। जिन साधनोसे परिज्ञानका काम बने बस उतनी ही इन्द्रियां है और वही निर्वृत्ति कहलाती है।

निर्वृत्तिकी द्विविधता—तो इन्द्रियकी निर्वृत्तिमे दो भाग है—एक भीतरी निर्वृत्ति और दूसरी बाहरी निर्वृत्ति, आभ्यतर और बाहरी और उस इन्द्रियके आकारमे जो आत्माके प्रदेश है वह तो आभ्यतर निर्वृत्ति है। उत्सेधागुलके असख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेश होते है इन्द्रियकी रचनामे और यह भी जानना चाहिए कि आत्माके प्रदेश आत्मामे रहकर भी अन-वस्थित है। आत्माके प्रदेशोमे जो योग होता रहता है, प्रदेशोमे जो घुमाव बना रहता है, एक होकर भी और प्रदेशोका घुमाव चलता रहता है। हर एकके तो उसमे प्रदेशोका भी घुमाव चलता है। तो समय-समयपर जो-जो भी प्रदेश हैं वे आभ्यतर निमित्तमे कहलाते हैं। और बाह्यनिर्वृत्ति क्या है कि जो पौद्गलिक रचना है, जितनी कि इन्द्रियाँ है उसमे जो पुद्गलकी रचना है वह बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है। बाह्यनिर्वृत्ति तो दुनियाको दिखती ही है। कान की भी यही बात है। जो अन्दरका भाग शब्द सुननेका साधनभूत है कहते तो हैं कि यह कानोमे पोल है तो पोलका नाम कर्णेन्द्रिय नही। उस पोलके अन्दर जो भी एक हल्का हिस्सा है, जितना छू जाने पर शब्दका परिचय होता है वह कर्णेन्द्रिय है, बाकी जो दिख रहा है लोगोको यह कर्णेन्द्रिय नही है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियमे समझिये। घ्राणेन्द्रिय-नाकमे पोल है, पर जो पोल है वह इन्द्रिय नही। उसके अन्दर जो कुछ भी झिल्लीसी पतली कोई रचना है अन्दर कि जहाँ स्पर्श हो जाय गध अणुवोका तो यह गधका ज्ञान कर लिया जावे वह घ्राणद्रव्येन्द्रिय है। इसी प्रकार रसनाइन्द्रिय की बात देखो—जितनी बडी जीभ है ४—६ अगुलकी खुरपाकी तरह तो उतनी बडी जीभ नही है। जिभ्या इन्द्रिय तो उतने हिस्सेमे है कि जहां चीज छू जाय तो उसके रसका परिचय बन जाय। सारी जीभ इतनी लम्बी चौडी है वह जिभ्या इन्द्रिय नही है, इसी प्रकार स्पर्शनइन्द्रिय है। स्पर्शन इन्द्रियका विस्तार ज्यादा है। जो कान दिख रहे, नाक दिख रही, जो आँखें इतनी बडी दिखती ये सब स्पर्शनइद्रिय हैं। इनके अन्दर जो इतनी रचना है कि जो रस आदिक विषयो का परिचयका साधन बना है वह इन्द्रिय है। तो निर्वृत्ति दो प्रकारकी होती है—आभ्यतर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। आभ्यनर निर्वृत्ति तो उस बाह्यइद्रियके मापमें जो आत्मप्रदेश की अवस्था है वह तो है आभ्यतर निर्वृत्ति और जो पुद्गल परिचय है इद्रियाकार वह कह-लाता है बाह्य निर्वृत्ति। द्रव्येन्द्रियके प्रकरणमे एक भौतिक इद्रियकी ही तो बात कही जा रही, मगर इसके साथ जो आभ्यतर निर्वृत्तिकी बात कही यद्यपि वह पौद्गलिक नही है,

आत्माके प्रदेशोंकी इद्रियाकार रचना होना पौद्गलिक नही है, मगर इस पुद्गलके सम्बन्धसे वह भी एक मूर्त जैसा बन रहा और फिर इसकी रचनाका वह आधार है आत्मप्रदेश। उसके सम्बधसे ही पौद्गलिक रचना बनती है, अतएव आभ्यतर निर्वृत्तिका भी जिक्र करना पडा। यह है द्रव्येन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रियके अङ्गभूत उपकरणकी चर्चा—निवृत्ति और उपकरण। उपकरण क्या चीज है? जो असलमे इन्द्रिय है उस इन्द्रियका जो उपकार करे, रक्षा करे उसे उपकरण कहते है। जैसे चक्षु तो मसूरके दाने बराबर है और वह अवस्थित है सफेद पिण्डके अन्दर काला पिण्ड और उसके भीतर वह मसूरके दाने बराबर एक तेजवान चमकीला नेत्र है। तो अगर यह शुक्ल वर्ण न हो तो यह कैसे स्थित होगा? तो यह उपकरण है। और यदि पलक वगैरह न हो तो आखोकी कैसे रक्षा होगी? आँखें तो बन जायें और ये पलक न हो तो आखें तो जल्दी फूट जायेंगी। ककड घुसेगा, किसीकी अंगुली भी लग जायगी, कुछ चोट भी आ जायगी। तो यह पलक है यह भी उपकरण है। याने जो वास्तविक चक्षुइन्द्रिय है उसकी रक्षाके जो साधन है वे उपकरण कहलाते है। इस तरह जो दिखती है आँख और लोग जैसा कहते हैं यह है आँख, वह भी क्या चीज है? निर्वृत्ति और उपकरण। इसको द्रव्येन्द्रिय कहते है। इन उपकरणोमे जो इन्द्रियसे चिपका हुआ हो वह तो है आभ्यतर उपकरण और जो उससे दूर हो और उसकी रक्षाके लिए हो वह कहलाता है बाह्यउपकरण। तो नेत्रमे यह उपकरण बहुत जल्दी समझमे आ जाता और कर्णेन्द्रियमे जो वास्तविक इन्द्रिय है, अदर जाकर जो कुछ भी एक पिण्ड है उससे चिपका हुआ जो कुछ है वह तो है आभ्यतर उपकरण और उसकी रक्षाके लिए जो बाहरमे दिख रहा है एक सूप जैसा लम्बा चौडा यह बाह्य उपकरण है। ऐसे ही नासिकामे जो नाकके अन्दर दोनो छिद्रोके बीच जो कुछ एक मैटर है जिससे पुद्गल छू जाय स्कध तो गधका परिचय बनना वह तो है घ्राणेन्द्रिय और उससे लगा हुआ जो पिण्ड है वह आभ्यतर उपकरण और उसकी रक्षा करनेके लिए जो यह दो तीन अंगुलकी लबी-चौडी नाक दिखती है यह है बाह्य उपकरण। इन्द्रियोकी कैसी विचित्र रचना है? किसने की है, कहाँ बैठकर की है? कैसे बन गया यह इन्द्रिय, यह शरीर? जब निमित्त उपादानकी विधिकी दृष्टि नही रहती तो लोग ऐसी कल्पना कर लेते है कि यह तो सब ईश्वरकी लीला है।

आन्तरिक प्रकाश और अन्धकारका प्रभाव—देखिये, ज्ञान सही हो तो उसे कहते हैं प्रकाश और ज्ञान झूठा हो, उल्टा हो तो उसे कहते है अंधकार। अधकारमे जीवका क्या मिलती? परेशानी, धोखेबाजी, अशान्ति, यह ही प्राप्त होती है, और जहाँ प्रकाश मिला हो

अपने बारेमे और दिखने वाले इन बाहरी पदार्थोंके बारेमे यथार्थ ज्ञान हो तो वह बडा निराकुल, शान्त, प्रसन्न रहता है । जीवका धन ज्ञान ही है । सो मोही जीव इस तथ्यको न समझकर बाहरी वस्तुओंको वैभव धन सम्पन्नता मानकर इस ज्ञानधनको बरबाद करते हैं और अज्ञान अधकारमे रहकर अपने आपको ससारके जन्म-मरणमे फसाते हैं । चीज बतायी जा रही है कि अपने आत्माको ही नियत हुआ जो एक यह शरीर है, जो एक क्षेत्रावगाह होकर रह रहा है, जितनेमे शरीर है उतनेमे जीवप्रदेश है, इतना घुल-मिल करके जो रह रहा है शरीर, उसकी रक्षा कैसे हुई ? उसका थोडासा एक दिग्दर्शन है । इतना घुल-मिलकर रहने वाला भी अपना तो रहता नही, समय आता है और दिख जाता है और ममता होनेके कारण मोही जीव उस समय बडा व्याकुल होता है । हाय मरे, शरीर छूटा, उसका भी दुःख है, मगर जो सग प्रसंग वैभव दूकान सम्पदा बना रखी, जो लोकमे अपनी इज्जत बना रखी उसको देख करके, उसे विचार करके यह मोही जीव अत्यन्त बेचैन हो जाता है । इन बाहरी पौद्गलिक बातोमे ममता न हो तो मरणके समयमे जीवको कष्ट नही होता । होगी थोडी बहुत वेदनाकी बात तो वह हल्की होकर रह जाती है । इस जीवको सबसे महान दुःख तो ममताका है, क्योकि इसको सर्वस्व समझ रखा था । अब मर रहा है तो उस सर्वस्वपर निगाह है—हाय यह छूट रहा, सदाके लिए गया यहांसे । बडा दुःखी होता है । तो जब हम इन बाहरी चीजोमे अपना दिल फसाये रहे तो दु ख तो होगा ही, यह बिल्कुल न्यायकी बात है । अगर दुःखसे छूटना है तो ऐसा सहज वैराग्य रहना चाहिए कि मेरा मेरे ज्ञानस्वरूपके सिवाय कुछ भी नही है । ये सब बाहरी बातें है । कैसे ही परिणमे, छिद जाय, भिद जाय, कही चला जाय, वियोगको प्राप्त हो जाय तो भी मेरा कुछ नही है इसमे । मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूपमात्र हू, ऐसी जिसकी दृष्टि नही बनी और शरीरमे आत्मबुद्धि रही तो वह मोही जीव इस शरीरकी आसक्तिमे ऐसा कर्मबन्ध कर लेता कि इसे विचित्र शरीर धारण करने पडते ।

शरीर यह इन्द्रियका समूह है, फिर भी आप देखते जाइये—निर्वृत्ति और उपकरण । जिस धामसे ज्ञान होता है वह निवृत्ति है । निवृत्त इन्द्रिय द्वारा होता है और उस इन्द्रियके ऊपर जो ढाचा लगा हुआ है यह उपकरण है । यह कैसे रचा जा रहा है कि नाना प्रकारके कर्मोंका उदय होता है और उस कर्मोदयका निमित्त पाकर ये शरीर वर्गणायें स्वय उस प्रकार से बनती हैं, वृद्धिको प्राप्त होती हैं, यह सब निमित्तनैमित्तिक योगमे अपने आप ओटोमेटिक सब जीवोमे निरन्तर चल रहा है । अगर कोई ईश्वर कर्ता होता तो प्रथम तो ईश्वर ही बडा दुःखी होगा । उसे बहुत बडा काम पडा है । कभी काम चल रहा, कभी बिगड भी

जायगा, कभी काम बद भी हो जायगा। अरे सब काम अपने आप चलता है। घडीमें चाभी भरी है तो हम उसे आँखोसे देखें तो न देखें तो, वह तो चलती ही रहेगी। इस निमित्तनैमित्तिक योगका ऐसा प्रभाव है कि कही भी पदार्थ हो, कही भी जीव हो, कही भी कुछ हो, जैसा उपादान निमित्त योग्यता आदिकसे जैसा जो कुछ होनेको है वह होता रहेगा। हम उसका ख्याल करें तो, न करें तो, तो यह उपकरण है। उपकरणके निमित्तसे कोई ज्ञान नही करता। क्या ऊपर दिखने वाले जो ये कान है ये आवाज सुनते है? ये नही सुनते। वह तो एक भीतरी इन्द्रिय है। क्या यह जो सफेद काला गटा है यह देखनेका साधन बनता है? नही। जो उस कालेके अन्दर और काला तेजवान मसूरके दाने बराबर चक्षुइन्द्रिय है वह देखनेके काम आती है। इसी प्रकार रसना और घ्राणकी बात है। स्पर्शनमे भी यह ही बात है। लगता है जल्दी कि कोई चीज ऊपर गिरी ठडी या गर्म तो तुरन्त उसके छूने ही ज्ञान कर लिया, पर एक चमडीके ऊपर जो मक्खीके पर बराबर अत्यन्त हल्की है वह ज्ञान करानेका काम नही करती। उसके अन्दर स्पर्शनइन्द्रिय है। वह परिचय करानेका काम करती है, मगर वह इतना पतला उपकरण है कि उसका व्यवधान समझमे नही आ सकता। कभी देखा होगा कि जा रहे है और भीतकी जरासी खरोच लग जानेसे थोडा ऊपरकी पतली झिल्ली एक तरफसी हो जाती है। और इसको पता नही पडता, दर्द नही होता, कुछ अनुभव भी नही होता। अगर इन्द्रिय होती तो इन्द्रिय तो प्राण है। इन्द्रिय प्राणपर घात पहुचे और यह वेदना न महसूस करे, यह कैसे हो सकता है? ऐसे ही निर्वृत्ति और उपकरण इनका जो समूह है वह द्रव्येन्द्रिय है। यह कलक, यह भार, यह बोझ हम आपपर लदा हुआ है और यह मोही जीव इस कलकको, इस भारको आदरकी दृष्टिसे देखता है, इस पर कौन पछतावा करे? उसमे तो इतनी योग्यता नही कि तुम इस कलक और कीचडके प्रति इतना आदरका भाव क्यों करते हो? यह शरीर जो लगा है यह दोष है। इसमे जो प्रीति करता, जो क्षुब्ध होता वह बडे अधकारमे है। लग गया शरीर साथ तो अब उसके ज्ञाता रहो। चूँकि जीव ऐसे ऐसे परिणाम करता है तो उन परिणामोका इस प्रकारका प्रभाव है। लग गया यह सारा ढांचा अब यह लग गया तो इसके बिना इस समय चलता नही। चलता तो जाता मगर आत्मामे इतना बल होता कि अपने सहज चैतन्यस्वरूपको निरख कर उसमे ही रमे और प्रसन्न रहे, ऐसा इसकी भीतरी बल काम देता है। तो यह शरीर छिद जाय, भिद जाय, कही जाय, इस आत्माका कोई विगाड़ नहीं होता और जब अन्तरकी यह कला नही पायी इसने तो ऐसी घटनामे इस शरीरमे बडा पाला पडा है, इससे बडी उपेक्षा भी चल रही है। भूख है, प्यास है, सर्दी है, गर्मी है, रोग हो गया, अनेक बातें होती

है, हम उनसे उपेक्षा नही कर पा रहे और ऐसी स्थितिमे जब वह वेदना हो जाय तो हम धर्मसाधना भी नही कर पाते है। तो थोडी एक ऐसी स्थिति है कि कुछ ख्याल करना पडेगा इसे। शरीरको भोजन खिला देते है मुनिराज, पर इतने विरक्त और आत्मधुनके धुनिया होते हैं कि वे आहार करना नही चाहते, उसे कलक समझते। क्यो आहारके विकल्पमे पडूं, आत्मा मे हो रहूगा मगर यह 'गले पडे बजाय सरे' जैसी बात है। जब स्थिति ऐसी है तो विवेक मानो हाथ पकडकर समझाता है कि अरे तुम अभी आगे पीछेका कुछ ख्याल नही रख रहे। मुनि क्या ? एक वह उपयोग, वह धुन वह अपने आपके आत्माकी ओर लगा हुआ उपयोग, उस उपयोगको समझाता है यह विवेक कि चलो आहार करो, आगे ज्यादा ठनबन न करो, पीछे आपत्ति आ जायगी, तो यह मुनि आहारको उठता है। तो इतना सहज वैराग्य है कि आहार उसे चाहिए नही। आहारको उठते समय वह खेद मानता है कि मैं कहां विकल्पमे पड गया, मगर विवेक इसे उठवाकर रहता है। तुम इस तरहकी चर्या न करोगे तो ऐसी आपत्ति आ सकती है कि कही असमाधिभाव न बन जाय, कही दुर्गतिका बंध न हो जाय। तो सहज वैराग्यकी बात यह है और परिस्थितिकी बात यह है। जैसे इस इन्द्रियके माध्यमसे ससारके सुख भोगने जैसी एक विडम्बना है उसे यह ज्ञानी जीव नही चाहता, ऐसे ही इन इन्द्रियोके माध्यमसे जो पदार्थोंकी जानकारिया होती है इन जानकारियोको भी ज्ञानी नही चाहता। कहां है उसकी ऐसी दृष्टि ? कुछ ऐसा अलौकिक ब्रह्मस्वरूप इसके, ऐसा ध्यानमे समा गया कि जिसके लिए ससारी जीव तरसते है उससे यह अत्यन्त दूर भागता है। ससारी जीव तरसता है इस अलौकिक ज्ञान विज्ञानके लिए और पञ्चेन्द्रियके विपयोके सुखके लिए, मगर ज्ञानी जीव इन जानकारियोसे भी परे रहना चाहता है। मुझे यह ज्ञान न चाहिए, क्योकि यह ज्ञान पराधीन है। मुझ परमेश्वर तत्त्वको पराधीनसे कोई वास्ता न रखना चाहिए और फिर यह इन्द्रिय ज्ञान ही उस बडी विपत्तिका प्रारम्भ कराता है। न देखा हो इन्द्रिय द्वारा रूप तो क्यो वह मनमे भाये और क्यो उसकी ओर आसक्त हो ? और फिर विशेष मोह करके यह जीव बडी आपत्तिमे पड जाय तो इस आपत्तिकी मूलमे जड क्या बनी ? प्रारम्भ कहांसे हुआ ? तो उसका उत्तर आयगा इन्द्रियजन्य ज्ञानसे इस विडम्बनाका प्रारम्भ हुआ। इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख दोनो ही इस जीवको सुहाते नही है। वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दकी ही धुनमे रहता है। तो यह जो हम आपको विडम्बनाके जो साधन मिले है, इन्द्रिय रचना हुई है, शरीर मिला है ये सब क्या हैं, कैसे हैं, कितने काम आते है, इन सबका यह विवरण चल रहा है कि जो कुछ यह सामने दिख रहा ये सब द्रव्येन्द्रिय हैं। द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक हैं, मूर्तिक है, मुझसे भिन्न है, इन्हे छोडकर यह

जीव चला जायगा, यह यही पडा रह जायगा। न रहेगा तेज, न कर सकेगा इन्द्रिय व्यापार, मगर ढाचा तो बना ही रहेगा। ऐसी ये पौद्गलिक भिन्न इन्द्रियाँ है, शरीर है, इनके प्रति ममता रखकर ही आज जगतको विडम्बना बन रही है। झगडेका कारण क्या है? यह ही शरीर। इस शरीरका नाम क्या है? कल। कल शरीरको कहते है। जैसे सकलपरमात्मा, विकलपरमात्मा। कल, शरीर सहित परमात्माको सकलपरमात्मा कहते हैं। अरहत भगवान सकलपरमात्मा है और कलरहित परमात्माको विकलपरमात्मा कहते है। शरीर रहित भगवान याने सिद्ध भगवान। कलके मायने है शरीर। जब कोई कहता है कि भाई कल कल न करो, हमे नही सुहाती तुम्हारी कलकल तो वह कलकल क्या है? शरीर शरीर का जो भिडाव है वही तो कलकल है। कलकल है विडम्बना, ददफद। तो यह कलकल शब्द बतलाता है कि शरीर शरीरका जो परस्पर भिडाव है, व्यवहार है बस वही कलकल कहलाता है। चाहे वह वचनो द्वारा हो, क्रिया द्वारा हो, बढे चिन्तन द्वारा हो, वह सब कलकल है, विपत्ति है, विडम्बना है। उसका जो साधन बन गया है यह सब कर्म द्वारा रचित है। यद्यपि कर्म निमित्त मात्र है, शरीरकी जो वर्गणाये है उनके द्वारा ही शरीर बना है, कर्मोदयके बिना बन तो ले कोई ऐसा। तो जो निमित्त है उसके बिना जब हो नही पाता तो यह ही कहा जायगा कि यह सब कर्मके द्वारा रचा गया है, यह निमित्त दृष्टिसे कथन है। ऐसे निर्वृत्ति और उपकरण इन दोनोके समूहका नाम है द्रव्येन्द्रिय। इस द्रव्येन्द्रियके लोभमे, इनकी रक्षाकी धुनमे, इनके साज श्रृङ्गारकी धुनमे, यह जीव बहिर्दृष्टि बनता है और अपने अनुपम अमूल्य ज्ञानानन्दनिधिको खो बैठता है। इस विडम्बनाके साधनभूत द्रव्येन्द्रियका वर्णन इस सूत्रमे आया।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते है। इन्द्रियके दो भेद बताये गए थे—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जो बाहरी रचना है, पौद्गलिक रचना है वह तो द्रव्येन्द्रिय है और जो भीतरमे उस प्रकारके जाननेकी योग्यता और तैयारी है वह भावेन्द्रिय कहलाती है। भावेन्द्रिय मे दो अग हैं—लब्धि और उपयोग। लब्धिका अर्थ है लाभ। चाहे लाभ कहो चाहे लब्धि कहो लभ धातुसे दोनो बने। लाभमे तो लभ धातुसे अ प्रत्यय हुआ, ये पुल्लिगके रूप बने और लब्धि मे लभ धातुसे इक् प्रत्यय हुआ। क का लोप होनेसे ति बचता है, सो लब्धि बना। अब धातु एक है, प्रत्यय एक बोधक बना है। अर्थ करीब-करीब समान होना चाहिए, मगर इनके भेदसे आशयमे कितना अन्तर हो गया कि लाभका प्रयोग तो किया जाता है प्राय बाहरी चीजोके पानेमे। उनको धनका लाभ हुआ आदिक और लब्धिका उपयोग होता है कोई भीतरी तत्त्वके

पानेमे। जैसे लोग कहते है कि उनको अनुभूतिकी लब्धि हुई, उनको ऐसी जानकारीकी लब्धि हुई। लब्धि और उपलब्धिका प्रयोग प्राय: अन्तरङ्ग बातके लिए होता है। और लाभका प्रयोग बाहरी बातोके लिए होता है। एक ऐसे प्रत्ययभेदसे व्यवहारमे भी कुछ-कुछ भेद पड गया। तो लब्धिका अर्थ किया है लाभ। किसका लाभ? इन्द्रियकी रचना बन सके इसकी आधार भूमिकाका लाभ। क्या जिस जीवको रसनेन्द्रियका क्षयोपशम होगा वही जीव रसना-इन्द्रियका लाभ ले सकेगा? तो द्रव्येन्द्रियकी रचनाका कारणभूत जो क्षयोपशमविशेष है उसका नाम लब्धि है। क्षयमे भी लब्धिका प्रयोग होता। नबकचन लब्धि रमा धरन। भगवानको ६ लब्धियां प्रकट हुई हैं, ६ लाभ हुए है, ऐसा प्रयोग नही सुना गया है। ६ लब्धियां प्रकट हुई। ऋद्धि समृद्धिकी तरह लब्धिका भी कुछ अन्त. सम्बध है।

तो जिस जीवके दोइन्द्रिय है उसके स्पर्शन और रसना इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है याने रसनाइन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सके, ऐसी योग्यता बने। रसनाइन्द्रियजन्य ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम हो, वह कहलाता है लब्धि। तभी जीव उस इन्द्रियकी रचनाका लाभ करता है। मनुष्योको कितनी लब्धियां मिली हुई है? भावेन्द्रियावरणका क्षयोपशम है, ५ लब्धियां तो ये है और नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है याने मनके द्वारा ज्ञान बन सके, उस ज्ञानको ढाकने वाले जो कर्म हैं उनका क्षयोपशम है। क्षयोपशमका अर्थ है कि उन कर्मोके कुछ स्पर्धकोका हट जाना, कुछका दब जाना और कुछका मामूली प्रभावमे उदय आना, ऐसी तीन बातें हो उसे क्षयोपशम कहते हैं। जैसे सरसोका तेल पेलकर किसी शीशी मे भर देते हैं। १०-५ दिन बाद देखेंगे तो उस शीशीमे गाढा-गाढा मैल नीचे बैठ जाता है और वह सरसोका तेल बिल्कुल निर्मल दिखाई देता है। तो यह तो हुआ उस मैलका उपशम और उसी शीशीका तेल निकाल लिया जाय दूसरी शीशीमे और वह मैल वही जमा रह जाय, हट न सके तो उस दूसरी शीशीमे वह तेल बिलकुल निर्मल रह गया। वह हुई एक क्षय जैसी स्थिति। और जैसे तेल निकाला शीशीमे डाला एक-दो दिन बाद वह शीशी हिल गई तो तेल कुछ निर्मल है, कुछ मलिन है, कुछ दबा हुआ है, ऐसी स्थिति बन जाती है। इस ढगसे कर्मोकी स्थिति बनती है उसे क्षयोपशम कहते है। तो इन्द्रियावरणका क्षयोपशम होना सो लब्धि है।

देखिये आत्माकी भीतरी तैयारी विकसित रूप बननेपर यह बाहर भी विकसित रूप बनता है और कोई इज्जत समृद्धि धन राज्य चला आदिक प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि इसके आत्माने पूर्व समयमे कुछ विशेष क्षयोपशम पाया था, विशेष योग्यता पायी थी। तो बाहरी जो कुछ लब्धियां हैं वे सब एक अत निर्मल भावके कारण मिला करती हैं। इसी

तरह शरीरकी भी बात है। बहुत घनिष्ट बात है। जीवका जैसा परिणाम होगा, जीवके उन परिणामोकी निर्मलता, मलिनताके अनुसार चूंकि लब्ध ऐसा ही हुआ, सो ऐसा ही अनुकूल देह मिलता है। कोई कन्या उत्पन्न हुई, वह बडी दुर्गन्धित देह वाली है, ऐसे दृष्टान्त भी पुराणोमे मिलते है, तो पूर्व जन्ममे मुनि निन्दा किया था या कुछ ऐसी ही मलिन बातें की थी जिससे ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि दुर्गन्धित देह मिला। तो आत्माके भावोका यह सब फल है। बाहरी फल, भीतरी फल सब कुछ आत्माके भावोपर ही निर्भर है। यहाँ यह बात बतला रहे कि यह जीव ज्ञान किस प्रकारसे करता है ? इस हालतमे वह इस द्रव्येन्द्रियका तो आलम्बन लेता, इसका व्यापार करता और भीतरमे जाननेका उपयोग लगाता तो जानकारी बन जाती। मगर इन सबकी जड है लब्धि। लब्धि है तो सब काम बन जायगा। लब्धि नही है तो कोई काम नही हो सकता। तो वह लब्धि हुई मायने इस जीवपर जो ज्ञानावरण कर्म बैठा है सो उस उस इन्द्रियजन्य ज्ञानके आवरणका क्षयोपशम हो तो उस इन्द्रियकी रचना उसके होने लगती है।

देखो संसारमे जितने जीव है, उन सब जीवोमे एक समानताकी बुद्धि तो लायें। जैसा मेरा स्वरूप वैसा सबका स्वरूप। हम और ये सब जीव एक समान है, और जैसे ये सब जीव हो गए वैसा मेरा होनेमे कोई रुकावट है क्या ? जैसे मलिन परिणामोका फल ये एके-न्द्रिय कीट आदिक भोग रहे हैं ऐसे ही मलिन परिणाम हम करेंगे तो हम भी ऐसा ही फल भोगेंगे। आज जो कुछ ठाट-बाट समागम सम्पदा मिली है उसपर रच भी गर्व न करें। कितने दिनोको यह समागम मिला ? एक स्वप्नवत् समागम है। आखिर फैसला तो होगा अपने भावोके ही अनुसार न ? ऐसे उच्च समागम पाये है—श्रावक कुल, जैनशासन। तो चित्तमे हमको इनको इतना अधिक महत्त्व देना चाहिए कि हममे ज्ञानभगवानकी आराधना बने। जैसे कषायें मद हो और हम मुक्तिके मार्गमे बढे चलें। यह ससार रहनेके काबिल नही है, क्योकि सर्वत्र दु ख ही दुःख है और दुःख भी कुछ नही है। मोह ममता कर रहे इसलिए दुःख है। मोह ममत्व न हो तो दुःखका नाम नही। तो कुछ भीतर आत्माका ध्यान, आत्मा का उपयोग, अपने आपका निर्णय, देहको भूल जाना, यह देह बाहरी चीज है, पौद्गलिक पिंड है, यह मैं नही, मैं तो अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप हू। एक अपने उस ज्योतिर्मय अतस्तत्त्वकी सुध रहे, यह है अपने आपके उत्थानका उपाय। हाँ तो इस समय जो हम आप लोगोंको ज्ञान बन रहा है वह सब इन्द्रियोके आधीन चल रहा है। ऐसी स्थिति होनेपर भी जिस समय आत्माके सहज सिद्ध परमात्मस्वरूप अंतस्तत्त्वका अनुभव होता है तो मन और इन्द्रिय सब अलग हट जाते है।

कोई प्रश्न करें कि उस आत्मानुभवकी स्थितिमे हम क्या कहे– मतिज्ञान कहे कि श्रुतज्ञान कहे कि अवधिज्ञान कहे ? क्या कहे ? और ५ ज्ञानोको छोडकर ज्ञानकी और कोई पर्याय बतायी नही तो हम आत्मानुभवको किस ज्ञानमे ले जायें ? तो परमार्थत तो यह पाँचो ज्ञानोमे ही नही है आत्मानुभव जैसी स्थिति, यह आत्मानुभव इन्द्रियसे उत्पन्न होता है या मनसे ? इन्द्रिय और मनसे जो भी ज्ञान उत्पन्न होते है उनमे ऐसी रुकावट है कि वह परोक्ष ज्ञान है और ज्ञानमे ज्ञान समा जाय, ऐसी स्थितिको नही ला सकता, क्योकि ये इन्द्रिय सब बाहरकी ओर इस जीवको खीच ले जाती है, और खुद इन इन्द्रियोमे ऐसी प्रकृति है कि वे खुदका तो कुछ ज्ञान ही नही कर पाती। आखोसे सारा कमरा देख लिया, सारा मैदान देख लिया, सब कुछ देख लिया, पर यह आँख अपनी आँखको नही देख पाती, आँखमे अगर काजल लगा है तो उसे भी यह आँख नही देख पाती। इन्द्रियमे ऐसी प्रकृति पडी है कि ये बाहरका ज्ञान करायेंगी, अपने आपका ज्ञान नही करा सकती। ऐसी अनेक बातें हैं। यह जीभ दुनियाभरका स्वाद ले ले, पर अपना स्वाद नही जानती। आखिर जीभमे भी तो कोई रस होगा। आप कहेगे कि कभी-कभी तो जीभका स्वाद आ जाता है, तो जीभका स्वाद नही है, वह तो थूक है। जीभ खुद अपना स्वाद नही ले पाती। और तो जाने दो। ताज्जुब की बात है कि यह स्पर्शन इन्द्रिय खुद अपने आपके स्पर्शका बोध नही कर सकती। उमी आदमी को बुखार चढ़ा है, हरारत है, तो हरारत तो सारे शरीरमे है पर वह बिना एक हाथसे दूसरे हाथकी नाडी पकडे नही समझ पाता कि हमको कितना बुखार है। तो एक हाथके द्वारा दूसरे हाथको छुवा तब अपना स्पर्श जान पाया। कितने ताज्जुब की बात है कि अपने आपको यह स्पर्शन इन्द्रिय नही समझ पाती कि मैं ठडा हू कि गर्म हो गया हू। ऐसी ये इन्द्रिय बेचारी असमर्थ है और ऐसा ये उल्टी दिशाकी ओर भाग रही हैं कि उन इन्द्रियोसे हम आत्माके अनुभवकी क्या आशा रख सकते है ? जब आत्माका अनुभव होता तब इन्द्रिय और मनके व्यापारसे परे स्थिति हो जाती है। उस ज्ञानको हम किस ज्ञानमे शामिल करें ? भाई कर लो, उस आत्मानुभवसे एकदम पूर्व जो ज्ञान हो रहा हो बस वह ही ज्ञान वह है, मान लो यो पर वास्तविकता तो न आ सकी। कैसा यह बन्धनरहित है अतस्तत्त्व ? यह स्थिति एक बहुत दुर्लभ है और जिनको यह स्थिति मिली उनका बेडा पार हो जाता है और इस पर जो सकट छाया है बस यह सब ज्ञानावरणका सकट है।

तो जिस-जिस इन्द्रिय ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो उसके उस इन्द्रियकी रचना बनती है और बननेके बाद भी वह लब्धि तो रहती ही है। अब साथ ही मे उपयोग भी बनाया जाय, उस ओर जाननेके हम अभिमुख होवें तो इस द्रव्येन्द्रियका निमित्त पाकर ज्ञान

हो जाता है। इसलिए भीतरमे जो भावेन्द्रिय है—वह लब्धि और उपयोग रूप है। जैसे कोई मनुष्य ५ भाषाओंको जानता है—हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत और प्राकृत, किन्तु एक पत्र संस्कृतमे लिखा हुआ आया, उसे वह पढ रहा है। तो उसका उपयोग कहाँ लगा ? केवल एक भाषामे। तो जब लब्धि है और उपयोग है तो वह जानकारी बन गई। लब्धि लब्धि ही रहे, उपयोग न रहे तो यह जानकारी नही बनती, और लब्धि नही है तो उपयोगका सवाल ही नही है, उपयोग किया ही नही जा सकता है। तो इस तरह भीतरमे जो ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम है और साथ ही पदार्थोंको जाननेके लिए हमारी भीतरकी तैयारी है, उपयोग लगाये है तो ऐसे जो भीतरमे दो अग है— लब्धि और उपयोग, ये भावेन्द्रिय कहलाते है। और द्रव्येन्द्रियकी बात तो इससे पहले सूत्रमे बताई गई है। तो यों लब्धिसे बन गई ये इन्द्रिय और इन्द्रिय बनने पर उन इन्द्रियोका निमित्त कारण उपयोग लगाया, उस समय बन गया ज्ञान। तो भीतरमे तो हुई लब्धि और उपयोग और बाहरमे जो इन्द्रिय है वहाँ है निर्वृत्ति और उपकरण। यहाँ एक आशका बन सकती है कि उपयोग तो एक प्रकारका फल है, लब्धि हुई, क्षयोपशम हुआ, इन्द्रियाँ मिली और उनका प्रयोग बना कि उपयोग बन गया, जानकारी बन गई, तो उपयोग तो फलरूप है। उसका इन्द्रिय नाम न धरना चाहिए। कहते है ना—भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगको कहते है। तो उपयोग कैसे इन्द्रिय बन जायगा ? वह तो इन सबके प्रयोगका फल है, कार्य है, उपयोग है। कारण बन रहे है, लब्धि हैं, इन्द्रिया हैं।

तो उत्तर इसका यह है कि कार्य कारणका उपचार करके भी तो बात कही जा सकती है। वह एकदम निकटकी चीज है उपयोग। तो फल होनेपर भी और चूंकि वह इन्द्रियके निकट वाली चीज है और एक भीतरका उस कालका उद्यम है, इस कारण वह भावेन्द्रियका अग बन जाता है अथवा एक सीधी बात देखो ना—इन्द्रियका अर्थ क्या किया गया था ? इन्द्रिय मायने क्या ? जो इन्द्रका लिङ्ग हो। इन्द्र मायने यह परमेश्वर आत्मा भगवान निज निज है, कोई इसका जो चिह्न है सो इन्द्रिय है। तो इस तरह लब्धि और उपयोग ये इस इन्द्रके ही तो चिह्न है, आत्माका ही तो यह परिचय है, इसलिए लब्धि और उपयोग—ये दोनो भाव इन्द्रिय कहलाते है। भीतरमे हुआ एक कर्मका क्षयोपशम, कर्मका हल्का होना, कर्मका हट जाना, जिसके भीतरमे ज्ञानकी योग्यता बने। तो जहाँ योग्यता बनी वहाँ उसे इस इन्द्रियका लाभ हुआ।

प्राप्त योग्यताका सदुपयोग न करनेपर दुर्गतिका उपभोग—अब तो उपकरण पा करके यह उपयोग करे और यह सही जानकारी बनाये। कैसा चक्र चल रहा है हम आपकी

जानकारीमे ? जाननेका तो ले रहे है प्रयोग, परन्तु वह जानना क्या है ? क्या हो रहा है, इसका परिचय बिरले पुरुषोको होता है। कोई भी चीज पायी हो—कहते है ना इसका उपयोग करो, यह वस्तु व्यर्थ न पडी रहे। तो इस प्रकार आत्माने यदि लब्धि पायी है तो उसका उपयोग करो। हम आप सबको लो कि गणितके बडे-बडे हिसाब लगा लें और बडे-बडे व्यापारके कमाईके काम कर लें, अनेक युक्तियाँ निकाल लें। सरकार अगर अन्याय करे तो अपन खुद एक कलाके बलसे रास्ता निकाल लें तो ये सारी बातें बुद्धिके बिना होती हैं क्या ? बुद्धि तो प्रकट है, क्षयोपशम तो अवश्य है। अब ऐसा क्षयोपशम पाकर, एक जाननेकी योग्यता पाकर यदि ज्ञानके अर्जनके लिए न चले तो यह हम आपके लिए एक कितनी बडी भूलकी बात होगी ? तो लब्धि पायी है तो उसका उपयोग सही करना चाहिए। अगर सही उपयोग न किया जायगा लब्धियोका, बडी जानकारी की हमने, योग्यता पायी और उसके साधनभूत ये पञ्चेन्द्रियाँ मिल गईं, मन भी मिल गया, अब यदि हम इन इन्द्रिय और मनका उपयोग सही नही करते तो इन्द्रियकी ओरसे मानो यह उत्तर मिल जायगा कि हम आपको मिले थे, मगर आपने मेरा उपयोग कुछ नही किया, मेरी कुछ कदर नही किया तो आपके पास मेरा क्या जाना ? तो जब हमने कर्णेन्द्रियकी कदर नही की, वीतराग वाणीका सुनना, भगवद्भक्तिका श्रवण करना, धर्मोपदेश सुनना, हितकी बात सुनना, ये काम यदि कानोमे नही किए गए तो मानो कान यह कह देंगे कि हम तो बडी मुश्किलसे आपकी सेवामे आये थे, मगर आपने तो हमारी कदर ही नही की। अब हमको आपके पास रहनेसे क्या फायदा ? तो मतलब यह है कि कान न रहेगे, नदारत हो जायेंगे, चारइन्द्रिय जीव बन जायेंगे। इस मनुष्यने आँख पाकर आँखका यदि सदुपयोग न किया, स्वाध्याय करना, सत्सगमे रहना, शात मुद्रावोके दर्शन करना, यह सब है एक चक्षुइन्द्रियसे लाभ लेनेकी बात, मगर लाभ न लिया जा सका तो मानो चक्षुइन्द्रियकी ओरसे ही यह वकील एकदम कोरा जवाब दे देगा कि हम तो बडी कठिनाईसे आपकी सेवामे आये थे और आपने हमारी बात भी न पूछी, हमारी कुछ कदर भी न की तो अब हमको क्या प्रयोजन है आपसे ? मायने यहाँसे मरण करनेके बाद ये आँखें न मिलेंगी, तीनइन्द्रिय जीव बनेंगे। ऐसे ही यदि घ्राणइन्द्रियका सदुपयोग नही करते तो ये इन्द्रियाँ भी न प्राप्त होगी। रसनाका सदुपयोग न करें तो द्वीन्द्रिय भी न बन पायेंगे।

स्पर्शनइन्द्रियका सदुपयोग न होनेपर निगोद जैसी स्थितिका उपभोग—अच्छा, यदि स्पर्शनका हम सदुपयोग न करें तो कह दें क्या कि स्पर्शनइन्द्रिय न मिलेगी। अगर यह वाणी सुननेको मिले कि जो स्पर्शनइन्द्रियका दुरुपयोग करे तो उसको स्पर्शनइन्द्रिय न मिलेगी। तो

यह तो बडा अच्छा है । स्पर्शनइन्द्रिय न होनेके मायने है सिद्ध भगवान हो गए । सो ऐसा नही होगा, किन्तु स्पर्शनइन्द्रियका सदुपयोग न करे तो उसका फल यह है कि एकेन्द्रिय नामके स्पर्शनइन्द्रियकी लब्धि होनेपर भी नाम नामकी बात रहेगी, उसका कोई एक व्यक्त फायदा नही उठा सकते । बन गए निगोद । एक तो निगोदने भी ज्ञान क्या और फिर एक शरीरके अनन्त निगोद स्वामी । देखो जगतमे जितनी दुर्गतियाँ है उन सब दुर्गतियोमे सबसे बडी विडम्बना वाली दुर्गति यह है कि शरीर एक, और मालिक अनन्त जीव । यहाँ अगर कह दिया जाय कि तुम्हारे शरीरके १० जीव मालिक रहेगे तो आप पसद न करेंगे । आप समझेंगे कि मै तो इतना दूषित बन जाऊँगा, इतने लोगोंसे लद जायेंगे । तो पापकर्मका वह फल है कि जहाँ जीव तो अनन्त है स्वामी और शरीर मिला है उनको एक और जब एक साथ जन्म लेते, एक साथ मरण करते और एक साथ सास लेते, जो भी है, एक कविने कहा कि जो लोग बहुत तीव्र मोही है स्त्रीमे या किसीमे उनके सुखमे तो सुख मानते, उनके दुःखमे दुःख मानते, उनके मुखको ही देखते रहते है तो जो लोग ऐसा करते है कि स्त्री या अन्य किसीसे जिससे प्रीति हो उसका सुख दुःख समझते, उसकी वेदनामे अपनी सहानुभूति रखते मोहवश तो मानो वे निगोदमे सब कुछ निभा लें । बात जो बीतती है उसका वे मोही जीव अभ्यास कर रहे है, क्योकि निगोदमे जाकर उन्हे यही कवायत करनी पडेगी । एक साथ जन्म हो, एक साथ मरण हो, एक साथ सबकी एकसी दशा बने तो उसका अभ्यास मानो निगोद जाने वाले मनुष्य यहाँ कर रहे है । तो यह निगोद दशा तो एक बडी दुर्गतिका स्थान है कि शरीर तो एक, और उसके स्वामी अनत । यह इन्द्रियका प्रकरण है ।

इन्द्रियज ज्ञानकी हेयताका संकेत—यहाँ यह बताया गया है कि संसारी जीवोंको जानकारीमे दोनो प्रकारकी इन्द्रियाँ साधक होती है—(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय । द्रव्येन्द्रिय तो शरीरके भीतरकी रचना है और भावेन्द्रिय भीतरका क्षयोपशम, योग्यता और जाननेकी तैयारी यह है भीतरकी इन्द्रिय । इन्द्रिय पाकर मौज मानना कि खेद मानना ? मौज कम मानो, खेद अधिक मानो । खेद यह मानो कि हाय कैसा इस परमेश्वर अपने आप ज्ञानस्वरूप ज्ञानसे ज्ञानकी परिणति करता रहे, ऐसा उसका स्वभाव है, पर क्या विकट स्थिति हुई कि इन्द्रियके द्वारा हम जान पा रहे है । ये इन्द्रियाँ चाहने योग्य नही, कोई भी इन्द्रिय और इन्द्रियसे होने वाला ज्ञान और आनन्द भी चाहने योग्य नही है ।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥१६॥

जीवलक्षणके प्रकरणमे संसारीके ज्ञानोपकरणरूप इन्द्रियोंका कथन—दूसरे अध्याय मे जीवतत्त्वका वर्णन चल रहा है । तो सर्वप्रथम तो लक्ष्यमे आ जावे कि जानें तो कैसा

जानें लक्ष्यमे आया, जिसको लक्ष्य बनाया उसे बतानेके लिए ५३ भावोका वर्णन किया, क्योकि ५३ भावोके रूपमे जीवकी पकड होती है। ये ५३ भाव लक्षण नही है जीवके, क्योकि लक्षण वह होता है जिसमे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नही होते, किन्तु जीव जरूर हैं ये सब। औपशमिक भाव वह भी जीवका परिणाम, क्षायिक भाव वह भी जीवका परिणाम, औदयिक भाव यह भी जीवका परिणाम। तो लक्ष्यमे तो ये सब स्वतत्त्व आ जाते है, पर यह लक्षण नही बनता। तो स्वतत्त्वका वर्णन करनेके बाद फिर लक्षण बताया गया जीवका लक्षण उपयोग है। फिर जिसका लक्षण उपयोग है उस जीवके भेद बताये गए—ससारी और मुक्त। मुक्तका वर्णन अधिक है नही, क्योकि एक समान हैं, महिमा अधिक है, पर वर्णन करनेको बात अधिक नही है। तो ससारी जीवका ही वर्णन करना अभीष्ट है। ससारी जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। त्रस कौन कहलाते हैं जो दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं सो त्रस हैं, इसमे इन्द्रिय शब्दको सुनकर यह जिज्ञासा बनी कि इन्द्रिय किसे कहते है ? इन्द्रियका स्वरूप बताया, इन्द्रियके भेद बताये। अब यह बतला रहे है कि जो ५ इन्द्रिय बताये है वे कौन-कौन हैं ? इसका उत्तर है—इस सूत्रमे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये ५ इन्द्रियाँ है। सूत्रमे इन्द्रियका जिक्र नही है खाली नाम दिया है। तो सूत्र जैसे बना है उसके अनुसार तो यह अर्थ है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र है। अब ये क्या हैं ? सो इन्द्रियका प्रकरण चल रहा तो पचेंद्रियाणि इस सूत्रसे इद्रियाणि की अनुवृत्ति ली गई। यद्यपि पचेंद्रियाणि सूत्र और प्रथम सूत्रके बीचमे तीन सूत्र और आये, लेकिन वे तीनो सूत्र इन्द्रियकी ही बात कर रहे है इसलिए वहाँ कोई फर्क न पडेगा अनुवृत्ति लगानेमे। तो इन्द्रियाणिकी अनुवृत्ति होनेसे अर्थ बना नाम लेकर कि ये ५ इन्द्रियाँ हैं, इनका अर्थ क्या है ? स्पर्शन।

स्पर्शनादिका करणसाधनमे परिचय—देखिये इन इन्द्रियोका अर्थ दो ढगसे सुनना है—(१) करणसाधन (२) कर्तृसाधन। इनका प्रयोग हर जगह दो ढगमे होता है। जैसे कहते है ना कि मै हाथके द्वारा काम करता हू। यो भी लोग बोलते हैं और यह हाथ काम करता है यो भी बोलते है। तो हाथ काम करता है यह तो कर्तृसाधन है, क्योकि इसमे स्वतत्रताका प्रकाश है। हाथ काम कर रहा और करणसाधनमे परतत्रता जैसी झलक है—मैं हाथके द्वारा काम करता हू। एक बीचके माध्यम मूलमे वह परतत्रता सी जची। बात एक है मगर कहने-कहनेमे ये दो फर्क आते है। जैसे मैं काम करता हू और मेरे द्वारा काम हो गया। बात दोनोमे एक ही कही गई पर आशयमे कितना अन्तर है ? यद्यपि अहकारकी पुट दोनोमे जच तो रही है, मगर मै काम करता हू, मैंने काम किया, इनमे अहकारकी मात्रा

विशेष है और मेरे द्वारा काम हो गया, मेरे निमित्तसे काम हो गया, इसमे अहंकारका पुट कम है। तो बोलचालमे और इन साधनोके फर्कमे इसके साथ बहुतसे फर्क आ जाते है। इन्द्रियका अर्थ समझानेके लिए दो साधन उपयोगमे लेना है—जैसे स्पर्शन, जिसके द्वारा छुवा जाय उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते है। जिसके द्वारा आत्मा स्पर्शका ज्ञान करे उसे स्पर्शनइन्द्रिय कहते है। ज्ञान करने वाला आत्मा मगर करण जब लगा दिया जाना सावकनम तो वहाँ परतन्त्रता आ जाती है। और इससे यह साफ जाहिर हो रहा है कि आत्मा विवश है और यह स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर पा रहा है।

स्पर्शनादिका कर्तृसाधनमें परिचय—कर्तृसाधनमे सीधी हुई बात आती है। जो स्पर्श करे सो स्पर्शनइन्द्रिय, जो छुवे सो स्पर्शनइन्द्रिय। इसमे स्वातंत्र्यकी जरूरत नही। लोकमे व्यवहार भी दोनो प्रकारका होता है, इसलिए विवक्षा दोनोकी की गई है। कब स्पर्शन इन्द्रिय काम करती है और कब इसके द्वारा यह जीव ज्ञान करता है? जब जीवको ऐसी योग्यता हो और वातावरण ऐसा हो कि वीर्यान्तिरायका तो हो क्षयोपशम और जिस इन्द्रिय द्वारा जाना जा रहा है उस इन्द्रियावरणका हो क्षयोपशम और जो कुछ भी अंग मिला है उस नामकर्मका हुआ लाभ, कही उपाग मिले है तो अगोपाङ्गका हुआ लाभ तो ये इन्द्रियाँ काम करती है। जैसे एक स्पर्शनइन्द्रिय जिसके पास है उसको ही लिया जाय एकेन्द्रिय जीव, उससे स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा जाननेका, अनुभवनेका अगर बल नही प्रकट होता तो कैसे काम बने? उसके भी वीर्यान्तिराय कर्मका क्षयोपशम है और स्पर्शन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और स्पर्शन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है तब उस इन्द्रिय द्वारा ज्ञान कर पाता है। जैसे यही देख लो मनुष्योको जैसे भोजन करनेमे आनन्द आता है तो गाय भैसको जब उन्हे भोजन दिया जाता खली भुसका तो वे भी कितना आनन्द मानते हैं? जितना आनन्द मनुष्योको मानो हलुवा पूडी पकौडी खानेमे आता है उतना आनन्द क्या पशुओको भुसमे खली या कुछ आटा या अन्न डाल देने पर नही आता है? और इन चारइन्द्रिय जीवोको भवरा, मक्खी ततैया वगैरहको उनकी कोई चीज मिल जाय, जैसे मक्खीको थूक, कफ वगैरह मिल जाय तो क्या वे मनुष्योसे कम मौज समझते है? और ये वनस्पति पेड समयपर पानी बरष जाय और कुछ खाद पा जायें तो क्या ये उतना मौज नही मानते जितना कि मनुष्य मानते? तो उनके भी मौजका अनुभव है, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है इन सबके। जो जितना ज्ञान कर पा रहा है उसको उतने अतरायका क्षयोपशम है। और उस इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है। जीव जिसके द्वारा छुवे उसे स्पर्शन कहते है, जिसके द्वारा आत्मा रसन करे, स्वाद ले, रसे उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं।

वस्तुतः सर्वत्र ज्ञानकी संवेदन—देखो निश्चयनयसे यह जीव किसी वस्तुका स्वाद ले ही नही सकता। यह तो अपनी कल्पना बना सकेगा, भाव बना सकेगा, ज्ञान कर सकेगा और अनुभव कर सकेगा। मगर रसना इन्द्रिय द्वारा फलके रसका ज्ञान करके रसना केवल एक साधन है ज्ञान कराये– यह मीठा है उस ज्ञानका मौज लिया इस जीभने। रसका मौज नही लिया क्योकि रस गधादिक पुद्गलकी चीजका आत्मामे प्रवेश नही होता। वह रसज्ञान किया उस ज्ञानका मौज ले रहा है यह जीव, पर मोही जीव ऐसा भान नही कर पाता कि मैं रस-विषयक मौजका ज्ञान ले रहा हू। वह सीधा यह समझता है कि मैं रसका मौज ले रहा हू सो वह पदार्थोंकी प्रीति करता है, उनको चबाता है और उनपर ही दृष्टि रखता है। जो तात्विकता है वह मोहीकी दृष्टिमे नही है। किसी विषयका उपभोग हो पाँचो इन्द्रियोमे से और मनमे से इन छहो विषयोमे केवलज्ञानका ही मौज लिया जा रहा है। अन्य बातका मौज यह जीव ले ही नही सकता। चाहे मोही हो, अज्ञानी हो, कैसा ही हो। वस्तुस्वरूप ही नही कि परसे कुछ मिले। वस्तुके स्वरूपमे ही यह बात नही है कि किसी परद्रव्यसे किसी परद्रव्यका गुणपर्याय इस आत्माको मिल सके। तो यह सोचना सब भ्रम है कि मैं अमुक उपभोग करता हू, अमुक विषयोको भोगता हू, मैं खली का मौज लेता हू, भोजनका मौज लेता हू, सभा सोसाइटियोमे बैठकर, लोगोकी प्रशसायें सुनकर उनमे अपना यश आख्यान सुनकर मैं उनका मौज ले रहा हू ऐसा मानता है मोही जीव, लेकिन यह किसीका मौज नही ले सकता। इन सब घटनाओमे जो यह जान रहा, समझ रहा, मौज ले रहा, मगर इस अज्ञानके साथ ले रहा कि वह यह समझ बनाता है कि मैं इन पदार्थोंका मौज ले रहा हू। कितनी दो टूक बात है, भीतरमे कोई काम कर सकते तो बनता नही, मगर उस कामको अगेज रखा है। करते बनता नही पर उसमे लगाव, मोह ये सब बना रखा है नपुसकोकी भांति। नपुसक किसे कहते है ? जिनके कामवासना पुरुष और स्त्रियोसे कई गुणी होती है मगर उपभोग कुछ कर ही नही सकते, काम कुछ कर ही नही सकते। मगर विकल्पमे सब को अगेज रखा है। तो ये ससारी जीव नपुंसक है। ये परद्रव्यका कुछ कर सकते ही नही हैं, मगर परद्रव्यको अगेज रखा है। तो पुरुष कौन है ? पुरुष वह है जो अपने आपके बलको सभालता है और अज्ञानको हटाता है। जो कर सकता है उसके करनेमे आगे बढ़ रहा है, जो स्वयं कर सकता है परकी अपेक्षा बिना कर सकता उस अन्त कार्यमे जो बढ रहा है उसका नाम है पुरुष और जो किया ही नही जा सकता उसको लपेट रहा है उसे कहते हैं नपुसक। तो यह इन्द्रियके द्वारा भी जाना जा रहा है। केवल एक अपना ज्ञान, अपनी समझ, अपना विकल्प बनाता, उसमे जो विषय हुआ उसपर दृष्टि देकर कहा जाता है कि इस मनुष्यने इस

स्पर्श, रस, गंध, वर्णके शब्दको भोगा। घ्राणेन्द्रिय जिसके द्वारा आत्मा गंध ले उसे घ्राण कहते है। चक्षुइन्द्रिय जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको देखे उसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। श्रोत्र-इन्द्रिय अथवा कर्ण कहो, कर्ण धातुसे कर्ण बना और श्रु धातुसे श्रोत्र बना, जिसके द्वारा आत्मा सुने उसे श्रोत्र कहते है। यह तो हुआ करणसाधनका अर्थ। उसके द्वारा अर्थ लगा कि परतंत्रता रहेगी और स्वतत्रताकी विवक्षामे, कर्तृसाधनके रूपमे यो अर्थ लगेगा कि आँखें देखती है, कान सुनते है, कहते भी है लोग कि मेरी आँखें खूब देख रही है। बात वही कही जा रही है व्यवहार शब्दोमे, मगर स्वतत्रता और परतत्रताका इसमे भान है। तो जिन-जिन जीवोके वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम है, इन्द्रियाकरणका क्षयोपशम है, अगोपाग नामके बल से इस इस प्रकारसे ज्ञान किया करती है ये है ५ इन्द्रियाँ।

स्पर्शन इन्द्रियका प्रथम निक्षेपणका कारण—अच्छा अब जरा इन इन्द्रियोमे क्रम देखिये—इस प्रकारसे ही क्यो क्रम किया गया? स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, तो इस क्रमके अनेक कारण है। पहला सीधा कारण तो यह है कि जीवोमें जो इन्द्रिय वालोका विभाग है—एकेन्द्रिय उनमे कौनसी हो सकती है तो उसको पहले रखा। दो इन्द्रिय उनमे कौनसी इन्द्रिय बढकर दोइन्द्रिय कहलाती? उसको बादमे रखा। तीनइन्द्रिय जीव—दो-इन्द्रियसे अधिक कौन इन्द्रिय बढ गई, जिससे कि तीनइन्द्रिय कहलाने लगा? उसे तीसरे नम्बर पर रखा। चारइन्द्रिय जीव। अब उससे बढकर चारइन्द्रिय बना, उसका नाम आगे रखा। पञ्चेन्द्रिय जीव जिस इन्द्रियके बढनेसे पञ्चेन्द्रिय बन गया उसका नाम बादमे रखा। पर दूसरा कारण भी देखिये स्पर्शनइन्द्रिय तो सर्व संसारमे पायी जाती है। चाहे मनुष्य हो, देव हो, मेढक वगैरह पशु हो या पेड पौधे पृथ्वी वगैरह हो, प्रत्येक ससारी जीवमे स्पर्शन इन्द्रिय पायी जाती है। तो सर्व शरीरव्यापी होनेके कारण स्पर्शनका ग्रहण पहले है। तीसरी बात—सारे शरीरमे व्याप रही है स्पर्शनइन्द्रिय, श्रोत्र कितनी जगहमे रहते, घ्राण कितनी जगहमे रहती, जो मुखके ऊपर नाक दिख रही है यह घ्राण नही, यह तो घ्राणेन्द्रिय का ढक्कन है जिससे कि उसमे चोट न पहुचे। उस घ्राणेन्द्रियकी रक्षाके लिए मानो यह ढक्कन बना है। इस ढक्कनमे दो छिद्र है, मानो ये दो दरवाजे लगे हैं उस घ्राणेन्द्रिय तक पहुंचनेके लिए। जब तक वह धाम न मिले तब तक भीतर घुसते जावो। वह एक धाम जहाँ से दो रास्ते शुरू होते हैं वहाँ है कोई सूक्ष्म पुद्गल जिसके छू जाने पर, जिसके द्वारा छू गया तो स्पर्शनइन्द्रिय बन गया, जिसके द्वारा यह सूँघता है, कैसे सूँघता है? छूकर नही। छूकर तो स्पर्शका ज्ञान होता है। इस परमेश्वरकी कैसी लीला हो रही है इस वक्त कि ये सब बातें एक अचरजमें बन रही है। ये इन्द्रियाँ किस ढगसे अपना काम कर रही है? कान कैसा

शब्दोको सुन लेते ? क्या छू कर ? छूनेसे तो स्पर्श आ गया । भले ही शब्द छुवा गया, मगर छूनेके कारण सुना नही गया, किन्तु वह तो निमित्तके उद्भूत है जो कोई प्रक्रियासे इसने सुन लिया । तो स्पर्शनइन्द्रिय सर्वशरीर व्यापी है । जिस आँखसे हम देखते हैं सो उस आँख पर कोई चीज लग जाय तो किसका ज्ञान हुआ ? स्पर्शका ज्ञान हुआ कि देखनेका ? स्पर्शका ज्ञान हुआ । और देखनेका ज्ञान कैसे होता ? छूनेसे तो होता नही । होता कोई एक विचित्र ढगसे । इन्द्रिय ही तो है । अपने ढंगमे जाना । तो यह स्पर्शनइन्द्रिय सर्व शरीरोंमे व्यापी है, इस कारण स्पर्शनइन्द्रियका सर्वप्रथम नाम लिया । तीन कारण हुए ।

रसना घ्राण चक्षुके क्रमका कारण—इसके बाद रसनाइन्द्रियका नाम आया । कैसे ? रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र । अब इस समय यह बात देखना कि कौनसी इन्द्रिय और कितनी जगहको घेरती है, स्पर्शनइन्द्रियने कितनी जगह घेरा ? सारा शरीर घेरा । उसके बाद कुछ कम जगह रसना इन्द्रिय घेरती, फिर भी घ्राणेन्द्रिय श्रोत्रकी अपेक्षा ज्यादा जगह घेरती है । क्रम तो यह है वास्तविक घेरनेकी अपेक्षासे उस स्पर्शनने अधिक जगह घेरा, जीभने उससे कम जगह, घ्राणने उससे भी कम जगह घेरा, और कानने उससे कम जगह घेरा और सबसे कम जगह घेरा आँखने । तो इस क्रमके हिसाबसे यह क्रम बनता है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और चक्षु । आत्माके प्रदेश क्रम-क्रम घिरते, इसके हिसाबसे यह क्रम होना चाहिए । लेकिन वे दो कारण और ज्यादा हैं । वे कौनसे कारण है कि वह जीव कम है और एकेन्द्रिय जीवमे यह, दोइन्द्रियमे यह, तीनइन्द्रियमे यह और चारइन्द्रियमे यह । अगर इस तरह बनता कि उस चारइन्द्रिय जीवमे स्पर्शन होता, रसना होती, घ्राण होती और कर्ण होते, आँखें न होती, इस तरह अगर चारइन्द्रिय जीव होता तो यह क्रम रखा जाता सूत्रमे—स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और चक्षु । तो सभी कारणो पर दृष्टि देना है, एक तो यह बात आयी ।

सर्वसे अधिक उपकारिताके कारण श्रोत्रइन्द्रियका अन्तमे निक्षेपण—दूसरी बात यह आयी कि इन इन्द्रियोमे श्रोत्रइन्द्रिय बहुत उपकारी इन्द्रिय है, यो तो लड्डू पेडाकी चाट लग जाने वाले लोग तो यह कह देंगे कि रसनाइन्द्रिय सबसे ज्यादा उपकारी है । जिसको जिस इन्द्रियका व्यसन लगा उसको वह इन्द्रिय अधिक उपकारी प्रतीत होती है, लेकिन एक कल्याणलाभकी दृष्टिसे देखा जाय तो श्रोत्रइन्द्रिय बहुत उपकारी है । जिनवाणीके शब्द सुनकर, उनका अर्थ विचारकर तत्त्वज्ञान बनता है और उस चिन्तनके आधारसे बढ बढ़कर सम्यक्त्व पैदा होता है और फिर ज्ञान चारित्र पूर्ण होकर सदाके लिए मोक्ष मिलता है । तो प्रारम्भ किसने कराया ? यह सब काम श्रोत्रइन्द्रियका है । श्रोत्रइन्द्रिय बहुत उपकारी है, इस कारण श्रोत्रइन्द्रियका अन्तमे नाम रख दिया । वर्णन बहुत होता है कि जो मुख्य होता है वह या

तो पहले नाम आता है या अन्तमे ? तो क्षेत्र घेरनेकी अपेक्षा यह क्रम दूसरा है और एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिकके हिसाबसे इन्द्रिय मार्गणाकी दृष्टिसे जीवमे जो क्रम पाया जाता है। उसके अनुसार यहाँ इन्द्रियका क्रम रखा है। अब देखिये क्रम भी एक बडी अच्छी चीज होती है। किसी बच्चेसे पूछो कि इन्द्रियाँ कितनी होती है तो वह ५ बतावेगा। कौनसी ? स्पर्शन, रसना, आँख, नाक और कान। तो इस तरहसे सुननेमे आपको बुरा लगता कि नही, क्योंकि उसने क्रम भग करके बोला, यदि वह कहे कि वाह हमने सब तो बोल दिया, कौनसी इन्द्रिय छूट गई ? तो भाई बोल तो दिया सब, पर सम्यग्ज्ञानके अंगका पालन नही किया। जैसे किसी आदमीको आप यहाँ बुलावें। वह आये तो सही पर टेढा मेढा वेढगा रूप बनाकर आये तो आपको उसका आना पसद आयेगा क्या ? पसद तो न आयगा। यदि वह कहे कि कैसे भी आये पर आये तो सही। तो भाई ठीक है, आये तो सही, पर जिस ढगसे विनय पूर्वक आना चाहिए था उस तरहसे नही आये। आना तो चाहिए था सात्त्विक वृत्तिसे, कुछ आज्ञाकारिताकी मुद्रा लेकर तो आपको भला जंचता। तो यह विधि, यह ढंग ये सब भी एक बातको बनाते है। अब उसमे कोई और कृत्रिमता करके और ढग बनावे तो वह भी बुरा हो जाता है। प्रकृति जिस ढंगको मजूर करती है वह ढग ठीक है। अब कृत्रिमतासे कुछ और ढग बढा दिया जाय तो वह भीतरी बातकी पूर्ति करने वाला नही है, किन्तु भीतरसे और बाहर ले जाता है। तो यह एक क्रम है जिस क्रमसे इन इन्द्रियोका क्रम रखा।

श्रोत्रइन्द्रियसे उपदेश श्रवण कर रसनासे वक्तृत्व होनेमें भी श्रोत्रके बहुप्रकारित्वकी सिद्धि—एक आशका यह है कि जो यह कहा कि श्रोत्रइन्द्रियका बहुत उपकार है तो यह बात तो ठीक है, पर रसनाइन्द्रिय भी तो बहुत उपकारी है। अरे इस रसनाइन्द्रियके कारण ही तो वक्तापनेकी बात बनती है, सारा वचनव्यवहार चलता है। तो इसका समाधान एक तो शकाकारने ही खुद कर दिया। रसनाइन्द्रिय भी उपकारी है—इसके मायने यह हैं कि शङ्काकारने पहले तो यह मान लिया कि श्रोत्रइन्द्रिय बहुत उपकारी है, ऐसा मानकर शंका रख रहा है कि रसनाइन्द्रिय भी बहुत उपकारी है। तो उस शङ्काकारने भी ये ही समाधान दे दिया। और फिर दूसरी बात यह है कि रसनाइन्द्रिय उपकारी बनी इस मामलेमे कि वह वक्ता है, मगर उसमे भी वक्तृत्वकी बात कब आयी ? पहले सुना, बांचकर सुना, स्वाध्याय करके भी तो मन सुना जाता है। तो श्रवणका काम पहले हुआ इसलिए बहु उपकारी तो श्रोत्रइन्द्रियको मानना चाहिए, क्योंकि श्रोत्रनली द्वारा उपदेशको सुनकर ही पुरुष आराधना द्वारा बोलनेके प्रति व्यापार करता है, इस कारण बहुउपकारी श्रोत्रइन्द्रिय है और इसी कारण श्रोत्रइन्द्रियका इन पांचो इन्द्रियोंके अन्तमे नाम रखा गया है।

द्विविध इन्द्रियवालोमें इन्द्रिय घटनाका प्रसंग होनेसे कुतर्कका अनवसर—प्रकरण यह चल रहा है कि स्पर्शन आदिक इन्द्रियका जो क्रम रखा गया है उसमे श्रोत्रइन्द्रियका जो अन्तमे निक्षेपण है, अन्तमे श्रोत्रका नाम लिया है। इसका कारण यह है कि श्रोत्रइन्द्रिय बहुत उपयोगी इन्द्रिय है। तो इस पर शङ्काकारने यह शङ्का की कि रसनाइन्द्रिय भी तो बड़ी उपकारी है। उससे व्याख्यान हो और उपदेश चले तो रसनाइन्द्रियको भी अतीव उपकारी जानकर अन्तमे रखते। उसके समाधानमे यह कहा गया था कि श्रोत्रइन्द्रियसे उपदेश श्रवण कर फिर रसनाइन्द्रियसे व्याख्यान बनाते, इस कारण प्रधान तो श्रोत्रइन्द्रिय है। अब इस विषय पर शङ्का होती है कि यह कहना तो सगत नही कि श्रोत्रइन्द्रियसे सुनकर वक्तृत्व होता है। देखो सर्वज्ञ भगवान वक्ता हैं ना, दिव्यध्वनि खिरती है, उपदेश उनका होता है, मगर वे श्रोत्र-इन्द्रियसे सुनकर नही बोलते। उनकी दिव्यध्वनि खिरती है तो यह बात कैसे घटित हुई कि श्रोत्रइन्द्रियसे सुननेके बाद फिर व्याख्यान किया जाता है। भगवानके व्याख्यान तो चल रहा, वक्तृत्व तो कहते हैं। कहते भी है मगलाचरणमे कि सर्वज्ञ भगवान मूल वक्ता हैं। तो वक्तृत्व चल रहा, मगर श्रोत्रइन्द्रियसे सुना तो नही उन्होने इस कारण यह दलील थोथी मालूम होती है। इस शङ्काका उत्तर यह है कि यह चल रहा है इन्द्रियका प्रकरण, सो इन्द्रियवान जीवोमे ही सब बात घटित करना है। इन्द्रियवान जीवोमे, इन संसारी जीवोंमे जो लोग छद्मस्थ वक्ता है, व्याख्यान करते हैं उन्होंने पहले उपदेशको सुना और सुनकर अवधारण किया, फिर व्याख्यान किया, इससे केवल इन ससारी इन्द्रियवान क्षयोपशम वाले जीवोमे ही यह बात घटानी चाहिए। यह इन्द्रियका वर्णन वहां ही है। यद्यपि भगवान अर-हतके ये इन्द्रियाँ पायी जाती है, मगर यहाँ कोरी द्रव्येन्द्रियका वर्णन नही चल रहा। जिसके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये नाना भेद बताये गए है उस इन्द्रियकी बात चल रही है। अर-हतके द्रव्येन्द्रिय तो है, पर भावेन्द्रिय तो नही है। और इसी कारण भगवान सर्वज्ञके इन्द्रिय प्राण नही माना गया। वहाँ इन्द्रिय प्राण नही, मनोबल नही। वचनबल, कायबल, श्वासो-च्छ्वास और आयु—ये चार प्राण अरहत भगवानके बताये गए हैं। तो वहाँ इन्द्रियप्राण है ही नही, मनोबल है नही, क्योकि इन सब बातोमे भावेन्द्रियकी प्रधानता है, द्रव्येन्द्रियकी प्रधानता नही है। इन्द्रिय तो मुर्दमे भी रह जाती हैं। जीव चला गया, शरीर यही पडा हुआ है तो द्रव्येन्द्रियां कहाँ जायेंगी? मगर इन्द्रियका वर्णन है, उसमे दोनोका समूह लग गया। उसमे प्रधान है भावेन्द्रिय, सो द्रव्येन्द्रियका प्रकरण होनेसे इन्द्रियवान ससारी जीवोमे ही यह बात घटायी जायगी कि जिनमे इन्द्रियकृत हित अहितका उपदेश चलता है उनमे ही यह बात बतानी है कि श्रोत्रइन्द्रियसे पहले सुनकर फिर वह वक्ता बनता है। यहाँ तक प्रकरण

यह चला कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये ५ इन्द्रियाँ है ।

इन्द्रियोमे परस्पर तथा इन्द्रियवानमें कथंचित् भेद अभेदका कथन—अब यह बात विचारनी है कि इन पाँचो इन्द्रियोमे परस्पर भेद है या अभेद ? क्या ये सब इन्द्रियाँ एक बात है या ये भिन्न-भिन्न कोई तत्त्व हैं ? उत्तर यह है कि कथंचित् एक हैं, कथचित् नाना हैं। ज्ञानावरणका क्षयोपशम पाकर होता है, यह बात इन पाँचो इद्रियमे है । तो उसकी अपेक्षासे पाँचोमे एकता है । लेकिन प्रतिनियत इनके अवयव है जुदे । आँख कहाँ, कान कहाँ, सबके अपने-अपने धाम जुदे-जुदे है और प्रतिनियत पर्यायको परखें कि यह इन्द्रिय इस प्रति-नियत अर्थको विषय बनाती है, इस कारण ये इद्रियाँ सब एक नही, किन्तु भिन्न है, नाना है । इद्रियाँ इद्रियाँ सब है और सबमे इद्रिय बुद्धि हो रही है । इस कारण पाँचो इद्रियाँ एक है, मगर काम उनके जुदे-जुदे है । वे भिन्न-भिन्न कारणरूप है, इस कारण वे जुदे है । ये भी इद्रिय है, ये भी इद्रिय है, ऐसी इद्रियकी अनुवृत्ति चली पाँचोमे इसलिए पाँचोमे अभेद है, एकपना है, किन्तु उनका विषय जुदा और वह एक दूसरेसे व्यावृत्त है, इस कारण वे एक नही है और भी समझ लो किसीके एक ही इद्रिय होती, किसीके दो, किसीके तीन, किसीके चार और किसीके पाँचो । अगर इन इद्रियोमे अभेद होता, एकपना होता तो जहाँ एक हो कोई भी इद्रिय, वहाँ शेष चारो भी आ धमकने चाहिएँ, पर जो एक इंद्रिय है उनके सिर्फ स्पर्शनइद्रिय है । जो दो इंद्रिय है उनके स्पर्शन और रसना दो है । तो इससे भी यह समझा जाता है कि ये इद्रियाँ परस्परमे भिन्न है । अगर इन सबको एक माना जाय, सब इद्रियाँ एक है तो व्यवस्था नही बनती । यदि इद्रियोमे सर्वथा अभेद है तो बताओ फिर जीवो मे भेद कैसे पड गया ? कोई लट है, कोई चोटी है, कोई भवरा है, कोई मनुष्य है, कोई कान वाला है, कोई कानरहित है, यह भेद कैसे पड गया ? इससे मालूम होता है कि वे इन्द्रियाँ परस्पर भिन्न-भिन्न है और अगर ये अत्यत भिन्न-भिन्न ही हो, स्पर्शनसे रसना अत्यत जुदी, रसनासे घ्राण अत्यत जुदी, एक दूसरेसे अत्यत जुदे है तो फिर या इन्द्रियवानसे भी अत्यत जुदे है तो अत्यत जुदे पदार्थका सम्बंध तो कुछ नही बनता । फिर क्या वजह है कि यह जीव इस इन्द्रियके माध्यमसे जाने, क्योकि अत्यत जुदा है । भीतके माध्यमसे क्यो न जान ले ? जैसे वह जुदा वैसे ही इसको मान लिया, सो ये कथचित् परस्पर भिन्न है, कथचित् अभिन्न हैं और ज्ञायक आत्मासे ये निराले है, पर इसमे ही इन सबका आवास चलता है, इसलिए एक हैं । यो इन्द्रियाँ परस्परमे कथचित् एक और अनेक घटायें और इन्द्रियवानसे भी कथचित् एकपना और पृथक्पना समझना ।

ज्ञानका वास्तविक विषय—इन्द्रियाँ ५ होती है, जिनका नाम है स्पर्शन, रसना,

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । यद्यपि इन इन्द्रियोंसे जो भी पदार्थ जाना जाता है, सो वहाँ जाननेमें आया पदार्थ और ज्ञान, सो एक परिणमन है इस ज्ञाता जीवका तथापि निश्चयसे जाननेमे यह खुद ही आया, खुद ही खुदके उस प्रकाशरूप, उस विकल्परूप, उस ज्ञेयाकार रूप निज आत्माको यह ज्ञान जानता है, फिर भी व्यवहारदृष्टिसे तो कहना ही पडेगा कि जाना गया, लेकिन समझें किस तरह ? अगर हम यह हो कहे कि ज्ञेयाकार परिणामको ही किसीने जाना तो इसमे लोग समझेंगे क्या ? तो जितना निमित्त पाकर, विषय पाकर यह ज्ञान विकल्प बनाता उसका नाम लेकर कहना होगा—इस जीवने घट जाना, पट जाना, पुद्गल जाना आदिक अथवा पुद्गलका रूप, रस, गध, स्पर्श जाना तो ये अगर अत्यन्त अभिन्न हो जायें जीव और इन्द्रिय परस्पर तब तो एक कुछ रहा । ज्ञान ज्ञेय कैसे माने जायेंगे और यह संसार की विविधता कैसे बनेगी ? इस कारण इन्द्रिय इन्द्रियवानसे कथञ्चित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है । इन्द्रियके वर्णनके बाद अब यह बतलाते है कि इन इन्द्रियोके विषय क्या हैं ?

स्पर्शरसगधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

इन्द्रियोके विषयभूत अर्थ—उन इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द हैं । स्पर्श क्या ? जो पुद्गल द्रव्यमे स्पर्श गुण पाया जाता है तो उस स्पर्शगुणकी जो पर्याय है वह स्पर्श है, रस गुणकी पर्याय रस है, गंध गुणकी पर्याय गध है, वर्ण गुणकी पर्याय कृष्णादिक वर्ण है और भाषावर्गणाके परमाणुओका जो सयोग वियोगकी हालतमे एक शब्द की अभिव्यक्ति है वे शब्द हैं । ये इन इन्द्रियोके विषय हैं । स्पर्शनइन्द्रियका विषय स्पर्श, रसनाइन्द्रियका रस, घ्राणेन्द्रियका विषय गध, चक्षुइन्द्रियका विषय वर्ण याने रूप और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द है । अच्छा शब्दके माध्यमसे अर्थ जैसे निकलता ? तो स्पृश् धातुसे स्पर्श, रस धातुसे रस, घ्रा धातुसे घ्राण (गध) और रूप् धातुसे रूप, वर्ण् धातुसे वर्ण और शप् धातुसे शब्द बनता है । इसका अर्थ समझना हो तो दो विधियोसे समझा जायगा । कर्म-साधनमे और भावसाधनमे जुदी जुदी इन्द्रियके अर्थ कर रहे है । कर्मसाधनमे इन्द्रिय द्वारा जो जाना जाता है उसके नाम चल रहे है, इसलिए उसमे कर्तृसाधनकी बात न चलेगी । कर्म और भाव—कर्मसाधनमे तो यह विग्रह बनेगा—स्पृश्यते इति स्पर्शः, जो छुवा जाय उसे स्पर्श कहते है । अब क्या छुवा जाता ? पदार्थ छुवा जाता है, द्रव्य छुवा जाता है कि खाली स्पर्श छुवा जाता है ? उस चोजको मत छुवो और वह चीज चिकनी है या रूखी है ? अगर रूखी है तो तुम रूखापन ही छुवो, चीजको हाथ न लगाओ । तो छू लोगे क्या ? यह द्रव्यसे जुदा नही है कुछ और । जाननेमे द्रव्य ही आता है, पर्याय जाननेमे नही आता, गुण जाननेमे नही आता, किन्तु पर्यायमुखेन जब वह वस्तु जानी जाती है तब कहा जाता है कि हमने पर्याय

जाना । गुणमुखेन तो वस्तु जानी जाती है, तो कहा जाता है कि हमने स्पर्श आदिक जाना । तो जाननेमे वह आयगा जो सत् है । असत् ज्ञेय नही होना ।

ज्ञानमें सत्‌की ही ज्ञेयता—सब द्रव्योमे ६ साधारण गुण है, सो और बात तो सब समझमे आ जाती है कि अस्तित्व गुण है, जिस गुणके प्रसादसे वस्तुमे सत्ता हो । वस्तुत्व गुण है, जिसके प्रसादसे वस्तु अपनी अपेक्षासे स्वरूपसे हो, पररूपसे न हो । सब ध्यानमे आ रहा ना ? ठीक कहा जा रहा है । पदार्थ ऐसा ही होता है । द्रव्यत्व गुण, जिस गुणके प्रसाद से पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे यह भी बात समझमे आ रही, ठीक है, पदार्थ परिणमता रहता है । अगुरुलघुत्व गुण, जिस गुणके प्रसादसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप न परिणमे । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही परिणमन करते रहे, यह भी बात ध्यानमें ठीक आती है कि स्वरूप ही ऐसा है । प्रदेशवत्व गुण, जिसके प्रसादसे वस्तुका कोई न कोई आकार रहे वह प्रदेशवत्व गुण है । उसका आकार बहुप्रदेशी है, उसका आकार रहता ही है, मगर प्रमेयत्व गुण क्या चीज है ? अर्थ तो बताया गया कि जिस गुणके प्रसादसे पदार्थ ज्ञेय बने, जाननेमें आये तो यह भी कोई गुण वस्तुमे भरा हुआ है क्या कि पदार्थ जाननेमें आ जाय ? बस इस समस्याका समाधान है कि जो है सो ज्ञानमे आयगा, जो नहो है सो ज्ञानमे न आयगा । अच्छा ऐसी चीज तो बताओ कि जो नही है और ज्ञानमे आये ? अगर कुछ बता दोगे तो असत् कहाँ रहा ? वह तो "है" हो गया । जो नही है वह प्रमेय नही होता, ज्ञानमे नही आता । यह इस तरह जानें कि जो जो है सो ज्ञानमे आता है, जो है नही उसका नाम भी कौन ले लेगा ? कोई नाम नही होता । 'असत्' यह शब्द कहकर हम उसका भाव बनाते है । अगर शब्द हो, नाम हो तो उसका वाच्य अर्थ भी जरूर होना चाहिए । जितने शब्द है उतने वाच्यभूत पदार्थ है । और जो है नही उसका शब्द कहाँसे आ जायगा ? शब्द तो सत् पदार्थ की पहिचानके लिए होते है । जो सत् है सो ही प्रमेय है । वही ज्ञानमे आता है । अब देखते जाना ये सब बाते । ज्ञानमे क्या आयगा ? सत् आयगा, असत् न आयगा ।

गुण व पर्यायमें सत्त्वके लक्षणकी अघटना तथा द्रव्यमे सत्त्वके लक्षणकी घटना—सत् किसे कहते हैं ? जो गुणपर्यायवान हो । जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य चले उसे सत् कहते हैं । यदि कोई चीज है तो वहा गुणपर्याय अवश्य है । उत्पाद व्यय ध्रौव्य जरूर है । अब यह परखो कि जो पुद्गलमें स्पर्शगुण, रस, गंध, शब्द और वर्ण गुण हैं वे सत् हैं क्या ? याने उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाले है क्या ? नही । वे तो उत्पन्न होते हैं, विलीन हो जावेंगे, ध्रौव्यकी कोई बात नही । उसका वह गुण पर्यायवान है क्या ? कौन गुण ? गुणमे गुण होते ही नही । गुणवान कैसे हो जायगा ? यह ही पर्याय पर्यायमें है तो गुण और पर्याय ये कोई चीज नही

हैं। गुणके रूपमे वस्तुको जानना, पर्यायके रूपमे वस्तुको जानना—बस यह चीज चलती है। तो पुद्गलमे ये चार गुण है, उनकी ये पर्याय हैं और एक शब्द पर्याय है, ये सब स्पर्श आदिक इन्द्रिय विषयभूत होते है।

इन्द्रियोका दो रीतिसे अर्थ—इन इन्द्रियोका अर्थ जानेंगे आप दो विधियोंसे—कर्मसाधन और भावसाधन। कर्मसाधनसे तो यह अर्थ चलेगा कि जो छुवा जाय सो स्पर्श। देखो छुवा जाता द्रव्य, मगर स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा उस द्रव्यमे मात्र स्पर्शका बोध हो पाता है। जो रसा जाय सो रस। जो सूघा जाय सो गंध, जो देखा जाय सो वर्ण रूप और जो सुना जाय सो शब्द। यह है कर्मसाधनकी बात। भावसाधनमे किस तरह अर्थ लगेगा? छूना सो स्पर्श, रसना सो रस, सूंघना सो गंध, देखना सो वर्ण। यह भाव रूपके साथ विमुखता लेकर हो रहा है। इस प्रकार ये स्पर्श आदिक उन इन्द्रियोंके विषयभूत हैं, ऐसी बात सुनकर यह चर्चा उठ सकती है चित्तमें कि परमाणु जो न छुवा जाता है, न रसा जाता है, न सूंघा जाता है, न देखा जाता है, न उसके कोई शब्द होते है तो फिर उसमे स्पर्शन आदिक रहे नही क्या? समाधान यह है कि मूल तो वह ही है। स्थूल बननेपर भी जो स्पर्शादिक ज्ञानमे आते हैं सो कही अलग आज हो नही गए। वह पहिलेसे ही था। हम उन्हे न जान सकें, पर उनके मिलाप रूप जो स्कध है उनमे प्रकट हो गए। तो यहाँ की प्रकटतासे अनुमान होगा कि परमाणुमे भी रूप, रस, गध, स्पर्श हैं। क्या बात कही गई इस सूत्रमे कि स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द इन्द्रियके विषय है। यहां शङ्का हो सकती है कि ये इन्द्रियके विषय तो नही मालूम होते, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वतंत्र होकर इन विषयोको जाननेमे समर्थ नही हैं। जाननहार तो जीव है, फिर ये इन्द्रियके विषय कैसे बन जायेंगे? तो उसका समाधान यह है कि जब इसमे एक व्यवस्था देखी जा रही, जिसको कहते हैं प्रतिनियत इद्रिय द्वारा होना। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श ही ज्ञानमे आया, रसनाइन्द्रिय द्वारा रस ही ज्ञानमे आया तो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियोने इनका जन्म दिया है, इस कारण ये सब विषय इस इन्द्रियके कहलाते हैं। ये हुए ५ विषय। देखिये जीव जुदा, पुद्गल जुदा और पुद्गलमे ही है ये ५ बातें—स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द। इनको विषय करने वाली ये इन्द्रियाँ मूर्तिक हैं, भौतिक हैं, पौद्गलिक हैं। इनके माध्यमसे जो जाना गया वह पुद्गल तक सम्बधित है। जान लिया गया, ये हुए ५ विषय इन इन्द्रियोंके। अब इनमें जो यह क्रम रखा उसका क्या कारण है? उसका सीधा कारण यह है कि जैसा इन्द्रियका क्रम है वैसा ही इन्द्रियके विषयभूत पदार्थका क्रम है।

पृथ्वी जल अग्नि वायुमें सबमें रूप रस गंध स्पर्श चारों न होकर चार तीन दो एक ही रहनेकी आरेका—यहाँ बाधा डाली जा सकती है कि पुद्गलमे कहने कि ये चारो चीजें

पायी जाती सो बात सही नही जंचती । देखो चारो बातें पृथ्वीमें पायी जाती है—रूप, रस, गंध, स्पर्श । जो पृथ्वी है, ढेला है, पिण्ड है, पत्थर आदिक है, घन है उनमे तो स्पर्श भी है, रस भी है, गध भी है और रूप भी है, मगर जलमे तो गंध नही है, रूप है, रस है और स्पर्श है । जलमे गंध नही होती । जो दार्शनिक नही मानते गध जलमे तो उनसे कोई प्रश्न करे कि जब हम कही भी पानीको सूघते है तो कोई पानी दुर्गन्धरहित मालूम होता और किसी पानीमे दुर्गन्ध भी तो मालूम देती है ? तो यह कैसे कहा जाय कि पानीमे गध नही है ? तो उनका उत्तर है कि पानीमे केवल तीन ही चीजें हैं—रूप, रस, स्पर्श और जो गंध आती है पानीमे तो पानीमे पृथ्वी मिली है, धूल मिली है, कीचड मिला है उससे दुर्गन्ध है । वह तो सब पृथ्वी है । तो पृथ्वीकी गध आती है, पानीकी गध नही आती । यह सब शङ्काकार कह रहा, क्योकि समझमे कुछ ऐसा ही जल्दीमे जच रहा कि शङ्काकारका इसमे क्या कसूर है ? ठीक ही तो कह रहा, पानीमे कहाँ गध है ? पानीमे जो धूल वगैरा पडी है उसकी गध है । तो शङ्काकारके सिद्धान्तसे जल केवल रूप, रस, स्पर्श वाला है । अच्छा देखो अग्निमें केवल दो ही चीजें पायी जाती रूप और स्पर्श । शङ्काकारके सिद्धान्तकी बात कह रहे है । बताओ किसीने अग्नि खाया है क्या ? न खट्टी है, न मीठी है, अग्निमे कहाँ रस धरा ? अच्छा कभी अग्निमे गंध आयी है क्या ? कोई कहे कि हां जब लोभान, गधक वगैरह चीजें अग्निमे डालते हैं तो अग्निसे गंध आती है तो भाई वह अग्निकी गंध कहाँ रही ? वह तो पृथ्वीकी गध है । ये लोभान, गधक वगैरह तो पृथ्वीकी चीजे है ? शङ्काकार कहता जा रहा है कि बताओ हवामे सिवाय स्पर्शके और कुछ भी है क्या ? किसीको हवा खट्टी, मीठी, चरपरी आदि लगी क्या ? किसीने हवाको आँखो देखा क्या ? हवामे केवल स्पर्श ही स्पर्श है । स्पर्शसे जाना गया । आज बड़ी तेज हवा है, तो फिर यह कहना कि पुद्गलमे ये चारो गुण होते है, यह बात सही तो न रही ।

रूप, रस, गंध, स्पर्शमें अविनाभाव होनेसे जहां एक भी पाया जावे वहां चारोंके रहनेका नियम बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमे कहते है कि तुम्हें मालूम पडे या न मालूम पडे, तुम्हे एक ही मालूम पड़ जाये तो यह निश्चय जानो कि वहां चारो ही है । चारो अविनाभाव होकर रह रहे हैं । फुटकर न मिलेंगे, और उसका प्रमाण ? अच्छा प्रमाण सुनना है तो सुनो । गेहू, जौ, चना ये सब पृथ्वी है या वायु है, सो बताओ ? शकाकारको समाधान कराया जा रहा, और शकाकार जो मानता उसको ही तो कहना पड़ेगा—गेहू, जौ, चना ये सब पृथ्वी कहलाते हैं, वहाँ वनस्पति कोई नाम नही । वनस्पति भी पृथ्वी कहलाती है । पिण्ड है ना, तो जौ पृथ्वी है । और खूब जौ खा ले कोई

तो देखिये—कितनी वायु सरती है, कितनी हवा बन जाती है ? तो अगर जौ मे हवा न होती तो यह कहांसे आ गई ? जहाँ एक चीज हो वहाँ चारो समझनी चाहिएँ। अच्छा और भी कुछ दृष्टान्त मिलेंगे। जैसे कपूर, पीपरमेन्ट, अजवायनका फूल, ये बताओ ये पृथ्वी हैं कि पानी ? पिण्ड है। जो पिण्ड है सो पृथ्वी और इन तीनोको इकट्ठा कर दो तो जल बन जाय। न होता जलपना तो कैसे जल बन गया है ? और और चीजें भी देख लो, जहाँ एक चीज पायी जाय वहाँ चारो ही होती हैं। हमारी समझमे आये अथवा न आये, आगे पीछे समझमे आयगा। आगे पीछे पदार्थमे व्यक्त होगा। तो ये चारो चीजें एक साथ रहती हैं सब जगह। इस तरह ये ५ स्पर्शन आदिक इन्द्रियके विषय बताये जा रहे हैं।

इन्द्रियज ज्ञानका विषय पर्यायमुखेन पदार्थ—इन्द्रियके विषय क्या हैं ? इन्द्रियके द्वारा कौनसे पदार्थ जाने जाते हैं, यह प्रकरण चल रहा है। स्पर्शनइन्द्रियका विषय है स्पर्श, रूखा, चिकना, ठडा, गर्म, हल्का, भारी, कडा, नर्म। इन ८ प्रकारकी पर्यायो रूप स्पर्श स्पर्शन इन्द्रियसे जाना जाता है अथवा यह ८ प्रकारका स्पर्श नही जाना जाता, किन्तु इन स्पर्शों की पर्यायें जिसमे बीतती हैं, ऐसे पदार्थको जाना जाता है। रसनाइन्द्रियसे क्या जाना जाता ? खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा, कषैला—ये ५ प्रकारके रस जाने जाते हैं, रस नही जाने जाते, किन्तु रसवान पदार्थ जाने जाते हैं। घ्राणइन्द्रियके द्वारा क्या जाना जाता ? सुगध और दुर्गन्ध। सुगध और दुर्गन्ध नही जाने जाते, किन्तु सुगध दुर्गन्ध वाले पदार्थ जाने जाते है। इसी प्रकार चक्षुइन्द्रियके द्वारा काला, नीला, पीला, लाल, सफेद आदि ये पर्यायें जानी जाती है अथवा ये ५ नही जानी जाती, किन्तु इन ५ पर्यायो वाला पदार्थ जाना जाता है। कर्णेन्द्रियके द्वारा शब्द जाने जाते हैं। शब्द एक पर्याय है। वहाँ भी यह बात समझें कि मात्र शब्द नही जाने जाते, किन्तु शब्द पर्याय वाला पदार्थ जाना जाता है। इस प्रकार ५ इन्द्रियके विषय ये स्पर्शादिक है।

रूप, रस, गंध, स्पर्शमें परस्पर तथा वस्तु व इन गुणोमें अभेद होनेपर भी कथंचित् भिन्नताका व्यवहार—अब इन स्पर्शादिकमे यह बात जाननी है कि पदार्थमे ये अलग-अलग बातें हैं या इनमें एकत्व है। ये सब एक ही चीज हैं। जैसे आपमे रूप, रस, गध, स्पर्श ये न्यारे-न्यारे हैं या इन सबका एक पिण्ड है, इस बातकी चर्चा की जा रही है। विचार करो। अगर यह कहा जाय कि रूप, रस, गंध, स्पर्श सब एक हैं और रूपादिक वाले पदार्थ भी इन रूपादिकसे एक हैं, यदि ऐसा सर्वथा एक माना जाय तो अगर किसी पदार्थका रूप जाना तो चारो क्यो नही ज्ञानमे आते ? जब चारोको एक एक मान लिया कि ये चारो भिन्न-भिन्न नही है तो एकका ग्रहण होनेपर चारोका ग्रहण होना चाहिए। अगर रसनाइन्द्रियसे रस चखा

तो रसके साथ स्पर्शादिकका भी तुरन्त ज्ञान होना चाहिए, क्योकि एक है, और इसी प्रकारसे रूपादिक बातें और जिसमे रूपादिक पाये जाते वे पदार्थ यदि ये दोनो सर्वथा एक है तो या तो रूपादिक रहेगे या पदार्थ रहेगा। फिर ये दो बातें कहाँसे आ गईं ? इसलिए सर्वथा एकत्व तो कहा नही जा सकता और सर्वथा भिन्नता भी नही कही जा सकती। अगर रूप, रस, गध, स्पर्श बिल्कुल न्यारे-न्यारे है तो रसका अगर ग्रहण है तो स्पर्शादिक बिल्कुल ये अलग रहे, उस पदार्थमे क्यो रहा करते है ? अगर ये अत्यत भिन्न है तो ये स्वयं पदार्थ बन बैठेंगे। और ऐसा निरशवादियोने माना है और जैनसिद्धान्तमे या वस्तुमे ऐसा नही है। निरंशवादी तो यह कहते है कि रूपक्षण अलग पदार्थ है, रसक्षण अलग पदार्थ है, गंधक्षण अलग पदार्थ है और स्पर्शक्षण अलग पदार्थ है, ये सब अत्यंत भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। तो ऐसे अगर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तो पदार्थका स्वरूप यह है कि उसमे गुण और पर्याय होती है तो क्या रूपमे भी गुण और पर्याय भरी हुई है ? क्या रस आदिकमे भी है ? सो तो नही है। इससे ये सब अलग-अलग चीजें नही है। कथञ्चित् इनमे अलग-अलगपना है और कथचित् एकपना है। अलग-अलगपना तो इस तरह जाहिर होता कि अलग-अलग इन्द्रियोसे उनका परिचय होता है। आँख केवल रूपका ही परिचय कर सकती है। जीभ केवल रसका ही परिचय करती है। तो प्रतिनियत जुदे-जुदे इन्द्रियके द्वारा ज्ञान होता है, इस कारण वे जुदे-जुदे है और सर्वथा जुदे नही है। अगर सर्वथा जुदे हो तो यदि आमके रसकी जरूरत है तो उसमेसे केवल रस ले लो और सब चीजें अलग बनी रहे, ऐसा तो नही है। इस कारण ये परस्पर कथंचित् भिन्न है, कथचित् अभिन्न है, सर्वथा न भिन्नता है, न अभिन्नता है।

इन्द्रियविषयोके परिचयसे प्राप्तव्य शिक्षा—यहाँ चर्चा चल रही है उनकी जिनको हमारी इन्द्रियाँ जानती है। जो इन्द्रियका विषय है वह है क्या चीज ? साथ ही यह भी जानते जाना कि इन्द्रियके द्वारा जो ज्ञात हुआ है वह सब विनश्वर चीज है। ये इन्द्रियाँ आत्माको नही जानती। जानती है आत्मासे भिन्न पदार्थको, क्योकि इनको आदत खुदको ता समझनेकी नही है। तो आत्माको समझनेकी बात तो दूर रहो। आँखें खुद अपनी आँखे नही देख पाती। तो आत्माको जानें यह तो बहुत दूरकी बात है। तो इन इन्द्रियोका विषय ये सब बाह्य पदार्थ है, भिन्न है, असार है, इसलिए हमे इन्द्रियोके विषयोंमे प्रीति नही बसानी चाहिए। पूर्व सस्कारवश इन्द्रियके विषयोमे प्रीति बनती है तो उसे खेदके साथ भोगना चाहिए, न कि आसक्तिसहित भोगना चाहिए। तो ये स्पर्शादिक इन पदार्थोंमे, पुद्गलमे पाये जाते है, इसलिए इन्द्रियका विषय मात्र पुद्गल है। अमूर्त पदार्थ इन्द्रियका विषय नही। पुद्गल सभी मूर्त हैं, रूप, रस, गध, स्पर्श वाले हैं।

समस्त पुद्गलोंमे रूप, रस, गंध, स्पर्शकी अनिवार्यता—कुछ दार्शनिकोने माना है

ऐसा कि वायुमे केवल स्पर्श पाया जाता, स्पर्शके अतिरिक्त और कुछ नही पाया जाता। लेकिन अनुमानसे, युक्तिसे सिद्ध है कि वायु, रूप, रस, गधवान है, क्योकि स्पर्श वाला होनेसे। जैसे– यहाँके घट-पट आदिक पदार्थ, ये भी पौद्गलिक है, वायु भी पौद्गलिक है। अगर कहो कि नही, वायुमे इसका पता नही पडता कि इसमे रस है, गध है। तो बताओ परमाणुमे पता पड जाता क्या कि इसमे रूप, रस, गध, स्पर्श है ?

तो उत्तर यह मिलेगा कि उन परमाणुओमे पता नही पडता, मगर है जरूर। तो पता न पडे इससे एकान्तका निर्णय तो नही बन गया कि वहाँ वे तत्त्व हैं नही। जब परमाणुओका कार्य है वायु वगैरा तो जो उसमे पाये जा रहे है, कार्य बननेपर वे गुण सब रहेगे। वायु भी रूप, रम, गध, स्पर्श वाली है स्पर्शवान होनेसे, इसी तरह सभीमे लगा लो– जल है वह भी गधवान है। रूप, रस, स्पर्श तो मानते ही हैं दार्शनिक, गध नही मानते, लेकिन रूप, रसवान होनेसे जल भी गधवान है और जलमे गंध, स्पर्श भी होते है। बिल्कुल साफ जल है, पर उसे सूंघो तो कुछ तो बात आती है। कोई कहे कि वह तो पृथ्वीके सम्बध से गध आयी तो हम पृथ्वीमे भी यह कह बैठेंगे, पृथ्वीमे रस नही होता। वह जलके सम्बन्ध से रस है। कुछ भी कह सकते हैं इस कारणसे सब अव्यवस्था बनेगी। तो यह मानना चाहिए कि जो भौतिक है, जो पौद्गलिक है उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श चारो पाये जाते हैं, इन चारोका अविनाभाव है। इनमे एक न हो तो तीनो नही हैं, एक भी है तो चारो समझिये। ऐसे ये पुद्गल द्रव्य जो इन्द्रियके विषयभूत है वे सब रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है। द्रव्योकी जो सख्या बना दी है कुछ दार्शनिकोंने उनमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पृथक् पृथक् द्रव्य माना और धर्म अधर्मको उन्हे खबर ही नही कि ये भी कोई द्रव्य हैं। तो द्रव्यकी सीमा यह है कि जो कभी भी त्रिकालमे भी एक दूसरे रूप न हो सकें उतने द्रव्य होते हैं। जाति अपेक्षा उतने द्रव्य होगे जो एक तीनो कालमे भी कभी दूसरे रूप न बनेगा। जैसे जीव है तो वह कभी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप नही बनता। पुद्गल है वह भी अन्य ५ रूप नही बनता। कोई भी एक जातिका द्रव्य है वह अन्य ५ रूप त्रिकाल भी अनन्त काल तक न बन सकेगा। बस इस प्रकारसे इस द्रव्यकी जातिकी संख्या जानी जाती है। मगर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमे तो एक दूसरे रूप तुरन्त भी बन सकता है। जैसे पृथ्वी है, लोहा है चाँदी है, सोना है—ये कभी द्रवरूप बन जायेंगे। जलका लक्षण द्रवपना बताया गया है। जो बहे सो जल। इस पृथ्वीका जलरूप बन गया, जलका पृथ्वीरूप बन गया। पृथ्वी कहते है घनको और जल व कहते हैं द्रवको। पानीका बर्फ बन जाता, वह इतनी कडी हो जाती कि किसीको मार दी जाय तो चोट पहुचा दे। चन्द्रकान्तसे जल झड़ने लगता।

तो पृथ्वी जल बन जाय, जल पृथ्वी बन जाय, जब यह अदल-बदल चलती है तो फिर ये कैसे अलग कहे जायें ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके स्कंध एक दूसरे रूप हो सकते है, इस कारण ये स्वतंत्र स्वतंत्र द्रव्य नही है। द्रव्य जाति तो एक है, भले ही सभी दार्शनिक जो अपनी-अपनी बात मानते है, उनको अपनी ही बात बडी सुहावनी या निर्दोष लगती है, मगर जब निर्णयके मैदानमे आते, दार्शनिकोके क्षेत्रमे आते और वहाँ चर्चा होती तब यह विदित होता है कि हमारे कथनमे कितनी कमी है ?

तत्त्वस्वरूपका परिचय न होनेसे बिडम्बना—बस जब तत्त्वस्वरूपकी बात नही देखी, समझी गई तो वस्तुस्वरूपके मामलेमे भी गडबडी रही और भक्ति आचरणके मार्गमे भी गडबडी रही। जैसे जिस-जिस चीजसे लोगोको कुछ फायदा मिला उस-उसको देव माना जाने लगा। यह एक साधारण लौकिक जनोकी देव माननेकी कुञ्जी है। बडका पेड बडी छाया देता और उसकी ठंडी छाया होती, उसका बडा उपकार है। पहले जमानेमे जंगलका निवास अधिक था, झौपडी कम थी तो बडका वृक्ष उस समय बडा उपकारी समझा जाता था। तो जो उपकारी हो उसको तो महत्त्व देना चाहिए। लो बडका पेड देव बन गया। पीपलकी हवा अनेक रोगोको दूर करती है, नीम और पीपल इनकी हवा बहुतसे रोगोंको दूर करती है, इस कारण उन्हे भी देव मानने लगे। तो जो जो बात अपने को एक लाभकारीसी जची बस उसे देव माना जाने लगा। गाय एक पशु है। रक्षा करो पशुओंकी—बात ठीक कही मगर उसमे एक ऐसी दुविधा लाना कि गाय तो देवताका रूप है, उसकी रक्षा करना चाहिए और बाकी पशु वे देव नही है, उन्हे जो चाहे करें, उनपर कोई ख्याल नही लाते। तो भला बतलावो पशु है तो एक बेचारा प्राणी ही तो है। मल, मूत्र, हड्डी आदिक सब अपवित्र चीजो का ही तो यह देह है, उसमे देव माननेकी क्या बात, पर गाय बहुत उपकारी जानवर है, उससे सबको बहुत लाभ मिलता है, वह दूध देती है, सबको पुष्ट बनाती है। दूध एक ऐसी चीज है कि जिससे मनुष्योकी रक्षा है। तो जो दूध दे वह तो माताकी तरह मान लिया। माताका भी दूध पीकर बच्चा बडा बनता है, पुष्ट बनता है, तो माँ की तरह गायसे भी हमारा पालन पोषण होता है इसलिए गौ माता कहा गया। पर पता नही भैंसको क्यों छोड दिया ? भैंसको तो बडी मौसी कहा जाना चाहिए। भैस तो गायसे भी अधिक दूध देने वाली होती है। सम्भव है कि उस समय हमारे देशमे भैंसें न पायी जाती हो। बादमे किसी बाहर देशोसे आयी हो।

तो जो-जो चीजें लोगोंको ज्यादा लाभकारी जची वे देव मानी जाने लगी। सूर्य और चन्द्र देव माने जाते है, क्योकि सूर्यका उतना उपकार है कि मानो सूर्य ५-७ दिन न निकले,

खूब बादल हो जायें और पानी भी खूब बरस रहा हो तो कहो उस समय कितनी ही बीमारियाँ फैल जायें, कितने ही लोगोकी मृत्यु हो जाती है, और उस सूर्यके प्रकाश बिना फसल नही पैदा हो सकती । अगर कोई कहे कि फसल तो बिजलीकी गर्मीसे पैदा हो जायगी तो अभी तक तो कोई ऐसा उदाहरण सुननेमे नही आया । सूर्यके प्रकाश बिना प्राणी जीवित नही रह सकते, खेती नही हो सकती, इसलिए सूर्य उपकारी मालूम पडा, इससे यह देव माना जाने लगा । यद्यपि सूर्यमे रहने वाला देव देव है, देवगतिका जीव है । वह भी कोई पूज्य नही है । भले ही वह ज्योतिषियोका प्रतीन्द्र है, मगर पूज्य नही है । पूज्य तो रत्नत्रयधारी आत्मा होता है । चन्द्रको भी देव माता जाता है, क्योकि उसमे शीतलता विशेष है । देखा होगा कि गर्मीके दिनोंमें शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षकी रातोमे कितना अन्तर रहता है ? शुक्लपक्षकी रातो में कुछ शीतलता विशेष रहती है । इससे चंद्र भी बडा उपकारी होनेसे देव माना जाने लगा । एक ही बात क्या, अनेक बातें ऐसी है, मगर ये सब पौद्गलिक बातें हैं । उनसे जीवका क्या उपकार है ? उपकार तो जीवका एक अपने आपके अतस्तत्त्वके ध्यानसे है । ये तो सब लौकिक बातें है । तो ये सब होती हैं । कितनी ही चीजें ऐसी होती कि जिनसे उपकार तो बहुत होता है, मगर खराब हैं, घृणाके योग्य हैं, इसलिए लोगोंने उनका कोई आदर नही किया । जैसे चूल्हा, चक्की ये भी तो बडी उपकारी चीजें हैं । बहुतसे लोग तो इन्हे भी पूजते हैं । और क्यो जी क्या संडास कम उपकारी चीज है ? उसके बिना भी तो काम नही चलता, मगर उसको तो किसीने नही पूजा । तो ये सब दुनियामे जब-जब जो-जो नेता कहलाये, इस प्रजाके और उन नेताओकी जैसी बुद्धि गई, जैसा मार्गदर्शन किया उस तरहसे ये लोग चलने लगे । ये सब पौद्गलिक हैं, कोई पूज्य नही है, लेकिन मोही जनोने इन्हे उपकारी जानकर इन्हे पूज डाला, क्योकि मोहियोको पुद्गलसे ज्यादा नाता रहता है । इनमे ऐसी द्रव्यताकी बुद्धि बनी है । ये सभी पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्शवान हैं, पुद्गल हैं और इन चारो गुणोकी प्रतिसमय उनमे पर्यायें होती रहती है । चाहे उसका ज्ञान हो अथवा न हो । इस प्रकार इस सूत्रमे इन्द्रियका वर्णन किया ।

मनका उपकार व विषय जाननेकी जिज्ञासा—अब तक यह एक जिज्ञासा बनती है कि इन्द्रियकी गोष्ठीसे इस मनका बहिष्कार कर दिया गया है । यह मन इन्द्रियमे शामिल नही है । यद्यपि देखो इन्द्रियसे भी ज्यादा काम मन कर रहा है और द्रव्य मनका आलम्बन लेकर बहुत बडे-बडे भोग उपभोगकी बातें की जाती हैं, लेकिन यह मन बाहर है नही, लोगो को दिखता है नही, इस कारण इस मनको अन्तःकरण कहकर टाल दिया और इन्द्रियमे इसको शामिल नही किया । अच्छा, नही किया, पर यह तो बतलावो कि मनको ईषत् इन्द्रिय

तो माना है। मनका भी कोई विषय है, कार्य है कि नही ? कोई कहता है कि हाँ हाँ मनका भी कार्य है। मनका यह कार्य है कि इन्द्रियके काममें सहयोग देना। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोको भोगती है और मन उनमे सहकारी होता है। जैसे कि हम आप लोगोंको अच्छी तरह पता है कि हम देखते तो है, रूप भी ज्ञानमे आता है, पर इस मनके सहयोगकी वजहसे बडा स्पष्ट समझमे आता है। मन न हो और केवल आँखसे रूप देखते है तो वह कैसा देरमें समझमे आता है ? आया तो है समझमे, मगर भंवरा ततैयेको मामूली ढगसे समझमे आता, उनमे कुछ दृढता नही। उनमे हम सज्ञियो जैसी स्पष्टता नही। इस तरहसे चलना होगा तो मन इन्द्रियके विषयका परिचय करानेमे सहकारी होता है, ऐसा एक उत्तर आया। किन्तु इसके बाद यह भी एक जिज्ञासा है—तो क्या मनका एक-एक स्वतंत्र विषय नही है ? केवल इन्द्रिय अपने मनको जानें, क्या इतना ही काम है मनका या मनका कोई स्वतत्र विषय है जिससे यह सीधा इस विषयको जान ले इन्द्रियकी कोई बात न हो ? हाँ है विषय। इसी विषयका वर्णन अगले सूत्रमे कहते हैं।

श्रुतमनिन्द्रियस्य॥२१॥

मनके विषयका प्ररूपण—अनिन्द्रियका विषय श्रुत है, मनका विषय श्रुतज्ञान है। श्रुतके मायने हैं आगम, आगमका बोध। एक बात यह समझ लेनी है कि श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रियके भी कहा, दोइन्द्रियके भी कहा। जिनके मन नही है उनके भी श्रुतइन्द्रियका विषय कहा, और यहाँ बतला रहे है कि मनका विषय है श्रुत तो इसका अर्थ लेना है—इन्द्रियका विषय नही है सम्यक् श्रुत। इन्द्रिय द्वारा भी श्रुतज्ञान होता, एक तो इस बातको मना नही किया गया। एक मनका विषय बतलाया है। मनका विषय श्रुत ही होता, अन्य नही। एक साधारण रूपमे यह अर्थ लेना, मनका विषय रूप, रस, गध, स्पर्श नही। जानता मन इसको भी है, मगर जानेको जानता है, अनजानेको नही जानता। मतिज्ञानसे रूप, रस, गंध, स्पर्श को जानकर फिर मन उनके बारेमे खोटा जाना करे, यह तो बात चलेगी, मगर उसका साक्षात् विषय नही है। यह विषय इन्द्रियका है। साक्षात् विषय मनका क्या है ? श्रुत। दूसरी बात यहाँ यह समझनी कि यह मोक्षशास्त्र मुख्यतया सम्यग्ज्ञानके विषयका वर्णन करेगा। प्रथम अध्यायमे एकदम बताया है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये ५ ज्ञान है। सब कुछ वर्णन किया, अधिक वर्णन किया, विस्तारसे किया, फिर अन्तमें जाकर एक सूत्रमे यह कह दिया कि मति, श्रुत, अवधि विपरीत (उल्टा) भी होते है। अगर सब ज्ञानोसे बात कहनेका प्रयोजन होता इस ग्रथका विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान, तब फिर यह अलगसे सूत्र कहनेकी क्या जरूरत थी ? वह एक गौण बात है। प्रसगवश बताया गया।

क्यो ऐसा बताया गया ? यहाँ तो मोक्षमार्गका प्रकरण है। हमको मोक्षका मार्ग मिले, उससें जो-जो कुछ जानकारियाँ करना चाहते वे जानकारियाँ करायी जा रही है। और स्पष्ट कहा—प्रमाणनयैरधिगमः। समस्त तत्त्वोका परिचय प्रमाण और नयोंसे होता है। तो क्या मिथ्या ज्ञानोंसे भी परिचय हुआ करता ? तो सच्चा परिचय तो नही है। एक बात उससे यह जानेंगे कि इस ग्रंथमे सम्यग्ज्ञानका वर्णन है।

आगमज्ञानकी मनोविषयता—दूसरी बात जहाँ श्रुतज्ञानका वर्णन किया, लक्षण बताया तो कहा है—'श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्' श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो अनेक और १२ भेद है। यहाँ भेद वाली बात कहनेसे किस श्रुतज्ञानकी बात समझी गई ? सम्यक् श्रुतज्ञानकी, आगमकी बात। इसके दो भेद है अगबाह्य, अगप्रविष्ट। द्वादशाग जिनवाणी उसे ही श्रुतज्ञानमे लिया है, ऐसा श्रुतज्ञान मनका ही विषय हो सकता है, इद्रियका नही। मनका स्वतन्त्र विषय भी है। क्या ? श्रुतज्ञान। मुख्य विषय यहाँ लिया जाय आगम सम्बन्धी तत्त्वज्ञानको और गौणरूपसे लिया जाय कि मतिज्ञानसे जाने गए पदार्थका ज्ञान। यद्यपि इस आगम वाले श्रुतज्ञानको भी हम ज्ञान मतिपूर्वक करते। मति बिना यहाँ भी नही होता। आगमका पढना, बाँचना, सुनना, देखना, इन्द्रियसे काम पहले हुआ, उसके बाद फिर श्रुतज्ञान चला, मगर वह श्रुत अनिन्द्रियका एक साक्षात् विपय भी है। वह इन्द्रियो द्वारा समझा नही जा सकता। ऐसा श्रुतज्ञान मनका विषय है, श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ वह श्रुत है। श्रुतज्ञान मनका विषय नही किन्तु श्रुतज्ञानमे जो समझा गया वह मनका विषय है। ज्ञानको मनका विषय नही कहा जा रहा, विषयको भी उस नामसे पुकारते। जैसे कोई केलेकी डलिया लिए केला बेच रहा तो लोग कहते हैं ऐ केला यहाँ आवो तो क्या उसने केला को बुलाया ? उसने तो केला बेचने वाले आदमीको बुलाया। यह बात केला बेचने वाला और खरीदने वाला दोनो समझते हैं, सौदा हो जाता है। तो ऐसे ही मनका विषय श्रुत है, इसका अर्थ यह लेना कि श्रुत ज्ञानसे जो जाना गया वह मनका विपय है।

विकृत आनन्द और ज्ञानकी उपेक्षा करके स्वाभाविक ज्ञान व आनदके उपायमें लगने का अनुरोध—स्पर्श रस गध वर्ण शब्द व श्रुत, ये सब विषय हैं आखिर ज्ञानके ही। वह तो एक दुविधा लग गई। कर्मका प्रसग और आवरण लगा हुआ है इसलिए ये सब भिन्न भिन्न बातें होती हैं, पर यह है परमात्मा परमेश्वरकी लीलाका विषय। यह जानता है। अभी इसकी उल्टी लीला चल रही है, सो यह उल्टा काम करता रहता है। जब इस भगवान परमेश्वरकी सीधी लीला होगी तो वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द, इनका अनुभव बनेगा। तो ऐसी एक पवित्र स्थिति पानेके लिए हमारा यह कर्तव्य

है कि इन स्थितियोका स्रोतभूत जो एक सहज ज्ञानस्वरूप है, सहज चैतन्यभाव है उस सहज भावकी हम दृष्टि करें और उस सहजभावरूप अपनी प्रतीति बनायें कि मैं तो यह हू। मैं गुम गया था, मैं जगह-जगह ढूढ रहा था अपनेको याने बाह्य पदार्थमे ज्ञान और सुख ढूँढ़नेका अर्थ है अपने आपको ढूँढना, क्योकि ज्ञान आनन्दस्वरूप मैं हू और मैं आनन्द बाहर ढूँढ़ूं तो इसके मायने है कि मैं अपने आपको बाहर ढूँढ रहा था। गुम गया था, इसकी सुध भी नही थी। अब जाना अपनेको, अब इसे न छोड़ेगा। देखो बाहर ढूँढ़नेको बेवकूफी कहते है। जैसे कोई आदमी खुद तो खडा है और कहे कि मै गुम गया, मुझे बताओ। वह बाहर झाँकता फिरे, मेरा मैं गुम गया, इस तरह यदि कोई चेष्टा करे तो जैसे वह मूर्ख है, इसी तरह बाहरमें हम झूठे आनदको, झूठे ज्ञानको ढूँढें तो हम भी मूर्ख है। हम अपने आपमे अपनेको ढूँढें तो अपना मालिक अपना प्रभु अपनी दृष्टिमे रहेगा और वहाँ वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा। इसलिए बाहरमे हम ज्ञान और आनन्द ढूँढनेकी व्यग्रता छोडकर ज्ञानानन्दस्वरूप जो निज अतस्तत्त्व है उसमे यह अनुभव करें कि 'मैं यह हू।' ऐसा जो ज्ञानी होगा उसको सर्वसिद्धि प्राप्त होगी।

उपद्रवोके मूल इस शरीरकी आस्था न कर दोषोसे दूर रहनेका संदेश—हम आप सब लोग है क्या? इस समय हमारी आपकी स्थिति है क्या? स्थिति है यह कि शरीर और जीव—इन दोका व्यक्त एक बधन है और जिसके कारण यह एक भव बन रहा है। मैं मनुष्य हू, कोई पशु है, कोई पक्षी है, कोई कुछ है, तो है क्या ये? जो जीव दिख रहे है, जिन्हे हम प्राणी समझते है वे है क्या? शरीर, कर्म और जीव, इन तीनका पिण्ड है, अपनी अपनी बात है, ऐसा समझकर सुनना है। सब बात अपने आपपर घटाना है। यह क्या है? शरीर, कर्म और जीव इन तीनका पिण्ड। पिण्ड रहो किन्तु मैं तो जीव ही हू, शरीर नही हू, कर्म नही हू। मगर वह बन्धन बन गया है और उस बन्धनकी हालतमे यह स्थिति हो गई है कि भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिक बाधायें मानते है। मानने वाला तो यह जीव है। बाधायें शरीर नही मानता। शरीरमे तो कोई अपने आपके काम होते है, पर वेदना मानता है यह जीव। तो शरीरका बन्धन है और उस नातेसे हम आप सब दुखी हो रहे है। दुख का कोई ठिकाना है क्या? शरीरका दुख है, वह तो चल ही रहा। भूख प्यास, सर्दी गर्मी और इसके अतिरिक्त इस शरीरके सम्बन्धके ही कारण सम्मान, अपमान, प्रशसा, निंदा आदि के भी दुःख लगे हुए है। जीव शान्त तब कहलाये जब इसमे रचमात्र भी क्षोभ न हो। तब तो कहना चाहिए कि जीव शान्त हो गया। जिसमे क्षोभ है उसमे शान्ति कहाँ? निन्दा सुनते है तो क्षोभ आ जाता है, प्रशसा सुनते हैं तो क्षोभ आ जाता है। निन्दासे होने वाला

क्षोभ क्रोधसे भरा है। प्रशसासे माना जाने वाला क्षोभ तृष्णासे भरा है। जितना दु.ख क्रोध मे है उतना ही दु·ख तृष्णामे है। लोग तृष्णा और क्रोध— इन दोके वश होकर अपने आपके जीवनको दु खी कर रहे है। कोई उपाय ढूँढ निकालो ऐसा कि मेरेमे क्रोध न रहे और तृष्णा न रहे। अन्यथा यह जीवन कितना व्यतीत हो गया? थोडा रहा सहा जो जीवन है वह भी विषय कषाय विकल्पोंमे ही बीता जा रहा है। इससे तो समझो कि हमारा भविष्य बहुत बिगड जायगा।

श्रेष्ठ मनके लाभका सदुपयोग सकल संकटोसे मुक्ति पानेके उपायका निर्माण—हम, जोव है, हम कभी मरने वाले नही है, सदा रहने वाले हैं। एक शरीर छोडते है दूसरे शरीर में पहुंचते है, ऐसा काम हम अनादिकाल से करते चले आ रहे। एक शरीर छोडा, दूसरे शरीरको ग्रहण किया, उसे छोडा फिर और शरीर ग्रहण किया। इस तरहके सिलसिलेमे आज हम आप मनुष्य है तो मनुष्यभवकी स्थिति कितनी सुन्दर है, श्रेष्ठ मन मिला है, ऐसा मन मिला है कि जैसा देव और नारकियोमे भी सम्भव नही। जो अन्य सज्ञीपञ्चेन्द्रिय है उनके भी सम्भव नही, ऐसा विशिष्ट मन मिला है, इसे पाकर ऐसा कोई उपाय ढूँढ निकालें कि जिससे इस भवमे भी शान्ति हो और आगे भविष्यमे भी शान्ति हो। यहाँ बहुत बडी जिम्मेदारी है हम आपकी और इसी कारण इस समय हम आपको दो काम पडे हुए हैं। शरीरका सम्बन्ध है, इस नाते से तो आजीविका का काम पड़ा है और चूँकि मैं आत्मा हू इस नातेसे हमे एक शांतिका काम पडा हैं। गृहस्थजनोको शाति चाहिए और साथ ही कुछ आजीविका। इस परिस्थितिमे आजीविका मुख्य चीज नही है, किन्तु जब हमारा एक ऐसा फसाव हो गया कि हम शरीरमे फसे हैं तो आजीविका भी चाहिए। तो आजीविका और आत्मकल्याण इन दो की जरूरत है कि नही? गृहस्थावस्थामे रहकर कोई कहे कि आजीविकासे हमे मतलब नही, तो आत्मकल्याण कर न पायेंगे गृहस्थीमे, क्योकि आजीविकाका कोई सिलसिला नही बनाया, तो घरमे रात दिन झगडा, खुद भी परेशान तो वहाँ गृहस्थीमे रहकर आत्महितकी बात न कर पायेंगे, इसलिए आजीविका भी आवश्यक है, मगर इससे भी आवश्यक आत्मकल्याण है। अगर आजीविकामे कुछ कमी रह जायगी, सो तो बात निभ जायगी, मगर आत्मकल्याणमे बाधा आती है तो इस बातकी पूर्ति अन्य प्रकार न होगी। हमे चाहिए शाति आप सबको चाहिए आनद शांति। वह किस प्रकार मिले, इसका जरा उपाय बनाओ।

परके लगावमें शान्तिकी असम्भवता—अब तक यह जीव कुटुम्बमे, वैभवमे, बाहरी बातोंमे, इज्जत प्रतिष्ठामे तृष्णा करता चला आया, उनमे लगाव करता चला आया, पर इनमे लगाव कर-करके क्या कोई कभी शान्त हो पाया आज तक? बहुत बढिया सयोग मिले

हो किसीको स्त्री पुत्रादिकके, सभी बड़े आज्ञाकारी है, विनयशील हैं, मगर क्योंकि पहली बात तो यह है कि जिनका संयोग है उनका वियोग जरूर होगा। चाहे कितना ही भला मिला हुआ हो, पर वियोग अवश्य होगा। तो जब वियोग होगा तब यह जीव कितना दुःखी होगा, क्योंकि मोह करता आया ना। अब मोहकी आदत तो बनी है, उनको अपनेमें समा लेनेकी भावना बनी है, और हो गया वियोग तो उसे बडा कष्ट होता है। दूसरी बात यह है कि जब तक सयोग है तब तक भी इष्ट पदार्थोंसे शान्ति नही मिलती, किन्तु घबडाहट और आकुलता ही रहेगी। उसकी ओर आकर्षण रहे तो अपनेको और भुला दिया और बाह्यपदार्थों मे हमने अपना दिल लगा दिया, वहाँ कोई ठिकाना है नही, इसलिए वहाँ भी दुःख होगा। इसलिए भाई जितना जीवन शेष है उस जीवनका सदुपयोग यह है कि शुद्ध आत्माकी पहिचान करें और अपने आपके स्वरूपकी पहिचान करें, बस प्रारम्भिक धर्म इसीमे है और इसी मे रमनेको चारित्र बोलते है। शुद्ध आत्मा कौन है ? ये ससारी जीव तो मलीन है, बन्धनमे है। कर्म, शरीर और जीव—इन तीनका चक्र चल रहा है यह, पर जो शुद्ध आत्मा है प्रभु अरहत सिद्ध, वे समस्त विकल्पोसे रहित है। रागद्वेष मोहका भाव वहाँ उतरा ही नही हैं, मूलसे नष्ट हो गया है, इसलिए उनको अनंत ज्ञान उत्पन्न हुआ, अनत आनद उत्पन्न हुआ है। दृष्टिका फर्क है। दृष्टि अगर परके लगावकी आ जाती है तो उस लगावमे लगाव बढ़ता जाता है और वह हैरान हो जाता है। दृष्टि अगर प्रभुकी ओर, आत्माकी ओर लगती है और ऐसा ही सत्सग मिलता है कि एक दूसरेको प्रेरणा देने वाला बनता है तो उसकी पवित्रता बढती है, और यह सुखी हो जाता।

वस्तुस्वातंत्र्य तत्त्वके बोधामृतका पान होनेपर मोहविषवमनकी संभवता—भैया ! मोहविषपान अगर किया है तो इसका वमन करना होगा। तब यह सुखी शांत होनेका मार्ग पा सकता है। देखिये काम सहज है और बहुत बडा है। प्रत्येक जीवसे ममता हट जाय, मोहबुद्धि दूर हो जाय, अज्ञान मिट जाय, यह मेरा है, यह मेरा सर्वस्व है, इससे ही मेरा महत्त्व है, इससे ही मेरा गुजारा है, ऐसी जो एक भ्रांति बना रखी है, यह दूर हो जाय वह उपाय बनानेका काम पडा हुआ है। सारी जिंदगी करनेका काम वास्तविक यह है कि सत्य ज्ञानका प्रकाश हो, सत्य ज्ञानका प्रकाश होनेपर भी जब तक कमजोरी है, गृहस्थीमे रहते हैं, राग करना पड़ेगा, रागका व्यवहार बनेगा और वह राग-व्यवस्था बनायेगा, फिर भी जहाँ अज्ञान दूर होता है वहाँ फिर घबडाहट नही रहती। जीवके विह्वल होनेका कारण तो केवल मोहभाव है। इस मोहभावको हटाना है, यह हमारे करनेका काम पडा है और यह हटेगा तब, जब वस्तुका सही-सही स्वरूप जान लेंगे कि पदार्थ सब जुदे-जुदे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है।

तत्त्वज्ञानके उद्यममे लगनेके अर्थ आवश्यक सदाचारकी आवश्यकता——अच्छा तत्त्व का ज्ञान करनेके लिए पहले थोडी अपनी तैयारी तो बनावें। जिसके रात-दिन खाने-पीनेकी धुन लगी है तो उस सस्कारमे आत्मज्ञानकी सद्बुद्धि उत्पन्न नही हो सकती। कुछ सयोग करना पडेगा, जो अपने आलस्यमे, व्यसनोमे अथवा हिंसामे लगा है उसका चित्त इतना बेठौर हो जाता है कि वह अपने आत्माका ज्ञान करनेका पात्र नही रहता, इसलिए थोडा बाह्यमे सदाचार रहे और अतरगमे आत्माके ज्ञानकी धुन रहे। कमसे कम इतना सदाचार तो हो कि जो अभक्ष्य चीजें है, मद्य, मास, मधु वगैरा उनका सम्बध न रहे, रात्रिभोजनसे हमारा सम्बध न रहे। लोग सोचते जरूर हैं ऐसा कि क्या बात है ? खूब उजेला रहता है, रात्रिमे बिजलीका उजेला कर लो—क्या दोष है ? मगर उसमे एक तो आध्यात्मिक दोष और एक बहिरङ्ग दोष, दोनो ही बताते है। आध्यात्मिक दोष तो यह है कि रात्रिका वातावरण ऐसा होता है कि उस वातावरणमे उस रात्रिमे जिनको भोजनकी रुचि है उनको आसक्ति विशेष होती है, राग उनके विशेष होता है अन्यथा वह सुलभ है। दिनमे खा लिया जाय। रात्रि मे भोजन लोग क्यो खाते कि उसके प्रति राग, आसक्ति, ममता आदि विशेष है। लोग रात्रि भोजन करते है, पर उससे एक विकट कर्मबन्ध होता है। दूसरी बात यह है कि रात्रिके समय कितना ही आप प्रयोग कर लें, जतुवोका सचार बहुत रहता है। कितना ही प्रकाश बना लें। यह प्राकृतिक बात है कि सूर्यके प्रकाशमे कीटाणु नही ठहरते, और रात्रिके समयमे वे सब उमड आते है। देखा होगा आपने कि जहाँ रात्रिको मच्छर बहुत अधिक होते हैं वहाँ दिनमे बहुत कम रहते है, अथवा मिलते भी नही और रात्रिमे चारो ओरसे कितने झुडके झुँड आ जाते है। ऐसी ही अन्न सब कीटोकी बात है। दिनके प्रकाशमे कीट नही होते, रात्रिमे कीट होते है।

हिंसाका दोष लगना, आसक्तिका दोष लगना और आत्मज्ञानका पात्र न रहना, सबसे बडा भारी नुक्सान है। हिंसासाध्य भोजन न करें, जहाँ तक हो पवित्रतासे भोजन बनायें, कभी किसीकी झूठी गवाही न दें, कभी किसीके प्रति झूठ न बोलें, किसीकी निन्दा करनेका भाव न रहे, किसी परस्त्रीपर कुदृष्टि न रहे और चित्तमे तृष्णा न रहे कि अधिक धन जुडे। अगर ऐसा कुछ सयम थोडा-थोडा बन सक रहा है तो प्रभुभक्ति और आत्मज्ञान दोनोमे प्रवेश होनेका मार्ग पाया जा सकता। अन्यथा परिग्रहकी तो तृष्णा लगी है और भग-वानकी भक्ति कर रहे है तो मन जहाँ बैठा है भक्ति तो उसकी कहलायगी। प्रभुकी भक्ति कहाँ रही ? अगर प्रभुमे चित्त गया है तो प्रभुकी भक्ति कहलायगी। तो अपनेको आत्मज्ञान चाहिए और आत्मज्ञान पानेके लिए मनका ऐसा सदुपयोग बनायें कि थोडा सयम रहे, सत्सग

की रुचि रहे, ज्ञानार्जनका प्रयत्न रहे तो यह जीव अपने आत्माका बोध कर सकता है।

विनश्वर पदार्थमें लगाव रखनेका अनौचित्य—अब जरा अपने-अपने आत्माकी बात सोचो कि मैं कौन हू ? बारबार अपने को अनुभव करो कि मैं कौन हू ? तो अन्तरसे एक आवाज आयगी कि जो जाननहार है, जो समझने वाला है, जिसमे ज्ञान है वह मैं हूं। इस मुझका जगतके किसी बाहरी प्रसगसे कुछ सम्बन्ध है क्या ? जिस घरमें रह रहे है वह घर आपका है क्या ? घर छोडकर न जाना पडेगा क्या ? सारा वैभव छूटेगा नही क्या ? इस जगतमे मेरा है क्या ? कुछ भी नही है। एक साधु जा रहा था नगरमे, एक बड़ी हवेली मिली। वहाँ एक चौकीदार बैठा था तो साधु पूछता है कि यह धर्मशाला किसकी है ? तो चौकीदार बोला—महाराज यह धर्मशाला नही है, धर्मशाला तो आगे है। साधु बोला—मै यह नही पूछता, यह बतलावो कि यह धर्मशाला किसकी है ? तो फिर चौकीदार बोला—महाराज यह तो अमुक सेठकी हवेली है, धर्मशाला तो आगे है। इतनेमे उस मकानका मालिक जो ऊपरसे सुन रहा था उसने साधु महाराजको बुलाया और कहा—महाराज आपको ठहरना हो तो यहाँ ठहर जाइये, पर यह धर्मशाला नही है। धर्मशाला तो आगे है, यह तो आपकी हवेली है। तो साधु बोला—भाई हमे ठहरना नही है। हमने तो यों ही पूछा कि यह धर्मशाला किसकी है ? तो फिर वह सैठ वोला—महाराज यह धर्मशाला नही है, यह तो हमारी हवेली है। अच्छा इसको किसने बनवाया ? हमारे बाबाने। वे इसमे कितने दिन रहे ? महाराज वे तो पूरी हवेली बनवा भी न पाये थे कि गुजर गए थे। फिर किसने पूरी बनवायी ? हमारे पिताने। वह इसमे कितने दिन रहे ? कुल ५ वर्ष। और आप अब कितने दिन इसमे रहेगे ? बस इतनी बात सुनते ही सेठकी आँखें खुल गई और सब बात समझ गया। साधुके पैरोमे गिरकर बोला—महाराज सचमुच यह धर्मशाला है, हवेली नही। तो यहाँके ये मकान महल धर्मशालाकी तरह समझो, कोई कितने दिन रह रहा, कोई कितने दिन ? बल्कि धर्मशालामे तो मत्री वगैरासे प्रार्थना कर लो तो १०-५ दिन और भी ठहर सकते, पर ये मकान महल तो ऐसी धर्मशाला हैं कि आयुका क्षय होने पर कितनी ही मिन्नतें करो पर एक क्षण भी ठहर नही सकते।

स्व-पर अर्थका तात्त्विक ज्ञान पानेमें हित—जरा अपने आपपर करुणा करके सोचो तो सही कि मेरेको अब क्या करना चाहिए जिससे मुझे इस भवमे भी शान्ति मिले और भविष्यमे भी शान्ति मिले। वह काम है यह कि सही तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें। अज्ञान चित्तमें मत बसावें। सही-सही जान लें कि यहाँ दिखने वाला जो कुछ है यह क्या है ? दिखने वाला जो यह मैं हू वह क्या है ? जरा इन दो वातोका सही-सही निर्णय कर लो। जो दिखने वाली

चीज है यह सब माया है, ये सब विनाशीक हैं, परमार्थ नही हैं। परमार्थ तो एक-एक परमाणु है। अब जहाँ बहुतसे परमाणु जुड गए और एक यह शक्ल बन गई तो ये परमाणु बिखरेंगे नही क्या ? अवश्य बिखरेंगे। तब ये टूट जायेंगे। बतलावो महावीर भगवानका महल कहाँ पर है ? राजघरानेके तो थे ना, बडे अच्छे महल थे, मगर अब कहाँ है वे महल और उनसे पहले भी जो चक्रवर्ती आदिक हुए उनके महल कहाँ है ? थे तो ये सब, पर सब नष्ट हो गए। तो ऐसे ऊँचे पक्के महल भी न रहे उन वडे पुरुषोके तो फिर हम आपकी साधारण झौपडियोकी तो बात ही क्या ? बताओ कौरव पाण्डवोका, रामचन्द्रजी का कितना सुखद परिवार था, कैसा उनका आपसमे मेल था, एक दूसरे पर अपने आपका कैसा बलिदान करने वाले थे, पर कोई रहा क्या ? जब वडे-वडे पुरुष जिनके जमानेमे उनका बहुत वडा प्रताप फैला था वे भी न रहे तो फिर हम आपकी तो बात ही क्या है ? हम आपकी यह छोटीसी जिन्दगी भी जल्दी ही व्यतीत हो जायगी। कुछ रहनेका नही है इसलिए इन चीजो मे लुभाना न चाहिए और एक तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेमे लगें।

मनका विषय श्रुत है इस प्रकारके परिचयसे आत्मशिक्षणका दिग्दर्शन—असलमे मैं क्या हू, मुझे क्या करना चाहिए जिससे कि मुझे शान्ति रहे इसका प्रयोगात्मक ज्ञान करें। यहाँ कोई किसी मजहब (धर्म) की बात नही कह रहे, यह तो एक आत्माके धर्मकी बात कही जा रही है। चाहे किसी भी बिरादरीका हो, सबके आत्माकी बात चल रही है कि यदि अपनेको शान्त होना है तो पहला काम यह है कि अपने स्वरूपका सही ज्ञान करना चाहिए कि मैं देहसे भी न्यारा, प्रसगोंसे भी न्यारा, विकारोसे भी न्यारा एक ज्ञानमात्र तत्त्व हू। देखो आत्माके समझनेकी बात अगर कठिन लगे तो कठिन-कठिन बात कुछ दिन सुनते रहेगे तो एक दिन वही बात सरल बन जायगी और दूसरे सरल-सरल दिलपसद बातें सुननेमे मन लगाया तो उससे आपको कुछ फायदा न मिल पायगा। रागके सस्कारमे यह जीव रह रहा है और रागभरी बातोके सुननेमे ही चित्त लगाया, कुछ दिल खुश हो गया तो उस दिल खुश कर लेनेसे फायदा कुछ न निकलेगा। ज्ञान और वैराग्य बिना इस जीवकी आकुलता दूर नही हो सकती।

अब ज्ञानके बजाय रहे अज्ञान और वैराग्यके बजाय रहे राग तो जहाँ अज्ञान और राग बस रहे उसका फिर कोई ठिकाना नही रह सकता। कोई उसका फिर एक मार्ग बनाने वाला नही बन सकता। अज्ञानको दूर करें, रागको दूर करें, वस्तुकी सही समझ बनायें। अपने आपके आत्मासे प्रीति जगेगी तो आत्माका कल्याण होगा। मुक्ति याने ससारके सर्व सकटोसे छुटकारा पानेका मार्ग बताया है तत्त्वार्थसूत्रमे मोक्षशास्त्रमे। मोक्षशास्त्रकी बात

बताते हुए जीवतत्त्वके वर्णनके एक यह प्रकरण 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' सूत्रमे है कि मनका विषय श्रुत है। तत्त्वज्ञान, विवेक, विचार, कल्याणकी भावना—ये सब मनके विषय है।

शुभोपयोग द्वारा चंचल मनका नियन्त्रण करके शुद्धोपयोगकी भूमिकामे प्रवेश करने का संदेश——मन पाया है तो चाहे तो इस मनको विषयोमे लगा सकते और चाहे तो इस मनको ज्ञान और वैराग्यके साधनोमे लगा सकते, मगर ज्ञान और वैराग्यकी ओर मनको लगा देंगे तो सदाके लिए संकट छूट सकेंगे और विषयकषायोमे मन लगाते रहेगे तो जो दुर्दशा आज तक हुई है संसारमे रुलते-रुलते वही दशा आगे भी रहेगी। इससे जरा मनको समझायें कि रे मन तू बदरकी तरह चंचल है, तू अपनी चंचलताको छोड। चचलता कैसे छूटेगी? ज्ञान और वैराग्यका नियंत्रण हो तो इस मन बदरकी चचलता छूटेगी।

किसी राजाको एक देव सिद्ध हो गया। अब वह देव इतना कठिन कि एकदम आते ही बोला—राजन्! बोलो क्या काम है? तुम जो काम बताओगे वही हम कर दिखायेंगे। तुम जो माँग करोगे वह हम ला हाजिर करेंगे। मगर एक बात याद रखना, कुछ न कुछ काम बताते रहना। यदि काम न बताओगे तो हम तुम्हे खा जायेंगे। अब क्या था? राजाने कहा—अच्छा एक बहुत बडा तालाब बना दो' लो तालाब बन गया।" राजन् काम बताओ।' अच्छा एक बडी सडक बना दो।' लो बन गई सडक।' राजन् काम बताओ। अच्छा एक ६० हाथ लम्बी जंजीर लावो। लो आ गई जजीर। राजन् काम बताओ। इस जजीरका एक छोर इस खम्भेमें बाँध दो और एक छोर अपने गलेमे बाँध लो।'''लो बध गई। राजन् काम बताओ।'''अब तुम बदरकी भाँति इस खम्भेपर चढो और उतरो जब तक कि हम मना न करें। लो चढ गया तो अब उतरनेका काम पड़ा है और उतर आया तो चढनेका काम पडा है। वह देव बड़ा हैरान होकर उस राजाके चरणोमे गिरा और बोला माफ करो राजन्, हम अपनी बात वापिस लेते है, तुम जब जब याद करोगे तब तब हम तुम्हारी सेवामे हाजिर होंगे। तो भाई ऐसे ही यह मन बंदरकी तरह चंचल है। यह हरदम जीव राजासे कहता है राजन काम बताओ। इसे कुछ न कुछ काम चाहिए। अगर इसे किसी काममे न लगाया जाय तो यह मनबंदर सचमुच ही बरबाद कर देगा इस जीव राजाको। इसे व्यसनोमे, खोटी बातोमे लगाकर बरबाद कर देगा। तो यह मनबदर कहता है जीव राजासे कि राजन काम बताओ। तो यह जीवराजा परेशान हो गया। इस जीवराजाको मनबदर ऐसा सिद्ध हुआ कि अनादि कालसे तो यह मन इसे मिला ही न था और जब यह मन मिला तो ऐसा बेढब मिला कि यह हर समय कहता कि काम बताओ। तो ज्ञानी जनोने एक युक्ति निकाल ली। इस मनको परोपकारमे लगाओ, स्वाध्यायमे लगाओ, सत्संगमे बैठो,

साधुसेवा करो, ये शुभोपयोगके काम अगर इस मनको बताते रहेंगे, रोज-रोज शुभोपयोग करते रहेगे तो यह मन शान्त रह सकेगा और इस शुद्ध तत्त्वके ध्यानकी पात्रतासे बिछुड न पायगा ।

शुद्धोपयोगकी शुभोपयोगानन्तरभाविता—भैया ! आखिर तो शुद्धोपयोग ही लक्ष्य होना चाहिए । आत्माका जो शुद्ध स्वभाव है उस शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि हो, यह ही लक्ष्य करना है, मगर जो जीव अशुभोपयोगकी दुर्गन्धमे बसते चले आये है उनमे शुद्धोपयोगकी बात एकदम कहांमे ला देवें ? जिसके भी शुद्धोपयोग बनता है उसके शुभोपयोगके बाद बनता है । शुभोपयोगसे गुजरे बिना शुद्धोपयोग कहांसे हो सकेगा ? तो यह पर्याय है ना, कोई व्यसन आदिकमे डूबा है, कोई हिंसा, झूठ आदिक अशुभोपयोगमे चल रहा है उस अशुभोपयोगके बाद एकदम शुद्धोपयोग किसीके नही होता । उस अशुभोपयोगके बाद कुछ विवेक बनेगा, विचार चलेगा, कुछ शुभ भावना बनेगी, कुछ शुभोपयोग बनेगा । तो शुभोपयोग आया ना बीचमे ? तो जानकर करनेका काम क्या है ? शुभोपयोग । और लक्ष्यमे रखें शुद्ध तत्त्व, बस यही करनेकी चीज है । तो जरा सयममे अपने मनको लगायेंगे तो आत्मज्ञानके हम पात्र रह सकेंगे, और आत्मज्ञान बन गया तो समझो कि हमे सर्वसिद्धि मिल गई । सो समझ लीजिए—"धन कन कचन राज सुख, सबहिं सुलभ कर जान । दुर्लभ है ससारमे एक यथारथ ज्ञान ।" एक तत्त्वज्ञान, वस्तुके स्वरूपकी पहिचान दुर्लभ है । मैं आत्मा केवल ज्ञानानदमय हूँ, इसका किसी जीवसे रचमात्र सम्बध नही, सबसे निराला है, ऐसा अपने आपको अपने स्वभावमे निरखा जायगा तो ऐसी प्रसन्नता होगी, ऐसा ज्ञानावरण बनेगा कि जिसमे आनन्द ही आनन्द रहे, क्लेशका रचमात्र भी नाम नही, ऐसी अपने आपमे गहराई पाना है ।

अन्तस्तत्त्वका लक्ष्य और अन्तस्तत्त्वमे प्रवेश कराने वाले श्रुतको मनका विषय बनानेका अनुरोध—अन्तस्तत्त्वकी गहराई पानेके लिये थोडा वैराग्य अवश्य होना चाहिए, सयम अवश्य होना चाहिए । रात्रिभोजनका त्याग करें, विषयवासनाओंका त्याग करें और लगन लगावें, इसे जानें तो सही कि मैं कौन हू और इसका उत्तर जहाँ मिले वहाँ जायें, रहे, स्वाध्याय करें, आत्माकी खोज बना लें कि मैं आत्मा हू क्या ? बस सब सुखका गैल मिल जायगा, सब शान्तिका मार्ग मिल जायगा । हमको किस ढगमे चलना है, तो मोटे रूपसे यह बात है कि क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारों कषायें न रहेगी तो शान्ति अपने आप मिल जायेगी । मगर ये चारो कषायें न रहे उसका कुछ उपाय है क्या ? हाँ, उसका उपाय है आत्मानुभव ।

मैं केवल ज्ञानानदस्वरूप हू, अन्य कुछ मैं नही है, यह दृष्टि बनेगी तो हमारी कषायें

शान्त होंगी और यह दृष्टि नही है तो हम परका लगाव रखेंगे अब पर पर ही है। हम चाहे कि ये अमुक भाई इस तरह बैठे, इस तरह बात करें तो वह हमारे अधिकारकी बात तो नही है और हमारी इच्छाके अनुसार बात न बनेगी तो हम उसमे दुःख मानेंगे, और यह अपना आत्मा भगवान, यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अपने-अपने पास है, कभी यह अपनेसे बाहर नही है। जब दृष्टि दें तब ही उसका आनद लें, और बाह्य वस्तु हमारे अधिकारकी बात नही है, हम उसपर दृष्टि रखते है तो हमको दुःखी होनेका बराबर मौका आता है। इसलिए समस्त बाह्य प्रसंगोंको मायारूप जानकर उपेक्षा करके कुछ आत्माके ज्ञानको ओर हमें बढना है। हां गृहस्थ है तो गृहस्थीके नाते ५-६ घंटे आजीविकाका भी काम देखें, उसका विरोध नही कर रहे, मगर मुख्य ध्येय यह बनायें कि मैं जीव हूं, मेरेको शांति चाहिए, मेरेको कल्याण चाहिए, मैं सदाके लिए शान्त रह सकूं वह उपाय मुझे चाहिए, अन्य यहांके प्रसंग इनसे हमारा कोई गुजारा न चलेगा। ऐसा एक ध्येय बनायें और रोज-रोज ज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूपका दृढ अभ्यास बनायें। सारी जिंदगी काम करना है तत्त्वज्ञानका तो वह दृढ होगी भावना और हम ससारके सकटोंके जो कर्मबन्धन हैं उनसे छूट जायेंगे, केवल स्वतंत्र हम ही आत्मा रह जायेंगे। इसीको ही तो सिद्धभगवान कहते हैं। वह है हमारी आखिरी मंजिल, जहाँ पहुंचकर हम कृतकृत्य हो जायेंगे, फिर हमको करनेके लिए कुछ शेष न रहेगा। ऐसे श्रुतज्ञानको मनका विषय बनाइये।

जीवकी द्विविधताका प्रसंग—जीवका परिचय हो जानेपर, संसारी, मुक्त सभी जीवोका परिचय हो जाने पर एक अलौकिक प्रकाश मिलता है। मै कौन हू, ये कौन है, मेरेको क्या करना था, क्या करता आया, क्या करना चाहिए? ये सब बातें जीवोंके नाना प्रकारके परिचय करने पर स्वयं बन जाते हैं। जीवके परिचयकी ही बात कह रहे है कि जीव किसे कहते हैं? जो ज्ञानानन्दस्वरूप पदार्थ है उसका नाम जीव है। जिसमे चेतना है उसे जीव कहते है। कोई अगर यह कहे कि जीव मीव कुछ नही हैं, सब गलत बात है तो ऐसी समझ जिसे बन रही वही तो जीव है। जो जीवको मना कर रहा है कि जीव कही नही है तो उससे कहो कि क्या कह रहे हो भाई, क्या समझ हो गई तुम्हारी, तो वह कहेगा कि मेरी समझमे यह आता है कि जीव कुछ नही है।

तो समझा दो उसे कि देखो जिसकी समझमे आता है ऐसा कि जीव कुछ नही है वही जीव है। जिसमे चेतना है, जो जाननहार है उसको जीव कहते हैं। ऐसे जीव दो प्रकार के है— एक तो वह जिस जीवके साथ दूसरी चीज लगी हुई है, एक वह जिसके साथ कोई दूसरी चीज नही लगी। केवल जीव ही जीव है। जब कोई चीज होती है तो उसके दो रूप

होते है, एक तो संग वाला रूप और एक संगरहित रूप । तो जिस जीवके साथ और कुछ नही लगा उनका तो नाम है मुक्त जीव और जिस जीवके साथ कुछ लगा है उसका नाम है ससारी जीव । देखिये—जीव सब एक समान है, पर लगाकर अन्तर आ गया । तो लगाव तो एक बाहरकी चीज है ना । लगाव तो कुछ होने वाली चीज है ना दूर की जा सकती है ना ? जो लगाव हमको ससारमे रुलाता है वह लगाव अगर न करें तो ससारके संकटोसे छूट जायें और यह स्वस्थता बहुत सरल बात है । हम व्यर्थ क्यो परपदार्थोसे लगाव लगायें और दु:खी हो ? लेकिन कैसा इस पर एक मालिन्य छाया है कि बताने बताने पर भी, पढने पढने पर भी, ध्यान किए जानेपर भी यह मान्यता छूटती नही है । तो आज ही इसके लिए कोई दृढ बन जाय कि मुझको तो मेरे चैतन्यस्वरूपके अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्त्वसे लगाव नही करना तो यह आज ही सुखी हो जाय, शान्त हो जाय ।

मोहमहापराधका दुष्परिणाम—यदि हम चित्तत्त्वके अनुरूप नही अमल कर पाते तो कमसे कम समझ तो बना लें । जितना अमल होते बने हो, पर समझमे अगर भूल की, सम्यग्ज्ञानमे यदि प्रमाद किया तो यह महान अपराध कहलायगा । चारित्रमे हम न बढ सकें यह महान अपराध नही है । है तो अपराध, मगर हम सही ज्ञान न करें, यथार्थ बात न जानें तो इसको कहते है महाअपराध याने मिथ्यात्व महाअपराध है, असंयम अपराध है। तो ज्ञान द्वारा जानना है और उसका बहुत सीधा मार्ग है, फिर भी हम वस्तुके स्वरूपको यथार्थरूपमे जानना न चाहे तो हमे क्षमा नही हो सकती । क्या वजह है कि यह जीव पेड पौधोमे पैदा होता, कीडा मकोडाकी पर्यायोमें पैदा होता । कौनसा अपराध किया इस जीवने कि यह जीव डाली डाली, पत्ते पत्ते सबमे फैला ? और ऐसा विड्रूप बना । यह किस अपराधका फल है ? यह अज्ञानका, मोहका फल है । कोई कहे कि एक पुरुष किसीसे लडता नही, किसी को पीटता नही, किसी पर कुछ अत्याचार करता नही, अपने घरमे बैठा है और अपने शरीरमे बस इतना मान रहा कि यह मै हू और दुनियाको कुछ नही सता रहा, न किसी पर क्रोध करता, न विकल्प करता, न किसीके साथ छल करता, न कोई बातका लोभ करता । बस शरीरको मान लिया कि यह मैं हू और अपने इस शरीरके सुखमे अपना ग्रस्त है तो यह कोई बडा अपराध है क्या कि जिसके फलमे पेड पौधोमे पैदा होना पडे ? निगोद जैसी दुर्गतियोमे उत्पन्न होना पडे ।

तो सोचो जरा यह कितना बडा अपराध है ? एक तो अनंत शक्तिमान निज आत्मा भगवानपर हमने अत्याचार किया । जब भगवान स्वरूप मेरा मेरी दृष्टिमे नही रहना तो इतना बडा जो अन्याय किया, इस भगवानका घात किया तो इसका फल कितना बडा होना

चाहिए, और इतना ही नही, जगतके अनंत जीवोंको भी कुछ न समझा। उनका भी तिरस्कार किया तो यह अनंत भगवंतोपर इस मिथ्यात्वी जीवने अन्याय किया तो इसके फलमे अगर नरक निगोदमे जन्म-मरण करना पडा तो यह कोई कठोर दंड नही है। यह तो न्याय की बात है। सर्वाधिक लाभकी बात इस जीवको सम्यक्त्वलाभ है। प्रारम्भ तो सम्यक्त्वसे होता है। धर्म तो चारित्र है, पर धर्मकी जड़ सम्यक्त्व है। जैसे जडके बिना पेड नही बन सकता, ऐसे ही सम्यक्त्वके बिना चारित्रमे वृद्धि नही हो सकती। तो हमें सही-सही ज्ञान करना चाहिए।

संसारी जीवकी पहिली दशाओंका परिचय—जीव दो प्रकारके कहे गए—एक उपाधिसहित और एक उपाधिरहित। उपाधिरहित तो है सिद्धभगवान और उपाधिसहित हैं संसारी जीव। अब ससारी जीवोका विस्तार देखो और साथ ही यह सोचते जाइये कि यह जीव जब अपने स्वरूपमे नही ठहरता और मोह रागद्वेषके चक्रमे पडा रहता तो उसको ऐसे-ऐसे भव धारण करने पडते। यह जीव अनादिसे तो निगोदमे रहा जहाँ एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण करना पडा। वह श्वास भी कौनसी कि हाथकी नाडीके एक बार उचकनेमें जितना समय लगे उतने समयमे १८ बार जन्म-मरण किया। मुश्किलसे वहाँसे निकले, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति हुए। बडी दुर्लभतासे यह जीव त्रस पर्याय पाता है और त्रसमे भी मनुष्य बनना यह बहुत दुर्लभ बात है। इतना बननेके बाद भी अगर हम इस भगवान आत्मापर अन्याय करे, गायने आत्माकी महिमा न जानें, आत्माका आदर न करें, आत्माकी सुध न लें और बाहरी असार विषयोको महत्त्व दें तो यह निज भगवान आत्मापर बहुत बडा अन्याय कहलायगा, और उसका फल यह होगा कि फिरसे यह निगोद बन जायगा। तो कुछ सावधानी बर्तनी चाहिए, कुछ अपने आपपर दया करनी चाहिए। यह जीव अनतकाल एकेन्द्रियमे भ्रमण करता आया। उस एकेन्द्रियकी चर्चा हो रही है। इन्द्रिय—जो ससारी आत्माकी पहिचान है उसे इद्रिय कहते हैं। वे इन्द्रियाँ ५ है। स्पर्शन—जो सारे शरीरमे फैला है एक वह इन्द्रिय जिसमे कि ठड गर्मीका ज्ञान चलता है। रसना इन्द्रिय (जिभ्या) जो थोडीसी जगह है। घ्राणेन्द्रिय जो उससे भी कम जगहमे है और चक्षु, उससे भी कम जगहमे है। तो यहाँ एकेन्द्रिय जीवकी चर्चा चल रही है कि एकेन्द्रिय किसे कहते है? तत्त्वार्थसूत्रमे अभी यह प्रकरण आया था कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये स्थावर कहलाते है।

सूत्र कहते हैं—'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।' देखिये थोडा आचार्योंकी सूत्र-रचना पर ध्यान दो, यह भी एक कामकी बात है। हम अपने ऋषि सतजनोके आगमसे परि-

श्रमसे अपरिचित रहे और विषयोके परिचयमे तो बहुत आगे बढे रहे तो यह कोई अच्छी बात नही है । हम आप लोग ऐसा सोच समझ बैठते हैं कि कठिन बात हमारी समझमे नही आती, तो आप यह बतलाओ कि कठिन बात क्या पत्थरोकी समझमे आयगी ? हम आप जीव है जिसकी समझमें आये । जैसे वे वैसे हम आप । ज्ञान तो सब प्रकारका है और भला बतलावो कि जो बडा व्यापार करनेमे, धन कमानेमे, बडे-बडे हिसाब लगानेमे, बडी-बडी फैक्ट-रियोके संचालनमे जिसका दिमाग बहुत चल रहा है । क्या वह दिमाग, वह बुद्धि एक सहज ज्ञानस्वरूप आत्माको जाननेमे कुछ कठिनाई मानेगा ? अरे कठिनाई तो इसमे है कि ये बाहरी चीजें खूब जोड लिया, खूब लौकिक व्यवस्था कर लिया । क्योकि वे बाहरी चीजें हैं । उनपर हमारे आपके अधिकारकी बात नही है, और जो निज आत्माकी बात है वह अत्यत सुगम चीज है । जरा अपनी दृष्टि लगायी तब ही अपने आपके स्वरूपको निहार लो, यह भगवान आत्मा नित्य अतःप्रकाशमान सदा शाश्वत निरतर अपने आपके अदर विराजमान है । बस यह उपयोग दृष्ट नही होता, इसलिए यह सारी परेशानी है, पर अतःस्वरूप तो सदा विराज-मान है । एक अपने आपके मार्गको मोडने भरकी देर है, फिर अपना कल्याण अवश्य है ।

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

एकेन्द्रिय जीवोके विभाग—पहले सूत्रमे यह बात आयी थी कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये स्थावर है । इसके बाद फिर आया कि द्वीन्द्रिय आदिक त्रस हैं । अब देखो क्या क्रम बना ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस । तो वनस्पति है अन्तमे जिसके तो यहाँ अत शब्दका अर्थ समीप अगर ले लिया जाय तो इसका अर्थ है कि वायु और त्रस ये स्थावर है, इसलिए इसका अन्त शब्द लेना चाहिए कि प्रथम पृथ्वीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जितने जीव है उन सबके एक इन्द्रिय है । कौनसी इन्द्रिय ? स्पर्शनइन्द्रिय । देखो ससारमे सबसे अधिक सख्या किसकी है ? ५ है कि जीव है—एकइन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय । तो सबसे अधिक जीव कौन हो सकते हैं ? एकेन्द्रिय । उन एकेन्द्रियमे भी वनस्पतिके दो भेद करके निगोद और प्रत्येकवनस्पति, उनमे भी निगोद सर्वाधिक हैं । निगोद तो असख्यात है, निगोद तो अनन्त है, कितने जीवोकी सख्या है । और हम आप भी कभी निगोद जीव थे । पूर्व समयमे भी हम मनुष्य हो, और ऐसा घर बसा हो, स्त्री पुत्र भी मिले हुए हो, यह बात नही है, यह नियम नही है । न जाने क्या थे ? कहो एकेन्द्रियसे निकलकर मनुष्य हुए हो । बात यह सोचनी चाहिए बडी गम्भीरतासे कि हम यदि अपने आत्माके मिलनका काम न कर सके, मेरा ज्ञान मेरे ही सहज ज्ञानस्वरूपको ज्ञान मे ले, जहाँ ऐसी सामान्य स्थिति होती है कि कोई विकल्प नही और ज्ञानमे ज्ञानका ही

अनुभव है, जिस अनुभवमे विशुद्ध सहज आनंद प्रकट होता है, जो भी एक सारभूत बात है वह अगर हम न कर सके तो हमारा जीवन एक व्यर्थसा है और देखो उसके जीवनकी व्यर्थता समझता हो तो गुजरे समयपर दृष्टि दें। गुजरा हुआ जो समय है इस भवका, किस किससे प्रेम बसाया, किस किससे मोह किया, मगर वे सब साथ निभा सकें क्या ? जो गुजर गए, किसीकी माँ गुजर गई, किसीके पिता गुजर गए, किसीकी स्त्री गुजर गई, किसीका पुत्र गुजर गया, तो उससे पहले सयोगके समयमे जो प्रवृत्ति करते थे बताओ वह स्वप्न जैसा लगता या नही ? एक व्यर्थ जीवन गवाया। और आज सोचते होंगे कि न मोह करते वहाँ उन लोगोमे तो हम अपने आत्माकी रक्षा तो बनाये रहते। तो जो गया सो गया। वैसी ही बात अब वर्तमानकी समझिये। अब यदि हम वर्तमानमे भी न चेते और भविष्यमे भी न चेते तो हमारा अब भला होनेका नही है।

अन्तस्तत्त्वके प्रसादसे समनस्क अवस्था पानेपर अन्तस्तत्त्वपर अत्याचार करनेका परिणाम पुनः अति निम्न दशामें पतन—यदि हम समनस्क होकर भी अन्तस्तत्त्वपर अन्याय करते रहे तो स्थिति ही ऐसी बनेगी जैसे एक छोटा कथानक है कि एक साधुके पास कोई चूहा रहा करता था, तो उस चूहेपर एक बार एक बिलाव झपटा तो चूहा डरके मारे एक बिलमे घुस गया। साधुने उस चूहेकी ऐसी दशा देखकर चूहेको आशीष दिया—विडालो भव याने तू भी बिलाव बन जा। लो वह चूहा भी बिलाव बन गया। फिर एक बार उस बिलाव पर झपटा कुत्ता तो फिर साधुने आशीष दिया—स्वानो भव याने तू भी कुत्ता बन जा। वह बिलाव कुत्ता बन गया। एक बार उस कुत्तेपर झपटा व्याघ्र तो साधुने आशीष दिया—व्याघ्रो भव याने तू भी व्याघ्र बन जा। तो वह व्याघ्र बन गया। अब उसे व्याघ्रका भी डर न रहा। एक बार उस व्याघ्रपर झपटा सिंह तो फिर साधुने आशीष दिया—सिंहो भव याने तू भी सिंह बन जा, लो वह सिंह बन गया। अब उसे डर किस बातका ? जब उसे कडाके की भूख लगी तो सोचा कि अब भूख कैसे मिटाई जाय ? समझमे आया कि यह साधु महाराज बैठे है, इन्हीको खाकर क्यो न भूख मिटा लें ? तो वह सिह झपटा उस साधुपर। साधुने उस सिंहके मनकी बात समझ लिया और पुनः आशीष दिया—पुनर्मूषको भव याने तू फिरसे चूहा बन जा। लो वह सिंह फिर चूहा बन गया। तो जैसे जिस साधुकी कृपासे चूहा सिंह बना उसीके भक्षण करनेके भावसे पुन. चूहा बना, ऐसे ही यह ससारी प्राणी इस भगवान् आत्माके प्रसादसे नरक निगोदकी दुर्गतियोसे निकल-निकलकर आज उत्तम मानवदेहमे आया, यहाँ यदि इस जीवने आत्मा भगवानपर विषयकषायोका हमला किया तो इसका फल यह होगा कि इसे फिर वही आशीष मिलेगा—पुनर्निगोदो भव, याने तू फिरसे निगोद बन

ज्ञा। -

आत्माके अनुप्रयोगकी दिशा— देखिये—सुनने पढने आदिकी बातें तो बहुत हैं, मगर करें कुछ नही तो उससे लाभ क्या ? करनेकी एक धुन तो बनायें, प्रोग्राम तो बनायें। जितना बन सके उतना करें। उस करनेका फल अवश्य मिलेगा। आज हम आप बडी अच्छी स्थितिमे है। यह चाहिए कि हम अन्तर्दृष्टि बनायें, और भीतरके आत्माको पहिचानें और यहांके इन मायामयी समागमोमे अपना मन न दें, अपना दिल न बहलायें, इसके लिए अपना जीवन न समझें। जीवन है मेरा मेरे उपकारके लिए, और मेरा उपकार है धर्ममे, और धर्म यह ही है कि अपने स्वरूपको जानू और वैसा ही अपनेको मानता रहूँ कि मैं यह हूँ, बताओ ऐसा धर्मपालन कुछ कठिन है क्या ? कोई कहे कि मेरे पास धन नही है तो कैसे धर्म करें ? तो यह धर्म क्या धनसे होता है ? कोई कहे कि मेरे घरमे कोई अच्छा परिवार नही है, स्त्री पुत्रादिक नही हैं तो हम कैसे धर्म कर सकेंगे ? अरे धर्म इन बाहरी चीजोमे नही है। अपने आत्माका सच्चा बोध करनेमे डट जावो कि मैं तो यह हूँ और कुछ नही हूँ, एक इसी बातपर दृढ हो जावो तो सब बात मिल जायेगी और जो इससे विचलित रहेगा उसको कुछ लाभ नही मिलनेका। एक अपनी भावना बनाओ कि मैं सहज ज्ञानज्योति हूँ। मै अग्रवाल, जायसवाल, खण्डेलवाल आदि ये कुछ नही हूँ। मै पुरुष भी नही, स्त्री भी नही। पुरुष और स्त्री होना क्या ये आत्माके चिन्ह हैं ? ये तो शरीरके चिन्ह है, भले ही उसमे कारण इस जीवके भाव बनें, जैसा भाव किया वैसा कर्मबन्ध हुआ, जैसा उदय आया वैसा यहाँ परिणमन बना, सो ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग तो है, पर आत्माके ये चिन्ह नही है। तब ही तो देखो पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद—इन तीनो वेदोका विनाश ९वें गुणस्थानमे हो जाता है। एक पुरुषवेद जो अरहत भगवानके बना रहा वह तो द्रव्यवेद है। चूंकि द्रव्यवेदसे कोई असर नही पडता, इसलिए वह अकिञ्चित्कर है, मेरा विघात करनेमे समर्थ नही, तो पुरुष भी मै नही हूँ, स्त्री भी मै नही हू, ये देहधारी भी मैं नही हूँ, मैं तो एक ज्ञानज्योति पुञ्ज हूँ। देखो जैसे हड्डीका फोटो लिया जाता ना एक्सरा यन्त्रसे तो वह यत्र न तो रोमका फोटो लेता, न चमडेका, न खून, मास मज्जा आदिका, वह तो सीधा हड्डीका ही फोटो ले लेता है, है ना एक गजब जैसी बात कि रोम, चाम, लहू, मास आदिक इन सबके भीतर है हड्डी, मगर वह एक्सरा यत्र बाकी सबको छोडकर केवल हड्डीका फोटो ले लेता है। जब इन अचेतन यंत्रोंमे भी यह तारीफ है तो हम आप तो चेतन यत्र है, हम आप सबको छोड दें मायने जिस समय हम अपने अत भगवान आत्माको सहज परमात्मतत्त्वको जानने चलें तो इसके ऊपर आवरण बहुत पडा है, शरीर है, कर्म है, विकार हैं, कषायें हैं, विचार है, ऐसे बहुत आवरण पडे हैं,

पर तारीफ है उसकी कि इन आवरणोंको ग्रहण ही न करें, और इन सबके बीच बसे हुए उस ज्ञानपुञ्जको दृष्टिमे लें और यह निर्णय रखें कि मैं तो यह हूं।

तत्त्वज्ञका पौरुषोद्यम—देखिये तत्त्वज्ञने कितनी काट-छांट कर लिया। कर्म तो उसके कटते हैं। कोई बाहरमे देखकर कि मैं ऐसी यात्रा करूँ, ऐसा पूजनका विधान बनाऊँ, ऐसा उपवास करूँ, अमुक अमुक व्रत कर लू तो मेरे कर्म कट जायेंगे, तो इससे कर्म नही कटते। कर्म केवल आत्माके इस रत्नत्रय भावसे कटते है। आप सोचेंगे कि फिर ये क्यो किये जायें जब इनसे कर्म कटते ही नही ? तो किये यो जाने चाहिएँ कि यदि ये न कटेंगे तो फिर क्या परिस्थिति गुजरेगी ? अगर शुभोपयोग न करे, सत्कार्य न करें तो फिर क्या परिस्थिति गुजरेगी ? पाप करेंगे, व्यसनोमे रहेगे। तो उसमें तो हम आत्माकी सुधके पात्र ही न रह पायेंगे, इसलिए परिस्थिति हमसे शुभोपयोगी करायेगी अगर उन्नतिपथमें जाना है तो, और ये किए जाते है, और इन स्थितियोमे एक आत्माकी सुध आनेके बहुत सुगम अवसर आते है, इसलिए ये कार्य करने योग्य बताये है, पर कोई ऐसा अज्ञान बसाये कि इस तरह फल उठावो, यो थालीमे धरो, ऐसी-ऐसी क्रियायें करो, इससे कर्म कटते है, तो यह अज्ञान है। तो अपना समय अच्छा गुजारनेके लिए, भक्तिमे हमारा कुछ समय लगे इसके लिए आलम्बन मात्र है। इससे कर्मबन्धन नही मिटता। अपने आत्माके सत्यस्वरूपकी सुध आये और उसके लिए ये सब कर्म किए जाते है। ये कार्य व्यर्थ नही है, किये जाने योग्य है, मगर सच्चा ज्ञान बनावें कि यह तो आत्माकी सुध आ जाय, ऐसी योग्यता बनाये रखनेके लिए यह काम है। ऐसा एक सही लक्ष्य रख करके काम करे तो उसे एक लाभ मिलेगा और जो लक्ष्य ही न बनायेगा उसे कुछ लाभ नही मिलनेका। जैसे कोई मनुष्य किसी नदीमे बिना लक्ष्य बनाये नाव खेता रहे तो कभी किसी दिशामे, कभी किसी दिशामे नाव बहती रहेगी, वह किसी ठिकाने न लग सकेगी, मजधारमे ही पडी रहेगी, क्योकि उसने अपना कोई लक्ष्य ही नही बनाया कि कहाँ जाना है ? वह तो पागल ही कहलायगा। तो लक्ष्य बिना जैसे वह उन्मत्त चेष्टा है ऐसे ही लक्ष्य बिना हम आपके अशुभोपयोग और शुभोपयोग वाली चेष्टा ये उन्मत्त चेष्टा है। लक्ष्य बनाया जाय तो यह शुभोपयोग चार चाँद लगा देगा, और लक्ष्य सही न बने तो शुभोपयोग अज्ञानका ही बढ़ावा दे रहा है। इससे मुक्ति नही मिलती। तो मुख्य चीज यह है कि हम वस्तुका यथार्थ परिचय करें।

एकेन्द्रिय जीवमें भी अन्तःस्वरूपके दर्शनका प्रताप—यहाँ एक सूत्रकी व्याख्यामें कह रहे है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति पर्यन्त जीवके एकइन्द्रिय होती है। यहाँ अतका अर्थ पर्यंत लेना चाहिए। सो इनके एक इन्द्रिय होती है यह तो कह दिया। लेकिन हम कहेगे

कि आंख होती है । कोई कहेगा कि नाक होती है । वह एक कौन इन्द्रिय होती है ? तो भाई एक शब्दके कई अर्थ होते है । एक शब्दका १ सख्या भी अर्थ है । एकइद्रिय होती है, दो-तीन नही होती, और एकका प्रथम अर्थ भी होता है । वह तो एक ही है मायने प्रथम है । तो यहाँ एकका अर्थ प्रथम लेना । एक इन्द्रिय है मायने प्रथम इन्द्रिय है स्पर्शनइन्द्रिय । देखिये—जीवपरिचयमे एकेन्द्रियकी चर्चा चल रही है । उसके सहारे समस्त जीवोका परिचय साथ-साथ चल रहा है, क्योकि किसी जीवको उसका जो सहजस्वरूप है उस दृष्टिसे देखा तो सारे जीवोको उसने जान लिया । तो हम अपने आपमे ऐसा अनुभव बनायें कि मैं सहज ज्ञानज्योति मात्र हू, अन्य कुछ नही हू, अगर कही लाखका नुक्सान है तो उससे मेरा कुछ नुक्सान नही, वह तो एक पुद्गलकी चीज है, अगर लाखका फायदा है तो उससे मेरा कोई फायदा नही । वह तो पुण्य-पापके उदयकी बात है । हो रहा है ऐसा, पर मेरा उससे कोई फायदा नही है । और कोई कहे कि यह तीनो लोककी विभूति यह सब मैंने आपको दे दी तो बताओ तीनो लोककी विभूति पा जानेपर भी होगा क्या इस जीवका ? इस जीवके काम सम्पदा नही आने की, मित्रजन इसके काम नही आनेके, ये प्राप्त समागम इसके काम नही आनेके । इस जीव का काम तो इसकी ही स्वरूपदृष्टि देगी, क्योकि इसका इतना अतुल प्रताप है कि इसके फल मे यह त्रिलोकपति हो जावेगा । मैं यह ज्ञानज्योति पुञ्ज हू, यह दृष्टि बने ईमानदारीसे याने किसी परपदार्थमे मेरी दृष्टि न अटके, केवल एक सहज ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वको ही अपनाकर रह जायें तो मेरे भव-भवके कर्म कहेगे, एक सुखसाताका वातावरव बनेगा । इसलिए इन मायावी समागमोसे लाभ-हानिका ब्यौरा मत बनावें । अज्ञान है तो मेरी हानि है और सम्यग्ज्ञान चल रहा है तो मेरा लाभ है । इस तरह अपनी अध्यात्महानि और अध्यात्म-लाभको सोचें ऐसा पौरुष बनायें कि जिससे मेरे आत्माका बोध दृढतम बन जाय और मैं यह ही निरन्तर अनुभव करता रहू कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र तत्त्व हू । इस समाधिभावके प्रसादसे सर्व प्रकारका आनद मिलता है ।

एकेन्द्रियके स्वरूपके परिचयसे शिक्षा—मोक्षशास्त्रके द्वितीय अध्यायका २२ वाँ सूत्र था, जिसमे यह बताया गया कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इनके सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय होती है । ये सब जीव हमारी ही जातिके हैं । कभी ऐसे हम आप भी थे और करनी ठीक न करें तो ऐसे हम हो सकते है । तो इन एकेन्द्रिय जीवोकी दशा देखो—मन नही, रसनाइन्द्रिय आदिक नही । केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा वे ज्ञान कर पाते हैं, उनका च्य लेप्याहार है, अर्थात् मिट्टी, पानी पडा है, लिप गया और वे जडोंसे उसके अणु आते हैं और इस तरह उनका जीवन रहता है । जिनका विस्तार देखो कैसा बेढंगा है ? पेडोका कैसा

विस्तार ? पृथ्वी, पत्थर आदिकका कैसा विस्तार ? ऐसे विचित्र भेषमे इस जीवको अज्ञानके कारण रहना पडता है । अभी तक एकेन्द्रिय जीवोंका तो वर्णन किया, अब ससारमे जो अन्य और जीव है त्रस, उनके विषयमें कहते है ।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

त्रस जीवोंकी विशेषता और सब जीवोंमें स्वयंका स्रष्टापन—कृमि, लट, पिपीलिका (चीटी) भ्रमर (भवरा) और मनुष्यादिककी एक-एक इन्द्रिय बढ-बढकर याने स्पर्शन पर एक बढाया तो स्पर्शन रसना, ये लट आदिक जीवोंमें पायी जाती हैं । उससे एक इन्द्रिय और बढी तो तीन इन्द्रिय जीव चीटा चीटी आदिक हुआ, एक इन्द्रिय और बढी तो भंवरा, ततैया आदिक चारइन्द्रिय जीव हुआ, फिर एक इन्द्रिय और बढी तो पञ्चेन्द्रिय जीव, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव आदिक हुआ । जगतके जीवोका परिचय पानेके लिए मार्गणा बहुत सहायक हैं । जब हम जीव पदार्थको भली प्रकार पहिचानेंगे तो हम उनकी दया कर सकते हैं और हममे एक विरक्ति उत्पन्न हो सकती है । अहो—जीवकी ऐसी ऐसी घटनायें होती हैं अज्ञानभावके कारण । जगतमे, लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नही बचा जिस जगह यह जीव अनन्त बार न उत्पन्न हुआ हो, लेकिन फिर भी यह जीव जिस जगह जन्म लेता है उस क्षेत्रको अपना लेना है । यह मेरा गाँव है, यह मेरा मौहल्ला है, यह मेरा घर है । अरे तेरा घर तो तेरा सारा लोक बना फिरा और कही तू टिक न सका, आज एक इस छोटेसे घरमे तू ममता बुद्धि कर रहा कि यह मेरा है । यहाँ कौन किसका हो सका ? बडे-बडे महापुरुष जिनका उनके समय मे बडा यश छाया था आज वे यहाँ नही रहे तो फिर हम आपकी तो बात ही क्या ? किसी का एक पलका भी भरोसा नही । तो जिस चीजका कुछ विश्वास नही उसके प्रति विश्वास बनाये हुए हैं ये मोही जन कि ये मुझे कभी धोखा नही दे सकते । और जो अपने आपमे ही नित्य अन्त प्रकाशमान अपना सहज स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि भी नही देते, तो इसका फल यह होगा कि ससारमे जन्ममरण करना होगा । जैसे लोग कहते है कि घट-घटमे बसा है भगवान । तो वह कोई अलगसे भगवान घट घटमें नही बसा, किन्तु घट घटमें प्रत्येक जीव स्वयं भगवान स्वरूप है, लोग कहते है कि यह सब प्रभुकी लीला है, ईश्वरने बनाया है, अरे हम आपसे अलग कोई एक ईश्वर हम आपको बनाने वाला नही, किन्तु हम आप ही स्वयं ऐश्वर्य सम्पन्न है, ईश्वर हैं, प्रभु है स्वभावसे, पर विकल्प हालतमें इस उपाधि दशामें हम आपकी ये सब सृष्टियाँ हो रही है । स्वयके लिए स्वय महान हैं, स्वयका स्वयं रक्षक है, स्वयंका स्वयं ही मगलस्वरूप है । मुझको तारने कोई दूसरा न आयगा, किन्तु जो तिर चुके है ऐसे प्रभुकी भक्ति हमारे हृदयको स्वच्छ करती है और हमे अपने आपमे बसे हुए

परमात्मतत्त्वको दिखा देती है। इस कारण ज्ञानी जन प्रभुभक्ति करते है, पर प्रभु भी हम को तार दें, ऐसा नही है, क्योकि यदि ऐसा होने लगे तो प्रभुको या तो पक्षपाती कहो या असमर्थ कहो। सबको क्यो नही तार देते। जो लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ही सुख दु ख देता उनसे यह पूछो कि ईश्वरको तो दयालु मानते हो, वह सबको सुख क्यो नही देता, दु ख क्यो देता ? तो लोग उत्तर देते हैं कि जिसकी जैसी करनी है, जिसका जैसा कर्म है उसके अनुसार वह सुख दु ख देता, तो फिर ईश्वर पराधीन हो गया याने करनी करेगा बुरी तो उसे ईश्वर सुख नही दे सकता। तो फिर, अलगसे ईश्वरको ही क्यो सुख दुःखके बीच भिडाते हो ? उसे तो वीतराग रहने दो, उसे तो सर्वज्ञ मानो। परमात्मा है, सर्वज्ञ है, वीतराग है, त्रिलोकपति है इस ढगसे समझो और यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावसे यह सब व्यवस्था चल रही है।

निमित्तनैमित्तिक योगमें विषम सृष्टि—जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही जीवकी स्थितियाँ बनती है। जिसके दोइन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय है जिसके स्पर्शनावरण, रसनावरणका क्षयोपशम है, वीर्यान्तिरायका क्षयोपशम है, ऐसे जीव दोइन्द्रिय बनते हैं। यह सब अपने आप व्यवस्था है। तो इसमें कभी बाधा नही आती। कोई एकके जिम्मे बात होती ससारकी व्यवस्थाकी, तो की ही नही जा सकती थी। हाँ तो त्रस पर्याय। देखो यह जीव चिरकाल एकेन्द्रिय पर्यायमे रहता है। एकेन्द्रिय पर्यायमे रहते-रहते कभी-कभी यह त्रस बन पाता है, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, बनता है, तो त्रस पर्यायका काल कुछ अधिक दो हजार सागर है। इतनेमे यदि यह जीव मुक्त हो गया तो ससारके सकट छूट गए और न मुक्त हो सका तो इसे स्थावर ही बनना पडेगा। तो स्थावर बननेसे फिर ससार मे रुलेगा। हम ससारमे न रुल सके—इसका उपाय क्या खोजा ? हमारे जन्म मरणके कष्ट न रहे, इसके उपायमे क्या सोचा ? अरे जन्म न हो तो कभी मरण न होगा और मरण न हो तो कभी जन्म न होगा। अगर मरण न चाहिए तो जन्म न होवे, भव न मिले। शरीर न मिले, ऐसी स्थिति चाहिए।

अपने भविष्यको शान्त रखनेके पौरुषमे बुद्धिमानी—देखो जो कुछ यहाँ मिला है लोकायतिककी तरह, यह न समझें कि भोग भोगें मरनेके बाद फिर कुछ रहेगा नही। जीव कहाँ रहता है ? इसलिए जो सुख समागम पाया उनको खूब भोगो। ऐसी बात लोग यों समझते है कि वे यह जानते है कि मरनेके बाद तो यह जीव रहनेका ही नही, लेकिन इस जीवके पूर्वभव थे और आगे भी भव होगे। पूर्वभव थे, इसकी क्या निशानी है ? देखो बच्चा उत्पन्न होता है। उत्पन्न होते ही जब उसका मुख माताके दूधमे लगा दिया जाता तो वह

कैसे पी जाता, कैसे गुटक जाता ? अरे उसके आहार करनेका संस्कार था, पूर्वभवमे भी आहार करता रहा, इसलिए उस संज्ञा संस्कारकी वजहमे उसे कुछ सिखाना नही पडता कि तुम ऐसे दूध पियो और ऐसे गुटक जावो। कोई बिल्कुल नई बात हो जो पहले थी ही नही, उसके लिए तो कुछ सिखाया जाना पडेगा, मगर जो तुरन्तका बच्चा भी दूध गुटकने लगता है तो यह पहला संस्कार है आहारसंज्ञाका कि जिससे उसे बाधा नही पडनी। दूसरी बात—जाति स्मरणके अनेक उदाहरण सुने गए है और किन्ही-किन्ही लोगोंने देखा भी होगा। छोटे-छोटे बालक अपने पूर्व भवके घरको बता देते है। मेरा वह घर है, मेरा वह पिता है और वहाँ धन गडा है आदिक बातें कहते हैं। और बात सच निकल बैठती है तो इससे समझना कि पूर्वभव था हमारा, और जब पूर्वभव था तो उत्तरभव भी रहेगा। हम बिल्कुल विनाशको प्राप्त न होंगे, पर्याय ही हमने बदल लिया तो हम नष्ट न होंगे कभी, और पर्यायें हमारी बदलती रहेगी। तो हम कैसी पर्याय पायें कि हमे सुख-शान्ति रहे ? तो ससारमें पर्याय तो कोई ऐसी है नही जो वास्तविक शाति दे, पर आत्मस्वभावका दर्शन और अपने आपमें ऐसा मानकर रह जाता कि मैं एक स्वच्छ ज्ञानानद स्वरूप हूं, अन्य कुछ नही हूं, ज्ञान ही ज्ञान हू, जिसमे विकारका प्रवेश नही, नाम नही। विकार होते तो है, पर वे परद्रव्यका सन्निधान पाकर होते हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नही। मैं स्वरूपसे एक स्वच्छ ज्ञानपुञ्ज हूं, अन्य कुछ नही हू, ऐसी दृढ श्रद्धा हो और फिर कभी दुःख हो जाय, यह कभी हो नही सकता।

जैनत्वका लाभ होनेपर क्लेशका अभाव—निजको निज व परको पर स्वरूपकी श्रद्धा वाले को ही जैन कहते हैं। जिनेन्द्रदेवने जो तत्त्व बताया, जो आत्मस्वरूप बताया उसकी श्रद्धा जिसे है उसका नाम है जैन। कभी दुखी न हो सकेगा यह जिसने कि आत्माके स्वरूपका अनुभव किया। क्यो न होगा दुःख ? अच्छा दुःखके कारण क्या माने जाते हैं लोक मे ? किसीका पिता गुजर गया, पुत्र गुजर गया, स्त्री गुजर गई, तो लोग दुःख मानते हैं और यह ज्ञानी जीव ज्ञाता रहता है। वह दूसरा जीव था, उसकी इतनी ही आयु थी, उसका परिणमन उसमे है, मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, स्वरूप निराला, स्वभाव निराला, परिणति न्यारी। मेरा क्या सम्बन्ध है ? हो गया ऐसा। जैसा जगतमे अन्य अनन्त जीवोके हुआ करता है वैसा हो गया, इसका वह ज्ञाता रहता है, कष्ट नही पाता। मानो लाखोका टोटा पड गया तो वह जानता है कि सोना, चाँदी, रुपया पैसा यह तो सब पौद्गलिक ठाठ है, यहाँ न रहा, और किसी जगह चला गया, सत्ता तो हमारी नही मिटी। यहाँ रहता तो उससे आत्मामे कौन सुधार और यहाँ न रहा धन तो उससे आत्मामे कौनसा बिगाड ? वह ज्ञाता रहता है। ज्ञानीमे यह कला है कि वह सत्यस्वरूप जाननेके कारण मात्र जाननहार रहता है। जो केवल

जाननहार रहे उसको कष्ट नही होता और जो उसमे कुछ दखल देना चाहे तो उसे कष्ट होगा। जैसे यात्री लोग अजायबघर देखने जाते है तो वहाँ यह आदेश होता है कि देख लो सब चीजें, किसी चीजको छुवो नही। अगर किसी चीजको छुवा तो वहाँका निरीक्षक निकाल बाहर करेगा या उचित दड देगा।

तो ऐसे ही यह सारा ससार अजायबघर है, लोग तो अजायब घरमे एकसे एक विचित्र पशु-पक्षी वगैरा देखकर बडे खुश होते हैं—अहा कैसा यह मगर है, कैसा यह विचित्र हिरण है, कैसा है सूकर है पर सोचो तो सही कि ये सब जीव कहाँसे आये ? आखिर वे सब ससारी जीव ही तो हैं, पकड-पकडकर वे एक जगह इकट्ठे कर दिए गए है। यहाँ जो लोग नाटक, थियेटर, सिनेमा वगैरा देखने जाते है वह भी कोई नई चीज है क्या ? अरे उसके अदर दिखाई जाने वाली चीजें सब संसारकी ही तो हैं। इस तरह बोला, ऐसे-ऐसे सम्बध हुआ, इस तरहसे विरोध हुआ, इस-इस तरहसे वने, इस-इस तरहसे बिगडे। अरे वहाँ नाटक क्या देखते ? यह ससार ही स्वयं एक नाटक है। जो बात वहाँके पात्र करते हैं, सिनेमामे दिखाते हैं वही बात यहाँ साक्षात् जीव कर रहे है। वे बातें तो बनावटी है। यहाँ सहज नाटक हो रहा है। यहाँका नाटक देखो ना। कैसे-कैसे लोग, कैसा व्यवहार, कैसा धोखा दिया, कैसी प्रीति किया, कैसा साथ निभाया, ये सारी बातें यहाँ देखनेमे आ सकती हैं।

तो यह ससार एक महान् नाटक है। यहाँ देख लो नाटक देखना है तो और नाटक का अर्थ क्या है ? न अटक, जिसमे न अटकना चाहिए उसे नाटक कहते हैं। जैसे लोग नाम धरते है ना हिन्दू होटल, जैन होटल, तो इसका अर्थ है कि हिन्दू हो तो टल जावो, जैन हो तो टल जावो, यहाँ न आवो, ऐसे ही नाटक याने अटको नही, हट जावो। आवो, स्वरूपको देखो, यह सारा जगत नाटक है, क्या रखा है बाह्य पदार्थोंसे प्रीति करनेमे ? कोई प्रीति करेगा बाह्य पदार्थोंसे तो उसका ही यह फल है कि ऐसे दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियमे उत्पन्न होना पडता।

जीवोंके सही परिचयसे हित-प्राप्ति व अहित-परिहारकी प्रेरणा—ससारके समस्त जीव ५ प्रकारके मिलते है और इन्द्रिय मार्गणा द्वारा जो यह ५ तरहका परिचय कराया जाता है यह उपयोगी अधिक क्यो है ? एक तो यह सुगम है, आँखो दिख जाता है। दूसरे इस आधारपर इस जीवके ज्ञानका अनुमान हो जाता है। जीवका लक्षण ज्ञान ही तो है। और उस ज्ञानका अनुमान होता है इस इन्द्रियको देखकर। अरे यह दो इन्द्रिय है। जिह्वा है तो यह रसका भी ज्ञान कर लेता है। इसके नेत्र हैं तो यह चारइन्द्रिय जीव है, यह रूपका भी ज्ञान कर लेता है। इसका इतना विकास हो गया। धर्म क्या ? आत्माके योग्य विकास

का नाम धर्म है । आत्मविकास—आत्मविकास जहाँ पूरा हो गया वह है भगवान । पूर्ण आत्मविकासका जो प्रयत्न करते है वे है गुरु और आत्मविकास करनेका जो मार्ग जान गया है वह कहलाता है सम्यग्दृष्टि, और जिसमे आत्मविकासकी योग्यता ही नही हो रही, मन ही नही है, उस कालमे वह कहलाता है असज्ञी जीव । ऐसे जीव ये है दोइन्द्रिय आदिक । क्या करें ? आज कुछ सुविधा पायी, पुण्यका ठाट पाया, उसे भोग रहे है । ये विषयसाधन बड़े सुगम लग रहे है, पर यह पता नही कि जो सुलभ लग रहे है ये विषय प्रसंग, ये कितने महंगे पडेंगे ? इसका इस मोही जीवको पता नही रहता । कितने महंगे पडेंगे ये ससारके सुख ? इन दोइन्द्रिय आदिक जीवोको देख लो आज इस मनुष्यभवको पाकर अपनी शानमें मरे जा रहे, किसी की दो बात सहन नही कर पाते और उसमे अपनी तारीफ समझते है । साहब हममे यह ऐब है कि हमको दूसरेकी बात बरदाश्त नही है ।

तो देखो वह अपना ऐब नही कह रहा मुखसे, वह अपने गुण कह रहा है, वह अपनी तारीफ बता रहा, लेकिन वह ऐसे शब्दोंमे कहता है कि लोग उसका अर्थ जल्दी-जल्दी समझ नही पाते । यहाँ तो आज शानके लिए मरे जा रहे पर मरकर यदि दो इन्द्रिय जीव हो गए कीडा मकौडा हो गए तो फिर क्या शान रहेगी ? यहाँ तो लोग जरा जरा सी बातोमे शान और हठ किया करते हैं, मगर मरकर दुर्गतियोमे पहुच गए तो फिर कहाँ रहेगी वह शान ? ये मोही और अज्ञानी बस ये ही संसारके नेता है । जो संसारको बढ़ावा दें, जो ससारकी रक्षा करें वे कौन है ? मोही और अज्ञानी । जो जन्ममरणकी परम्परा बढ़ायें ऐसे जीवोके नेता ये ही है मोहेन्द्र और अज्ञानी ।

किसीके बहकावेमें न आने वालेकी विवेकशीलता—जैसे जुवाकी जगह खेलने वाला पुरुष ऐसा फस जाता है कि वह वहांसे हटना चाहे तो उसको हटना मुश्किल हो जाता है, क्योकि जब वह सोचता कि अरे मैं तो हारता ही जा रहा हू, अब तो मैं जो कुछ बचा उसे लेकर चला जाऊँ तो वहाँ बैठे खिलाडी लोग उसे चिढाते हैं—बस इतना ही दम था, फिर वही वह खेलने लग जाता है तो ऐसे ही यह संसार सारा जुवाका फड है, यहांसे हटना बडा कठिन लग रहा । किसीके अगर थोडासा वैराग्य जगे तो वह काम नही कर पाता, क्योकि बाहरी प्रसंगोकी ओरसे ऐसे-ऐसे उत्तर आते हैं कि वह फिर उनमें फस जाता है । इसके लिए बडा प्रबल ज्ञान चाहिए । इस तरह किसीके बहकावेमे हम न आयें और अपना जो कर्तव्य है सदाचार, सत्यश्रद्धा, आत्मपरिचय, आत्मामें मग्न होनेकी धुन, इन सब बातोंमे दृढ़ रहें, दुनिया कुछ कहे कहने दो, ये कहने वाले लोग भी न रहेगे और जिसको कहा जा रहा वह भी न रहेगा । मैं तो एक सबसे निराला ज्ञानज्योतिर्मय तत्त्व हू । उसकी सम्हाल करे ।

स्वयं धर्म न कर धर्मोपदेशप्रचारमें ही लगनेमें अप्रभावनाका रूप—निज ज्ञानज्योतिर्मयकी सभाल भी कितनी सरल है, बस ऐसा अपने आपको अनुभव करना कि मैं यह ज्ञानमात्र पदार्थ हू, यह ही अपने आपकी सभाल है। लोग धर्मात्मा बनते है, क्या करते कि इनको उपदेश दें, इनको सिखाये, इनको मार्गमे लगायें, इनको प्रेरणा दें, बस दूसरोको धर्ममे लगावें, धर्मकी प्रेरणा दें, इस बातको समझते है कि हम धर्मात्मा है। अरे इस तरह धर्मात्मापन नही होता। स्वय धर्ममे आवें, स्वय आचारमे आयें, स्वय अपने आपकी सत्य श्रद्धा करें तो धर्मात्मा बनेंगे और यदि ऐसा ही करते रहे तो मानो जैसे १०० आदमी है और सभीके सभी धर्मके लिए बडी कमर कसे है और ऐसा प्रचार करते हैं कि जिससे खूब प्रभावना हो। तो बताओ उनमे से एक भी धर्मात्मा है क्या ? नही है, क्योकि स्वयके कल्याणकी कोई भावना नही है और उन १०० मे से अगर एक दो पुरुष भी ऐसा करें कि स्वयकी श्रद्धा, स्वयका ज्ञान और स्वयका दर्शन, स्वयमे तृप्त होना, यह सब अपने प्रयोगमे करें तो जिसने किया वह तो हो गया धर्मात्मा और फिर उसके पास जो सत्सगमे रहेगा उस पर सत्य छाप पडेगी। कोई यह सोचे कि अजी धर्म तो हमारे त्यागी जी करते ही है। अगर हम लोग न चलें उस आचार विचारपर तो इस धर्मकी क्या हानि होती ? ये तो सभाले हुए है। ऐसा ही अगर सब लोग सोच लें तो फिर उत्थानका मार्ग कहाँ रहेगा ?

एक राजाके मन्त्रियोंने उसकी प्रजाकी बडी प्रशसा की। राजाने जब प्रजाकी प्रशंसा सुनी तो राजा पूछने लगा कि क्या हमारी प्रजाके सभी लोग ईमानदार है या कोई ईमानदारी से रहित भी है ? तो एक वृद्ध मत्री बोला—महाराज आपकी प्रजाके सभी लोग ईमानदार है और सभी ईमानदारीसे रहित भी है। कैसे ? अच्छा महाराज आपको दिखा देंगे। मत्रीने अपने राज्यमे यह घोषणा करा दी कि राजाको आज बहुत अधिक दूधकी जरूरत है, कई टन दूध चाहिए इसलिए एक हौज राजदरबारके आगे बनाया गया है। सब लोग रात्रि को ११ बजेसे लेकर दो बजे तक अपने अपने घरसे १-१ सेर दूध लेकर हौजमे डाल जायें। अब सभी लोगोने अपने-अपने घरमे ऐसा सोच लिया कि सभी लोग तो दूध ले ही जायेंगे, एक हम दूध न ले गए, पानी ही डाल आये तो क्या फर्क पडेगा ? किसीको पता ही न पडेगा। यह बात सभीने सोच ली। जब रात्रिको सभी लोग अपने-अपने घरसे एक एक सेर पानी ले गए तो सारा हौज पानीसे भर गया। सवेरा होनेपर जब देखा गया तो सारा हौज पानीसे भरा हुआ था, उसमे दूधका नाम न था। वहाँ राजाने समझ लिया कि वास्तवमे हमारा मत्री ठीक ही कहता था कि राज्यके सभी लोग ईमानदार भी है और ईमानदारीसे रहित भी। तो धर्मकी जिम्मेदारी खुदपर भी समझनी चाहिए। ऐसा न सोचना चाहिए कि करने वाले तो और लोग है, यदि हमने न किया तो इसमे क्या फर्क पडता है ? यदि ऐसा

प्रमाद किया जायगा तो जैन नाम धराकर समझ लो कि हम जैन धर्मकी अप्रभावना कर रहे है।

यथाशक्ति संयमरूप प्रवर्तनसे कल्याणलाभ करनेका संदेश—भैया ! यह तो बडा सुयोग है कि हमे जैन वातावरण मिला, जैन नाम पाया। अगर जैन नाम धराया है तो उसका पालन करो अब। देखो ये छोटी छोटी बातें भी आचार-विचारकी नही निभा पाते जैसे कि रात्रिभोजनका त्याग। यह कोई कठिन बात नही है, मगर देखिये एक इस नियमको भी नही निभा पाते। कैसी एक निशाचरी (राक्षसी) वृत्ति है ? उसमे आसक्तिका बडा भारी दोष है। कामकाजके ठिकाने न रहनेका दोष, धर्म पालन न कर सकनेका दोष, स्वास्थ्यके लिए दोष। सभी वैद्य बतलाते है कि खाना खानेके बाद कमसे कम दो-तीन घटे बाद सोवो। जब तक कोई काम करो, श्रम करो। खाना खाकर कोई तुरन्त सो जाय तो वह स्वास्थ्यके लिए भी नुक्सानदायक है। फिर रात्रिमे अनेक प्रकारके जीव जन्तु उडते रहते है।

सुना है कि किसी बरातमे रातको खाना बन रहा था, उसमे कोई छिपकली गिरकर पक गई। उस भोजनके करनेसे अनेक लोग मर गए। तो रात्रि-भोजन करनेसे सब हानि ही हानि है। ऐसे छोटे-छोटे नियमोसे भी अगर डरें तो ठीक है, आज जैसा चाहे कर लें, पर कुछ ही समय बाद जब यहांसे मरण करके दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिककी खोटी गतियों मे जन्म ले लेंगे तो फिर क्या हाल होगा ? क्या आप लोगोको वह दशा मंजूर है ? आज तो यहाँ आराममे जरा भी दखल आये तो वह बात मजूर नही होती, पर उन कीट पतिंगा वगैराकी खोटी पर्यायोमे पहुच गए तो फिर क्या हाल होगा ? इससे कुछ तो सोचना चाहिए। बहुतसे लोग तो कह देते है कि भाई क्या करें सरकारी नौकरी है, रातको खाना पडता है तो उनका यह कहना बेकार है। अरे एक बार तो घरसे खाकर ही काम करने जाते। वैसे तो स्वास्थ्यके लिए एक बार ही भोजन कर लेना पर्याप्त है, पर यदि दुबारा भोजन करना ही है तो अपने साथ टिपेनबाक्स वगैरहमे कुछ खानेके ले लिए गए और दिनमे ही खा लिया। वहाँ यह कहना ठीक नही कि रातको खाये बिना नही चलता। तो भाई अपनी सामर्थ्य न छुपाकर यथाशक्ति सयम करो, प्रभुभक्ति करो, आत्मज्ञान करो, तत्त्वज्ञान बनाओ, जिससे आत्माकी सुध रहे। यही एक उपाय है कि हमे फिर इन एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक की खोटी योनियोमें जन्म मरण न करना पड़ेगा।

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

पञ्चेन्द्रियोमे मूलभेद—इसका अर्थ है कि जो मनसहित जीव है वे सज्ञी जीव कहलाते है। ससारमे कितने जीव है ? अनन्तानन्त जीव है। जिनमेसे अनत मोक्ष चले गए, फिर

भी कितने हैं ? अनन्तानन्त । अनत काल तक और भी मोक्ष जायेंगे फिर भी कितने बचेंगे ? अनन्तानत । जैसे गणित अनन्तमे से अनन्त निकले तो कितना बचेगा ? अनत । जैसे किसी घटेमे से कितने ही शब्द निकलें, फिर भी कितने शब्द और निकल सकेंगे ? जैसे आकाश प्रदेशपर चलते चले जावो तो आखिर बहुत दूर चले जानेपर भी, मानो अनन्त योजन जानेपर भी आकाश कितना और बचेगा ? अनन्त । अनन्तका अर्थ ही यह है कि जिसका कभी अंत न हो । लोग संख्यावोका ज्यादा परिचय होनेके कारण ऐसी आशंका कर लेते है कि आखिर ससारसे जीव मुक्त होते है तो कभी संसार खाली हो जायगा तो यह शका यो व्यर्थ है कि पहला तो प्रमाण आजकी स्थितिमे है । अबसे पहिले कितना काल व्यतीत हो गया ? अनन्त-काल । क्या कभी ऐसा भी दिन था कि जिस दिनसे काल (समय) का प्रारम्भ हुआ हो ? ऐसा कोई समय न था । अनन्तकाल गुजर गया । अनन्तकालसे मोक्ष जा रहे हैं, अनन्त मोक्ष गए, फिर भी ससार वैसाका वैसा ही दिख रहा ।

तो इस ससारमे हम आप जीवोंने अनन्तकाल एकेन्द्रिय आदिक पर्यायोंमे व्यतीत किया । एकेन्द्रियसे दोइन्द्रिय होना कठिन है, क्योंकि दोइन्द्रियमे कुछ आत्मविकास है ना ? कोई खास विकास नही, पर कुछ विकास हुआ तो सही । उससे तीनइन्द्रिय जीव होना कठिन है, फिर उससे चारइन्द्रिय जीव होना कठिन है, फिर उससे पञ्चेन्द्रिय जीव बनना बहुत कठिन है और फिर उनमे भी संज्ञी जीव बनना बहुत कठिन । देखिये आत्मोद्धारका प्रारम्भ अगर हो सकता है तो मन वाले भवसे ही हो सकता है, क्योकि मनका अर्थ है—जो हितकी बात प्राप्त कराने और अहितका परिहार करानेमे समर्थ हो । तो पञ्चेन्द्रिय जीव तक वर्णन आया था, फिर एक यह शका हुई कि पञ्चेन्द्रियमे भी कोई एक तरहके पञ्चेन्द्रिय होते या कई तरहके ? तो पहला भेद यह बताया कि कोई जीव सज्ञी होते है कोई असज्ञी । पञ्चेन्द्रियमे असज्ञी जीव बहुत कम मिलेंगे । जैसे पानीमे रहने वाले सांप, ऐसे कोई बिरले ही जीव है जो पञ्चेन्द्रिय होकर भी असज्ञी होते है । अधिकतर पञ्चेन्द्रिय जीव सज्ञी हुआ करते हैं ।

समनस्क शब्दका प्रकाश—यह मोक्षशास्त्र ग्रन्थ है । देखो आचार्य सतोने कैसे-कैसे विद्वत्तापूर्ण सूत्रोकी, गाथाओकी रचना की, जिन्होने बडा तपश्चरण करके, बडा आत्मानुभव करके जीवोके उपकारके लिए शास्त्ररचना की । हमे बडी भक्तिसे बहुत अनुरागसे उनको पढना चाहिए और उनके कला कौशलको समझना चाहिए । यह सूत्र यो कहा गया है—सज्ञिन. समनस्काः॥

देखो कोई लोग यह शका कर सकते है कि सज्ञिनः का वही अर्थ होता है जो समनस्का का है याने विशेष मन वाले हैं, फिर समनस्काः अलगसे शब्द क्यो लिखा ? इतना शब्द

हटा दे, 'संज्ञिनः' इतनी बात कह दें तो सूत्रमे भी लाघव हो गया और अर्थ निकल आया, लेकिन आचार्योंके शब्दोमें बडा रहस्य होता है, उनमे हीनाधिकता नही होती। यहाँ शंकाकारने यद्यपि ऐसी बात कही कि संज्ञाका भी यही अर्थ है कि जो हितकी बात प्राप्त करा दे और अहितकी बात छुटा दे सो ही तो सज्ञा है। तो संज्ञिनः मे ही वह अर्थ आ गया तो फिर समनस्काः शब्द क्यो दिया ? और संज्ञा शब्दमें 'इन्' प्रत्यय लग जानेपर संज्ञी बन जाता है। जैसे धनसे धनी। पहले सज्ञी कहा फिर समनस्का: शब्द क्यो दिया ? तो उत्तर यह है कि यदि समनस्का: शब्द न देते तो यह अर्थ कैसे निकलता कि पञ्चेन्द्रियमें कुछ सज्ञी है, कुछ असज्ञी। दूसरी बात—सज्ञा शब्द एक सामान्य है। जो ज्ञान हो वह सज्ञा। संज्ञा वाले सब जीव है। तो यो सभी संज्ञी हो गये, फिर भेद क्या रहा ? तो यह जानना कि जो मनसहित हैं वे संज्ञी है, चाहे अंडेमे जीव हो चिडिया वगैरा फिर भी वे मनसहित है, चाहे गर्भमें जीव हो, कोई चल-फिर नही सकता, फिर भी मनसहित है। जो हिताहितका विवेक करा दे वह मन है, मनसहित पर्याय पाना एक बहुत दुर्लभ वस्तु है।

स्वरसता और नीरसता—देखो चित्त जब एक अपने आपके वास्तविक आत्मत्वकी ओर दें तो ये बाहरी बातें सब नीरस लगने लगती है। क्या करना इस संगका ? क्या करना इस समागमका, क्या पूरा पडेगा इस ठाट-बाटसे ? और यह समझें कि यह तो मेरे लिए कलक है। यह कोई रमनेके लिए नही है। इस शरीरको देखकर खुश होना यह कर्तव्य नही है, यह तो कलंक है। अगर यह शरीर न लगा होता और केवल मैं ही मैं होता एक ज्ञानपुञ्ज ज्योतिर्मय एक आत्मतत्त्व वह ही मात्र होता तो वह तो अनुपम अनन्त आनन्दमय, अनन्त ज्ञानमय और सर्वसकटोसे अतीत कृतकृत्य होता। उसे करनेको फिर क्या पडा ? इस जीवको एक दु:ख यह ही लगा है कि यह सोचता है कि मेरे करनेको यह काम पडा है। वह अपने स्वरूपसे चिग गया। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है। यह तो हर स्थितिमे ज्ञानका ही काम कर पाता है। यह दूसरे पदार्थका काम नही करता।

देखो जगतमे जितने पदार्थ है वे अब तक है, उनमे गडबडी क्यो नही हुई, क्यो मिटे नही, कोई कम क्यो नही हो गया ? कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, कोई किसी का कर्ता नही, नाश करने वाला नही। सर्व पदार्थ अपने ही सत्त्वसे अपने आपमे रहते है, उत्पाद व्यय करते रहते हैं, एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें कोई परिणमन नही पहुंचता, इस कारण पदार्थ सब ज्योके त्यो बने हुए है और सदा रहेगे। तो वस्तुस्वरूप ही यह बतला रहा है कि परमे मुझे कुछ नही मिल सकता। देखिये— सत्यतापर आना पड़ेगा तब शान्ति मिलने का समय होगा। परपदार्थसे मुझे कुछ नही मिल सकता, यह बात ध्रुव सत्य है, परपदार्थ

अचेतन है और चेतन है, मैं भी चेतन हू, पर मेरे सिवाय और जितने जीव हैं वे चेतन है किन्तु पर है। वे मेरे स्वरूपसे न्यारे है, तभी तो किसी चेतनसे मेरेको क्या मिलेगा ? न अन्य अचेतनसे मेरेको कुछ मिलेगा, क्योकि वस्तुका स्वरूप ही है ऐसा कि परसे किसीको कुछ नही मिलता।

अकर्तृत्वश्रद्धानामृतपातसे संसार रोगका विलय—समस्त परकी अत्यन्त भिन्नता जानकर परसे कर्तृत्वबुद्धिका त्याग कर दें और अपने कषायानुकूल अगर कोई काम नही बनता तो उसमे रूसो नही, झल्लाओ नही। वह स्वरूप ही ऐसा है कि दूसरा कोई मेरा कुछ नही कर सकता, मैं भी दूसरेका कुछ नही कर सकता। जगतमे जो यह बात देखी जा रही है कि राजाने किसीको जेलमे बन्द कर दिया, किसीको फांसी दे दी, किसीको कुछ कर दी तो वहाँ भी राजाने किसीको कुछ नही किया। राजाका जो आत्मा है, उसने अपने आपमे विकल्प किया और उस विकल्पके अनुसार मन, वचन, कायकी चेष्टा की। चेष्टा भी नही की। वह भी चेष्टा मन, वचन, कायके परिणमनसे हुई। पर विकल्प उस अनुकूल बना। यहाँ तक उसका काम था, इसके बाद दूसरेका पुण्य पाप और उस परिणतिमे दूसरा निमित्त बनता है। एक दूसरेका कुछ नही करता। एक ऐसी कथा है कि एक बार एक धुनिया (रुई धुनने वाला) कही बाहर विदेशसे अपने देश वापिस लौट रहा था। समुद्री जहाजसे आना था। तो रास्तेमे जिस जहाजसे वह आ रहा था उसमे क्या देखा कि हजारो मन रुई लदी हुई थी। आदमी तो कोई दो चार ही थे। तो उतनी अधिक रुईको देखकर उसका मन दग हो गया, सोचा ओह! यह सब रुई हमे धुननी पडेगी। उसे इसका इतना गम हुआ कि उसके सिर दर्द होने लगा, धीरे-धीरे बुखार भी चढ़ आया। बीमार हो गया। बडी मुश्किलमे वह अपने घर पहुचा। वहाँ उसकी इस बीमारीको दूर करनेके लिए बहुतसे डाक्टर वैद्य हकीम आये पर कोई उसे ठीक न कर सका। एक बार कोई बडा चतुर पुरुष आया। उसने कहा कि इसका इलाज क्या मैं कर सकता हू ? हां हां महाराज कर दीजिए इलाज, आपकी बहुत बडी कृपा होगी। अच्छा तुम सभी लोग यहांसे बाहर चले जावो, इस कमरेमे सिर्फ हम रहेगे और यह रोगी। सब लोग कमरेसे बाहर हो गए। वहाँ वह चतुर पुरुष पूछता है कहो भाई तुम कैसे बीमार हुए ? कही बाहर गये थे या घरमे ही थे ? वह बीमार पुरुष बोला—भैया! मैं घरमे बीमार नही हुआ, मैं तो विदेशसे आ रहा था, सो रास्तेमे बीमार हुआ। किस चीजसे आ रहे थे ? समुद्री जहाजसे। उस जहाजमे कितने लोग बैठे थे ? अरे आदमी तो उसमे दो तीन ही थे, पर उसमे हजारो लाखो टन रुई लदी हुई थी। उस बीमार पुरुषकी ऐसी गम भरी आवाज सुनकर वह चतुर पुरुष सब बात समझ गया कि

वास्तवमे इसकी बीमारीका कारण क्या है ? सो वह चतुर पुरुष बोला–अरे तुम उस जहाजसे आये । वह तो अगले बन्दरगाहपर पहुंचते ही आग लग जानेसे जलकर राख हो गया । न जहाज बचा, न रुई और न कोई मनुष्य । लो वह बीमार पुरुष चंगा हो गया । तो उसके चित्तमे जो यह बात समा गई थी कि मुझे इतनी रुई धुननेका काम करना पडेगा, उससे उसके चित्तकी बीमारी बन गयी थी, पर जब उसके जल जानेकी बात सुनी तो उसके चित्तमें यह बात समा गई कि अरे मुझे करनेको अब वह काम नही रहा, लो ठीक हो गया । तो यही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानी जनोमे है । अज्ञानी तो सोचता है कि मुझे अभी यह काम करनेको पड़ा है, अभी यह । सो यह सोच सोचकर दुःखी रहा करता है और ज्ञानी पुरुष सोचता है कि मैं यहाँ कुछ नही करता । बाहरमे मेरे करनेको कुछ पडा ही नही, इसलिए उसे कही दुःख नही । वह पुरुष जानता है कि सबका भाग्य सबके साथ है, मैं किसीका कुछ नही करता, मेरे करनेको यहाँ कुछ पडा ही नही, इस कारण ज्ञानी पुरुष धीर वीर और सतुष्ट रहता है और अज्ञानी पुरुषको यह सब विवेक न होनेसे वह परका कर्ता बनता है । मैं अमुकको यो करता हू, अभी मुझे यह करने को पडा है, आदिक बातोसे वह सदा दुःखी रहा करता है । तो ज्ञानी और अज्ञानीमे यह अन्तर है । देखो ऐसा ज्ञानी बननेमें यह मन काम करता है । यह मन हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमे समर्थ है । तो ऐसा मन वाला भव मिलना बहुत कठिन बात है ।

इन्द्रिय अनिन्द्रियको विषयोसे हटाकर शीघ्र ज्ञानस्वरूपमें प्रवेश पानेके उद्यममें विवेक––आज हम आपको जो यह श्रेष्ठ मन मिला है तो यह समझकर स्वच्छन्द न हो जावो कि यह तो मिलना ही था । जो मन चाहे वैसा कर डालनेके लिए कमर न कसे रहो । देखो इस मनको सयमसे नियंत्रित कर दो । मनका नियंत्रण होनेपर कुछ ज्ञान पर्याय बनायें, कुछ ध्यान बनाये तो इस मनकी चचलता खतम हो जायगी । अरे पर्याय एक समयमे एक होती है । आत्माका स्वरूप देखो आत्मामे परिणमन एक समयमे एक होगा । अभी इच्छापरिणमन था, अब ज्ञानपरिणमन आया । इच्छापरिणमन बिल्कुल न रहा और ज्ञानपरिणमनमे ज्ञानानुभव करके अलौकिक आनन्द लूटा, और उसका जो प्रसाद मिलता है उस प्रसादके बल से ऐसे आवरणका क्षय हो जाता कि आगे आवरण पैदा न हो, ऐसी स्थिति बन जाती है । हम आपको सदा पापोसे, पातकोसे, विकारोसे दूर होनेका यत्न करना चाहिए । जैसे कोई धनी पुरुष यह सोचता है कि मैं इतना धन कमा लू, फिर ठीक हो जायगा, फिर मुझे कुछ न करना पडेगा, सुख सातासे रहेगे, मगर जैसे ही इतना धन मिल जाता है वैसे ही आगेकी इच्छा (तृष्णा) बढ जाती है । देखिये मुक्ति पानेके लिए कोई यह नियम नही है कि धनिका

को ही प्राप्त हो, गरीबोको नही। धन वैभवका होना न होना यह तो एक बाहरी बात है। किसीके पुण्यका उदय है तो धन बहुत इकट्ठा हो गया और किसीके नही है पुण्यका उदय तो धन नही होता उसके पास। कर्तव्य नो सर्वस्थितियोमे यही है कि हम अपने इन्द्रिय और मनको वश करें। यह बाट न हरें, प्रतीक्षा न करें कि पहले तो हम खूब मनके अनुकूल सब भोगोपभोग कर लें, बादमे फिर उनसे विरक्त हो जायेंगे, ऐसी स्वच्छन्दताका प्रवर्तन न करें। देखिये—अनादिकाल बीत गया भोग भोगते-भोगते पर अभी तक विरक्त न हुए। फिर आगे विरक्त होनेकी क्या आशा ? आज इस दुर्लभ मानव-जीवनमे हम यह स्वप्न न देखें कि पहले खूब भोग भोग लें पोछे सद्बुद्धि जग जायेगी। यह बात चित्तसे निकाल दें। हम आपको जो मन मिला है यह हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमे समर्थ होता है। जब चेतें तभी भला।

अपनी वेदनामें निमित्तको कर्ता माननेका अविवेक—हाँ तो ज्ञानीकी और अज्ञानीकी बात कह रहे है। दूसरी बात और देखिये—ज्ञान और अज्ञानका अन्तर। एक दृष्टांत द्वारा देखिये—दो जीव है—सिंह और कुत्ता। अच्छा बताओ—इन दोनोंमे आपके लिए अच्छा कौन है ? जो आपके काम आये वही तो आपके लिए अच्छा है। इस दृष्टिसे तो आप कुत्तेको ही अच्छा कहेगे। कुत्ता आपके घरकी बडी पहरेदारी करे, ईमानदारीसे काम करे और दो टुकडोपर, और जो दो टुकडे आप देंगे उन्हे वह बडे प्रेमसे खायगा, बडा विनय दिखायेगा, और हर जगह आपको बल प्रदान करेगा। अगर कुत्ता आपके साथ है तो आप बहुत निर्भय रहते है। और सिंहको अगर देख भी लो तो न जाने क्या हालत हो जाय ? तो सिंह और कुत्तेमें परोपकारी जानवर है कुत्ता, मगर किसी बडी सभामे यदि किसीको कह दिया जाय कि अमुक साहबका क्या कहना है, वह तो बडे परोपकारी है, सबका बडा ध्यान रखते है, बडे नम्र हैं, विनयशील है, वे तो कुत्तेके समान है, कुत्ता तो अच्छा जानवर है ना, तो हमने परोपकारी की ही तो उपमा दी, तो यह बात सुनना किसीको भी पसद न आयगा। की तो गई प्रशसा पर वह उसमे अपना अपमान महसूस करेगा। और यदि कहा जाय कि इन साहबका क्या कहना है ? यह तो सिंहके समान है। तो अर्थ तो यह हुआ कि बडे खूंख्वार हैं, दिख जाय तो देखने वालेकी दशा बिगड जाय, यही तो अर्थ होता है उसका, मगर उस सिंह शब्दको सुनकर वह बडा खुश हो जाता है। तो इन दोनोंमे फर्क क्या है ? फर्क एक चीजका है जिससे हर बातमे कुत्ता बडा होनेपर भी कुत्तेकी उपमा किसीको नही सुहाती और सिंहमे एक गुण ऐसा है कि जिस गुणके कारण उसकी उपमा सुहा जाती है। क्या है वह गुण सिंहमे ? तो वह गुण यह है कि कुत्तेको अगर कोई लाठी मारे तो कुत्ता किसे चबायेगा ? लाठीको। वह

मारने वालेपर हमला न करेगा, क्योकि उसको यह सही ज्ञान नही है कि हमको मारने वाला पुरुष है, वह जानता है कि हमे लाठीने मारा, और सिंहको अगर कोई लाठी तलवार मारे तो वह लाठीपर, तलवारपर आक्रमण नही करता, किन्तु सीधे मारने वालेपर आक्रमण करता है। सिंहको ऐसा सही ज्ञान है कि हमको मारने वाला यह पुरुष है, लाठी नही। तो फर्क है इस ज्ञानका और अज्ञानका। बस यही अन्तर है ज्ञानीमें और अज्ञानीमे। ज्ञानी जीवको सही ज्ञान है कि मेरे बाधक हैं रागद्वेष मोहादिक और अज्ञानीको यह ज्ञान नही है कि मेरा बाधक मेरा ही विकल्प, मेरा ही अज्ञान, मेरे ही रागद्वेषादिक भाव है। अज्ञानी जीव इन बाह्य वस्तुओको बाधक मानता है। इसने ऐसा किया, इसलिए मेरा काम खराब हो गया, इसने यह बाधा डाली, इसलिए मेरा काम बिगड गया। अज्ञानी जीवको न तो अपने अज्ञानका पता है, न अपने बाधकका। तो अज्ञान ही अज्ञान जहाँ बसा है वही तो ससार है।

अज्ञान अंधेरीकी विडम्बना—जहाँ अज्ञान ही अज्ञान बसा उस ससारकी क्या हालत होती ? जैसे कहते है कि 'अधेरनगरी बेबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खा जा।' इस कहावतका कथानक इस प्रकार है कि एक बार कोई गुरु और चेला घूमते घूमते किसी नगरी मे पहुचे। वहाँ वे ठहर गए। वह थी अधेरनगरी। वहाँ गुरुने शिष्यसे कहा—जावो बेटा बाजारसे आटा, दाल, चावल, नमक, साग-सब्जी वगैरा भोजन सामग्री ले आवो। पहुचा वह बाजार तो क्या देखा कि वहाँ हर चीज टका सेर बिक रही थी। जब वह मिठाइयोकी दूकानपर पहुचा तो वे भी टका सेर थी। वह शिष्य सोचने लगा कि जब टका सेर सभी चीजें मिलती हैं तो फिर भोजन बनानेका भी क्यो कष्ट करें ? टका सेर रसगुल्ले, पेडे बरफी आदि मिठाइया ही क्यो न लेकर खा लिया करें ? सो वह शिष्य एक टके मे सेर भर मिठाई खरीद लाया, गुरु शिष्य दोनोने खूब खाया। शिष्यने गुरुजीसे बताया कि महाराज यहाँ तो सभी चीजें टका सेर बिकती हैं, यह तो बडी अच्छी नगरी मालूम होती है। आपसे प्रार्थना है कि कुछ दिन यहाँ ठहर जाइये। तो गुरु बोला—बेटा यह अधेरनगरी है, यहाँ ठहरना योग्य नहीं। जब शिष्यने बडा आग्रह किया तो गुरुको उस नगरीमे ठहरना पडा। वहाँ वह शिष्य टके सेर मिठाइयाँ खूब खा-खाकर बडा हृष्ट पुष्ट हो गया। कुछ ही दिनो बाद वहाँ एक घटना घटी, क्या कि कोई बाबूजी किसी सड़कसे जा रहे थे। रास्तेमे देखा कि एक मकानका एक ईंटा भीतसे खिसक गया था, बाबू जी ने सोचा कि इस मकान मालिककी यह गल्ती है जो भीतमे से ईंटा खिसक गया है। इसने ऐसी कच्ची भीत क्यो बनवायी ? मैं इधर से जा रहा था, कदाचित् यह ईंटा गिर जाता और मेरा सिर फट जाता तो क्या होता ? यह सोचकर बाबू जी ने उस मकान मालिकके नाम रिपोर्ट राजाके पास भेज दी। राजाने पेशी

पडने पर सभीको बुलवाया । राजाने उस मकान मालिकसे कहा—अबे तूने ऐसी कच्ची भीत क्यो चिनवायी जिसमेसे ईंटा खिसक गया ? कदाचित् वह ईंटा बाबूजी के सिरपर गिर जाता तब तो बाबू जी का सिर फट जाता । तुझे सजा दी जायगी । वह मकान मालिक घबडाया और बोला—महाराज इसमे मेरा क्या कसूर ? मैंने तो पूरा पेमेण्ट किया था, इस मकान के बनवानेमे गल्ती तो उस कारीगरकी है जिसने गलत भीतकी चिनाई की । ठीक है । कारीगर बुलाया गया । राजा बोला—अबे कारीगर तूने ऐसी भीत क्यो चिना जिसमे से ईंटा खिसका, बोल, तुझे सजा दी जायगी । कारीगर बोला—महाराज आप इसे अच्छी तरहसे नाप तोलकर देख लें, चिनाई करनेमे मेरा कोई कसूर नही । कसूर है उस गारा बनाने वाले मजदूरका जिसने गारेमे पानी ज्यादा डाल दिया और गारा गीला हो गया, जिससे भीतमे से ईंटा खिसका । ठीक है । गारा बनाने वाला बुलाया गया । राजा बोले—अबे तू ने इतना पतला गारा क्यो बनाया जिससे भीतमे से ईंट खिसकी ? तो वह गारा वाला बोला—महाराज इसमे मेरा क्या दोष ? दोष तो है मसक बनाने वालेका । उसने मसक बडी बना दी, पानी उसमे ज्यादा भर गया, जिससे गारा गीला हुआ । ठीक है । मसक बनाने वाला बुलाया गया । राजा बोला—अबे तूने इतनी बडी मसक क्यो बना दी जिससे पानी ज्यादा भर गया, गारा गीला हो गया और बाबूजी का सिर फटने तककी नौबत आयी ? तो वह मसक बनाने वाला बोला—महाराज इसमे मेरा क्या दोष ? दोष है बडा जानवर बेचने वालेका । उसने बडा जानवर बेचा, उसके मरनेपर बडी मसक बनी । उसमे मेरा क्या दोष ? अब बडा जानवर बेचने वाला बुलाया गया तो उसके पास कोई उत्तर नही था । राजाको उसपर क्रोध आया और बोला—बस अपराधी तू है, तुझे फाँसी दी जायगी । जल्लादोको राजाने आदेश दिया कि इस बडा जानवर बेचने वाले किसानको फाँसीके तख्तपर चढाकर फाँसी दे दो । जब जल्लाद लोगोने उसे फाँसीके तख्तपर चढाया, फाँसीका फदा उसके गलेमे डाला तो उसका गला इतना दुबला-पतला था कि फाँसीका फदा ठीक-ठीक बैठे ही नही । तो जल्लाद लोग बोले—महाराज, इसका गला तो इतना दुबला पतला है कि फाँसीके फन्देमे ही नही आता और फाँसी देनेका मुहूर्त निकला जा रहा है । तो राजा बोला—अबे तो किसी मोटे गले वालेको लाकर फाँसी दे दो । वे जल्लाद निकले मोटे गले वालीकी तलाशमे तो वही शिष्य मिला जो टके सेर रसगुल्ले खा खाकर खूब मोटा हो रहा था । शिष्य बोला—अरे क्या कर रहे ? तो जल्लाद बोले—चुप रहो । हम तुम्हे राजाके आदेशानुसार पकडकर फाँसी देनेके लिए ले जायेंगे । वह शिष्य घबडाया और गुरुजी से बोला—गुरु जी बचाओ । तो गुरुजी ने कहा—देखो बेटा, हम कहते थे कि यह अधेरनगरी है, यहाँ ठहरना योग्य नही,

पर तुम नही माने । खैर गुरुने सब बात समझा दी । जब शिष्य फाँसीके तख्तपर चढ़ने लगा तो नीचेसे गुरु बोला—ऐ शिष्य तुम नीचे उतरो, फाँसीके तख्तपर हम चढ़ेंगे । यही बात शिष्य कहे । दोनोको झगडते देखकर राजा बोला— तुम लोग फाँसी लेनेके लिए क्यो झगडते ? तो गुरु बोला— तुम चुप रहो राजन् ! इस समय इतना शुभ मुहूर्त है कि फाँसीके तख्तपर चढ़ कर जो फाँसी लेगा वह सीधे बैकुण्ठ जायगा । तो राजा बोला—अच्छा तुम दोनों न झगडो इस फाँसीके तख्तपर चढकर हमे ही फाँसी ले लेने दो । तो देखिये यह ससार ऐसी ही तो अधेरनगरी है ? यहाँ कोई सोचे कि हम पहले तो खूब भोग भोग लें, पीछे विरक्त होकर आत्मकल्याण कर लेंगे, सो बात ठीक नही ।

अहितके कार्यसे शीघ्र हटनेमें समनस्कताका सदुपयोग—भैया ! इन भोगोंमें रहते हुए तो अनन्त काल बीत गया, पर इनसे विरक्त कहाँ हो सके ? यह आत्मज्ञान ही हम आपके कष्टोको मेट सकेगा । इस जीवनमे अधिकाधिक समय अपना आत्मचिन्तनमें, तत्त्वज्ञानके अर्जन मे बितायें, अपने विचार विशुद्ध रखें, सत्संगमें विशेष रहे, इसीके फलसे भव-भवके कर्म कटेंगे । कर्मोंकी निर्जरा हो, अपनेको मुक्ति नजर आये तो यह कहलाता है मनका काम । सूत्र क्या बताया गया है ? सगिनः समनस्काः । संज्ञी जीव मनसहित होते है । तो संज्ञीका अर्थ क्या ? जो मन सहित हो सो सज्ञी । यहाँ एक शंका और बनती है । संज्ञा मायने हैं आहार, भय, मैथुन, परिग्रहकी इच्छा, संस्कार, ये संज्ञायें जिनमें हैं उन्हे संज्ञी कहते हैं । यह अर्थ लगाओ । उत्तर यह है कि ऐसा अर्थ लगानेसे यह आपत्ति है कि संज्ञा वाले तो ये संसारके सभी जीव है प्रायः फिर सज्ञी असज्ञीमें भेद क्या रहा ? सब संज्ञी हो गए । यह अर्थ लगेगा । और फिर दूसरी बात—जब मनसहितको सज्ञी कहते हैं तो मनसहित जीव होवा हो तब भी सज्ञी है । अडेमे हो तब भी संज्ञी है और इस जीवका फिर जागृत-अवस्थामें एक विकास होता है । इस मनके द्वारा हम हितकी बात खोजें और अहितकी बात दूर करें, अहितके काममें यह श्रद्धा न बनायें कि यह अहितका काम तो अभी कर लें, पीछे निपट लेंगे । अरे श्रद्धा प्रति समय अहितसे दूर होनेकी रखें और कर्मका वेग है, अहितमे लगना पडे तो बड़े खेदके साथ उसमें गुजरियेगा तो एक अपनेको हितका मार्ग मिलेगा । ऐसा हितकी प्राप्ति करानेमे समर्थ मन है और मन जिनके होता उन्हे संज्ञी कहते है । जीवके दो भेद किए थे—संसारी और मुक्त । संसारीके ५ भेद किए एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक । उनमेसे एकेन्द्रियसे लेकर चार-इन्द्रिय तकके सभी प्राणी असंज्ञी हैं । पञ्चेन्द्रिय जीव ही संज्ञी हो पाते है । यह बताना इस सूत्रका प्रयोजन है ।

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

पूर्व शरीर छोड़नेके बाद नवीन शरीर धारण करनेके लिये होने वाली गतिमें कारण—चर्चा चल रही है ससारी जीवोकी। उपयोग लक्षण वाला यह जीव ससारमे घूम रहा है और संसारमे इसकी क्या-क्या परिस्थितियाँ हो रही है, इन सबका वर्णन आया। तो ससारी जीवोके भेद बताते-बताते अब तक यह बता चुके कि ससारी जीव ५ प्रकारके है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। और पञ्चेन्द्रियमे दो प्रकार है—सज्ञी और असज्ञी। यहाँ तक जो वर्णन हुआ वह सब उपयोगसे सम्बधित रहा, इन्द्रिय का भी वर्णन हुआ तो केवल द्रव्येन्द्रियको इन्द्रिय नही कहा, किन्तु द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनो प्रकारकी इन्द्रियाँ जिनके है उनका वर्णन रहा। तो उपयोग सम्बधित सब वर्णन था। अब एकाएक मनमे यह जिज्ञासा हुई कि यह जीव एक भवको छोडता है और दूसरे भवमे जाता है, तो नये शरीरके प्रति जिसका जाना है और पहला शरीर उसका छूट गया और शरीर छूट गया तो इन्द्रियाँ भी छूट गईं और मन भी छूट गया। द्रव्येन्द्रियाँ न रही और द्रव्य मन भी न रहा तो यह जीव फिर जाता किस तरह है? उसका समाधान इस सूत्रमे किया गया है। यहाँ तो जितनी क्रिया करता है यह जीव, जीव—क्या करता है, निमित्त-नैमित्तिक योगमे जो निरखा जाता है उसे ही कह लीजिए इस समय, चलता है, खाता है, दौडता है, शरीरकी चेष्टायें करता है, वचन बोलता है तो ये सारी क्रियायें यह शरीर है, इसलिए हो रही हैं। तो शरीर तो यह छूट गया तो कौनसा बल है ऐसा कि जिस बलपर यह जीव नये शरीरके स्थान तक चला जाता है? उसका उत्तर दिया गया है कि विग्रहगति मे जीवके कार्माणकाययोग होता है। यह शरीर न रहा, अगला शरीर मिलेगा, दोनो शरीरो से यह इस समय अलग है, लेकिन इसके साथ सूक्ष्म शरीर लगा हुआ है। तैजस और कार्माण शरीर जो अनादिकालसे जीवके साथ चले आ रहे हैं, परम्परया उनमेसे कार्माणकायका योग होता है याने कार्माणशरीरके परिस्पदका निमित्त पाकर इस जीवके प्रदेशोकी क्रियारूपसे परिस्पद चलता है और यह दूसरे भवके स्थानपर पहुच जाता है।

विग्रहगतिमें हेतुरूप कार्माणकाययोगका संक्षिप्त परिचय—अब जरा उस कर्मका स्वरूप समझिये क्या है जिसके कि ऐसा योग चलता है। कर्म एक जगतमे भरे हुए सूक्ष्म कार्माण जातिके परमाणु पुञ्ज हैं, वे जीवके साथ विस्रसोपचयके रूपमे भी लगे हुए है, याने जो कर्म तो नही बने, मगर कर्म बननेकी जातिमे हैं वे, ऐसे परमाणु पुञ्ज इस जीवके साथ स्व-भावसे लगे हुए है। जब जीव मोह रागद्वेषरूप परिणमन करता है तो वे कार्माणवर्गणा स्वय कर्मरूपसे परिणत हो जाती है। द्रव्य अलग-अलग हैं, जीवने कर्मका परिणमन नही किया, कर्मने जीवका परिणमन नही किया। कर रहे सब अपना ही परिणमन, मगर जो विषम

परिणमन हो रहा वह औपाधिक है, नैमित्तिक है। किसी निमित्त सन्निधानमे हो रहा है। कही ऐसा नही है कि जीव उपाधिनिरपेक्ष होकर याने उपाधिरहित होकर स्वय ही अपने स्वभावसे विभावरूप परिणाम जाता है। परिणमता है यह जीव ही अपने विभावरूप, परिणमता कर्म ही अपने विभावरूप, लेकिन विभावरूप परिणमनमे किसी परद्रव्यका सन्निधान निमित्त होता है तो इस जीवके कषायभावोका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणामे कर्मरूपता आयी है उनका जो पुञ्ज है वह कार्माण शरीर है। इस शरीरका योग विग्रहगतिमे कारण होता है।

अविकारस्वभाव भगवान आत्मापर कर्ममायाके योगकी लीला—देखना जीवको क्या जरूरी है ससारके सकटोसे छूटनेके लिए ? स्वभावदृष्टिकी आवश्यकता है। यह जीव अपनेको स्वभाव रूपमे अनुभव करता कि मैं यह हू। मैं एक सहज ज्ञानानन्दस्वरूप हू ऐसा अपने आपको सहजस्वरूपमे अनुभव करें तो यह है वह औषधि कि जिसके प्रतापसे वे सारे विकार रोग, कर्मरोग समाप्त हो जाते है। आत्माको सहज ज्ञानानन्द स्वभावरूपमे अनुभव करना यह है वह अग्निकणिका कि जिससे कर्मईंधन सब भस्म हो जाता है। तो ऐसा यह एक सहज परमात्मतत्त्व आखिर क्यो ऐसा विकृत बन गया, क्यो यह नाना दुःखोका पात्र बन गया ? उसका कारण है कि अपने ही कषायपरिणामोसे जो कुछ बधन बन गया, कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गईं, उनमे उस ही प्रकारका अनुभाग बन गया। उस अनुभागका जब उदय होता है, अनुभाग जब खिलता है तो उस अनुभागका फल कर्ममे ही हुआ वास्तवमे। मगर कर्म अजीव हैं, वे उसका क्या अनुभव करें ? कर्मपर बीती वह सब बात।

जैसे क्रोधप्रकृतिका उदय आया तो कर्ममे उस ही क्रोधका प्रभाव पडा वस्तुतः, मगर ऐसे अनुभाग वाले कर्मका उदय हुआ तो निमित्तनैमित्तिक योगमे इस उपयोग लक्षण जीवपर एक अंधकार छाया, प्रतिफलन हुआ। बस जैसे दर्पणके सामने हाथ आ जाय तो दर्पणमे छाया पड जाती है, वह छाया किसकी ? दर्पणकी। मगर वह छाया हाथका सन्निधान पाकर हुई है, हाथने नही किया, मगर ऐसा योग है कि हाथ सामने हो तो दर्पणमे ऐसा छायारूप परिणमन होता है। ऐसे ही कर्मका उदय जब आया इस जीवपर तो इस जीवमे उसके अनुभागकी छाया हुई। अब उस प्रतिफलनमे इस जीवने अपना उपयोग जोडा और उस समय यह महसूस करने लगा कि मैं तो यह हू। उपयोगका जो विशुद्ध स्वरूप है उसका तो हो गया तिरस्कार और वहाँ आ गया क्रोधादिक बातोंका प्रतिफलन, अब यह जीव उसको अपनाने लगा और यह जीव मोही अज्ञानी बनकर ससारमे जन्म-मरण करता ही है। जब यह जीव एक शरीर छोडकर दूसरे शरीरके लिए गमन करता है तो वह कार्माणशरीरका योग इस जीवको ले जाने

का निमित्त बनता है। विग्रहगतिमे कार्माणकाययोग होता है।

पूर्व शरीर छोड़कर नया शरीर ग्रहण करनेके समाचारप्रसंगोमे अनेक लोकवादोका समाधान—अभी आगे बताया जायगा कि यह जीव कितने समयोमे दूसरे शरीरमे पहुच जाता है ? इसमे बडा समाधान मिलेगा। लोगोने स्वार्थवश कितनी प्रकारकी मान्यतायें गढ़ डाली ? यह जीव मरता है तो १०–१२ दिन तक भटकता रहता है। अब चाहे ब्राह्मण जनोको कह लो, चाहे अपनी बिरादरीके लोगोको कह लो। अरे १२-१३ दिनमे भली प्रकारसे सबको भोजन कराओ, सबको खुश करो तो उस जीवका भटकना दूर होगा और तब वह ठीक जगह पहुच जायगा। यो कितनी ही बातें लोगोने गढ ली। अरे वह तो अपने जन्मस्थानमे मरणके बाद ज्यादासे ज्यादा ३ समयमे पहुच जाता है। इसी प्रकार कहाँ जाता है, कहाँ भटकता है ? तो अनेक लोग ऐसा कहने लगे हैं कि चूल्हेमे जरासी राख शामको छोड दिया और बडे सवेरे उठकर देखा तो उसमे चूहा या बिल्ली वगैराके पञ्जे जैसे कुछ चिह्न तो बन ही जाते हैं। उन्हे देखकर कहते कि देखो वह तो अमुक जीव बन गया। ऐसी बहुतसी मनगढत बातें चलती है, पर उन सबका समाधान इस प्रसगमे भली प्रकारसे होता है। विग्रहगतिमे जीवके कार्माण काय योग होता है। विग्रहगतिका अर्थ क्या है ? विग्रह मायने शरीर। नया शरीर पानेके लिए जो गति होती है उसका नाम है विग्रहगति। विग्रहका नाम शरीर कैसे पड़ गया ? विग्रह शब्दमे दो शब्द है—वि और ग्रह। वि का अर्थ है नाना प्रकारके (विविध) और ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना। नाना प्रकारके परमाणु पुञ्जको ग्रहण करना, नाना प्रकारके जो परमाणु पिण्ड ग्रहण किया है उसका नाम विग्रह है। वह क्या है ? शरीर। उस शरीरके लिए जो गमन है उसको विग्रहगति कहते हैं। कोई शब्दशास्त्रका जाननहार यह शका कर सकता है कि अगर इसका यह अर्थ हो कि विग्रह पानेके लिए गति तो यहाँ चतुर्थी विभक्ति लगेगी—विग्रहायगतौ, लेकिन समासमे यह ध्वनित नही हो रहा। उत्तर उसका यह है कि समास होनेपर भी 'विग्रहके लिए गति' ऐसा अर्थ बन जाता है। तत्पुरुष समास केवल षष्ठी विभक्तिका ही नही है। यह सम्प्रदान वालेका भी समास हो जाता है।

जैसे कहते हैं अश्वघास, मायने यह घोडेके लिए घास आयी है, तो उसे बोलते है अश्वघास। उसका चतुर्थीमे भी समास बनता है। अर्थ यह हुआ कि नये शरीरको ग्रहण करनेके लिए जो जीवका गमन होता है उस समय कार्माणकाययोग होता है। यहाँ एक आशका और रखते है लोग कि जब कोई जीव मरा तो पहले यह जीव ऊपर जाता है, फिर जहाँ जाना हुआ उस जगह जाता है, क्योकि यह जीवका एक स्वभाव है कि यह ऊपरको

जाय, किन्तु ऐसा चिन्तवन ठीक क्यों नही है कि जब जीवके कर्म उपाधि न रहे तब तो जीव का यह स्वभाव सही रहता है कि यह ऊपर ही जायगा, किन्तु जब तक कर्मका लेप लगा है तब तक जैसा उदय है, जैसा इसको जन्म लेना है वहांके लिए जो भी छोटा रास्ता मिलता है उस रास्तेसे चला जाता है, मगर वहाँ इतना नियंत्रण है जैसा कि अगले सूत्रमे कहा जायगा। आकाशकी श्रेणियोके अनुसार गमन होता है याने ऊपरसे नीचे और पूरबसे पश्चिम, दक्षिणसे उत्तर अगर कोई पापी जीव नरकमे जायगा तो एकदम नीचे चला जायगा। पहले ऊपर आये फिर नीचे ऐसी वहाँ आवश्यकता नही है।

कर्मकी देहबीजरूपता और कर्मच्छायासे उपयोगको विविक्त कर लेनेकी मोक्षमार्ग-रूपता—नया विग्रह पानेके लिये जो गति है वह विग्रह गति है। विग्रह गतिके लिए जो गति होती है उसमे कार्माण काययोग होता है। ये कर्म समस्त शरीरोको उभाडनेके लिए समर्थ है। यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरको पानेके लिए बीज जैसा काम करता है। तो वह शरीर रहता ही है सूक्ष्म शरीर और उसमे भी कार्माण शरीर, उसके योगसे यह जीव अन्य भवके लिए गमन करता है। योग क्या चीज है ? आत्मप्रदेशमे हलन-चलन होना सो योग है। जैसे अभी हम हाथ हिलायें तो हाथ हिलनेका निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोमे भी योग होता है। तो जीवके प्रदेशमे जो परिस्पंद हुआ वह योग है और वह हमारे इस शरीरके परिस्पंदका निमित्त पाकर होता है। तो ऐसे ही इस विग्रह गतिमे जीवके कार्माण शरीर है। उस कार्माण शरीर की हलन-चलनका निमित्त पाकर इस जीवमे वे क्रियायें हुई हैं, और इस तरह यह जीव पूर्वभवके धामको त्यागकर उत्तर भवके धाममे पहुच जाता है।

देखिये शरीर क्या है ? निमित्तनैमित्तिक योगका जो फल है वह ससार है और मोक्ष क्या है ? निमित्तनैमित्तिक योगका रगडा भगडा मिट जानेका नाम है मोक्ष। तब वह मोक्ष मिलता कैसे है ? स्वभावदृष्टि करें तो मुक्तिका मार्ग मिलेगा। स्वभावमे विकार नही तो निमित्तनैमित्तिक योगकी चर्चा भी नही। और अगर हैरान कर रही है ये कषायें तो वहा निमित्तनैमित्तिक योगसे शिक्षा लें कि यह मेरा स्वरूप नही है। मै क्यो इसमे लगूँ ? यह तो कर्मविपाकका प्रतिफलन है, नैमित्तिक भाव है, औपाधिक भाव है, यह मेरा स्वरूप नही, ऐसा एक यथार्थ तत्त्व जानकर उन औपाधिक भावोसे उपेक्षा कर लें। जो पुरुष अपने ज्ञानको सत्य समझता है, ज्ञानस्वरूपमे तृप्त होता है, ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करता है उसको अपने आप ही सहज अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

देखिये कल्याणका मार्ग जरा भी कठिन नही है बल्कि रुपया पैसोकी कमाई यह कठिन चीज है। यह क्यो कठिन है कि यह परवस्तु है, उसपर आत्माका अधिकार नही। पुण्य

पापके योगमे स्वयमेव प्राप्त हो रहा है। उसमे आत्माका परिणाम कुछ नही कर पाता है और आत्मकल्याणकी बात, स्वभावदृष्टिकी बात क्यो सरल है कि स्वभावमे होना है। और मुझमे ही स्वभावकी दृष्टि करनी है । तो यह तो इतना सरल है कि जैसे कोई बिछे बिछाये पलग पर बैठा हुआ हो और जरा भी नीद सताये तो उसे लुढकने और नीद लेनेमे कुछ कठिनाई नही होती। यह एक **मोटी बात कही है दृष्टान्तमे**, एक देश ही लेना, ऐसे ही जब खुदमे अपना स्वभाव है और खुद ही उस स्वभावको पसद कर रहे हैं, और उस ही स्वभावमे रत होना चाहे तो इसमे कौनसी कठिनाई है जिससे यह कठिन काम बन सके ? कठिन क्या असम्भव है परपदार्थका काम करना और असम्भव नही, कठिन भी नही किन्तु सुगम है अपने आपके सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करना, क्योकि वहाँ खुद है, खुदको ही करना है, खुदमे ही रमना है, ऐसा अनुभव कर नही पाते लोग तो उपादानकी ओरसे तो यह उत्तर है कि इसके ऐसी कमजोरी है, ऐसी योग्यता है कि जो अपने स्वरूपमे नही रम पाता, पर मात्र इतना ही समाधान करनेसे तो बात स्पष्ट होती नही। कोई कहे कि ऐसी योग्यता इसके क्यो हुई ? तो कहते कि वाह ऐसा ही स्वभाव है। तो ऐसे खोटे परिणमनका क्या जीवका स्वभाव है ? तो उत्तर देना ही पडेगा कि आत्मामे पूर्वबद्ध कर्मका उदय हुआ, हुआ तो वह मनुष्यमे हो और उसके अनुभागका फल पहुचा कर्ममे ही, मगर चूंकि यह उपयोगमात्र है सो अनिवार्यरूपसे उस कर्मोदयका प्रतिफलन हो गया। अब जीवकी रक्षा कर लेनेका तो यह प्रसग है कि इस प्रतिफलनमे यह जीव आत्मा रूपसे अनुभव नही करता कि मैं यह हू। ऐसा नही मानता और ठीक समझता रहा कि यह तो कर्मानुभागका प्रतिफलन है, यह विकार मेरा स्वरूप नही है। मैं तो विशुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप हू। ऐसा निज आत्मतत्त्वका अनुभव जगे तो ये कार्माणवर्गणाके सारे प्रभाव समाप्त हो जायें।

विग्रहगतिके परिचयका एक प्रकाश—यह जीव विग्रहगतिसे जाता है तो बस इस कार्माण शरीरके योगके बलपर जाता है। क्यो ऐसी गति हुई ? तो इसका भी अर्थ विग्रह गति शब्दमें आ गया। तब यह समास आ जाता है— विग्रहेण गति' याने जो पहले शरीरका निरोध हो गया उस शरीरमे अब नये आहारवर्गणा न आये, वे बद हो गए तो इस जीवको यहाँसे एकदम चला जाना पडा। एक तो विग्रहगतिका यह अर्थ है। दूसरा यह अर्थ है कि नवीन शरीरको पानेके लिए यह जीव चला। एक समस्या प्रायः लोगोंके चित्तमे रहती ही है कि जब कोई कठिन रोग होता है तो उसमे वेदना आयी या समझ लो मरण हो गया तो उस समय हुआ क्या ? कोई लोग तो यह मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका सयोग होनेसे एक उसमे चेतना आ गयी थी, और अब पृथ्वी पृथ्वीमे मिल गई, जल जलमे मिल गया,

आग आगमे मिल गई, वायु वायुमे चली गई । इसलिए जब इन पदार्थोंका वियोग हो गया तो वह चेतना न रही । कुछ लोग ऐसा कहते है कि इस देहमे जो रूह है अब वह काम नही कर रही, इसलिए वह देह मुर्दा हो गया । उस देहको जमीनमे गडा दो, जलाओ मत । गडा दोगे तो वह रूह हजार दस हजार वर्ष जितने वर्ष बाद नम्बर आयगा प्रभुकी कचहरी लगने तक । तो उन सब रूहोको बुलाया जायगा और सबकी बारी-बारीसे पेशी लगेगी, वहाँ खुदा न्याय करेगा । जिसका जैसा कसूर होगा उसे वहाँ भेज दिया जायगा तो फिर शरीर मिल जायगा । तो एक शरीरके बाद दूसरा शरीर मिलनेके बीचमे कुछ हजार वर्षका अन्तर आ जाता है, ऐसा कुछ लोग मानते है, और कुछ लोग तो सिर्फ १२ दिनका ही अन्तर बताते है, पर वास्तवमे होता क्या है वहाँ, वह सब बात इस प्रसगमे आयेगी । तो एक-दो तीन समय कितना कहलाता है कि एक शरीर छोडनेके बाद झट दूसरा शरीर मिलता है । आँखकी एक पलक गिरनेमे असख्याते समय हो जाते है, उनमे एक दो या तीन समयमे ही यह जीव मरनेके बाद दूसरा शरीर धारण कर लेता है ।

क्लेशमय जन्म, मरण और जीवनके परिचयसे हितमार्गका अवलोकन—उक्त चर्चाओं से अपने चित्तमे यह बात आनी चाहिए कि ससार तो जन्ममरणकी परिपाटी बनानेका नाम है । मरण हुआ, जन्म हुआ, बस पैदा होना मरना, फिर पैदा होना मरना, इसी सिलसिलेका नाम ही ससार है, और उस सिलसिलेमे कितना क्लेश होता है जीवको, उसके लिए एक दृष्टात दिया है—गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमे कहा है कि जैसे बाँसकी एक पोर जिसके ओर छोर मे दोनो ओर आग लग जाय और उसके बीच पडा हुआ कीडा तडफता है, ऐसे ही जन्म-मरण के बीच रहने वाले इस जीवकी तडफन है । यह जिन्दगी क्या है ? जिसके ओर छोरमें जन्ममरणकी आग लगी हो उसे कहते है जिन्दगी । जिन्दगीके शुरूमे तो जन्मकी आग है और जन्मके अन्तमे मरणकी आग है और दोनो आगोके बीचमे यह एक जीव सुलग रहा है, तप्त हो रहा है और इस जीवनके बीचमे जितने क्षण है उतने क्षणोमे कितने प्रकारके और क्लेश है ? इस सहज परमात्मतत्त्वस्वरूप भगवान आत्माकी इस कर्मविभव होनेके कारण कैसी आदत बन गई है कि यह कष्ट सहता है और उस कष्टमे ही राजी रहता है । अगर कष्टमे दुःख मे राजी न रहे तो एकदम यह साहस बनेगा कि मुझे इन दुःखोका कोई काम नही करना है । दुःख क्या है ? मोह । मोहके कारण दुःख होता है । मोहका परिणाम स्वयं दुःखरूप है । उस मोहमे बडे कष्ट पाता है फिर भी यह मोहको ही अपनाता है । कुटुम्बके लोग कितना ही तकलीफके कारण बन रहे हो, लेकिन इस कुटुम्बमे रमनेमे ही खुश होते हैं, और और भी जितने सग परिग्रह है, इनके सम्बन्धमे सिवाय कष्टके और क्या मिलता है ? लेकिन यह राजी

उनमे ही रहता है, जैसे विष्टाका कीडा विष्टामे ही राजी रहता है ऐसे ही यह दुःखका कीडा दु खमे ही राजी रहता है ।

एक कथानक आया है कि एक बार किसी राजाने एक अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा महाराज हम मरकर क्या बनेंगे ? तो वहाँ उन मुनिराजने जवाब दिया कि आजके ७वें दिन अमुक समयपर मरकर तुम अपनी ही सडासमे विष्टाके कीडा बनोगे । मुनिराजकी यह बात सुनकर राजा बडा दुःखी हुआ । हाय मैं इतने बडे ऐश्वर्य वाला, इतनी बडी प्रतिष्ठा वाला और मरकर विष्टाका कीडा बनूगा, यह बात मुझे मजूर नही । यह सोचकर राजाने अपने बेटेसे कहा—देखो बेटा मुनिराजने हमें बताया है कि आजके ७वे दिन तुम मरकर अपने ही सडासमे विष्टाके कीडा बनोगे, सो तुम ऐसा करना कि यदि ऐसा हो तो मुझे तुरन्त आकर मार डालना । मैं विष्टाका कीडा बनकर नही रहना चाहता । आखिर हुआ ऐसा ही । वह राजा ७वें दिन ठीक उसी समयपर मर गया और मरकर विष्टाका कीडा बना । राजपुत्र पहुचा । उस संडासमे एक लकडी लेकर वहाँ वह विष्टाका कीडा दिखा, पर ज्यो ही लकडी से मारना चाहा कि वह विष्टामे अपने प्राण बचानेके लिए घुस गया । वह राजपुत्र हैरान होकर उन्ही मुनिराजके पास गया । बोला—महाराज हमारे पिताजी ने कहा था कि आज के ७वें दिन हम मरकर विष्टाके कीडा बनेंगे सो वहाँ आकर हमे मार डालना, पर हम जब मारने लगे तो वह कीडा अपने प्राण बचानेके लिए उसी विष्टामे घुस गया । बताओ अब हम क्या करें ? तो मुनिराज बोले—बेटा तुम उसे मत मारो । इन ससारी जीवोकी ऐसी ही प्रकृति है कि वे जिस पर्यायमे पहुचते हैं उन्हें उसीमे जिन्दा रहना पसद आता है । जिन दु खोको पाकर घबडाते हैं उन्ही दु खोंमे राजी रहते हैं । अगर दु खोंमे राजी न रहते तो दुःखोको दूर करनेके लिए जो उपाय बताये गए है उन्हे क्यो न करते ? जब इनके हाथकी बात है, इनके उपयोगकी बात है तो क्यो नही ये तुरन्त कल्याणमे प्रवेश करते ?

कार्माणप्रतिबंध व वस्तुस्वातंत्र्यके परिचयका प्रकाश—भाई यह कर्मयोग, यह कार्माण प्रतिबध इस जीवपर बहुत बुरा लगा है । स्वरूपदृष्टिसे तो यह देख लो कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कोई परिणमन नहीं करता, इसमे तो रचमात्र सदेह नही, मगर विषयपरिणमन जिनमे होते हैं वे परपदार्थका सन्निधान पार होते हैं । आज देखिये यहाँ सूर्यका प्रकाश नही हो रहा इस समय तो सब जानते हैं कि चूंकि बादल छाये हुए हैं, इस कारण जमीनपर सूर्य का प्रकाश नही पड रहा । सो यहाँपर भी जो जमीनपर धूपका प्रकाश नही हो रहा तो यह परिणति भी इस भूमिकी है । पहले प्रकाशरूप थी, अब अधकाररूपमे है । जमीन अपनी परिणतिसे प्रकाशरूप हुई और अपनी परिणतिसे अधकाररूप हुई । मगर यह तथ्य भी मना

नही किया जा सकता कि सूर्यका सन्निधान पाकर यह पृथ्वी अपनी परिणतिसे प्रकाशरूप हुई और अब बादलका सन्निधान पाकर याने सूर्यका आवरण पाकर, निमित्त पाकर अब यह पृथ्वी अधकाररूपसे परिणत हो रही। तो विषम पर्यायें जितनी होती है वे निमित्त सन्निधानमे ही हती है, इसी कारण वे विकार कहलाती है। और इसके परिचयसे ज्ञानी जीवको यह साहस जगता है कि इन विकारोमे लगना व्यर्थ है, क्योकि यह पुद्गलकी छाया माया है। ये जबरदस्ती विकार नही कराते, किन्तु मै ही इनमे अपना उपयोग लगा देता हू, इन्हे अपना लेता हू तो मेरेमे विकार जग जाते है, इसलिए मैं इन्हे अपनाऊँगा ही नही, मै तो इनका केवल ज्ञाता दृष्टा ही रहूगा। यह सब पुण्यका उदय है। ये मेरे कोई स्वरूप नही है, मेरा स्वरूप तो सहज ज्ञानमात्र है। ऐसा कोई अपने को अनुभव करे तो इस सहज आत्मस्वरूपके आलम्बनके बलसे आवरण भी दूर हो जायगा, विकारभाव दूर हो जायेंगे और एक निर्मल स्वच्छ ज्ञानपर्याय प्रकट होगी, सदाके लिए सर्व संकट दूर हो जायेंगे, सर्व उपाधियोका सम्बन्ध दूर हो जायगा। फिर न जन्म है, न मरण है, न विग्रहगति होगी, न कार्माण योग होगा। सारे झझट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। इसलिए हम आपका यह कर्तव्य है कि उस पवित्र स्थितिको पानेके लिए हम अपने आपके इस सहज आत्मस्वरूपका चिन्तन करे और यह मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसी प्रतीतिको दृढ बनायें, इससे बढ़कर और कोई कमाई नही हो सकती। सब धोखा दे जायेंगे, सब सकटके कारण बन जायेंगे, मगर जीव आत्मम्वरूपको आत्माके रूपमें अनुभवता रहेगा तो यह इस आत्माको पार कर देगा।

विग्रहगतिकी पद्धति—प्रकरण यह चल रहा है कि जीव जब एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करता है तो उस क्षेत्रके लिए यह जा कैसे सकता है, क्योकि पहला शरीर रहा नही, दूमरा शरीर पाया नही। तो शरीर तो उसके पास है नही और मन भी नही है तो मन बिना शरीर बिना यह जीव दूसरे भवमे चला कैसे जाता है? इसका उत्तर अभी दिया गया है कि विग्रहगतिमे जीवके कार्माणशरीरका योग होता है याने जीवने कषायवश जो अपना परिणाम बताया तो उसका निमित्त पाकर सूक्ष्म परमाणु कार्मण जातिके है वे कर्मरूप बन गए। देखो जब भी कोई विकट विसम विकारदशा बनती है तो नियमसे कोई दूसरा पदार्थ लगा है ससर्गमे तब बनता है, केवल अकेलेमे परके सग बिना, परकी उपाधिका निमित्त पाये बिना विकार नही जगता, तब ही तो यह समझमे आता कि ये विकार है, नैमित्तिक है, परभाव है, तो भी है कार्माण शरीर, जिसका निमित्त पाकर जीवकी नाना स्थितियाँ बन रही। तो जब यह जीव दूसरा शरीर ग्रहण करनेके लिए जा रहा तो उसके रास्तेमें कार्माण काय योग है। अच्छा यह बात तो जान ली गई, अब दूसरी बात और समझने की रह गई

कि जब यह जीव जाता है तो आकाशमे ही तो जा रहा है और आकाशमे हैं श्रेणियां। आकाश प्रदेशवान है और आकाशमे है श्रेणियां। आकाश प्रदेशवान है और ऊपरसे नीचे, पूरबसे पश्चिम, दक्षिणसे उत्तर ऐसी श्रेणियां नाना हैं आकाश प्रदेशमे और उस आकाशमे सब जीव पुद्गलको माना जा रहा तो यह बात समझनेको रह गई कि शरीर छोडकर जब जीव जाता है तो इस आकाश प्रदेशमे जब इस जीवकी गति होती है तो क्या उन प्रदेशोंके क्रमसे गति होती है या जैसे हम आप लोग टेढे-मेढे जा रहे, किसी तरह चला करते हैं तो क्या जीव इस तरहसे गमन कर सकता है ? ये दो विकल्प रखे गए। उसके समाधानमे सूत्र आ रहा है।

अनुश्रेणिगतिः ॥२६॥

शरीर छोड़नेके बाद जीवकी व स्कंधसे हटनेके बाद अणुकी गतिकी विधि—जीव और पुद्गलकी गति आकाश प्रदेशमे बनी हुई श्रेणीके अनुसार है, याने जब शरीरसे छूटा तब जीव जायगा तो श्रेणीके अनुसार जायगा। ऐसे ही पुद्गल परमाणु जब अकेला हो गया तो उसकी भी जो गति होगी वह श्रेणीके अनुसार होगी। वैज्ञानिक लोग इससे पहिचान सकते है कि अभी ऐटम बना या नही, परमाणु हुआ या नहीं, परमाणुकी गति ठीक सीधी दिशा मे होती है, वह तिरछा या गोल गमन नही कर सकता, इसी प्रकार यह जीव जब एक शरीर छोडकर जाता है तो उसकी भी श्रेणीके अनुसार गति हो गई, वह टेढा न जायगा, और लोकमे किसी भी जगहसे कही उत्पन्न होवे जीव तो उसको मोड लेना पडता है, तो तीन मोडसे अधिक लेनेकी गुंजाइश नही है। लोक कितना बडा है ? कही भी मरा, कही पैदा हो और जायगा वह सीधी दिशामे तो उसे कभी कुछ मोड लेना पडेगा, कही नही भी, सीधा बिना मोडके भी जायगा तब कही उस स्थानपर पहुच पायगा। तो मोडा भले ही हो वहाँ भी उसकी गति सीधी बन गई। तो जीवकी गति श्रेणीके अनुसार होती है, पर हा जो शरीरधारी जीव है वे टेढे मेढे कैसे भी चल लें। हम आप चला ही करते हैं ऐसे ही स्कध है, अनेक परमाणुओका पुञ्ज है। वह भी टेढा-मेढा गोल-मटोल कैसा ही चल ले, पर जो देह छोडकर जा रहा है वह सही न जायगा, इसी प्रकार जो एक पुद्गल परमाणु मर गया वह भी सीधा ही जायगा। तो आकाशके प्रदेशकी जो पंक्ति है ऊपरसे नीचे, पूरबसे पश्चिम, दक्षिणसे उत्तर तो इस प्रकार गति उन श्रेणियोके अनुसार होती है।

प्रकृत सूत्रमे जीव और पुद्गलके गृहकी विधि—अब जरा शब्द दृष्टिसे सूत्रपर निगाह दें—अनुश्रेणिगति, शब्दमे तो इतना ही अर्थ भरा है ना कि श्रेणीके अनुसार गमन होता है और इसमे जीव आदि शब्द नही हैं। तब यह अर्थ कहांसे निकाल लिया कि जीव

और पुद्गलकी गति श्रेणिके अनुसार होती है। अगर कोई उत्तर यह दे कि जीवका प्रकरण चल रहा और इससे पहले सूत्रमे जीव शब्द भी आया है तो समझ लो प्रसगवश कि जीवकी गति श्रेणीके अनुसार होती है, खैर अच्छा यह मान लो पर पुद्गलकी बात तो न आ सकेगी। तो कहते हैं समाधानमें कि जीवकी बात तो प्रकरणसे ले लो अथवा अब अगले सूत्रमें अविग्रहा जीवस्य, ऐसा शब्द दिया है चाहे वहाँसे ले लो, लेकिन जीवका जब प्रकरण था तो वहाँ जीव शब्द देनेकी क्या जरूरत थी ? वह शब्द व्यर्थ होकर यह जताता है कि इससे पहलेके सूत्रमे जीव और पुद्गल दोनोंकी गति माननी पडती है। दूसरी बात 'गति' शब्द पहले सूत्रमे आया—विग्रहगतौ कर्मयोगः, तो फिर यहाँ गतिः शब्द देनेकी क्या आवश्यकता है ? सिर्फ इतना ही सूत्र बनाते—अनुश्रेणि, अर्थ इतना ही आ जाता। तो इसमे जो गति शब्द दिया है उससे यह सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गल दोनोंकी गति लेना है। तो यों सूत्रका अर्थ हुआ कि जीव और पुद्गल परमाणु। जीव कौनसा ? जो देहको छोडकर जा रहा इसकी गति आकाश प्रदेशके श्रेणीके अनुसार होती है और विविक्त परमाणुकी भी गति श्रेणीके अनुसार होती है।

योग और उपयोगका ही जीवमें परिणमन—देखिये जीवमें दो प्रकारकी परिणति होती है—(१) उपयोगकी और (२) योगकी। यह खास ध्यान देकर सुननेकी बात है। समयसारमे भी बताया है कि जीवके योग और उपयोगका निमित्त पाकर यह सब संसार, ये सब कर्मबधन, सारी बातें चलती हैं। तो निमित्त दृष्टिसे योग और उपयोग करना, पर जीव निमित्त दृष्टिसे भी कर्ता नही, जीवद्रव्य तो परका सब विधियोंमें अकर्ता है, अपने आपके अन्दर भी ऐसी ही बात घटावो। योग मायने क्या, उपयोग मायने क्या ? उपयोग तो है ज्ञानका परिणाम। उपयोग लगाया, ज्ञानको अभिमुख किया, यह तो कहलाता है उपयोग और योग है प्रदेशका हलन-चलन। हम चलें या वही बैठे ही है, पर आत्माके प्रदेश जैसे गरम पानीमे बूंदोका उलट पुलट होता है ऐसे ही इस कर्माधीन दशामें जीवके प्रदेशमे उलट पुलट चल रहे है। तो ऐसे योग और उपयोग ये जीवके समझना चाहिए। तो 'उपयोगका वर्णन चल रहा था बहुत सूत्रो तक—उपयोगो लक्षणं और उस उपयोगसे सम्बंधित बहुत विषय चला।

अब यह योगका प्रकरण चल रहा है और यह योग शुरू होता है विग्रह गतिसे, याने योग वाले कथनका प्रारम्भ विग्रहगतिसे होता, क्योकि योगमे कोई शंका न थी, लेकिन जब यह पूछा गया कि एक देह छोड़ा, दूसरा देह मिला नही जीवको तो यह जाय कैसे ? वहाँ से कार्माण योगकी चर्चा चली। योग और उपयोग है अपने पास। योग और

योग और उपयोगके करने वाले ही बनते है अपन लोग। हम आप लोगोकी और कुछ करतूत ही नही होती, न दूकान चलाते। न धन जोडते, न शरीर बनाते, न शरीरको दुबला पतला करते, न मोटा बनाते, अन्य बातें हम कुछ नही कर पाते, बस योग बनाते, उपयोग बनाते। इसके अतिरिक्त हमारी कोई करतूत नही चलती।

योग और उपयोग मात्रका कर्तृत्व हो सकनेकी बात ध्यानमें न होनेसे आपत्तियोंका प्रसंग—हम योग और उपयोगको ही कर सकते है, यह लोगोके ध्यानमे नही है, इसलिए बहुत घमंड उठता है। मैंने इनको पढाया लिखाया और इतना धन कमाकर दिया, अब यह बालक मेरे प्रतिकूल चल रहा है मेरेको यह पूछता ही नही है, तो दुःख मान लिया। अरे भैया यह क्यो नही समझ पा रहे कि हम पहलेसे ही भूल कर रहे, हमने उस बालकको कुछ नही किया, उसका ही पुण्यका उदय हुआ तो उसके पोषणमे हम निमित्त बन गए। उसका उदय अनुकूल है तो हम न बनते तो किसी अन्यको निमित्त बनना पडता और अगर उसका उदय प्रतिकूल हो तो चाहे कितना ही हम परिश्रम करें मगर उससे कोई सिद्धि नही होती। तो ऐसा भ्रम न करें कि मैं बच्चोका पालन-पोषण करता हू। अरे सब जीवोंके अपने-अपने कर्म हैं, उनका उदय उनके साथ है। उनके उदयानुसार ये सब बातें होती हैं। जब यह बात ज्ञानमे आ जाय कि मैं तो केवल योग और उपयोगको करने वाला हू। इसके अतिरिक्त मेरी कोई करतूत नही, तो इस जीवको आनन्दका रास्ता मिल जायगा।

क्लेशका प्रथम कारण अहंकार—जीवको दुःख देने वाले चार प्रकारके परिणाम हैं— (१) अहकार, (२) ममकार, (३) कर्तृत्वबुद्धि और (४) भोक्तृत्वबुद्धि। जो मैं नही उसे मान लिया मैं, बस दुःख उसे नियमसे होगा, क्योकि मूलमे उसने भूल कर ली। शरीर मैं नही हू, उसे मान लिया यह हू मैं, तो अब सारे सकट उसपर आ धमकेंगे। जब कोई निन्दा करता है तो निन्दा सुनकर यह क्यो घबडाता है? निन्दा करने वालेने तो अपना ही मुख चलाया कि इसमे कुछ उत्पन्न कर दिया? फिर क्यो दु खी होते? अरे वह यो दु खी होता कि शरीरको माना कि यह मैं हू। तो अब इस शरीरको दुनियाकी दृष्टिमे बहुत महत्त्वशाली दिखानेके लिए इसकी चेष्टायें चलती हैं, विकल्प चलते हैं। तो अब यह मान लेता है कि हाय इसने मुझको गाली दी। यहाँ मुझको का अर्थ है शरीर, क्योकि वही मान रखा इस जीवने, इसलिए दु खी होता है। और यह जीव जो कि मैं तो एक ज्ञानस्वरूपमय हूं अब भी गुप्त हू, निराला हू, शरीर मैं नही हू। शरीर तो एक कलक है, उसके लिए इसने गाली दो सो यह तो बहुत कम गाली दी गई, इससे कई गुना अधिक देनी चाहिए थी, क्योकि यह शरीर ऐसा बेढब कलक हमे मिला कि जिसकी वजहसे ही हम दु खी हो रहे।

अब बतलावो आज जिस घरमे उत्पन्न हुए हैं, जिसमे रह रहे है वहाँ जो जीव आता है उनमे इसकी ममता बन जाती है। कोई सम्बन्ध है क्या किसीसे ? सब स्वतत्र वस्तु हैं। अगर शरीरमे आत्मदृष्टि बन गई तो सम्बधको भी यह सच्चा मान लेता है, फिर उसके बाद अनेक प्रकारके इसे संकट मिलते है। तो शरीर तो समस्त ऐबोकी जड है। उपाय वह बनाना है कि हमको यह शरीर ही न मिले। दूसरी बात—शरीर तो मिला ही है, अब क्या करें ? तो यह करें कि ऐसा भीतर गहरे अनुभवमें जावें कि अपना जो निज स्वरूपास्तित्व है उसकी दृष्टि बनावें कि हमको यह ही भान न हो कि शरीर भी साथ है क्या ? उत्तम ध्यानकी पहिचान ये तीन है जो कि बादमे मालूम पड़ेगी। एक तो यह है कि वह शरीररहित है जैसा अपने को अनुभव कर रहा। उत्तम ध्यानकी पहिचान पहिली यह है। यदि शरीरका थोडासा भी ख्याल है तो वहाँ आत्मध्यान न रहा। कैसा भी देहका ध्यान नही कि यहाँ बैठा हूं। भले ही पद्मासनसे बैठे है, अर्द्धपद्मासनसे बैठे है, सुखासनसे बैठे है, वीरासनमे बैठे हैं, अनेक प्रकार के आसन ध्यानके कहे गए है, लेकिन इतना ख्याल नही है कि आसन भी लगा है, शरीर भी मेरे पास है। एक तो शरीरका भान न होना, दूसरे क्षेत्रका भान न रहना। मै मंदिरमे बैठा हू, घरमे बैठा हू, जगलमे बैठा हू या कही बैठा हू, यो क्षेत्रका भी ध्यान न रहना, ख्याल ही नही है क्षेत्रका, और तीसरी बात है समयका ख्याल नही उसको कि मैं शामको बैठा हू या सुबह। कितने बजे बैठा हू, यह कोई ध्यान नही रहता।

सो शरीर, समय और क्षेत्र—इन तीनोका उसे ख्याल नही होता जो एक आत्मध्यानमे लगा हुआ है। सार बात केवल एक आत्मध्यानकी है। उसके लिए कभी समयको लम्बा बनानेका प्रोग्राम न रखना चाहिए अपनी बुद्धिमे, चाहे काम कभी बने, पर दृष्टि यह होनी चाहिए कि यह आत्मध्यानका काम तो मेरा तुरन्त बने, अभी बने, बने चाहे कभी, ऐसी जिसकी धुन है उसके आत्मध्यानकी बात बनेगी। आत्मध्यान मायने क्या ? जानने वाला कौन है ? ज्ञान। तो जानने वाला यह ज्ञान निज ज्ञानके स्वरूपको जाने याने ज्ञान ज्ञानको जाने तो वहाँ ज्ञानमे जब मात्र ज्ञानस्वरूप ही जाना जा रहा है, अन्य कुछ नहीं जाना जा रहा है, ऐसी स्थिति आत्मानुभवकी होती है।

अब बतलावो जब ज्ञानमे मात्र ज्ञानस्वरूप ही जाना जा रहा है तो यह जानने वाला अपनी ओरसे अस्थिर हो जाय तो हो जाय, होता ही है, मगर जो जाननेमें आया है उस तत्त्वको ओरसे धोखा नही है। यह जानने वाला उपयोग अस्थिर है, चंचल है, यह जानकर हट भी जाय, मगर जाननेमे जो आ रहा है सहज निज ज्ञानस्वरूप वह तो नही हटता, पर ज्ञानमे न रहा उसका नाम हटना कहलाता है। ज्ञानानुभूतिकी स्थिति सर्वोत्कृष्ट

वैभवकी स्थिति है। जिस जीवने अपने आत्मस्वरूपका परिचय नही पाया, अनुभव नही पाया वह जीव बाह्यपदार्थोंमे दृष्टि लगाये है। अहकार शरीरको माना कि यह मैं हू, उसका फल है कि सारी विपदायें आ रही है। लोग तो बडी शानसे बोलते हैं—अजी मैं कर दूंगा यह, मैंने किया यह, मैं इसे ऐसा कर दूगा। मेरे सिवाय दूसरा कौन कर सकता है?··· अरे यह मैं मैं जब तक रहता है, अहंकार जब तक रहता है तब तक इसके विकट कर्मबन्ध है, और इसके सतत आकुलता है तो पहली भूल तो है जीवकी अहकार।

क्लेशका द्वितीय कारण ममकार—दूसरी भूल है ममकार याने ममता करना, यह मेरा है, मेरा है, मेरा बच्चा, मेरी स्त्री, मेरा पति, मेरा शरीर, मेरा मित्र, मेरा देश, मेरा मोहल्ला, मेरा गाँव···कितनेमे मेरा मेरा की बुद्धि बन रही है। जब कि ये मेरे हैं कही कुछ नही। कभी-कभी किसी-किसी बात पर यो झगडा हो जाता है कि कोई चाहता है कि मैं अपनी बात सुनाऊ, वह समझता है कि मेरा यह विचार तो अच्छा है, पर दूसरा कोई उसकी बातकी काट करता है—अजी यो नही यो है, तो वह पुरुष बडा दुःखी होता है। अरे भाई क्यो दुःखी होते? मेरी बातकी इसने काट कर दी।··· अरे तुममे अहकार है, ममकार है अपने विचार परिणाममे। तो यह सोचकर कि मेरे विचारको यह गलत बतलाता मुझको यह गलत कहता। तो कैसे कैसे अन्दरमें दुराशय हैं इस जीवमे जिनके कारण यह जीव जन्म-मरण करता और मरेके बाद दूसरा जन्म पानेके लिए जाता, तो किस तरह जाता तो यहां चर्चा चल रही है कि यह जीव आकाश प्रदेशमे श्रेणीके अनुसार जाता है। तो जीवके दोष कह रहे हैं– अहकार, ममकार, कर्तृत्व बुद्धि, भोक्तृत्व बुद्धि।

क्लेशका तृतीय कारण कर्तृत्वबुद्धि—मैं करता हूं, मैंने किया, मैं कर सकूंगा, मुझे करना चाहिए आदिक रूपमे जो करनेके विकल्प उठते है ये दुःखके हेतु हैं। तो विचारना चाहिए कि आत्मा केवल योग और उपयोगका करने वाला है, इसके अतिरिक्त मेरी और कोई गति नही है। तो बाह्यपदार्थोंमे मेरा कर्तव्य ही क्या है, फिर भी अज्ञानी बाह्य पदार्थों मे कर्तापन की बुद्धि करता है और दुःखी होता है, और उस कर्तापनमे हठ बनाते कि मैं तो ऐसा करके ही रहूगा। मैं तो ऐसा कराके ही रहूगा। अरे कुछ थोडीसी योग्यता पायी है, मनुष्य हुए हैं, बल मिला है, तो यहां कुछ हठ बना लें, मगर इसका परिणाम अच्छा नही। जैसे बच्चोकी हठ पूरी करना बहुत कठिन होता है ऐसे ही अज्ञानी की हठ पूरी होना कठिन होता है। किसी बच्चे ने हाथी देख लिया तो उसके मनमे आया कि मैं तो हाथी लूगा, तो वह रोने लगा, मचलने लगा और जमीनमे पडकर हाथ पैर हिलाने लगा। खैर दो चार रुपये महावतको देकर उस बच्चेके पिताने उस हाथीको अपने घरके सामने खडा करवा दिया और

कहा लो बेटा रोओ मत, यह हाथी आ गया। फिर वह बच्चा हट करने लगा कि इसे तो खरीद दो। तो उसके पिताने महावतसे कहकर अपने बाडेके अन्दर हाथी खडा करवा दिया और फिर कहा लो बेटा खरीद दिया। अब फिर वह यह हठ करने लगा कि इसे तो मेरी जेबमे धर दो। अब भला बतलावो उसकी यह पूर्ति कौन करे ? तो ऐसी ही हठ अज्ञानी जन करते हैं। बाह्य पदार्थोंके प्रति यह हठ बनाते हैं कि ये मेरे बनकर रहे, तो भला बताओ उनकी यह हट कैसे निभ सकती है ? परपदार्थ पर किसीका अधिकार कुछ है नही, पर यह उनके प्रति कर्तृत्वबुद्धि रखता है। यह कर्तृत्वबुद्धि इस जीवको दुःख देती है।

क्लेशका चतुर्थ कारण भोक्तृत्वबुद्धि—भोक्तृत्वबुद्धि मै भोग रहा हू, मै इसका उपयोग कर रहा हू, मैं भोजनको भोगता हूं, कपडोको भोगता हू, राज्यको भोगता हूं, बाहरी पदार्थोंको भोगना हू, जिनको कि यह जीव भोग ही नही सकता। स्वरूप ही नही ऐसा कि यह जीव किसी परपदार्थको भोग सके। फिर जो भोगनेकी बात चल रही है सो किसको भोगता ? परपदार्थोंके ज्ञानको भोगता है, पदार्थको नही भोगता यह जीव, किन्तु पदार्थके ज्ञानको भोगता है। सब जगह घटा लो। आपने भोजन किया, आम खाया, मीठा लगता तो बोलो आपने आममे रहने वाले मीठे रसको भोगा क्या ? अरे आममें जो मीठा रस है उसका तादात्म्य तो आमके साथ है। पुद्गलकी गुणपर्यायका तादात्म्य उसी पुद्गलमे है। उसमे से हम क्या निकाल सकते रस ? मैं पुद्गलको रसरहित कर दूं और उसके गुण निकालकर मैं अपने आत्मामे धर लू यह कभी नही हो सकता। पुद्गलकी बात पुद्गलमें रहेगी, पर हुआ क्या कि पुद्गलके रसका रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञान किया। यह मीठा है और अब संगमे राग लगा है तो उस ज्ञानमे उस मीठे रसका भ्रम कर लिया। मैं रसको भोगता हू, भोग रहा वह ज्ञान और सोच रहे कि मैं इन पदार्थोंको भोग रहा तो यह भोगनेकी बुद्धिमे भ्रम लगा कि नही ? बस इन्ही चार दोषोके कारण यह ससारी जीव जगतमे भ्रमता है और जब भ्रम रहा तो भ्रमणके मायने है जन्म और मरण। मरा अगले भवमे गया, तो अगले भवके लिए जाता तो किस ढगसे जाता, यह बात इस सूत्रमे बतायी गई है कि आकाश प्रदेशमें जो श्रेणियाँ है उन श्रेणियोके अनुसार इसकी गति होती है।

त्यक्तदेह जीवकी व पुद्गलाणुकी अनुश्रेणि गति—आकाश प्रदेश पक्ति श्रेणिके अनुसार किसकी गति होती है ? जीवकी और पुद्गलकी। कैसे जाना कि पुद्गलकी भी गति श्रेणीके अनुसार होती है ? तो भाई अगले सूत्रमे जीवस्य शब्द देंगे तो जब जीवका प्रकरण है तो जीवस्य शब्द क्यो दिया ? इससे सिद्ध होता कि सूत्रका अर्थ यह लेना कि जीव और

पुद्गलकी गति श्रेणीके अनुसार होती है। अब सूत्रमे तो इतना ही लिखा ना श्रेणीके अनुसार, तो एक शका यह बनती है कि हम तो यहाँ यह देख रहे है कि लडके लोग चैया मैयाका खेल खेलते है ना और जब लुका-छिपीका खेल खेलते है तो कोई लडका कही भागता, कोई कही। तो उनका कोई श्रेणीके अनुसार तो गमन नही होता। तो कहते है कि नही, यह प्रकरण है देहको छोडकर जाने वाले जीवका। काल और देशका नियम लेकर बोलना चाहिए। मरण कालकी यह बात चल रही है और उसीके क्षेत्रकी यह बात चल रही है। तो जीव जब पुराने देहको छोडकर नया देह धारण करता है तो जीवका आकाश प्रदेशमे पक्तियोंके अनुसार गमन होता है।

अब देखिये—यह गति यह विकृत है, स्वभावकी गति न रही। स्वभावकी गति तो होगी तब जब जीव कर्मरहित होगा। तो दो प्रकारकी गतियाँ है—एक तो स्वभाविकी और एक वैभाविकी। तो ससार-अवस्थामे तो यह जीवकी गति औपाधिकी चल रही है। सो शरीर उपाधि साथमे हो तो नाना प्रकारकी गति है और स्थूल शरीर साथ न हो, एक सूक्ष्म शरीर है तो उसकी अनुश्रेणी गति है, और शरीररहित हो जाय तो उसकी भी बिल्कुल एक निशाने ऊर्ध्वगति हो जाती है। तो देखो जीव क्रियाका कर्ता है, परिस्पदका कर्ता है, उपयोग को चलाता है तो अपने आपमे यह जीव काम कर रहा है, बाहरमे यह कुछ नही करता।

जन्म, जीवन व मरणसे अतीत होनेका लक्ष्य—भैया! जब जीव बाहर कुछ नही करता तो आत्मामे जावो, समाधिमे लगो। वह उपाय क्या है? अरे तुम केवल आत्मा आत्माकी ही बात जानो, केवल आत्माको ही निरखो, आत्माकी कला, आत्माकी शक्ति, आत्माका वैभव, आत्माका स्वरूप, आत्माकी लीला एक आत्माके इस गभीर तत्त्वमे प्रवेश करें तो समाधिभाव बन जायगा। परपदार्थोंमे लगाव रखते हुए चाहे कि हमे धर्म मिले, समाधि मिले, समता जगे, शान्ति हो तो ये सब एक व्यर्थके स्वप्न है। यह समझना है कि रागद्वेष मोह परिणाम रहते हुए शान्ति कभी प्राप्त नही हो सकती। और निज सहज ज्ञानस्वरूपको दृष्टिमे ले कोई और उसका ही ज्ञान करे, उसमे ही तृप्त रहे, उसमे ही रम जाय तो उसको शान्ति प्राप्त हो सकती है। अब देखो—अपने लिए कौन महान् है? अपने लिए यह आत्मा खुद महान् है, इसके सकट मिटानेके लिए कोई दूसरा न आयगा। खुदका ही ज्ञानबल खुदके सकटोको टाल सकता है। जब कि खुदका ही रागबल, खुदका ही यह मोह, खुद की ही यह कलुपता इस ससारमे इस जीवको रुलाती रहेगी, जन्म-मरण कराती रहेगी। एक बात और खास समझनेकी है कि जीव जैसे मरा याने एक देह छोडकर गया, अब दूसरा देह पायगा तो यह बताओ कि वह जिन्दा कब कहलाया? जन्म कब हुआ इसका? तो कुछ

लोग जन्म तो इसे कहते है कि जीव जब पेटसे निकला तब जीवका जन्म हुआ, पर बताओ उस दिन उस जीवका जन्म हुआ है क्या ? और पेटमे बिना जन्मके ही रहा क्या ? तो कुछ लोग तो यह कहेगे कि जिस दिन वह जीव गर्भमे आया उस दिन उसका जन्म हुआ। अच्छा तो एक यह प्रसग कि जीवको एक देह छोडनेके बाद दूसरा देह पानेमे दो-तीन समय तक लगते है तो फिर उसका जन्म कब कहलाया ? जन्म वाली जगहपर पहुच जाय तो उसे माना गया जन्म। मरणका नाम जन्म है। जिस समय मरा उसी समय जन्म हुआ। रास्तेमे जा रहा तो जन्म हो गया उसका। दूसरे भवका नाम पड गया उसके और अब जा रहा। जैसे घड़ेको फोड दिया तो खपरियाँ बन गईं, तो बताओ खपरियाँ पहले बनी कि घडा पहले फूटा ? तो आप तो यही कहेगे कि ये दोनो ही काम एक साथ हुए। उसी समयमे घडा फूटा और उसी समयमे खपरियाँ बनी। ऐसे ही मरण जिस समय हुआ वही समय जन्मका है। पूर्व भवका मरण, अगले भवका जन्म दोनोका एक समय है। अब वह रास्तेमे जा रहा है, दो तीन समय लग रहे तो उसकी जो गति है वह आकाश प्रदेशमे श्रेणीके अनुसार होती है, यह बात इस सूत्रमे कही गई है। हमे यहाँ यह शिक्षा लेनी है कि जन्म, जीवन व मरणसे अतीत होनेमे ही कल्याण है।

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

मुक्त जीवकी गतिकी विधि—मुक्त जीवकी मोडरहित होती है। इससे पहले सूत्रमे यह बताया था कि जीव और पुद्गलकी गति श्रेणीके अनुसार होती है याने जिसने देह छोडा, दूसरा देह धारण नही किया उन जीवोको जो दूसरा देह धारण करनेके लिए गति होती है वह आकाशके प्रदेशोकी श्रेणीके अनुसार होती है। इसी प्रकार जो एक पुद्गल परमाणु है उसकी भी गति होती है, तो आकाश प्रदेशकी श्रेणीके अनुसार होती है। एक सामान्य कथन था, और ससारी जीवका प्रकरण चल रहा था और संसारी जीवकी बात ही छेडी गई थी कि विग्रहगतौ कर्मयोग, उसकी गतिका सम्बध रखते हुए यह प्रकरण चल रहा था। तो यहाँ यह जिज्ञासा होनी प्राकृतिक है कि ससारी जीवोका तो यह हाल है, पर जो मुक्त हो जाय, जो कर्मबन्धनसे छूट जाय उसको गति किस प्रकारकी होती है ? तो उसका समाधान इस सूत्र मे दिया है, और जैसे लोगोको बहुत शकायें बनी रहती कि जीव मुक्त हो गया तो वह ससार मे ही फैल जाता है, सब जगह व्यापक हो जाता है, सो उसका भी समाधान इस सूत्रमे मिल जाता है, फैलता नही है वह किन्तु उसकी गति होती है। तो उसकी गति कहांके लिए होती है ? बस जहांसे मुक्त हुआ है उसके सीधमे गति होती है। कहां तक, जहां तक लोकके अन्त में गतिका साधनभूत धर्मास्तिकाय है। गति वहा तक ही चलती है। कही धर्मास्तिकायन आत

नही करायी, वह तो उदासीन निमित्त है, मगर जो कुछ एक अपूर्व बात होती है तो उसमे कोई न कोई निमित्त होता है, नही तो अनादि अनन्त क्यो नही होता ऐसा ? तो धर्मास्तिकाय निमित्त होता है और जीव पुद्गलकी गति होती है। तो धर्मास्तिकायका जहाँ तक सद्भाव है वहाँ तक इस जीवकी गति होती है। अविग्रहा जीवस्य—मुक्त जीवकी गति विग्रह रहित है।

अविग्रहाका अर्थ और सूत्रमें "मुक्त" शब्दकी ध्वनिका हेतु—यहाँ विग्रहका अर्थ है मोडा, अविग्रहा, कुटिलतारहित गति है। एक ही समयमे यह मुक्त जीव लोकके अतमे जाकर विराजमान हो जाता है। यहाँ एक बात समझनी है कि सूत्रमे तो मुक्त शब्द दिया नही। सूत्रमें तो इतना ही कहा है—अविग्रहा जीवस्य, जीवकी अविग्रह गति है। अब किस जीवकी ? उसका कोई विशेषण यहाँ नही दिया, फिर तुमने मुक्त जीव कैसे अर्थमें ले लिया कि मुक्त जीवकी गति मोडरहित है। समाधान यह है कि आगे जो सूत्र आयगा उसमे संसारी शब्द पडा है, इस कारण इसमे मुक्त अर्थ लिया जायगा। अगर संसारी ही अर्थ लिया जाता तो ससारियोका तो यह प्रकरण ही चल रहा था, फिर अगले सूत्रमे ससारी शब्द देनेकी क्या आवश्यकता थी ? तो वह संसारी शब्द यह सिद्ध करता है कि इससे पहले सूत्रमे जो अविग्रहा गति बतलायी वह मुक्त जीवके है, मुक्त मायने क्या ? छूट गया, किससे छूट गया ? उसके अलावा जो कुछ भी चीज हो सबसे छूट गया याने आत्माके अतिरिक्त अन्य जो-जो कुछ चीजें हैं उन सबसे छूट गया, कर्मोंसे छूट गया, शरीरसे छूट गया, रागादिक विकारोंसे छूट गया, अपरिपूर्ण ज्ञान विकाससे छूट गया और क्या रह गया ? जो था सो रह गया। अब देख लो, जो था सो ही तो रहा, तो जो रहा उससे ही यह समझ लो कि आत्मा ऐसा होता है।

मुक्त जीवके पवित्र स्वरूपका अभिनन्दन—हम आप सब आत्माओंका स्वरूप ज्ञान है, और स्वभाव ऐसा है कि जो कुछ भी विषय है समस्त विश्वको यह एक साथ स्पष्ट जान ले, ऐसा इसमें स्वभाव पडा हुआ है, पर उस स्वभावका आवरण हो गया, वह प्रकट नही हो पा रहा। आवरण मिट जाय, जो था सो ही हो गया। इस दृष्टिसे देखें तो भगवानकी तारीफ की कोई बात नही है। वह तो आत्माका स्वरूप है। तारीफ तो यहाँ ससारी जीवोकी है। ये कैसी-कैसी विचित्र परिणतियाँ कर रहे हैं ? छिनमें पेड-पौधे बन गए, छिनमे हाथी, घोर, उल्लू आदिक पशु-पक्षी बन गए, यह है मदारी जैसा काम। तो तारीफ यहाँ ससारी लोगोकी है भगवानकी क्या तारीफ ? जो स्वभाव है जो सही बात है वह प्रकट हो गयी। तो इन ससारी जीवोकी कला भला मुक्त भगवान करके तो दिखा दें। क्यो नही दिखा पाते कि वे बिल्कुल सीधे-सादे हैं। उपयोग उनका सीधा, ज्ञान उनका सीधा, गति उनकी सीधी, तब ही

तो कीड़ारहित गति बनती। ज्ञानका जो स्वरूप है, स्वभाव है वह उनके पूर्ण प्रकट है, वहाँ कोई रुकावट नही है। जो था सो हो गया। तो भाई जो अभी तारीफकी बात कही सो तारीफ होती है महत्त्वशाली चीजके लिए। यहाँ तो खोटी लीला है। जो महत्त्वशाली हो, उसकी तारीफ की जाती है, तो चूंकि संसारी जीवोमें वह पवित्रता नही है, वह विकास नहीं है कि सारे लोकालोकको जान लें। और भगवान तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंके स्पष्ट ज्ञाता है, इसलिए संसारमे भगवानकी तारीफ है, मगर ऐसा तो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप ही है, इसकी दृष्टि जिसे हो गई उसके लिए कोई तारीफकी बात नही लगती। वह तो प्रभुका स्वरूप है। आत्माका तो यह स्वरूप है। देखो आत्माके स्वभावका विश्वास हो, 'यह मैं हू' ऐसी श्रद्धा हो और ऐसा हो ज्ञान करे तो ऐसी परिणतिमे ही एक सच्ची विभूति है।

स्वरूपोपलब्धिकी सुगमता तथा परप्रसंगकी कठिनता—ज्ञानपरिणतिके सिवाय बाहरी कितना ही कुछ वैभव मिल जाय तो वह कोई वैभव नहीं है। उसे पाकर क्या चैन पडती? बल्कि जितना अधिक वैभव बढ़ता जाता उतना ही अधिक उसके प्रति चिन्तायें बढ़ती जाती है। चोर डाकुवोका भय बना रहता, सरकारके कानूनोंका भय बना रहता। क्या सरकार ऐसे कानून बना नही सकती कि इतने धनसे अधिक कोई नही रख सकता, इससे अधिक धन सरकारका हो जायगा। विदेशोमे ऐसे कानून चलते भी है। यहाँ भी जब चाहे तब सरकार ऐसे कानून बना दे और बना भी है। जरूरत पड जानेपर सब कुछ सरकार ले सकती है। जिस मकानमे आप रह रहे है, जिसकी रजिस्ट्रार आफिसमे रजिस्ट्री भी है, फिर भी सरकार जब चाहे तब ले ले। कह दे कि सरकारको इसकी जरूरत है। ऐसा कानून सरकार बनाना चाहे तो बना नही सकती क्या?

तो इस धन वैभवके प्रति लोगोको अनेक प्रकारकी चिन्तायें बनी रहती हैं। यह धन वैभव शान्तिका कारण नही, बल्कि अशान्तिका कारण है। मानो लोकमें कोई इज्जत बढ़ा ली, प्रतिष्ठा बढ़ा ली तो उससे शान्ति है क्या? शान्तिका स्थान तो केवल एक सामान्यप्रतिभास, विकल्परहित ज्ञानका परिणमन है। यह काम कितना सुगम है, अपने हाथका काम है, अपने आधीन काम है। ज्ञान मेरा स्वरूप है, जानने वाला ज्ञान है, फिर कौनसी अड़चन है जो यह ज्ञानस्वरूपको जानकर ज्ञानमे मग्न हो जाय, इसमे बाधा डाले। अगर हम अपने स्वरूपको उसको ही सार समझ पाये तो इस बातको पानेमें देर नहीं लग सकती। अड़चन कुछ नही है इसमें। बाहरी पदार्थोंकी सत्प्राप्तिमें अडचन हुआ करती है। अपने आपके पानेमें अड़चन खुद ही डालते है, दूसरा नही डालता।

मुक्त जीवोकी गतिकी अवक्रता और ससारी जीवोके वृत्तकी वक्रता—जिन्होने आत्मा के ऐसे शुद्धस्वरूपको पा लिया और ऐसे सत्यस्वरूपमय हो गये उनकी गति टेढी क्यो हो ? उनकी अवस्था टेढी क्यो होगी, उनकी परिणति टेढी क्यो होगी, उनका ज्ञान टेढा क्यो होगा, और ससारी जीवोंकी सारी बातें टेढ़ी होगी । ज्ञान करेंगे तो छल सहित, चलेंगे फिरेंगे तो टेढा-टेढा । कोई विचार करेंगे तो बस अनेक तर्क वितर्क लेकर टेढ़ा-मेढ़ा, सारी बातें टेढी बनेंगी । जैसे कोई ऊँटसे कहता है—अरे ऊँट तेरी गर्दन टेढी क्यो ? तो ऊँट बोला—अरे तुम गर्दनकी बात कहते, हमारा कौनसा अंग सीधा है सो तो बताओ ? क्या पेट, क्या पीठ, क्या गर्दन, क्या पैर, सभी अग टेढे है । तो ऐसे ही ससारी जीवकी कौनसी बात सीधी है ? विचार इसके टेढे है । विषयसम्वधी विचार बनता है, परपदार्थ सवधी विचार बनाता है । तो जिनकी टेढ सारी मिट गई उनकी गति मोडे रहित होती है । टेढी गति नही होती । जो टेढा चलता है वह टोटेमे रहता है और जो सीधा रहता है वह सम्पन्न हो जाता है । यह बात यहाँ देख लो— ससारी जीवोकी क्या सम्पन्नता ? अरे अपने अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्दकी प्रीति तजकर यहांके पौद्गलिक ढेला पत्थरमे प्रीति करनेमे कोई विवेककी बात है क्या ? अनन्तनिधान तो छोड दिया और इन बाहरी टुकडोंके लिए ललचाने लगे तो इसमे इस आत्माका कुछ विवेक है क्या ? अरे वह तो मूर्खता है । बाहरी बातें तो पुण्य-पापके आधीन है, हमारे भावोके आधीन नही । आज जैसा भाव करें सो परपदार्थमे परिणति बन जाय, ऐसा कुछ नियम तो नही है, जिसपर हमारा कुछ वश नही, उसके तो पीछे लगे फिर रहे और जिसमे हमारा वश है उसकी सुध भी नही लेते तो इसे क्या कहेगे ? पागलपन, मगर जहाँ सभी पागल हो वहाँ कौन किसे पागल कहेगा ? पागल वही बता सकता जिसको ज्ञान है । ज्ञानी जीव, उनकी दृष्टि मे ही पागल है बहिरात्मा, पर बहिरात्माओकी दृष्टिमे बहिरात्मा कैसे पागल ? पागलकी दृष्टि मे कोई पागल भी होता है क्या ? जहाँ सब पागल समुदाय हो वहांका फिर बलबा देख लो—कोई किसीको पागल तो नही कह सकता ।

तो ससारी जीव, मिथ्यादृष्टि जीव, अज्ञानी जीव, जिनको बाह्य पदार्थोंमे प्रीति है वे बाह्य पदार्थोंका हिसाब रखते है और उन्हे पागलपन नही प्रतीत होता । कैसा सही हिसाब रखते है । अच्छा तुम्हारे खेतकी रजिस्ट्री हो गई, हाँ हो गई, तुम्हारा ही है, और किसीका नही है । मकानकी रजिस्ट्री हो गई । आपने यह जायदाद खरीदी, इसको रजिस्ट्री हो गई ना ?···अभी तो नही हुई, तब तो भाई कच्चा काम है । रजिस्ट्री करा लो तो पक्का काम हो जायगा । तो जो अज्ञानी जन है उनकी दुनियामे ये सब बातें ठीक-ठीक समझी जाती है । मगर कितनी ही रजिस्ट्री करा लो, दो चार जगह रजिस्ट्री होती हो एक-एक चीजकी तो रजिस्ट्री करा लो, फिर भी आपकी वह जायदाद रच भी नही है, ऐसा सर्वज्ञदेवने बताया है ।

यहां तो अज्ञानियोकी समझमे आ रहा कि यह इसकी चीज है। अगर एक बार केवली भगवानके ज्ञानमे भी आ जाता कि यह मकान इस भाईका है तो यह बहुत बडी खुशीकी बात होती। फिर आपका मकान कभी आपसे हट ही न सकता था, न आप ही उस मकानसे हट सकते थे। भगवानमे ज्ञानमे रजिस्ट्री हो जाय तो वह पक्की रजिस्ट्री मानी जाय, और यहाँ की तहसीलमे या और कही रजिस्ट्री करा ली तो वह कुछ पक्की नही है, वह सब कच्ची है। परपदार्थ है, उनपर जबरदस्ती रजिस्ट्री करनेसे क्या वे अपने हो जायेंगे ? भगवान नही जानते ऐसा कि यह इसका मकान है, क्योकि है ही नहीं ऐसा। जो नही है वह कैसे जाना जायगा ? जो पदार्थ है सो झलक रहा, पर यह इसका है यह बात ज्ञानमे नही आता। क्योकि ऐसा है ही नही।

कर्मरहित पवित्र आत्माकी गतिकी सरलता—जिन्होने "निजको निज परको पर जान" ऐसी स्थिति प्राप्त की थी और जिसके अभ्यासके बलसे सूक्ष्म सूक्ष्म भी रागादिक विकार इन सबको जिन्होंने नष्ट कर दिया उनके अब सीधापन प्रकट हो गया। कर्मदशामे इसका सीधापन बिगडा था, टेढा था, दबा था, अब कर्मरहित होनेपर अब सीधा हो गया। तो भगवान निर्लेप होनेके कारण एकदम ऊर्ध्वंगमन करते हैं। जैसे तूमीमे कीचड भरा हो, वह पानीमे डाल दिया जाय तो पानीमे नीचे बैठ जाती है, पर ज्यो-ज्यो वह कीचड घुलता जाता है त्यो-त्यो वह तूमी पानीके ऊपर आकर तैरने लगती है, ऐसे ही कर्मोंका कीचड़ जब तक जीवमे बसा है भावकर्मका कीचड जब तक जीवमे भरा है तब तक यह ससारसागरमे गोते खा रहा है, नीचे डूब रहा है, और जब सम्यग्ज्ञानके बलसे इसका यह कीचड मिट जायगा, य विकार आदिक हट जायेंगे, शरीररहित, कर्मरहित हो जायगा तो यह जीव इस संसारके ऊपर तैरने लगता है मायने ससारसे पार हो जायगा। लोकके अन्तमे विराजमान होगा।

सिद्धक्षेत्रके ४५ लाख योजन प्रमाण होनेका हेतु—देखो भगवान, सिद्ध आत्मा कितनी जगहमे रहते है ? ४५ लाख योजनकी जगहमे। ज्यादा जगहमे नही है वे। क्यो ? ४५ लाख योजनकी जगहमे ही क्यो है वे लोकके अन्तमे कि मुक्त होने की जो जगह है वह नीचे ४५ लाख योजन है। एक लाख योजनका जम्बूद्वीप और दोनों तरफ दो-दो लाख योजनका लवण समुद्र, ये हो गए ५ लाख योजन और दूसरा द्वीप दोनो तरफ ४-४ लाख योजनका, इस तरह १३ लाख योजन हुए, और कालोद समुद्र दोनो तरफ ८-८ लाख योजनका, यो २९ लाख योजन हुए, उसके बाद तीसरा द्वीप है १६-१६ लाख योजनका दोनो तरफ। तो उस ३२ लाख योजनके आधेमे मनुष्य नही हैं। तो इस तरह २९ + १६ = ४५ लाख योजनकी जगह हुई, जिसमे सिद्धभगवान विराजे है। इस ढाई द्वीप के अन्दर ही मुनिराज होते है और मुक्त होते हैं। जहांसे मुक्त हुए वहीसे सीधा लोकके अन्तमे

पहुच जाते है। वहाँ भी इतना ही क्षेत्र है। तो देखो जैसे यह बात सत्य है कि लोकका कोई प्रदेश ऐसा नही बचा जहाँ जीवने अनन्त बार जन्म-मरण नही किया। यह सारे लोककी बात कह रहे, ऐसे ही यह भी तथ्य है कि इस ढाई द्वीपके अन्दर ऐसा कोई प्रदेश नही बचा जहाँसे मुनिराज मोक्ष न पधारे हो। जहाँ आप बैठे हैं यह भी सिद्धक्षेत्र है। जहाँ आप पैर धर रहे वह भी सिद्धक्षेत्र है। जहाँ आपका गुशलखाना है वह भी सिद्धक्षेत्र है और जहाँ आपका सडास बना है वह स्थान भी सिद्धक्षेत्र है। कोई भी प्रदेश ऐसा नही बचा जहाँसे सिद्धभगवान न हुए हो। ढाई द्वीपका प्रत्येक प्रदेश यह धरती पूज्य है। अब बतलावो—पूज्य धरतीपर पैर न धरकर चलनेकी जो आदत रखता है बताओ उससे यह बात निभ सकेगी क्या? अरे ढाई द्वीपके अन्दरका प्रत्येक प्रदेश सिद्धक्षेत्र है। बस मोडेरहित गति है, इस कारण जहाँसे जो जीव मुक्त होता है उसके ही सीधमे जाकर लोकके अन्तमे विराजमान होता है।

लवणसमुद्र कालोदसमुद्र मेरुमध्य आदि जैसे विषम स्थानोसे मुक्त होनेका विधान— अब कोई लोग सोच सकते है कि धरतीपरसे तो मोक्ष जाते है, मगर लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र से कोई मोक्ष कैसे जा सकता है? क्या कोई ऐसा कर सकता है कि किसी नावमे बैठकर वहाँ पहुचे और फिर वहाँसे तपश्चरण करके मोक्ष जाय? तो एक तो मुनियोको ऐसा विकल्प ही नहा होता, और न कोई ऐसा करता है। यह तो एक बेहूदी बात है। फिर कैसे समुद्रकी जगहसे मोक्ष होगा जीवका? तो कोई उपसर्ग करने वाला बैरी, मनुष्य देव कोई भी जिसमे सामर्थ्य है वह ध्यानस्थ मुनिको उठाकर समुद्रमे पटक दे, आखिर बैरी तो न जाने क्यासे क्या कर दे, और हो जाय वही केवलज्ञान तो देखो वहाँसे मुक्त हो गए कि नही? अच्छा, एक बात और जाननेकी है कि जो मेरु पर्वत है, जहा पाण्डुशिलायें बनी है वे बिल्कुल मेरु पर्वत की चोटी पर नही बनी हैं, वे कुछ ऊपर जाकर बनी हैं। एकदम मेरु पर्वतके ऊपरी भागमे नही है। वहाँसे तो फिर कई योजनकी और शिखा गई है और मेरु पर्वतका जहाँ अन्त होता है उसके ऊपर केवल एक बालके अन्तर बराबर अन्तर रहता है। वहासे प्रथम स्वर्गका इन्द्रक विमान शुरू हो जाता है। अब कोई यह पूछे कि जहा एक बालका ही अन्तर है उसपर तो कोई मुनिराज बैठ नही सकते और उसके कुछ और नीचे भी कोई मुनिराज ध्यान नही कर सकते तो उस जगहसे मोक्ष कैसे गए? तब तो वहाँ उतनी जगह खाली रहनी चाहिए ना सिद्ध लोकमे? सो इसका उत्तर यह है कि ऋद्धिधारी मुनि ऋद्धिके बलसे पर्वतके भीतरसे भी विहार कर जाते है। ऋद्धिया होती है ऐसी कि उन्हे वज्र भी नही छेद सकता। तो कोई ऋद्धिधारी मुनि उस पर्वतके बीचमे से विहार कर रहा और ठीक उस जगहपर पहुचा जहा वह मेरुको शिखरकी चोटी है, उसके नीचसे जाता है, जहासे आप ऐसी सभावना करते है कि

यहां कोई जा नही सकता, फिर मुक्ति कैसे हो वहासे ? इसके नीचे पर्वतके बीचमें ऋद्धि मुनि विहार कर सकते है, सो विहार करते हुए ऋद्धिधारी मुनि हैं और वही ध्यान बन गया, आत्मा ही तो है। विहार करते-करते ध्यान बन गया, थम गया, रुक गया, मिनट भी तो नही लगता। ध्यान योग्य बन जाय और कहो वहीसे मुक्त हो जायें, तो उसके सीधमें ही तो ऊपर जायगा। तो जो सिद्धलोक है वहां खाली जगह नही मिलेगी ढाई द्वीपके प्रमाण याने ४५ लाख याजनका जो वह सिद्धक्षेत्र है उस क्षेत्रमे प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त सिद्ध विराजे हैं।

कर्ममुक्त प्रभुकी अविग्रहा गति और समृद्धि—क्यों हुई मुक्त जीवोकी ऐसी अनुश्रेणी० गति ? एक तो जीवकी श्रेणीके अनुसार गति हुई जब कर्मसहित जीवके भी देह छोडनेके बाद श्रेणीके अनुसार गति हो जाती है तो जिसके देह न रहा, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया, उसकी गति श्रेणीके अनुसार होगी ही और मोडारहित होगी। तो जीवके मुक्तिकी गति मोड रहित है। इससे यह बात स्पष्ट समझमे आ जाती कि ४५ लाख योजन प्रमाण जो सिद्धक्षेत्र है उसके प्रत्येक प्रदेशपर अनन्तसिद्ध विराजे है। कैसे विराजे हैं ? जहाँ एक सिद्ध है वहाँ एक है कि अनेक ? एकमे एक है—यह भी सही है, एकमे अनेक है—यह भी सही बात है। स्वरूप० दृष्टिसे देखो तो एकमे एक है, एक सिद्धमे दूसरेका प्रवेश नही, और क्षेत्रकी दृष्टिसे देखें तो एक सिद्धभगवान जहाँ विराजे हैं वहाँ अनन्तसिद्ध विराजे है। तो यह सब इस ही आधारपर समझा गया।

जो यहाँ दो सूत्र बताये गए है कि जीवकी गति श्रेणीके अनुसार है और चूंकि मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट हो गया है, इसलिए वह और श्रेणियोमे तो जायगा नही, किन्तु जहाँसे मुक्त हुए है वहाँसे ही जो ऊर्ध्वकी ओर श्रेणी है उस श्रेणीसे उनकी गति बनेगी। और दूसरा सूत्र कहते है कि मुक्त जीवके विग्रहरहित गति है, उनके गमनमे मोड नही आया करता तो यह भी बात साफ हो गई कि मुक्त जीव मुक्त होकर यहाँ वहाँ नही भटकते, यहाँ वहाँ नही बिखरते, किन्तु ठीक मोडेरहित गति द्वारा लोकके अन्त तक पहुच जाते है। और वहाँ अनन्तकाल तकके लिए अपने सीधे स्वभाव विकासमे निरन्तर परिणमन करते रहते है। अनन्तज्ञान, समस्त पदार्थोंका ज्ञान, और समस्त पदार्थोंका ज्ञान करने वाले निज आत्माका दर्शन, सो भी अनन्तदर्शन, और ऐसा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन बना ही रहे, उसमे कमी न आये, ऐसी उनके अनन्तशक्ति प्रकट है, और ऐसे अनन्तज्ञान, दर्शनके समय अनन्तआनन्द चल रहा है। ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप भगवान मोडेरहित गति होनेके कारण सिद्धक्षेत्रमे विराजमान होते है।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

संसारी जीवोकी विग्रहार्थ गतिकी विशेषता——ससारी जीवोके ४ समयसे पहले तक विग्रहवती भी गति होती है। विग्रह मायने मोडा, याने मोडा लेकर भी गति होती है। जैसे कोई जीव जहाँसे मरा, उसके सीधमे जन्मस्थान नही है, दूसरी जगह है तो वह इस तरह जायगा कि जिसे मुडना पडेगा मुडकर जायगा। तो ससारी जीवोके मरणके बाद जो नया शरीर धारण करनेके लिए गति होती है वह मोडे वाली भी हो सकती है, मगर कही सीधा उत्पन्न होना है तो मोडा लेनेकी जरूरत नही होती है। यह सूत्र क्यो कहा गया ? इसका प्रसग क्या था कि इससे पहले यह बताया गया कि मुक्त जीवके गति बिना मोडेकी होती है, क्योकि जो मुनिराज तपश्चरण करते है जहाँ भी करते हो ढाई द्वीपके अन्दर तो जहाँ तपश्चरण कर रहे, जहाँ केवलज्ञान होकर ऐसा ध्यान बने कि अब मुक्त हो रहे तो जहाँसे मुक्त हो रहे ठीक उसके सीधमे ही लोकके अन्तमे विराजमान होंगे, इसलिए वहाँ मोडेकी जरूरत नही पडती। तो यह प्रश्न हुआ कि जैसे मुक्त जीवकी गतिमे मोड नही पडते, इसी तरहकी बात क्या संसारी जीवोमे भी है ? याने शरीर उत्पत्तिके बाद जो नया शरीर ग्रहण करनेके लिए जीव जायगा सो क्या वह सीधा ही चला जायगा या कुछ मुडकर जाना पडेगा। ऐसी जिज्ञासा प्राकृतिक है। उसके समाधानमे यह सूत्र कहा गया है कि ससारी जीवकी विग्रह (मोडा) वाली भी गति होती है। जैसे कोई जीव इस चौकीके एक कोनेसे मरा और चौकीके इस तीसरे किनारेपर उत्पन्न होता है तो यह पूरब पश्चिम दक्षिण उत्तर तो नही बैठना सीधा तो वह जैसे इस किनारेसे सीधा उस दूसरे किनारे आया और उससे फिर इस तीसरे किनारे पर आया, जीव सीधा टेडमे न आ सका, क्योकि आकाशके प्रदेशकी पक्ति वैसी नही है। आकाश प्रदेशकी पक्ति ऊपरसे नीचे, पूरबसे ठीक सीधमे पश्चिममें, दक्षिणसे ठीक सीधा उत्तर मे यो श्रेणियाँ है। तो ससारी जीव कहाँ मरता है, कहाँ उत्पन्न होता है ? इस हिसाबसे इसकी गति मोडे वाली भी होती है और मोडारहित भी होती है।

प्रकृत सूत्रमे 'च' शब्दकी सार्थकता——इस सूत्रमे दो शब्दोपर विचार विशेष करना है। एक तो 'च' शब्द दिया वह क्यो दिया—विग्रहवती च, न "च" लगाते तो और सीधा ही सूत्र बन जाता, 'च' के बिना तो क्या हर्ज था ? एक तो शका यो बनती है। दूसरी शका यह बनेगी कि यहाँ कह रहे——'प्राक्चतुर्भ्य' मायने चार समयसे पहले। तो प्राक्की जगह आ (आङ्) भी तो लिख सकते थे। आचतुर्भ्य कई जगह लगा ना। ज्ञानके प्रकरणमे लगा आचतुर्भ्य। ४ ज्ञान तक। तो प्राक्की जगह आ भी लगा देते, तीन व्यञ्जन कम हो जाते। क् कम हो जाता, प् र् व्यञ्जन भी कम हो जाता, ऐसा क्यो नही किया ? इन दो बातोका इस सूत्रमे विचार करना। तो पहले 'च' शब्दकी बात लीजिए। विग्रहगती च, यहाँ 'च' शब्द

देनकी क्या मतलब ? यह कि विग्रहरहित भी गति होती है यह अर्थ आ जायगा। जिसे यों कहते है और विग्रह वाली गति होती है। तो उस औरके कहनेसे कुछ अन्यका भी बोध होता ना ? तो विग्रहरहित गति मोडारहित गतिका सग्रह करनेके लिए 'च' शब्द दिया है।

मोक्षशास्त्रके अर्थकी ज्ञातव्यता—देखो तत्त्वार्थसूत्रका इतना महान् आदर है कि बहुत से लोग रोज पाठ करते हैं, पाठ किए बिना भोजन नही करते। कोई अष्टमी चतुर्दशीको करते, कोई दशलक्षणमे करते। तो जिस तत्त्वार्थसूत्रके प्रति लोगोका इतना महान् आदर है तो उसमे बात क्या लिखी है यह समझना हम आपका कर्तव्य है या नही ? या पाठ तो आदरसे कर रहे है, पर यह पता नही कि इसमे क्या लिखा ? तो यह तो ऐसा कूदना हुआ जैसे अन्य लोग कथामे कहते है कि जब राम रावणका युद्ध हुआ तो श्री रामकी बदरसेना समुद्र लाँघ गई। ठीक है, मान लो लाँघ गई, पर उन बंदरोको क्या यह पता पडा कि इस समुद्रमें क्या-क्या रत्न भरे है ? समुद्र लाँघ लेनेसे कही रत्नोका पता तो नही पडता। ऐसे ही सूत्रजीका पहले अध्यायसे १०वे अध्याय तक कोई पाठ खूब कर ले, उसे लाँघ ले, पर इस सूत्रमे क्या रत्न भरे है, क्या विषय बना है, इसका बोध तो नही होता। कल्याणार्थी जीवके लिए आवश्यक जो ज्ञान चाहिए वह सब ज्ञान इस सूत्रजीमे भरा है। जीव कैसा होता है, कैसे मरता है, कैसे जाता है, कैसे जन्म लेता है, कैसे-कैसे हैं, क्यो दुःख भोगते है, कैसे दुःख मिटेगा आदि सारी बातोका तो वर्णन है। तो कितना आवश्यक है इसका समझना, इतनेपर भी उसके समझनेका कोई भ व न करे या यत्न न करे तो यह उसके लिए एक खेदकी बात होगी।

उपयोगके सक्षिप्त वर्णनमे बाद योगके प्रासंगिक वर्णनकी संगति—इस प्रसगमे देखो क्या बतला रहे है कि जीवका लक्षण उपयोग तो पहले बताया ही था याने जीवकी पहिचान उपयोगसे होती है। जहाँ उपयोग हो उसे कहो कि यह जीव है। तो उपयोगका बहुत वर्णन चला। उपयोग बिना जीवको तो नही समझ सकते। अनुभव करके भी देखो—अगर कोई भीतको लाठी मार रहा तो उसे देखकर कोई यह नही कहता—अरे रे रे भाई इसे मत मारो, यो कोई दयाके स्वरसे नही बोलता और अगर कोई कुत्ता या गधा वगैराको मारे तो कहते—भाई इसे मत मारो। क्यो मारते हो ? तो इतनी जानकारी तो है लोगोको कि जिसमे उपयोग है सो जीव है और जिसमे उपयोग नही सो जीव नही। उस उपयोगका बहुत वर्णन हुआ। अब यह योगका वर्णन चल रहा है कि जीवमे योग होता है जिससे जीवकी गति बनती है। एक जगहमे दूसरी जगह जीव पहुच जाय तो इसमे योग काम दे रहा है। क्रियावती शक्ति भी कहा है। अगर क्रियावती शक्तिका भी प्रयोग करने लगें तो योग बिना तो न करेंगे। केवल एक सिद्ध भगवानकी गति योग बिना है, पर ससारी जीवकी गति योग बिना नहीं बन

सकती। तो उस योगके वर्णनमे यह बात बतला रहे हैं कि जब यह ससारी जीव मरण करता है, एक देह छोडता है तो दूसरा देह धारण करनेके लिए जो जाता है सो किस तरह जाता है ? मोडे लेकर भी जाता और बिना मोडेके भी जाता। तो उसको कितना समय लगेगा ? एक शरीर छोडनेके बाद दूसरा शरीर ग्रहण करनेके बीच समय कितना लगेगा ? ३ समय तो मोडे तकके हुए, चौथे समयमे अवश्य शरीर पा लेगा और समय कितना बडा होता है ? एक सेकेण्डमे अनगिनते समय होते हैं। आँखकी पलकके एक बार जल्दी-जल्दी उठने गिरनेमें जितना समय लगता है उतने समयमे अनगिनते समय हो जाते है। उनमेसे ३-४ समयकी बात बतला रहे तो यह तो न कुछ जैसी बात है। यो कहो कि तुरन्त उत्पन्न हो जाता है। तथ्य यह है।

भावानुसार लाभ—भैया, जो-जो जिनवाणीमे बात बतायी है, वैज्ञानिकोने खोज भी की है तो कुछ अंदाज कर सकते हैं, पर इसके विरुद्ध जो लोगोंने दूसरी-दूसरी बात कह डाली वह अपने-अपने स्वार्थसे। जैसे एक बात यह कही कि यह जीव मरनेके बाद १०-१२ दिन चक्कर लगाता है, तो इसका मतलब क्या है कि तुम इतने-इतने लोगोको खिला-पिला दो तो वह जीव ठीक ठिकाने लग जायगा। यह स्वार्थी लोगोने ही तो बात कही। कुछ लोग तो ऐसा भी कहते कि देखो सेठजी तो गुजर गए, अब उनके नामपर गायका दान करने दो, पिता जी को दूधका सुख मिल जायगा। जो मरकर दूसरी जगह पैदा हो गया उसके लिए पडा लोग कहते कि देखो तुम चारपाई, विस्तर, जूते, कपडे, बर्तन आदि तमाम चीजोका हमे दान कर दो, दान की हुई चीजें उनके पास पहुच जायेंगी और वे आरामसे रहेगे। ऐसी-ऐसी बातें भी स्वार्थी जनोंने कहीं। अरे सोचो तो सही कि मरनेंके बाद उस मरने वालेके नामपर कितना ही कुछ दान कर दिया जाय, पर उससे उस मरने वालेको लाभ क्या ? हाँ लाभ उसे तो मिल जायगा जो दान करेगा। उसका कुछ पुण्य तो मिल जायगा। मान लो वह सेठ बडी कजूस प्रकृतिका था। वह मरकर चला गया, कुछ दान न कर सका। उसके भाई अगर सोचें कि चलो पिताजीके नामपर कुछ दान कर दें तो पिताजीको पुण्यलाभ मिल जायगा, सो बात नही हो सकती। पुण्य तो उसको लग सकता जो दान करे, उस मरे हुए व्यक्तिके लिए उससे क्या लाभ ? सबका अपने-अपने भावोंसे ही बध होता है। तो जहाँ यह बात है कि मरनेके बाद उसके प्रति दूसरा कोई भाव करे तो उसका कोई प्रभाव मरने वालेपर नही होता। यह जीव अपने भावोंके अनुसार बध करता है और उस बधके अनुसार, उदयके अनुसार यह गति पाता है। तो मरणके बाद दूसरा शरीर पानेके लिए गया तो चौथे समयमे तो वह शरीर-वर्गणाओका आहार प्राप्त ही कर लेता है। चाहे कितना ही बडा मोडा लेना पडा हो।

चौथे समयमें संसारीकी अनाहारकताकी असंभवता— 'प्राक्चतुर्भ्य' यह शब्द कहनेसे एक नियम बन गया कि चार समयसे पहले-पहले सब मोडे निकल जाते है। चौथे समयमे आहारक बनता है और शरीर ग्रहण कर लेता है। अब कहाँ मरण करे, कहाँ पैदा हो तो तीन मोडे लेगा ? इसके लिए थोडा एक नक्शेपरसे समझा जा सकता है और कागजके नक्शे पर भी बढिया नही समझा जा सकता या तो काठका नक्शा बना हो या ७ आदमी एकसे कदके पीठके पीछे मुख करके लाइनसे खडे हो जायें और कमरपर हाथ रख लें और पैर पसार लें तो वह लोकका बहुत बढिया नक्शा बन जाता है, क्योकि लोकके पीछे ७ राजू हैं और सामने नीचे ७ राजू, बीचमे एक राजू, टेहुनीपर ५ और अन्तमे एक राजू, सो वह नक्शा ७ बालकोके आधारपर बहुत बढिया समझाया जा सकता है। वहाँ आप यह जानेंगे कि इस क्षेत्र से मरकर इस क्षेत्रमे पैदा हुआ तो तीन मोडे लिए बिना जीव वहाँ नही पहुंच सकता। उसे बोलते हैं निष्कुट क्षेत्र। तो यह जीव इस तरह मरणके बाद नवीन शरीर धारण करनेके लिए पहुच जाता है।

प्रभुकी अपनी व्यक्तिगत कुलीला—यह जो चर्चा चल रही है सो थोडा यह समझें कि हमने अनन्त मरण किए और अनन्त जन्म पाये तो ऐसी हालत विग्रहगतिमें हुई है, सो यह कोई प्रशंसाकी बात नही चल रही है। यह तो एक कलककी बात बतायी जा रही है। कलंक है सो बताया जा रहा है। जीव आत्मज्ञान बिना, आत्माके रमण बिना इस संसारमे परिभ्रमण करता है, जन्म-मरण लेता है तो मरनेके बाद जन्म लेनेकी उसकी विधि, गति इस प्रकार है। यह जीव तो अमूर्त है, पर कर्मबन्धनके वश होनेसे इसको उपचारसे मूर्तिक कहते हैं और कर्म और तैजस ये तो मूर्तिक है ही, मगर ये सब इतने सूक्ष्म है कि जब जीव शरीर छोडकर जाता है तो रास्तेमे पहाड आये, वज्र आये, पर उनसे जरा भी अटकता नही है, जरा भी कुछ आघात नही होता। बिना आघातके एकदम तुरन्त ही दूसरे पार निकल जाता है। अगर कोई ऐसा काँचका मकान बना दिया जाय कि जिसमे हवाका बिल्कुल प्रवेश न हो सके और उसके अन्दर किसी मरणहार जीवको लिटा दिया जाय तो उस काँचके मकानसे जीव मरकर बाहर निकल जायगा, वह काँचसे न भिडेगा, न कांच उससे फूटेगा। कुछ लोग तो ऐसा कहते है कि-किसीने ऐसा प्रयोग किया तो प्राण निकलते समय काच चिटक गया. मगर ऐसा हुआ भी हो तो भी यह समझो कि उस जीवके आघातसे कांच नही चिटका, कुछ हवा ही ऐसी बन गई हो, लग गई हो कि जिससे काच चिटक जाय तो वह बात और है। यह जीव मरकर तो नर्म, कठोर किसी भी चीजपर आघात नही पहुचा सकता, क्योकि वह ऐसा ही सूक्ष्म शरीर है तैजस और कार्माण कि उसके द्वारा किसी भी पदार्थको आघात नहीं

पहुचता ।

सूत्रमे 'आचतुर्भ्यः' कहकर लाघव न बनाकर 'प्राक्चतुर्भ्यः' कहनेका प्रयोजन—अब एक बात जो पहले कही थी कि 'प्राक्चतुर्भ्यः' इसके बजाय 'आचतुर्भ्यः' कह दिया जाय तो क्या हानि है ? देखिये—सूत्ररचना बहुत कुशल व्यक्ति कर पाते हैं, इसी तरह पद्यरचना भी। एक भी शब्द कम ज्यादा नही होता ऐसी सूत्ररचना होती है । एक एक शब्दके लाघव होनेसे ये सूत्रकार बडा उल्लास मानते है । जैसे गृहस्थजन घरमे पुत्रोत्पत्तिमे समयमे उल्लास मानते है या अन्य किन्ही समारोहोमे उल्लास मानते हैं ऐसे ही साहित्यरचना करने वाले लोग ठीक ठीक रचना हो जाय तो बडा उल्लास मानते है । सूत्ररचनामे तो इसका बहुत ध्यान रखना पडता है कि एक भी शब्द कम या ज्यादा न हो । तो शकाकार तब ही तो कह रहा है कि प्र.क्—इसमे कितने अक्षर आये ? प् र् आ क्—ये चार अक्षर आये । स्वर जरूर एक है, मगर आ कहनेमे तो बस एक स्वर ही स्वर आया । व्यजन सब दूर हो गए तो लाघव ही तो हुआ । तब आचतुर्भ्यः बोलना चाहिए । आचतुर्भ्यः का भी यह ही अर्थ होता है—चार समय से पहले और प्राक्चतुर्भ्यः का भी यही अर्थ होता है कि चार समयसे पहले । समाधान इसका यह है कि आ (आड्) के दो अर्थ होते हैं— १–पहले २–और तक । ४ से पहले याने मर्यादा और चार तक अभिविधि दोनो ही अर्थ होते हैं । इसलिए समझनेमे गौरव न हो अतः प्राक् शब्द दिया है । इसपर यह कहा जा सकता कि सूत्र तो बड़े-बड़े बुद्धिमानोको समझानेके लिए हुआ करते है । श्रोता कोई हल्के थोडे ही होते है, समझदार होते है । वे बडे-बडे सिद्धान्तोंके जानकार होते हैं—अर्थ भी लगा लेंगे कि आचतुर्भ्यः का अर्थ यहाँ मर्यादा है याने चारसे पहले-पहले समय तक यह जीव विग्रहगतिमे रहता है । उत्तर इसका यह है कि जब आ (आड्) के दो अर्थ है तो समझनेमे कुछ अधिक समय लगेगा । तो यहाँकी कसर वहाँ निकाले बिना सीधा प्राक् शब्द कह दिया ताकि किसीको सदेह ही न हो । तब अर्थ यह हुआ कि मरनेके बाद दूसरा शरीर धारण करनेके लिये दूसरे भवमे जो गमन करता है तो ऐसे स्थान मे पैदा हो कि जहाँ सीधा गमन करके एक मोडा लेकर पहुचे, दो मोडे लेकर पहुचे । अधिक से अधिक तीन मोडे लेकर पहुचता है, सो एक समय और अधिक लगा, चार समय लगता है शरीर लेनेमे, मगर विग्रहगतिमे तीन समय अनाहारक रहता है ।

अविग्रहा व विग्रहवती गतिका उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण—देखिये—मोडेकी बात दृष्टान्तसे समझिये—बिना मोडेकी गति तो ऐसी होती जैसे कि बाणकी गति । बाण सीधा जाता है और लक्ष्यमे जाकर चुभ जाता है । तो जैसे बाण छोडनेमे कोई मोडा नही होता, बाण बिल्कुल सीधा जाता है, ऐसे ही विग्रहरहित गति बिल्कुल सीधी है । यहाँ मरा सीधे और

उसके नीचे या ऊपर, सीधमे अगल-बगल पैदा होना है तो एक समयमे ही तुरन्त सीधा पहुच जायगा। और जहाँ एक मोड़ लेकर जाना पडे तो जैसे पूरबमे मरा और ठीक कुछ बगलमे पैदा होना है, पश्चिममे हो चाहे दक्षिणमे हो तो एक समय सीधमे गया और दूसरे समय मोडा लेकर गया तो एक मोडे वाली गति ऐसी होती है जैसे हाथसे कोई ढेला फेंका जाय तो उस फेंके हुए ढेलेमे कितने मोडे आयेंगे ? एक मोड जहाँ तक वेग है, सो सीधा गया और वेग न रहा तो नीचे गिर गया, इसे बोलते हैं पाणिमुक्त, हाथसे कोई चीज फेंकी तो जैसे उस चीज मे एक मोडा आयगा, फेंका सो सीधा गया, फिर गिरा तो एक मोडा लेकर नीचे आ गया, ऐसे ही एक मोडे वाली गतिका नाम है पाणिमुक्त और जिसमे दो मोडे लग जायें तब जीव उस जन्मस्थानपर पहुचे तो ऐसी गतिको कहते है लागलिका। लागलिका बदरकी पूँछको बोलते है। जैसे लंगूर (काला बदर) की पूछ बहुत बडी होती है। वे पूँछ उठाकर भागते हैं। उनकी पूछ इतनी बडी होती है कि वह घूमकर पीठपर आ जाती है। तो बताओ उस पूंछमे कितने मोडे पैदा हो जाते है ? दो मोडे। और तीन मोडे वाली गतिका नाम है गोमूत्रिका गति। जैसे गाय या बैल जब चलते हुएमे मूत्र करते है तो उनके मूत्रकी शक्ल कैसी होती है ? कई मोड़े होते है। तो इसी प्रकार तीन मोडे वाली गति भी होती है। ऐसा यह गतियो से गमन करके जीव जन्मस्थानपर पहुंचते हैं।

मरण करते रहनेका प्रोग्राम स्थगित करनेका अनुरोध—देखो भैया ! मरण विग्रह-गति जन्म यह सब तो नटखट है ना सारा। मोड़े लेकर जन्मस्थानपर पहुंचे और जितनी जिन्दगी है उस जिन्दगीमे जो सयोग हुआ उसमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि की, आकुलतापूर्वक जीवन बिताया, फिर मरणका समय आ गया, मर गया, फिर वही पाटी शुरू हो गई। इस तरह यह जीव जरासी भूलमे बडी विपत्तियोको पा लेता है। भूल कितनीसो कि जो सहजस्वरूप है उसे न मानकर जो शरीर मिला उसे मान लिया कि यह मै हू, तो देखो यह आत्मा तो परमेश्वर है ना। तो यह परमेश्वर शरीरको मान ले कि 'यह मैं हू' तो उसकी बात तो खूब रखनी चाहिए ना सो खूब शरीर मिलते हैं उसे। जो मानता है कि यह शरीर मै हू तो उसे मनमाने शरीर मिलत है, क्योकि आखिर परमेश्वर ही तो है। अगर शरीर मांगता है तो उसे खूब डटकर शरीर मिलते रहेगे, रहगे, याने तो शरीरमे आत्मबुद्धि करता है उसे शरीर मिलते हैं याने जन्म होता है, जन्म हुआ तो मरण होता है। तो जन्म-मरणमे बहुत संकट हैं। अगर ये संकट पसद नहा है तो ऐसा उपाय बनाओ कि जन्म न होवे, फिर शरीर न मिले। चाहे कितने ही समयमे हम इस प्रोग्राममे सफलता पायें, मगर रचो तो अभीसे प्रोग्राम। वह क्या प्रोग्राम ? बिल्कुल सोधी बात है। जो शरीरको माने कि यह मैं हू उसको शरीर मिलत

रहेगे। जो शरीरको मैं न माने और शरीरसे भिन्न सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अपने स्वभावको माने कि यह मैं हू उसको शरीर मिलना बंद हो जायगा। अब अपना नफा नुक्सान सोच लो—शरीर मिलना बन्द हो जाय उसमे नुक्सान है या शरीर मिलते रहे उसमे नुक्सान है? यह अपनी-अपनी बात सोच लो—हो जायगा वही काम जो आप चाहेगे। पर यह अपना-अपना नफा नुक्सान सोच लो कि शरीर मिलते रहनेमे इसको ,मुनाफा है या शरीर न मिलने मे मुनाफा है? जरा बडे विवेक और सच्चाईके साथ सोचा जाय। इस समय चूकि धर्मकी जगह बैठे हैं सो मुखसे तो यह ही कह बैठेंगे कि शरीर न मिलें, इसमे लाभ है। मगर थोडी ही देरमे अगर चूहा ऊपरसे निकल जाय तब फिर उसका उत्तर वह खुद दे देगा कि हम ठीक कह रहे थे कि नही? शरीर मिलेंगे तो सारी दिक्कतें सहनी पडेंगी। यह राग मोह विषय कषायके कारण जो इतनी बडी विपत्ति आ रही है वह शरीरके आधारपर ही तो है और फिर मरणमे तो लोग बहुत घबडाते है, बडे दुःखी होते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे कोई सुनार जन्त्री यत्रसे तार खीच रहा हो। जैसे जंत्री यंत्रसे तारका निकलना कुछ इस ढगसे लगता है कि तारके निकलनेमे बडा कष्ट होता है, ऐसे ही इस शरीरसे जीवको निकलनेमे कष्ट होता है। तो शरीरको अपनाकर मरणका प्रोग्राम मत बनाओ।

जन्म लेते रहनेका प्रोग्राम स्थगित करनेका अनुरोध—जो तकलीफ मरण समयमे होती है उससे कम तकलीफ जन्म समयमे नही होती है। जन्म उसे मान लो जिस समय जीव पेटसे बाहर निकलता है। तो उस समय वह कैसा भिचकर निकलता है, कितनी तकलीफ पाता है, उसका दुःख तो वही समझता होगा। देखिये—उत्पन्न होते समय प्रत्येक बच्चा रोता है, और कोई बच्चा अगर न रोये तो लोग बड़े हैरान होते कि बात क्या है, यह रोता क्यो नही? इसमे कुछ कमी है क्या? पता नही यह जिन्दा भी रहेगा कि नही? तो जैसा दुःख मरणके समयमे होता है वैसा ही दुःख जन्मके समयमे भी होता है। जब वह बच्चा रोता है तो उसकी आवाज किस तरहकी आती है? कहां कहां , तो कविजन कहते हैं कि मानो वह बच्चा सोचता है कि अरे मैं यहां कहां आ गया? उसे वह नई जगह मालूम होती है, इसलिए कहता है—कहां-कहां। उसके लिए वर्तमान दिमागमे बिल्कुल नई चीज है। पूर्व जन्मसे जो-जो कुछ उसने सब समागम पाया वह सब पूरा नदारत है, कुछ सम्बध नही है उसका, पर जो सस्कार था, रागद्वेष मोहका जो सस्कार साथ है उस संस्कारके अनुसार उसपर सब बातें बीतेंगी। तो रहना तो यहां कुछ नही है, पर भाव बिगाडकर जो सस्कार पहले बना लिया यह परेशान करेगा आगे। न मकान, महल साथ जायेंगे, न स्त्री-पुत्रादिक कुटुम्बी जन, न धन वैभव कोई भी साथ निभाने वाला नही है, पर बिना कामका जो एक

संस्कार बना डाला रागद्वेष मोह आदिका, किसी तरहका, बस वह सस्कार साथ जायगा, और इस संस्कारके अनुसार उसको साता असाता, सुख दुःख ये सब बातें उसपर बीतेंगी। इसलिए अपनी बड़ी जिम्मेदारी समझें और धर्मके लिए समय दें, ज्ञानके लिए उत्साह बनावें तो आत्महित होगा, अन्यथा जैसे अनन्त जन्म मरण किये, ऐसे ही आगे भी जन्म मरण इसे करना पड़ेगा। अतः जन्म लेते रहनेका प्रोग्राम स्थगित करो, उसका उपाय है अपनेको शरीर से विविक्त मानो।

एकसमयाऽविग्रहा ॥२६॥

मोड़रहित गतिकी एकसमयिकिता—विग्रहरहित गति एक समय वाली होती है, याने जीव और पुद्गलके गमनमे यदि कोई मोड़ नही आता तो ऐसी मोडरहित गतिसे इष्ट स्थान पर पहुचनेके लिए केवल एक समय ही लगता है। पुद्गल परमाणु एक समयमे लोकके अन्त तक पहुच जाता है। चाहे वह मध्य लोकसे चला, चाहे वह अधोलोकसे चला हो अधः स्थान से चला हो तो १४ राजू एक समयमे पार कर देगा और मध्य लोकसे चला तो ७ राजू एक समयमे पार कर देगा। यह तो है पुद्गलकी बात, और जीवकी भी यह ही बात है, क्योंकि विग्रहरहित गति मुक्त जीवके भी होती है, सो वह तो मध्यलोकसे ही चलेगा, और जगहसे नही, और ऋजुगतिसे कोई संसारी चले तो कहीसे चले, नीचेसे चले, ऊपर पहुंचना है तो वह एक समयमे पहुँच जायगा। जैसे १० कोस जगह कोई मनुष्य चार घटेमे पहुंचता है, कोई एक घटेमे पहुच ले, नाप तो उतना ही रहा, तो ऐसे ही सारा लोक १४ राजू एक समयमें परमाणु गमन करता और ऋजुगति वाला ससारी गमन कर लेता है, क्यो एक समयमे पहुंचते ? तो यह हल्केपनका प्रभाव है, अकेलेपनका प्रभाव है। स्थूल शरीरसे छूटा तो उसमे लघुता आयी। सूक्ष्म शरीर तो लघु होता ही है। तो वहाँ ही एक समयमे कही पहुच जाता है। स्कध छोटा परमाणु केवल एक परमाणु अकेला उसमे इतनी लघुता है, बल्कि उसमें लघु, गुरु स्पर्श भी माना ही नही गया, ऐसा वह पुद्गल परमाणु एक समयमे १४ राजू पार कर देता है।

विग्रहवती गतिमें समय अधिक लगनेका कारण—इस स्थूल शरीरसे छूटे हुए संसारी जीवको यदि मोड लेना पडता है तो वहाँ एकसमय अधिक लग जाता है। एक जो स्वस्तिक चिह्न (卐) होता है इसमे कई तत्त्व जाने जा सकते है। जो जैसा तत्त्व ग्रहण करे। दो लाइनोसे साँथिया बनता है। यद्यपि उसमे मोड है, मगर कागज परसे कलम नही उठाये और साँथिया बनाये तो एक बारमे एक लाइन बन गयी और दूसरी बारमे दूसरी लाइन बन गई। तो यहां साँथियामे मुख्य दो लाइन है। साँथियाकी रचना यह बतलाती है जीव और

पुद्गलके प्रतीक। और जहाँ साँथिया बना वह क्षेत्र है आकाश। अब उस लाइनका जो मोड़ है तो लाइन खिची, वह है धर्मास्तिकायका प्रतीक। धर्मास्तिकाय है उसका निमित्त पाकर रेखा चली और जहाँ मोड आया तो वह मोड है अधर्मास्तिकायका प्रतीक। मोड आये तो चलते हुए जीव पुद्गलको रुकना ही पड़े, रुके बिना मुडना नही बनता। अपने एक हाथको कोई चार अंगुल ही उठाकर फिर दूसरी ओर ले जावो, उसके फेंकनेमे अधिक समय लगेगा और यदि हाथको दो-तीन हाथ दूर तक उठा डालें तो उसमे अधिक समय नही लगेगा, क्योकि उसमे हाथको मोडा नही। मोडा लेनेमे एक क्षणकी अटक आयगी। तो साँथियामे जो मोड लगा है वह एक अटक है और वह अधर्मास्तिकायका प्रतीक है। ठहरे विना मोड नही हो सकता। और फिर वह जो रेखा बनी वह सब बिन्दुओका समुदाय है। एक तरहसे देखो वह भले ही जल्दी-जल्दी बनाया, मगर हर क्षण बिन्दु-बिन्दु बनती हुई जो बिन्दुओकी धारा है सो ही तो रेखा कहलाती है। तो जैसे उस रेखामे सर्वत्र बिन्दु-बिन्दु नजर आते वह है कालद्रव्यका प्रतीक। जैसे कहते कि लोकके प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक कालाणु है। यह स्वास्तिक चिह्न षट्द्रव्योका समूह लोक है, इस बातका ज्ञान करा रहा है। वहाँ हम क्या देखें कि जहाँ मोड नही है वहाँ बहुत कम समय लगता और मोड होनेपर एक क्षण ठहर जाता, तो ऐसे व्याघात रहित जीव और पुद्गलकी गति एकसमयमे होती है। जहाँ ससारी जीवोको एक मोडा लेकर पैदा होने जाना पडता है वहाँ एकसमय ज्यादा लगता है। जैसे पुद्गल स्कध को मोडा लेकर जाना पड़ता है उसको समय अधिक लगता। इस प्रकार विग्रहरहित गति एकसमय वाली होती है।

सूत्रोक्त शब्दोंका अर्थ—अब जरा शब्दोपर ध्यान दो—सूत्रमे क्या बताया? एक समया अविग्रहा, उसमे एकसमयाविग्रहा सधि बनी। एकसमया अविग्रहा—ये दो पद दिये हैं उन शब्दोंके अनुसार अर्थ क्या बना? अविग्रहा एक समयिकी है। अब अविग्रहा विशेषण है, विग्रहरहित, क्या चीज? तो चूकि गतिका प्रकरण है। बहुत सूत्रोसे गतिकी अनुवृत्ति चली आ रही है, तो अर्थ हुआ विग्रहरहित गति। विग्रहरहित गति एकसमय वाली होती है। यहाँ दोनो शब्द स्त्रीलिंग दिए गए है, क्योकि गतिका प्रकरण है। जिसका व्याघात नही है ऐसी जीव पुद्गलकी गति एकसमयको लोकपर्यन्त तक हो जाती है।

आत्माको एक व सर्वव्यापी बताकर क्रियाका अभाव व गतिका अभाव सिद्ध करनेकी एक आरेका—अब यहाँ एक आशंका उत्पन्न होती है—कोई दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा तो एक है और सर्वव्यापी है। जो सर्वव्यापी है उसमे क्रिया ही सम्भव नही, क्योकि सारे लोकमे फैला। फैला है एक आत्मा। अब वह हिले-डुले कहाँ? अरे गगरीमे आधा

पानी हो तो वह पानी छलकेगा, अगल-बगल फैलेगा, अब गगरीमे पूरा पानी भरा है तो उसमें हिलने डुलनेकी कहाँ जगह है ? ऐसे ही आत्मा सर्वव्यापी है, एक है, इसलिए उसमे क्रिया नही हो सकती। और जब क्रिया ही नही है आत्मामे तो यह सारा वर्णन जो बहुत पहलेसे करते आये हैं, यों गति होती है आदि यह सब व्यर्थका प्रताप है। जब आत्मामें क्रिया ही नही है, गति नही हो सकती, फिर उस गतिकी बात करना यह कहाँ तक युक्त है ?

अनन्त आत्माओंकी सिद्धि करते हुए उक्त आरेकाका समाधान—समाधान उक्त शंकाका यह है कि आत्मा सर्वगत नही है। देखो पहले तो यह निर्णय करो कि आत्मा कितने हैं ? आत्मा एक नही है, आत्मा अनेक हैं, अनन्त हैं। जो दार्शनिक आत्माको एक मान रहे हैं वे जरा विचार करें कि यदि आत्मा एक होता तो एक वस्तुकी पहिचान यह है कि जो परिणमन हो वह उस एकमे पूरेमे होगा, आधेमे न होगा। किसी हिस्सेमें न होगा। एककी पहिचान है यह। खूब ध्यानसे सुनो तो बात ठीक-ठीक समझमे आ जायगी। एक किसे कहते हैं ? कोई चीज एक है तो एकके मायने क्या कि जो भी परिणमन हुआ, अवस्था बनी, दशा बनी, वह उस समस्त एकमे हो, पूरेमे हो तो वह एक है, मगर उसके किसी भागमे हो अवस्था परिणति तो वह एक नही है, वह अनेक है। जैसे चौकी है, अगर एक खूंट जल रही है तो सारी चौकी तो नही जल रही, कुछ ही हिस्सा जल रहा, तो जब एक जलनेकी दशामे सारी चौकी नही जल रही तो मालूम होता है कि यह चौकी वास्तवमें एक नही है, किन्तु यह तो अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है, एक पदार्थ नही है चौकी। अनन्त पदार्थोंका पिण्ड है चौकी। तब ही तो जो भाग जल रहा सो ही जल रहा, बाकी पदार्थ नही जल रहा। तो एक वस्तु वह होती है कि जिसका परिणमन उस एकमे पूरेमें हो, एक साथ। अब इस कुञ्जीसे जरा देखो कि अगर संसारमे आत्मा एक होता तो एक भी जीवको सुख होता तो सारे जीवों को एक साथ सुखी हो जाना चाहिए था, क्योंकि जीव एक माना है। उस जीवके कुछ हिस्से मे सुख है, कुछमे दुःख है ऐसा न होना चाहिए, मगर हो रहा है यो। हम किसी वजहसे सुखी हो रहे तो दूसरा दुःखी हो रहा, दूसरा सुखी हो रहा तो हम सुखी हो रहे। और कितने विभिन्न विचार है जीवोके। एक जीवके विचार दूसरेसे नही मिलते, तो विचार भिन्न-भिन्न, विकार भिन्न-भिन्न। कितने ढगमे पाये जाते हैं ? जैसे मनुष्योकी शक्ल कितनी भिन्न-भिन्न पायी जाती ? चिड़ियोंमे तो पहिचान नही कर सकते कि यह चिडिया दूसरी है, वह दूसरी है, एकसी शकल मिलेगी। तो यद्यपि मनुष्योंकी भी शकल एकसी ही दिख रही है, सबके नाक है, सबके मुख है, सबके कान हैं, सबके आँख हैं। दोनों आँखोंके बीचमे से ही सबके नाक निकली, मुखके ऊपर एक नाक है, सबके ऐसा ही हो रहा, मगर आप देखो, किसीकी

शक्ल किसी दूसरे मनुष्यसे मिलती है क्या ? मैटर उतना ही है। एक नाकने ही बहुत भेद डाल दिया। मनुष्योकी पहिचान जल्दी नाकसे होती है और पहिचान नाकसे होती है। इसलिए लोग शानका भी नाम नाक रखने लगे। कहते हैं ना—बस इसने तो अपनी नाक रख ली। कोई इज्जत बचा ली या शान रख ली। तो एक मनुष्यकी शक्ल दूसरेसे नही मिलती-जुलती। पशुओमे तो एक जैसी शक्ल मिल जायगी, यद्यपि भेद वहाँ भी है, पर एक तरहकी चिड़ियाँ हो तो वहां भेद न मिलेगा। वैसे नाम सबका चिड़िया है, पर वहाँ भी फर्क है, इससे भी ज्यादा फर्क आत्माकी परिणतियोमे नजर आयगा। किसीका किसी ढगका राग, किसीका किसी डिगीका राग, उनकी जाति अलग, उनके विचार अलग। तो अगर एक आत्मा होता जगतमे तो बस जो होता सो ही होता एक सबमे। यह विभिन्नता क्यो आयी ? यह विभिन्नता यह जाहिर करती है कि आत्मा एक नही है, किन्तु अनेक है।

सभी आत्माओकी सर्वव्यापकता न होनेसे क्रिया व गतिकी संभवता—अच्छा अनेक सही आत्मा, तिसपर भी दार्शनिक यदि यह कहें कि आत्मा चलो अनेक रहने दो, मगर वे सभीके सभी व्यापक हैं, पूरे लोकमे फैले हुए हैं। तो उनको गडबड करनेका, क्रिया करनेका, हलन-चलनका कहाँ अवसर रहा सो इसपर भी जरा विचार करो। आत्मा अनेक हैं, इतना तो अब तक मान लिया जाय, क्योकि परिणमन सबमे जुदे जुदे पाये जा रहे हैं, और जुदे-जुदे परिणमन इस बातको सिद्ध करते हैं कि जितने मनुष्य हैं उतने ही ये पदार्थ हैं। तो यो अनेक आत्मा हो गए। अब सभी आत्मा सर्वव्यापक माने जायेंगे, तो यह बात यो नही घटित होती कि देखो अपने-अपने अनुभवसे विचार करो। मैं आत्मा कितना हू ? जितनेमे परिणमन होता उतना ही तो हूँ मैं। जितनेमे सुख-दुःख, कषाय, शान्ति आदिका अनुभव होता उतना ही तो हूं मैं। अपने-अपने अनुभवसे अपनी-अपनी बात सोचो—अब आप ही देख लो, जब कभी आपको सुखका अनुभव होता है तो कितने क्षेत्रमे होता है ? देहप्रमाण क्षेत्रमे होता है। जितना यह देह मिला है उतनेमे मेरेको सुखका अनुभव, दुःखका अनुभव, विचारका अनुभव, शान्ति, कषाय, क्रोध, मान, मान, माया, लोभादिकके जो भी परिणमन चलते हैं वे सब परिणमन इस देहप्रमाण-आत्मप्रदेशमे चलते हैं। तो इससे यह अनुभव बतलाता है कि मैं देह प्रमाण हू। और जैसा मैं देहप्रमाण हू वैसे जगतके ये सब जीव अपने-अपने पाये हुए देहके प्रमाण हैं। और इनमेसे कोई भगवान बन गया, मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया, तो जिस देहसे सिद्ध हुआ उस देहके प्रमाण वह आत्मा है।

मुक्त आत्माओंकी चरमदेहप्रमाणता—कोई शंका कर सकता है कि जब देहसे आत्मा अलग हो गया, मुक्त सिद्धभगवान बन गया तो वह आत्मा तो सारे लोकमें फैल जाना

चाहिए अथवा कोई यह कहता है कि जब देहसे आत्मा निकल गया, मुक्त हो गया हमेशाके लिए तो वह तो एक अणुप्रमाण रह जाना चाहिए। क्यो फैला फैला फिरे ? किन्तु एक बात बतलावो—देखिये जो बात होती है याने कोई नई तरहकी बात बने तो उसमे कोई निमित्त होता है, देह प्रमाणमे आत्मा था जिससे कि वह मुक्त हुआ है तो उस देहप्रमाणके अतिरिक्त अन्य कोई आकार बने आत्माका, सारे लोकमे फैले—चाहे ऐसा समझो, चाहे अणुप्रमाण रह जाय, ऐसा मान लो। अगर किसी भी प्रकारका अन्य आकार बदलता है तो अन्य आकार बननेका कारण क्या है ? वह कारण बतलावो। अगर वह कारण ठीक जम जाय, युक्तिसिद्ध हो जाय तो मान लो कि सारे लोकमे व्याप जावे या अणु प्रमाण हो जावो। परन्तु अन्य आकार होनेका कोई कारण नही। अच्छा तो यह शंकाकार यदि पूछे कि फिर संसार-अवस्था मे जो अनेक आकार बदलते रहे जीवके, चीटीके शरीरमे गया तो चीटीके शरीर प्रमाण रहा और हाथीके शरीरमे गया तो हाथीके प्रमाण रहा, तो यह जो आकार बदलता रहा उसका कारण क्या ? उसका कारण तथाविध कर्मोंका उदय है। अब मुक्त होनेपर वे कर्म वहाँ रहे नही, तो उस आकारसे न बढ़ सकता है, न घट सकता है। जिस देहसे मुक्त हुआ है सिद्ध भगवानका आकार उस आकारमे ही रहता है।

अनन्त व देहप्रमाण होनेसे जीवमें गति, क्रिया व योगकी शक्यता—बात यहाँ यह कह रहे है कि आत्मा अनन्त है और वह सर्वव्यापक नही है, किन्तु देहप्रमाण आकारमे रहने वाला है, कभी-कभी कोई स्थिति होती है जिसका नाम है समुद्घात, कि यह आत्मा देहसे भी बड़ा बन जाता है, मगर वह एक परिस्थिति है। जैसे किसी मनुष्यको क्रोध तीव्र हुआ तो अब वह उस तीव्र क्रोधमे ऐसा तिलमिला जाता है कि उसके आत्मप्रदेश शरीरसे भी दो-तीन गुने दूर तक फैल जाते हैं। ज्यादासे ज्यादा शरीरसे तीन गुना दूरी तक वे आत्मप्रदेश फैल सकते है। तीव्र क्रोधकी ऐसी स्थिति होती है। तभी तो लोकमे यह कहावत प्रसिद्ध है कि साहब आप तो आपेसे बाहर हो रहे हैं। तीव्र क्रोध जब होता है तो सचमुच ही जीवकी ऐसी दशा थोड़े समयको हो जाती है। ऐसी और भी स्थितियाँ हैं। कभी तीव्र वेदना होवे तो उस समय भी आत्माके प्रदेश कुछ समयको शरीरसे बाहर हो जाते हैं। ऐसे ही लोकसमुद्घात होता है केवलीभगवानका। तो एक समयको सारे लोकमें फैल जाते प्रदेश, फिर देह प्रमाण हो जाते। तो भले ही हम समझते है ऐसा कि यह जीव शरीरसे कुछ बाहर भी हो जाता है, लेकिन वे स्थितियाँ थोड़े समयकी है। तो बात यह कह रहे है कि जीव अनन्त है और वे थोड़े-थोड़े क्षेत्रमे होते है, लोकव्यापी नही है, इस कारण जीवकी क्रिया बन जाते हैं। और जब क्रिया बन गई तो उनकी गति हो गई, गमन हो गया। और जो विग्रहगतिका प्रक-

रण कहा जा रहा वह ठीक बैठा ।

आत्माको सर्वव्यापी मान डालनेपर संसार व मोक्ष आदिका लोपप्रसंग—अब जरा वे दार्शनिक यह बात सोचें जो आत्माको सर्वव्यापी मानते है और सर्वव्यापी मानकर जीवको कियारहित, गतिरहित मान डालते है वे जरा यह बतलायें कि यदि आत्मा सर्वव्यापी है तो सर्वव्यापी आत्मामे कोई क्रिया तो बन नही सकती । हलन-चलन नही बन सकता । परिणति न बनेगी । तो जब क्रिया न रही, योग न रहा तो कर्मबन्धन भी क्यो होगा ? जब कर्मबन्धन न होगा तो संसार ही क्यो होगा ? जब ससार ही न रहा कुछ तो, मोक्षमार्गकी जरूरत क्या और मुक्ति भी क्या ? तो आत्माको सर्वगत मानने वाले याने सारे ससारमें फैला हुआ मानने वालेके सिद्धान्तमे न मोक्ष सिद्ध होगा, न ससार सिद्ध होगा, न धर्म, न पर्याय, ये कुछ भी सिद्ध न होंगे । इस कारण जो बात यथार्थ है उसको मानकर चलना चाहिए । जो बात अनुभव सिद्ध है उसका निसकरण नही करना चाहिए । जीव हैं, अनन्तानन्त हैं ।

अपने-अपने भावोंके अनुसार विचित्र कर्मबंधनगत जीवोकी दशाओंमें अविग्रहा गतिका दिग्दर्शन—उन अनन्तानन्त जीवोंमे से एक मैं जीव हू । अपनी-अपनी बात विचारें । मैं हू, कितना हूं ? जितनेमे अनुभव बन रहा उतना हू । इसमे मैं क्या करता रहता हू ? परिस्पद और ज्ञानपरिणमन, क्रिया और ज्ञानविकल्प । हर जगह यह ही बात कर रहा हू । कभी एक जगहसे उठकर दूसरी जगह चले गए, क्रिया हो गई, चलें या बैठें या कुछ हो, ज्ञानविकल्प होता है यह उपयोग हो गया । तो योग और उपयोग—इन दोका करनहार इस जीवके अपने-अपने बांधे हुए कर्मके उदयानुसार इस जीवका भवोंमे जन्म होता है । कितने प्रकारके भव हैं ? एक वनस्पतिको ही देख लो—एकेन्द्रिय जीव है, कितनी तरहकी वनस्पतियां हैं ? कितने प्रकारके पेड़ पत्ती वाले, कितने प्रकारके बीज वाले, कितने प्रकारके रगो वाले, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक सभीमे भिन्नता है । कीडा-मकोडा, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि कितनी ही तरहके जीव पाये जाते हैं, और कैसा जिनेन्द्रदेवने स्पष्ट बतलाया कि ये सब बन रहे हैं । अपने-अपने परिणामोंके अनुसार, निमित्तनैमित्तिक योगके अनुसार कर्मबन्धन हुआ, उदय हुआ, अपने आप शरीरका ग्रहण हुआ और यह जीव शरीरमे रुलने लगा । सारी बातोका करने वाला यदि कोई एक ईश्वर जैसा होता तो प्रथम बात तो यह थो कि ईश्वर भी दुःखी हो गया होता । यहाँ मनुष्योंको कोई एक फैक्टरीका ही काम पड़ा है तो उसके बारेमे परेशान है, फिर जिसको सारी दुनियाकी फैक्टरी सम्हालनी पड़ जाय उसके क्लेशका तो कहना ही क्या है ? अगर कोई कहे कि वह ईश्वर अधिक शक्ति रखता है, इसलिए उसे ज्यादा तकलीफ

नही होते, तो भाई ससारमे अनन्त पदार्थ हैं । सब पदार्थोंका परिणमन करना उसका कर्तव्य हो गया, और मानो वह कभी कामकी अधिकतामें किसी पदार्थको भूल गया, तब तो फिर उस पदार्थका परिणमन होना रुक जाना चाहिए, पर ऐसा नही होता, इससे यह व्यवस्था नही बनती कि सारे जगतका कर्ता ईश्वर है । दूसरी बात—भगवान तो ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, जो आनन्दमय है वह तो कृतार्थ होता है । जो कृतार्थ हो वही तो आनन्दमय होता है। जिसको कोई काम करनेको पडा वह आनन्दकी स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है ? तो ईश्वर, भगवान, परमात्मा पवित्र आत्मा होता है, आत्माके गुणोंका उत्कृष्ट विकास होता है । वहीं आनन्दमय स्थिति होती है । भगवानके वाचक शब्द जितने हैं उन शब्दोंमे जो अर्थ पडा है सो कोई भी शब्द ऐसा नही जो इस बातको साबित करता हो कि भगवान लोगोंको सुख दुःख देते या सृष्टि करते या चीज़ बनाते । परमात्मा कहनेसे पूर्ण विकसित आत्माका बोध हुआ । परम आत्मा, परमका अर्थ है उत्कृष्ट । 'परा मा विद्यते यत्र स परमः परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा । मा कहते हैं लक्ष्मीको । आत्माका लक्ष्मी ज्ञान है । लक्ष्मीका अर्थ क्या ? लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्षण—ये एकार्थवाचक शब्द है । लक्ष्मी मायने हैं लक्षण । आत्माका लक्षण क्या ? ज्ञान । वह ज्ञान जहाँ उत्कृष्ट हो गया उसे कहते है परम और परम आत्माका नाम है परमात्मा । यह शब्द बतलाता है कि भगवानका ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है । प्रभु, भु के मायने होना है, जो प्रकृष्ट रूपमे हो जाय सो प्रभु । संसारी जीव अधूरे ज्ञान वाले हैं । जो प्रकृष्ट रूपमे ज्ञानानन्दमे आ जाय उसका नाम प्रभु है । भगवान । भगका अर्थ है ज्ञान । उत्कृष्ट ज्ञानवान । ईश्वर—ऐश्वर्य सम्पन्न । ऐश्वर्य कही बाहर नही होता किसीका । ऐश्वर्य खुदका खुदमे रहता । कौनसा शब्द ऐसा है प्रभुका वाचक जो इतनी भी गुँजाइश बताता हो कि यह कुछ कर्ता है । कृतकृत्य है प्रभु, सर्वज्ञ हैं, वीतराग है, आनंदमय है, उनको रचनेकी क्या बात ? यह ही जीव खुद अपने बाँधे हुए कर्मानुसार नाना देहोंको धारण करता है । तो देह धारण करनेके लिए जब यह जीव जाता है और अगर उसे मोड़ा न लेना पडे ऐसी जगह पैदा होना है तो एक समयमे ही वह उस स्थानपर पहुँच जाता है, और सिद्ध तो एक समयमे पहुचते हो हैं । परमाणु भी एक समयमे लोकके अन्त तक पहुच जाता है, यह इस सूत्रका अर्थ है ।

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

प्रकृत सूत्रके कथनका प्रसंग—विग्रहगतिमें यह संसारी जीव एक समयको अथवा दो समयको अथवा ३ समयको अनाहारक रहता है । इस सूत्रके कहनेका प्रसंग क्या हुआ कि इससे पहले यह बताया गया था कि जिन जीवोके मोड़ारहित गति होती है याने मरणके बाद

शरीर छूटनेके बाद नया शरीर धारण करनेके लिए जो जीव गमन करता है, सो यदि सीधमे ही जन्मस्थान है चाहे दिशामे, चाहे ऊपर नीचे। यदि बिल्कुल सीधी श्रेणीमे स्थान है जन्म लेनेका तो वहाँ मोडा नही लेना पडता। जीव तुरन्त ही सीधे जन्मकी जगह पहुच जाता है। उसमे लगता है एकसमय। इस बातके सुननेके बाद यह जिज्ञासा होती कि जहाँ मोडा नही लेना होता वहाँ तो एक समय लगता है और मोडा ले तो कितना समय लगेगा? इसका उत्तर इस सूत्रमे दिया है अथवा जहाँ मोडा नही लेना पडता वहाँ जीव आहारक ही रहता। तो मोडे वाली गतिमे क्या आहारक रहेगा या अनाहारक? इसका समाधान इस सूत्रमे दिया है। यह जीव शरीरके परमाणुओको सदा ग्रहण करता रहता है। इसको कहते है आहारक, और जब ग्रहण नही करता तो कहते है अनाहारक। भोजनके आहारमे तो प्रतिबध किया जा सकता, उसमे तो रुकावट है, उपवास करे, न भोजन करना, पर शरीरवर्गणाओको न ग्रहण करना ऐसा उपवास तो कोई नही कर सकता। इस वक्त रातके समय जब कि आप लोगोको भोजनका त्याग है तो भी आपकी शरीरवर्गणाओका आहार चारो ओरसे हो रहा है, मुखसे नही होता, सभी जगहसे होता है तो इसे कहते हैं आहारक। और जब जीव शरीर छोडकर नया शरीर धारण करनेके लिए जाय और मोडा लेकर जाय तो वह कुछ समय अनाहारक रहता है याने शरीर वर्गणाओका ग्रहण नही करता। इस प्रकार इस सूत्रका अर्थ हुआ कि विग्रहगतिमे यह ससारी जीव एक समय दो समय अथवा तीन समयको अनाहारक रहता है जीवकी सर्व परिस्थितियोकी दशा जाननेसे बहुत प्रकाश मिलता है शान्तिके मार्ग पर चलनेके लिए आत्मज्ञान बिना जीवकी क्या क्या हालतें होती है इसका जब परिचय होता है तो इस जीवको फिर ध्यान होता कि असार बातोमे न रहकर सारभूत अतस्तत्त्वकी उपासनामे लगे। यह जीव किस-किस प्रकारसे अपनी विडम्बनायें कर रहा है, यह सब प्रसंग चल रहा है।

आत्माको क्षणिक माननेवालोके सिद्धान्तमे व्यवहार, मोक्षमार्ग, धर्मपालन आदि सबका विघात—यहाँ कोई एक आशका रख सकता कि जीव तो एक क्षणके लिए ही उत्पन्न होता, फिर वह जीव नही रहता, फिर वहाँ दूसरा जीव उत्पन्न होता है। तो जहाँ चित्त क्षण याने जीवका नाम क्षणिकवादमे रक्खा गया चित्तक्षण। तो जब दूसरे समय जीव रहता ही नही तो गति किसकी कही गई है? ५–६ सूत्रोसे यह वर्णन चला आ रहा है कि विग्रहगति मे जीव इस-इस तरहसे गमन करता है। जीव जब एक समयको ही रहता है तो इसका गमन कैसे बने? वह तो स्वरूप लाभके लिए एक समयमे है और इसके बाद वह मिट गया। गमन करनेका कहाँ अवसर मिला? फिर क्यो सूत्रोको बढ़ाया जा रहा है और व्यर्थ एक बात कही जा रही है। ऐसी एक आशका होती है। तो समाधान अपने अनुभवसे भी कर

सकते, युक्तियोंसे भी कर सकते। बोलो—क्या जीव एक क्षण रहता है और दूसरे क्षण बिल्कुल नष्ट हो जाता है? यह मरने और जीनेके समयकी बात नहीं कह रहे, किन्तु निरन्तर जीव एक समय रहता है, दूसरे समय नहीं। ऐसी आशंका की गई थी, उसका समाधान कर रहे हैं। एक अनुभव बतलाता है ऐसा कि मैं आत्मा क्षणभर को रहा, अब मिट गया तो नया आत्मा बना, अनुभव ऐसा नहीं कहता; युक्ति भी नहीं कहती। भला बतलावो जो बिल्कुल नहीं है, उसका उत्पाद कैसे हो? कुछ भी बात नहीं, कुछ वजूद ही नहीं, फिर उसकी अवस्था कैसे बने? जो चीज नहीं वह हो नहीं सकती। जो चीज है वह मिट नहीं सकती। जीव है, अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा, उस जीवकी गति बतायी गई है। दूसरी बात—अगर जीवको एक क्षण तक ठहरना मानें, दूसरे क्षण जीव रहता ही नहीं ऐसा मानें तो फिर व्यवहार कैसे चलेगा? लेनदेन कैसे चलेगा? कोई रुपया ले गया, ६ माह हो गए, अब खुद तो देने नहीं जाता और मालिक अगर मांगे तो यों कह बैठता कि जिस जीवको दिया वह तो तुरन्त मर गया था, अब तो यह नया जीव है। जिसको दिया था उससे ही मांगो। तो भला बताओ इस तरहसे क्या व्यवहार चलेगा? न चलेगा। तो फिर जीव क्षण भरको ठहरता है—यह सिद्धान्त सही नहीं है। यदि जीव क्षण भरको रहता ऐसा माना जाय तो फिर धर्म क्यों किया जाय? फिर मोक्षमार्ग क्यों बनाया जाय और मोक्ष किसको दिलाना? तो धर्म परोपकार आदिककी सभी पद्धतियाँ उस सिद्धान्तके माननेसे बिगड़ जायेंगी। जीव अनादि अनन्त है और उसका जन्म है, मरण है, गति है, गमन है, पवित्र अपवित्र अवस्थायें होती हैं। यह सब बात सिद्ध हो जाती हैं।

आत्माको एकान्तनित्य माननेके सिद्धान्तमें धर्म कर्म संसार मोक्ष सभीका विघात—अच्छा तो कोई दार्शनिक यह भी कह सकता है कि जीव तो कूटस्थ नित्य है, जो है जैसा है वैसा ही सदा रहता है, उसमें कभी कुछ अदल-बदल नहीं होती। फिर गति कैसे बनेगी? जब जीवमें परिणमन ही नहीं हो पाता, वह तो नित्य ही है तो फिर गमन कैसे बनेगा? फिर जब गमन न बना जीवका तो फिर यह प्रकरण कैसे छिड़ा कि विग्रहगति है। इस इस तरह जीव है आदिक। तो उसका भी समाधान यही है कि अगर जीवको नित्य, अपरिणामी माना जाय तो फिर धर्म कर्म, मोक्षमार्ग ये सब नष्ट हो जायेंगे। जब जीवमें कुछ परिणमन ही नहीं होता, कुछ अवस्था ही नहीं होती तो फिर मोक्ष किसका होगा? तो मोक्षकी विधि सब नष्ट हो जायगी; इसलिए जीवको सर्वथा नित्य माननेवालोंका सिद्धान्त सही नहीं बैठता। तो यो जीव कथञ्चित् नित्य है और कथञ्चित् अनित्य है। सदा रहता है, इस कारण तो नित्य है और अवस्थायें बदलती है, इस कारण अनित्य है। तो ऐसी कथञ्चित्

नित्य, कथञ्चित् अनित्य जीवकी गति सिद्ध होती है। और जहाँ जैसा योग है वहाँ उस प्रकार यह जीव गमन करता है।

सूत्रमे निर्धारित अर्थ—क्या कहा जा रहा सूत्रमे, कितने शब्द दिए ? एक, द्वौ, त्रीन्, वा, अनाहारकः—ये ५ पद हैं इसमे। जिसका सही अर्थ क्या होता ? जितने शब्द दिए हैं उसके अनुसार। एक-दो अथवा तीन अनाहारक है। अब बतलाओ क्या समझे कोई ? कौन अनाहारक है और कहाँ है ? तो सूत्ररचनामे यह कायदा होता कि अगला सूत्र, पिछला सूत्र, इनकी कोई प्रभा आती है, अनुवृत्ति हो जाती है। तो यहाँ तीन शब्द और लाये जायेंगे ऊपर से। जिसका अर्थ बना—एक दो अथवा तीन समयको और एक आयगा ससारी जीव याने अनाहारक है, कौन है ? संसारी जीव। और एक आयगा विग्रहगतिमे। उसीका ही तो यह प्रकरण चल रहा है। तब सूत्रका पूरा अर्थ यह हुआ कि विग्रहगतिमे यह ससारी जीव दो अथवा तीन समयको अनाहारक रहता है। समय शब्द तो पहले वाले सूत्रसे ले लिया। एक समयाऽविग्रहा। उसका समय शब्द खीचकर यहाँ अर्थमे डाल दिया। शब्द विभक्तिका परिवर्तन सम्बंधके अनुसार हो जाता है और विग्रहगतिका यह प्रकरण ही है, इसलिए उसकी अनुवृत्ति है और संसारिणः शब्द दिया है इससे पहले सूत्रमे उसमे संसारी जीवकी अनुवृत्ति आती है। तो बात यह बनी कि विग्रहगतिमे संसारी जीव कोई एक समयको अनाहारक है याने जो एक मोडा लेकर जायगा वह पहले समयमे अनाहारक है, दूसरे समयमे आहारक हो जायगा, आहारकके मायने क्या कि जीव शरीरवर्गणाओंको ग्रहण करे। इस समयको आप अनेक शरीर वर्गणावोंको शरीरमे चिपटाये जाते हैं और कुछ निकल भी रहे हैं। बचपनमें, जवानीमें निकलते तो कम हैं और चिपटते ज्यादा हैं शरीर परमाणु, तब ही तो वह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। बुढ़ापेमे शरीरके परमाणु निकलते अधिक हैं और ग्रहण कम किया जाता। जिस दिन ग्रहण करना बिल्कुल खत्म हो जायगा उस दिन मृत्यु हो जायगी। तो इसको कहते हैं आहारक कि शरीरवर्गणाओंको ग्रहण करे। तो 'वा' शब्द दिया है सूत्रमे जिसके मायने हैं कि किसीको एक समय अनाहारकत्वमे लगता। जो दो मोडा लेकर जन्मस्थानपर जायगा उसको दो समय अनाहारक रहना होगा। तीसरे समयमे आहारक हो जायगा। और जिस किसीको तीन मोडे लेने पड़ते हैं जन्मस्थानपर जानेके लिए वह तीन समयमे अनाहारक रहता है। चौथे समयमे आहारक हो जाता है। यहाँ जो शब्दशास्त्रके जाननहार हैं वे परखेंगे कि एक, दो, तीन ये तीन पद द्वितीया विभक्तिके हैं, जिसका अर्थ है कि "को" मगर शका होती है कि द्वितीया विभक्ति नही लगनी चाहिए और सप्तमी विभक्ति लगनी चाहिए। जिसका अर्थ हो जायगा—एक समयमे, दो समयमे अथवा तीन समयमे जीव अनाहारक रहता। क्यो नहीं

किया ऐसा ? तो उसका उत्तर यह है कि एक तो थोडा समय है और इसमे सयोग विशेष है, सम्बंध ज्यादा है, इस कारण द्वितीया विभक्ति इसमें लगाई है ।

आहारकादि दशावोकी विचित्रताका सकारण दिग्दर्शन—अब आहारककी बात देखिये—इस समय रात्रिमे यहाँ शास्त्रसभामे बैठे आहार कर रहे कि नही ? तो आप तो कहेगे कि कहाँ आहार कर रहे, हम तो मुख बन्द किए शान्तिसे बैठे है, पर ऐसी बात नही है, आप मुखसे तो आहार नही कर रहे, किन्तु सारे शरीरसे, प्रत्येक रोमसे, प्रत्येक जगहसे शरीरमार्गणायें इस शरीरमे आती है, इसे कहते हैं आहार करना । औदारिक, वैक्रियक, आहारक—इन तीन शरीरोके योग्य परमाणु पुञ्ज ग्रहणमे आयें उसका नाम आहार है और तब ही वे पर्याप्तियोके योग्य है । तो देखो—अनाहारक अवस्थामे आहारक शरीरका तो कोई प्रसग नही है । शेष शरीरवर्गणाकी बात चल रही है । कोई जीव मरकर देवगतिमे पैदा होगा तो कुछ वैक्रियक परमाणु ग्रहणमे आयेंगे और कोई मरकर मनुष्य या तिर्यंच बने तो औदारिक परमाणु ग्रहणमे आते । देखो जीवके भावोकी कैसी विचित्रता है कि एक अविचित्र सम शान्त सहज चैतन्यस्वरूपको जाने बिना ऐसे विभिन्न परिणाम होते है कि जिसमे इस तरहके कर्मबन्ध होते है कि जीवको नाना प्रकारके देहोमे जन्म लेना पडता है, सदाके लिए संसारके सकटोसे छूट जाना यह एक मामूली तौरसे बनने वाली बात नही है । कुछ पौरुष करना होगा, वह पौरुष (पुरुषार्थ) क्या है कि अपने सहजस्वरूपको जानकर इसमे ही 'यह मैं हू,' ऐसा अनुभव बने यह है मोक्ष जानेका प्रयोग । ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको समा देना, कितना तो सरल काम है मोक्षमार्गका और जीवोको कितना कठिन लग रहा है ? बहुतसे मनुष्योको तो मोक्षमार्गकी बात सुनना भी पसद नही है । चाहे ताश खेलकर, गप्पें मारकर अपना समय फाल्तू गंवा दें उसे तो अपने समयका सदुपयोग समझते और मोक्षमार्गकी बात सुननेके लिए जरा भी मन नही करता । कैसी उल्टी परिणति बन जाती है । तो कल्याणका मार्ग तो बहुत सरल है, पर उसकी धुन आये, मनमें बात आये कि मुझको तो मुक्त होना है, सिद्ध होना है, ससारमे नही रहना है, क्योकि यह तो बहुत विकट स्थान है ।

आत्माकी सुध बिना सांसारिक विडम्बनाओका प्रसङ्ग—अहो ! आत्माकी सुध हुए बिना जीवका ऐसी-ऐसी गतियोमे जन्म होता है । यह सब बात इसमे झलक रही है—अनाहारक और आहारक, ये दो बातें इस प्रसंगमे आ रही है । आहारकका अर्थ क्या है कि जिन परमाणुओसे शरीर बनता है उन शरीरके परमाणुवोको ग्रहण करना और उसका शरीरका रूप बनना यह तो है आहारक और अनाहारक कहते किसे हैं कि शरीर वर्गणाओको ग्रहण न करे तो अनाहारक । तो बतलाओ अनाहारक

होना अच्छा कि आहारक। अनाहारक होना अच्छा है, मगर जिसकी चर्चा चल रही ऐसा अनाहारक होना अच्छा नही, संसारी जीव देह छोडकर नया देह पानेके लिए जो रास्तेमे अनाहारक रहता है वह क्या दशा है ? इस जीवकी कमजोरी अयोग्यता और मन न रहा, इन्द्रियाँ न रही, द्रव्यमन, द्रव्यइन्द्रियाँ ऐसी उसकी एक स्थिति है। ऐसी स्थितिमे वह अनाहारक रहता, तो ऐसा अनाहारक काम क्या करे ? यह तो आगे बडे दुःखमें बडी विपत्तिमें डालनेका कारण है। नया शरीर मिलेगा, फिर वही पाटी पढनी पडेगी जैसी कि पिछले भवो में पढते आये, सो ही करना पडेगा। तो ऐसा अनाहारक तो अच्छी बात नही। मगर सिद्ध भगवान अनाहारक हैं, १४ वें गुणस्थान वाले अनाहारक हैं। जो सदा अनाहारक है, आगे कभी आहारक न बने, ऐसा अनाहारक है, क्योकि सब दुःखोकी जड यह शरीर बन रहा है। क्रोध, मान, आदिक विकार जगते हैं तो इस शरीरके माध्यमसे ही तो जग रहे हैं, केवल अकेला आत्मा हो, शरीर न हो तो विकारकी गुञ्जाइश है कहाँ ? सम्मान अपमानकी जो ज्यादह ठेस पहुंचती है वह इस शरीरके सम्बन्धसे ही तो हुई। कभी परिग्रहके पीछे लडाई झगडे होते है, भाई भाई भी लडने लगते हैं और उसमे चैन नही पडती, क्लेश रहता है। तो इसका कारण क्या रहा ? यह शरीर। जो शरीर अनेक दुःखोकी जड बना है उस शरीर से मोह रखनेका अर्थ यह हुआ कि मुझको ये दुःख सदा मिलते रहे। हम दुःखमे ही राजी हैं। तो ऐसा जिसका भाव बना वह जीव तो सही न रहा, उन्मत्त रहा वह, तो ऐसे ये जीव अनाहारक होते तो हैं विग्रहगतिमे, मगर बहुत कम समयको हुए और झट आहारक हो जाते हैं।

विडम्बनाओंके कारणोंके प्रश्नोका एक उत्तर हमने अपनी सम्हाल न की—हम आप यहाँ बैठे हैं तो अपने-अपने व्यक्तिको जरा निहारें कि यह है क्या ? जीव है यह तो मालूम होता है, मगर यह शक्ल सूरत क्या बन गई। क्या जीवके नाक, आँख, कान आदि होते हैं ? जीव तो अमूर्त होता है। क्या जीव दुबला मोटा होता है ? जीव तो अमूर्तिक होता है। दुबला मोटा आदिक अवस्थायें होना यह तो एक पौद्गलिक चीज है, पर उसके बन्धनमे यह क्यो पड गया ? यो पड गया कि हमने अपने स्वभावकी सभाल नही की। चारो गतियो मे यह क्यो भटक रहा ? इसलिए भटक रहा कि इसने अपने स्वरूपकी सभाल नही की। आप जितने भी प्रश्न करें कि यह खराब हालत क्यो हुई तो उत्तर सबका एक ही मिलेगा कि इसने अपने स्वरूपकी सभाल नही की। वैसे लोकमे तीन चार बातें पूछी जाती हैं जिनका उत्तर एक रहता है। जैसे कहते हैं ना– रोटी जली क्यो, घोडा अडा क्यो, पान सडा क्यो ? तो उत्तर इन सबका एक रहता है कि फेरा नही। अब देखिये– रोटी जली क्यो, इसलिए

कि उसे फेरा नही गया, याने घुमाया फिराया नही गया, अब घोडा क्यो अड़ा कि उसे अच्छी तरहसे फेरा नही गया याने सिखाया नही गया और पान क्यो सडा, इसलिए कि पान को फेरा नही गया याने उल्टा पल्टा नही गया। तो जैसे लोकमे कई बातोका एक उत्तर होता है ऐसे ही इस जीवकी सारी खोटी स्थितियोके लिए पूछ लो कि यह जीव जन्म मरण क्यो कर रहा, रोगी क्यो होता है, सम्मान अपमान क्यो महसूस करता है, सुख दु.ख क्यो महसूस करता है, परिग्रहके लालच तृष्णा मे क्यो लग गया ? तो इन सभी प्रश्नोका उत्तर एक है कि इसने अपने स्वरूपकी सभाल नही की। तो देखो एक काम करनेसे सारा काम सभल जाता है और एक यही काम न करनेसे सारे काम बिगड जाते है।

स्वका एकत्व अनुभवनेके साहसी वीरके आत्मसिद्धिकी संभवता—जिसको इतनी हिम्मत है कि मेरा जगतमे मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नही है, पर मुझे अन्य कुछसे मतलब नही, चाहे कही जाय, भिद जाय, मरणको प्राप्त हो जाय, कुछ भी हालत हो जाय दूसरेकी, वह मेरे आधीन नही, उसमे मेरी करतूत नही और न उससे मेरे पर कोई असर होता है। मै अपनेमे अपने भाव रचता जाता हू और नाना प्रकारकी ये सब परिणतियां बनती जाती है। सुख शान्ति इस जीवको क्यो नही मिली कि इस जीवको अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि लग गई। इन बातोमे जो अपना उपयोग लगायेगा उसको सुख कैसे मिलेगा ? और जो बाहरी बातोसे उपयोग हटाकर स्वयकी बात सोचेगा उसको शान्तिका मार्ग मिलेगा। तो एक इतनी कला बना लें कि बाहरमे कुछ हानि हो रही हो तो उसका असर खुदपर न आये और कोई बाहरमे लाभ हो रहा हो तो उसका भी असर अपने मे न आये। मैं तो अपनेमे अपना परिणमन करता जाता हू, बाहरसे मुझमे कुछ नही आता। यह सब ऐसा अलौकिक ज्ञान है कि जिन ज्ञानोसे ही कर्म रुकेंगे, कर्म कटेंगे, मुक्त होगे। तो नही की इस जीवने अपने स्वरूपकी सभाल, इस कारण यह जन्मके लिए इस-इस तरहकी अडचनें पाता रहता है, और जन्म खुद एक बहुत अच्छा है, उसकी परम्परा बढती जाती है। अगर इन दद-फदोसे मुक्त होना है तो बस कर्तव्य एक ही है कि अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें। मैं ज्ञानमात्र हू, इसका उपाय वनावें। एकान्तमे सामायिकमे बैठें, स्थिर आसन लेकर बैठें और अपनेमे 'मैं हू क्या' ऐसा भीतर खोजके लिए उपयोग दौडाये तो उसे तत्त्व प्राप्त होगा। यह काम करनेका है, इसके बिना सब सूना है और यह काम बनेगा तो बडा सतोष मिलेगा हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो गया, विपदाओकी राहसे हमे दूर कर दिया।

वास्तविक स्वस्थतामें क्लेशकी परिसमाप्ति—मैं अपनेमे अपनेको निहारकर अपनेमे सुखी होऊँ। न फिर गति आयगी, न जन्म-मरणकी बाधा होगी, और न किसी प्रकारका

क्लेश रहेगा । काम एक ही करना है । घरमे स्त्री-पुत्रादिकको ऐसा समझावें, उनका भी ऐसा भाव बने तो आपको एक बडा सहयोग मिलेगा एक ज्ञानकी आराधना करनेके लिए । मैं ज्ञानमात्र हूं । कुछ लोग योगकी क्रियायें सिखाते है, जैसे आजकल भी किन्ही मनचलोंके द्वारा चल रहा है । बस बैठ जावो, खूब तेजीसे श्वास लो और तेज तेज श्वास ले लेकर एकदम श्वास लेना छोडकर बैठ जावो और भीतरमे बराबर ये शब्द उठावो कि मैं कौन हू, मैं कौन हू, मैं कौन हू, तो क्या यह योग उत्तर दे देगा ? अरे योग तो एक रोक है ताकि अन्य जगह विकल्प न रहे और शरीरको खूब थका लें ताकि जल्दी-जल्दी श्वास लेकर फिर विश्राम किया तो बाहरी पदार्थोंमे और जगह यह उपयोग न दौडेगा और ऐसी स्थितिमे सम्भव है कि ज्ञान का प्रकाश पा लें, और कोई पाते है, कोई नही पाते । यह मोक्षमार्गकी विधि नही है, किन्तु एक तरहके ध्यानकी उपयोगी चीज है । पर मूलमे धन हो तब ही तो यह सहायक बनेगा । मूलमे धन है नही तो ये बाहरी योग क्या साधन बन सकते हैं ? वह मूलधन क्या है ? आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूपका परिचय, यह है जीवका मूलधन, जिसके बलपर कही भी यह जीव जाय तो शान्त रहेगा, किसी भी घटनामे रहे, पर यह शान्त रहेगा । तो एक इस सहज चैतन्यस्वरूपको जाननेसे ये सारी विपदायें दूर होती हैं । यहाँ तक ६ सूत्रोमे विग्रहगतिकी बात बताई गई है । अब यह प्रकरण समाप्त होगा । अब गतिमे जाकर जहाँ पहुचा यह जीव वहाँ जन्म होगा ना, तो उस जन्मकी बात चलेगी कि कैसे-कैसे जन्म होते है और क्या ढग होता है ?

सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

जन्मका वृत्त—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद—ये तीन प्रकारके जन्म होते हैं । इससे पहले प्रकरण यह चला आ रहा था कि जीव एक भव छोडकर दूसरे भवमे जाता है तो रास्ते मे अगर उसे मोडा लेना पडता है तो एक, दो, तीन समय अनाहारक रहता है और चौथे समय आहारक हो जाता है । यह सब अपने-अपने भावो द्वारा जो शुभ अशुभ फल वाले कर्म बाँधे थे उन कर्मोंके उदयमे ही ऐसी क्रिया बनती है, जिस क्रियासे वह श्रेणीके अनुसार जाता, जाकर दूसरे शरीरपर पहुचता । उसीका नाम यहाँ जन्म रखा है । देखिये—जन्मका भी परिचय लोग तीन स्थानोंमे करते हैं—एक तो यह कि गर्भसे निकले उसे जन्म कहते है । प्रायः मनुष्य कहते ही हैं कि आज इसके पुत्रका जन्म हुआ । अरे उसका जन्म तो ९ महीने पहले हो गया था । जब पेटमे आया था शुरू शुरूमे, जन्म तो तब ही था, पर कहा जाता है पेटसे निकलनेके बाद याने गर्भमे आनेके ९ महीने बादको बताते हैं जन्म । और कोई ऐसा भी समझ लेते हैं कि जिस दिन वह गर्भमे आया, जहाँ पैदा होना था उस स्थानमे आया, जन्म

हो गया, पर वास्तवमें जन्म तो जिस जगहको छोडकर आया है वह जगह छूटते ही जन्म हो गया। विग्रहगतिमे जन्म कहलाता है।

विग्रहगतिमें आकार पुराना, नाम नया—जैसे मानो कोई घोडा मरा और मनुष्य बनना है उसे और मोडा लेकर जायगा तो दो-तीन समय बाद लेगा मनुष्य शरीर, पर जिस समय घोडेका शरीर छूटा उसी समय मनुष्यगतिका मनुष्यआयुका उदय है, रास्तेमें जो जा रहा है वह जीव तो रास्तेमे वह मनुष्य जीव कहलायेगा। रास्तेमे मनुष्यका जीव है। विग्रह-गतिमे याने जिस गतिमे जायगा वह गति विग्रहगतिमे आयगी। और देखो कर्मकी विचित्रता कि आकार है घोडेकी तरहका और नाम है मनुष्य। घोडेके शरीरको छोडकर मनुष्यके शरीर मे जीव आयगा तो विग्रहगतिमे रास्तेमे नाम तो है मनुष्य और वह जीवका आकार है घोडे की तरह, सो जब एकका चार्ज खत्म होनेको है और दूसरेका चार्ज आनेको है तो ऐसी स्थिति मे कुछ न कुछ रूपमे दोनोकी महिमा होती है। जैसे किसी अफसरकी बदली की गई और नया अफसर चार्ज लेता। तो पुराना अफसर है चार्ज देने वाला और नया है लेने वाला, तो जिस समय चार्ज सौंपा जा रहा है उस समय किसको प्रधान कहेगे? कोई बातमे उस नये अफसर की महिमा है, किसी बातमे उस पुराने अफसरकी महिमा है। तात्कालिक और यहाँ तो इतना तक है कि उस समय अधिकार पुरानेका है ज्यादा याने जो चार्ज दे रहा है उसका अधिकार ज्यादा है व्यवस्था प्रबन्धका हुक्म चलानेका, नौकरोपर, किसीपर आर्डर करनेका अभी उसीका अधिकार है, पर लोगोकी दृष्टि उस नये अफसरपर ज्यादा है। चार्ज लेने-देनेकी घटनामें जैसे कुछ गडबडी चलती है, एककी ही बात नही, ऐसे ही जब एक देह छोडा और दूसरा देह पाने को जा रहे तो उस विग्रहगतिमे पुराने शरीरकी तो प्रभुता समझो जो कि उसका आकार है और नये शरीरमे प्रभुता यो रही कि उसका नामकर्मका उदयविपाक है, कुछ नया हो गया। खैर यह पहुचा जन्मके स्थानपर, इसका जन्म हो गया याने वह पर्याप्ति ग्रहण करने लगा तो उसके जन्मका नाम हो गया है? पर्याप्त बने तो भी जन्म है, अपर्याप्त रहे तो भी जन्म है। वह जन्म किस ढगका होता है, कौनसा जीव किस तरहसे पैदा होता है, यह बात इस सूत्रमे बतायी गई है। देखो यह सब जनरल तत्त्वज्ञान है जो सभीको समझना चाहिए। एक व्याव-हारिक बातें है।

सम्मूर्छन जन्मका आख्यान—जन्म कैसे होता है? तो जन्मके जो तीन भेद कहे उनसे ही सब विदित हो जायगा—(१) सम्मूर्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद। सम्मूर्छन मायने हैं—यहाँ वहांके परमाणु मिलकर शरीर बन गया, वहाँ जीवने जन्म लिया, यह तो है सम्मूर्छन। सम्मूर्छन शब्दका अर्थ है—सम मूर्छन। सम मायने चारो ओरसे, मूर्छन मायने

पुद्गलकी इन वर्गणाओंको, शरीरकी वर्गणाओंको ग्रहण कर लेना सो सम्मूर्छन याने इनके माता पिता नही किन्तु यहाँ वहाँके पुद्गल परमाणु मिलकर बन गए थे जैसे बिच्छू, ततैया, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, लट, कैंचुवा, जोक, शख, चीटी चीटा, भवरा, मक्खी आदि ये सब सम्मूर्छन है। इनके माता पिता नही है। यहाँ वहाँके पुद्गल परमाणु मिल गए और वहाँ जीव आ गया। देखो जो सम्मूर्छन हैं वे सब नपुसक होते हैं, पुरुष और स्त्रीका उनमे भेद नही है। लोग यहाँ ऐसा कह तो डालते है कि यह चीटी है और यह चीटा है, और बल्कि अनेक लोग मक्खियोमे ऐसा सोच बैठते कि कोई तो स्त्री जातिकी मक्खी है, कोई पुरुष जाति की और कभी बता भी देते हैं कि देखो यह मक्खी एकके ऊपर एक बैठी है, पर उनमे पुरुष स्त्रीका भेद नही है, वह तो उनकी एक आदत है। कभी बरसातमे गिजाई एक पर एक दो तीन चढ जाती है तो क्या उन गिजाइयोमे यह भेद है कि यह स्त्री जातिकी है और यह पुरुष जातिकी ? भले ही कोई मोटी गिजाई होती, कोई छोटी तो ये तो शरीरके भेद हैं। उनमे पुरुष स्त्री नही होते। कुछ लोग ऐसी भी आशका रखते है कि चीटा चीटी भी बरसातके दिनोमे अपने मुखमे सफेद सफेद अडे लेकर निकलते हैं सो भाई ठीक है। उनके घर भी होता है जिसमे कुछ अडेके आकार भी पडे रहते हैं, लेकिन वे अडेसे उत्पन्न नही होते। ततैया भी अडेसे उत्पन्न नही होते, कौनसे अडेसे ? जो कि माता पिताके रज वीर्यसे होता है। अडे चिडियोके भी होते हैं, सांपोके भी होते है, तो ये चिडिया आदिके अडे क्या हैं ? वे ऐसे ही पुद्गल पिण्ड हैं, वे कोई पेटसे निकले हुए नही हैं। एक ऐसी ही उनमे प्रकृति है। एकइन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय तकके जीव तो सभी सम्मूर्छन ही होते है। पञ्चेन्द्रियमे कुछ तिर्यञ्च सम्मूर्छन होते है, शेष गर्भज होते हैं। तो किन्ही जीवोका जन्म सम्मूर्छन है।

गर्भजन्मका तथा उपपाद जन्मका आख्यान—किन्ही जीवोका जन्म गर्भसे है। गर्भ से उत्पन्न होते है। गर्भ नाम है रज और वीर्यके मिश्रणसे जो बात बनती सो गर्भ। जितने अडेसे उत्पन्न होते हैं वे सम्मूर्छन, जो जेर लेकर उत्पन्न होते हैं वे गर्भज है, तो जो माता पिताके रज वीर्यके मिश्रणसे हुए तो गर्भज अथवा माताके द्वारा खाये गये भोजनको आत्मासात् करके जो जन्मे सो गर्भ, और उपपाद जन्म क्या कहलाता ? उप पाद, उपके मायने आ करके, पाद मायने पैदा हो जाना, जो यो ही आ करके उत्पन्न हो जाय उसे उपपाद कहते हैं। यह है देव और नारकियोमे। देवोमे तो शैया होती है। कोई देव पैदा होना है तो आया, वही प्रकट हो गया, वही वैक्रियक, आहार वर्गणाओंके परमाणु आये और शरीर बन गया, अचानक ही दिख गया। इसी प्रकार नारकियोका जन्म है। नारकियोके स्थान खोटे होते हैं।

कोई घटेके आकार, कोई किसी आकार। उनमे से नारकी जीव टपककर गिरते है। उनके कैसा दु:ख होता है यह सब आगे वर्णन आयगा। तो यह उपपाद जन्म कहलाता है। माता पिताका सम्बन्ध यहाँ नही है। स्वयं ही परमाणु इकट्ठे हुए, जीवने ग्रहण किया और वह देव बन गया, नारकी बन गया, तो यह कहलाता है उपपाद जन्म। समारी जीवोंके जन्म (शरीरके ग्रहण) तीन प्रकारसे होते हैं—(१) सम्मूर्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद।

जन्मरहित चैतन्य महाप्रभुकी सांसारिक विडम्बनाकी विचित्रता—अब आप यहाँ देख लो—कैसा तो इस आत्माका स्वरूप, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त वीर्य, ऐसा स्वभाव रखने वाला यह भगवान आत्मा और इसकी दुर्दशा क्या हो रही है? कहाँ कहाँ तो जन्म लेता, कहाँ कहाँ फंस जाता, कहाँ कहाँ बंधता है? सारी काया पलट सी हो जाती है। कहाँ सुख है, कहाँ शान्ति है, विकल्प होते, अनेक क्षोभ आते, यह दशा बन गई, इसका कारण क्या है? इस जीवने अपने आपके स्वरूपकी सभाल नही की। अपने आपका जैसा सही सहज रूप है उस प्रकारसे अपना अनुभव नही किया। फल यह हुआ कि इस तरह के नाना जन्मोमे इसको आना पडा। और क्या हालत बन रही कि जो देह पा रहा, जिस जगह जा रहा उसे यह मान रहा कि यह ही मैं हूं। ऐसी एक कठिन स्थिति हो रही है। इन बातोको सुनकर अपने चित्तमे यह बात आनी चाहिए कि सम्मूर्छन, गर्भ और उपपादके झगडे मिट जायें। कैसी विचित्र एक लीला है जो इसके दु:खका ही कारण है। तो ये जन्म मिटे, इस तरह जन्म न लेने पड़ें, इसका उपाय यह है कि जन्मरहित सहज चैतन्यस्वरूपमे अपना अनुभव करें कि मैं यह हू।

सम्मूर्छन, गर्भ व उपपादमें ऐसा क्रम कहनेका कारण—हाँ बात चल रही है कि जन्म तीन प्रकारके होते है—(१) सम्मूर्छन, (२) गर्भ और उपपाद। इनमे जरा यह बात समझनी है कि इनमे यह क्रम क्यो रखा? पहले सम्मूर्छन बोला, फिर गर्भ बोला और फिर उपपाद बोला। शब्दोके अर्थमे, शब्दोकी उपयोगितामे, शब्दोके अर्थ सख्या आदिकके कारणसे कुछ ऐसी प्रकृति बन जाती है कि बोलचालमे भी वैसा ही क्रम आ जाता है। तो यहा सम्मूर्छन शब्द पहले दिया है, वह इस कारण दिया है कि सम्मूर्छन जन्म वाले अत्यन्त स्थूल हैं। देखो सबसे ज्यादह बडा शरीर किसका होता? सम्मूर्छन जन्म वालेका बहुत बडा शरीर होता है। हजारो कोशके भी लम्बे चौडे शरीर वाले सम्मूर्छन जीव होते है। यहाँ भी दो-दो तीन-तीन कोशकी लम्बी मछलियां समुद्रोमे पायी जाती हैं। तो क्यो इतने बड़े शरीरमे पाये जाते सम्मूर्छन? इस कारण पाये जाते कि वे छोटे पैदा हों और फिर धीरे-धीरे बढ़े ऐसा जरूरी कही है। पहलेसे ही कोई टीला पडा है,

पृथ्वी, जल, पत्ते वगैरह पडे हैं जो उनकी योनिभूत है, ऐसी चीजें मिल जायें तो सारा शरीर बन जाय। सबसे बडा शरीर बताया गया है मच्छका। स्वयंभूरमण समुद्रमे एक हजार योजनका तो लम्बा, याने चार कोशका एक योजन होता, तो चार हजार कोशका तो लम्बा और दो हजार कोशका चौडा और एक हजार कोशका मोटा एक मगरमच्छ होता है। देखो केवलज्ञानीके ज्ञानमे जो-जो कुछ ज्ञानमे आया है वह कितना सूक्ष्म ज्ञान था, कैसा विशाल ज्ञान था कि जो बातें हम आपके ध्यानमे न आ सकें वे सब बातें, परमाणुवोकी, जीवोकी, जातिकी, शरीरके अवगाहना की, कर्मोंकी, सब ज्ञात हैं, और देखो अनुमान भी सब सही उतरता है। कोई यह कहे कि हमने तो हाथ दो हाथ, चार हाथ या समझ लो मील, दो मील तीन मील तकके मच्छकी बात सुनी है तो लो यो बढते जावो तो सीमा बताओगे तो चार हजार कोशके लम्बे मच्छ होते है, इससे बडा शरीर किसी प्राणीका नही है। आप कहे कि विश्वास नही होता। तो भाई इसमें अविश्वासकी कोई बात नही है। कुछ प्रकृत्या ही आप ऐसी बात पायेंगे कि बडे पर्वतोंपर बडे आकार वाले जीव मिलेंगे। यही आपको शिमला वगैरा ऊँचे पर्वतपर रहने वाले और यहाँ नीचेके हिस्सोमे रहने वाले जीवोंसे मिलान कर लो, आकार प्रकारमे भी अन्तर देखनेको मिल जायगा। तो स्वयंभूरमण समुद्रका कितना बडा विस्तार है? जितना समस्त असख्याते द्वीप समुद्रोका है उससे भी कुछ बडा है एक समुद्र केवल। इतने बडे समुद्रमे जो मगरमच्छ होता है वह बहुत विशाल होता है। तो सबसे बडा स्थूल शरीर सम्मूर्छनके होता है, इसलिए सम्मूर्छनका नाम पहले लिया है। दूसरी बात उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट अगर आयु मिले तो सम्मूर्छन जीवोकी आयु कुछ हजार वर्ष पर्यन्त ही होती है। तीनो प्रकारके उत्पन्न होने वाले जीवोमे सबसे कम आयु वाले सम्मूर्छन जीव होते है इस कारण सबसे पहले सम्मूर्छनको ग्रहण किया। उससे ज्यादा जिंदा रहते हैं गर्भज जीव। गर्भ जन्म वाले जीव तीन पल्य तक जीवित रह सकते हैं। पल्य बहुत बडा होता है जिसमे अनगिनते वर्ष समा जाते है। और उससे अधिक आयु होती है उपपाद जीवोकी। देव और नारकियोकी आयु ३३ सागर तक होती है। ये तीन तरहके जन्म हैं—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद।

जन्मोकी विचित्रताका कारण भावोकी (अध्यवसायोकी) विचित्रता—देखा यह जन्म व्यवस्था कैसी प्राकृतिक है, कैसी सुन्दर बताई गई कि जिसमे कोई विरोध आपत्ति नही आती है, सब सही कथन मिलता है। तो जन्म यो तीन प्रकारके होते है—(१) सम्मूर्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद। अब इन जन्मोको देखकर कहे तो ये तीन भेद है। और उन तीनोमे भी अवान्तर भेद बहुत हैं। तो इतने प्रकारके विचित्र जन्म जो जीवके हो रहे हैं,

इतनी जो सृष्टियाँ चल रही है इन सृष्टियोंका करने वाला कौन है ? जिसकी सृष्टि हो रही उसी जीवने पहले ऐसा अध्यवसाय किया, भाव किया, परिणाम बनाया, जो असख्यात प्रकार के अनगिनते तरहका भाव बताया उसका निमित्त पाकर उस ही के अनुकूल अनगिनते प्रकार के कर्मोंका बंध व फिर उदय हुआ। उनका जब फल उदयमे आया तो ऐसी विचित्र स्थितियाँ बन जाती है, यह है जीवकी सृष्टिका एक मूल कारण याने जो जैसे भाव करता वह उस प्रकारका जन्म लेता। कुछ कल्पनायें करके भी सोच सकते। एक खटमल नामका कीडा होता है जो कि खाटमें बहुत पाया जाता है। वैसे तो खटमल तख्तमे भी होते, कपड़ोमे भी होते, सदूकमे भी होते, आलमारीमे भी होते, वे तो हर जगह पैदा होते तो संदूकमल, तख्तमल, आलमारीमल कुछ भी कह लो, पर एक रूढिसे उनका नाम खटमल रख लिया गया। ये खाटमे विशेषरूपसे पाये जाते, खाट सुलभ चीज है, प्रत्येक घरमे कई-कई खाट होती है, उनमे विशेष रूपसे पाये जाते, इसलिए उनका नाम खटमल रखा। खटमल रजाईमे आ गया, काट लिया मनुष्यको, पर जब वह खटमलको ढूढने लगता है तो खटमलके यद्यपि आँखे नही है, फिर भी ऐसी उसमें कला होती कि वह बडी जल्दी इधरसे उधर, उधरसे इधर छुप जाता है, उसे कोई आँखोसे देख नही पाता कि कहाँसे कहाँ गया खटमल। सम्भव है कि जो मनुष्य यहाँ लुक-छिपकर बडी कलासे चोरी करते हों वे मरकर खटमल बन जाते हो। वहाँ कुछ ऐसे ही कर्मोंका बन्धन होता कि ये ऐसी दशायें होती है।

एक ऐसी लोग छोटीसी कथा कहते है कि एक रजाईमे जू नामका कीडा रहता था। वहाँ एक खटमल पहुचा। जूसे बोला खटमल कि भाई हमे भी यहाँ रह जाने दो, इस रजाई मे सोने वाले मनुष्यका खून बडा मीठा है। तो जूने खटमलको मना कर दिया कि यहाँ तुम नही रह सकते। जब बडा निवेदन किया खटमलने तो जू ने एक शर्त रखी कि तुमको यदि यह शर्त मंजूर है कि पहले मैं (जू) उस मनुष्यका खून पी लू बादमे तुम (खटमल) खावो तो यहाँ रह सकते हो। खटमलने तुरन्त तो जूँ की शर्त मंजूर कर लिया, पर उस बदमाश खटमलने क्या किया कि उस रजाईमे सोने वाले मनुष्यका खून जूँ से पहले ही खाना चाहा। वहाँ उस मनुष्यको खटमलने काट लिया, वह मनुष्य उठा तो खटमलको न पाया, वह कही छिप गया और मिल गई जू साहब तो उसको उस मनुष्यने मार डाला। यहाँ ऐसी शिक्षा दी गई है कि ऐसे चंचल लोगोको अपने घरमे स्थान नही देना चाहिए। तो कैसे-कैसे जीवके परिणाम होते है और उन परिणामोके अनुसार कर्मबन्धन होता है और उसके अनुसार फिर जन्म होता है। तो ये जन्मकी जो विचित्रतायें हैं वे सब भावकी विचित्रतासे होती हैं।

सांसारिक सृष्टियोमें वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक योगका ईक्षण—देखो निमित्त-

नैमित्तिक योग भी निरखते जाना और साथ ही साथ वस्तुस्वातन्त्र्य भी। जैसे भाव किया वैसा कर्मका बन्धन हुआ, यह तो निमित्तनैमित्तिक योग है। मायने जीवने जो कुछ किया सो जीवमें ही और कर्मने जो कुछ किया सो कर्ममे ही। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका परिणमन नही कर सकता। ये जितनी भी जन्मकी विचित्रतायें दिख रही हैं वे सब उतने प्रकारके जीवके अध्यवसान हुए, उस सिलसिलेमे निमित्तनैमित्तिक योगवश ये सब विचित्रतायें प्रकट हो गईं।

जात्या जन्मका एकत्व—एक आशंका हो सकती है कि जन्म तो तीन बताये हैं—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद और इसका समास करके बहुवचन भी दिया है, तो जब विशेषण बहुवचन वाला है तो जन्मको भी बहुवचनमे लेना चाहिए था, क्योकि जितनी चीजें डालें तो विशेष बहुवचन होगा, क्रिया भी बहुवचनकी होगी, मगर यहां जन्म एकवचनमे दिया तो इसका क्या कारण है? तो कारण यह है कि बताना एक जन्मको है और जन्म जातिकी अपेक्षा एक ही बात है। चाहे सम्मूर्छनके ढंगसे उत्पन्न हो, चाहे गर्भ और उपपादके ढंगसे उत्पन्न हो, पर वह तो जन्म ही है। तो जन्मकी एकता जन्म सामान्यसे ली गई है। और यहां उसके प्रकार तीन बताये गए हैं, ऐसा कई जगह प्रयोग हुआ। एक सूत्र आया है 'जीवाजीवास्रवबधसंवरनिर्जरामोक्षाः तत्त्वं,' तो इसमे मोक्षा' बहुवचन शब्द दिया है क्योकि ये जीव अजीव आदिक ७ तत्त्व हैं और तत्त्वं एक वचन कहा। जब ७ बातें हैं तो तत्त्वमे भी बहुवचन क्यो नही लगाया गया? क्योंकि तत्त्व भाव अपेक्षा एक स्वरूप है। उसके जाननेके प्रकार हैं ये ७ और उनसे समझा जाता है। परमार्थ और व्यवहारपरमार्थ तो एक रूप होता है और परमार्थको समझानेके लिए जो वचन प्रयोग है उसे कहते हैं व्यवहार। व्यवहार नानारूप होता है तो एक शैली है कि जो अविशेषरूपसे विकल्प बनाये बिना केवल एकमे तत्त्वको समझता है जन्म तो उसको समझनेके लिए भेद जब किया जाता तो भेदमे तो बहुत दे रहे, पर जिस तत्त्वको समझना है उसमे एकत्व ही बन जाता है। इस तरह जन्म एकवचनमे रखा गया और सम्मूर्छन, गर्भ, उपपाद ये बहुवचनमे रखे गए। जन्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) सम्मूर्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद।

सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद—इन तीन जन्मोमे आपेक्षिक महत्ताका विचार—अब इसमें यह बात देखो कि हो तो गया जन्म, जन्म अच्छा तो न था, क्योकि जन्म तो दोष है, कलक है, जन्मरहित होता तो यह जीव भगवान ही था, याने जो सहज-स्वरूप है वही व्यक्त कहलाता। पर फस तो गये, अनादिसे फसे चले आ रहे, जन्म तो हो रहे। अब इन जन्मोमे यह बात देखें कि भला जन्म कौनसा है जिस जन्मको पाकर इस जीवका भला हो जाय?

सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद–इन जन्मोमे सम्मूर्छन जन्म तो कोई भला नही है। यह तो एकेन्द्रियके भी है, कीडा मकोडाके भी है और कुछ सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके भी है। सम्मूर्छन जन्म वाले जो ऊँचे जीव होगे वे अधिकसे अधिक सम्यक्त्व तककी प्राप्ति कर लें और कोई कोई श्रावकके देशव्रत भी ले सकते है अपनी परिस्थितिके अनुसार, पर इससे अधिक विकास सम्मूर्छन जन्म वाले जीवका नही है। उपपाद जन्म वाले जीवोंकी बात देखो––लौकिक दृष्टिमें देवता लोग बडे सुखी माने जाते हैं, उनका वैक्रियक शरीर है, उनको कोई शारीरिक कष्ट नही है, लेकिन ज्यादासे ज्यादा वे सम्यक्त्व तकका लाभ ले सकते हैं, इससे अधिक विकास उनका नही है। भला उनसे अधिक विकास तो सम्मूर्छन जन्म वाले ले सकते है। वे भी ५वें गुणस्थान तक हो सकते और गर्भजन्म वाले तो उस भवको त्याग कर मुक्त भी हो सकते है। तो इन तीनो जन्मोमे एक गर्भजन्मको श्रेष्ठ समझ लो। उनमे भी सबका नही, जिनका भवितव्य अच्छा है उनकी बात कह रहे। तो मानो इसी कारण गर्भ शब्दको बीचमे रख दिया कि यह सर्वश्रेष्ठ है। अगल-बगल न रखेंगे तो थोडा घिनघिना जायगा, यह बडा महत्त्वशाली जन्म है। इसलिए इसको बीचमे बनाये रहे ताकि इसका महत्त्व और इसकी सुरक्षा बराबर कायम रहे। तो यह जीव कर्मवश इस तरहसे जन्म लेता रहता है। वे जन्म कितनी तरहके है, उनके प्रकार इस सूत्रमे बताये गए है—

सचित्तशीतसवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

योनियोके वर्णनके प्रसंगका सम्बन्ध––जन्मकी योनियाँ ६ प्रकारकी है—सचित्त, शीतसवृत, अचित, उष्ण, विवृत्त, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और सवृतनिवृत। इस सूत्रसे पहले जन्मोका वर्णन था कि ससारी जीवोके जन्म कितने तरहके होते है ? तो जन्म बताये गए थे तीन प्रकारके। कोई तो बिना माता-पिताके यहाँ वहाँकी चीजोके मिल जानेसे जीव उत्पन्न हो जाते है, उनका जन्म कहलाता है सम्मूर्छन और माता-पिताके रज-वीर्यके सम्बन्धसे जो जन्म होता है उसे कहते है गर्भजन्म और शैया स्थान पर पहुच जाये जीव या अन्य स्थानो से विक्रिया वर्गणाओको ग्रहण करके बन गया उसे कहते है उपपाद जन्म। यहाँ जन्मके मायने भवग्रहण हैं। तो जन्मकी बात सुनकर एक यह जिज्ञासा बनती है कि ये जन्म होते किस-किस स्थानपर हैं ? उसके उत्तरमे यह सूत्र आया है। जन्म होने के स्थानका नाम योनि है। योनि एक साधारण शब्द है, जैसे गोबर मूत्रका सयोग हो गया वह भी योनि है। उसमे बिच्छू, मच्छर वगैरह उत्पन्न हो जाते हैं। तो योनिका अर्थ है जन्मस्थान तो उन जन्मस्थानोका वर्णन इस सूत्रमे किया जा रहा है।

नव जन्मस्थानोमे प्रथम तीन जन्मस्थानोके स्वरूप––पहले जन्मस्थानका नाम है

सचित्त। सचित्त कहते है चैतन्यके परिणामको याने ऐसी जगह जहाँ बहुत जीव बने हुए है, वहाँ किसीका जन्म हो तो कहते है कि उसका जन्मस्थान सचित्त है। जैसे निगोदिया जीव वही तो पैदा हो जाते हैं जहाँ बहुत सचित्त स्थान हो। तो आगे बतायेंगे कि किनके सचित्त जन्मस्थान है, किनके क्या है, वहाँ और स्पष्ट होगा। पहले तो इन ६ का अर्थ समझ लो। देखो जो लोग कहते ना कि ८४ लाख योनियोमे जीव भटकता फिरता है सो सुना तो बहुत होगा और लोग भी बहुत कहते है पर ८४ लाख योनियाँ क्या कहलाती ? तो इसका उत्तर बहुत ही कम लोग दे पायेंगे। जैनशासनमे उसका उत्तर दिया है कि वे है तो मूलमे ६ प्रकारके, पर उसके और भेद बढते है तो ८४ लाख योनि होती है, तो वे ६ कौन सी हैं ? पहली है सचित्तयोनि, जीव सहित। दूसरा जन्मस्थान है शीत। जैसे मच्छर कहाँ ज्यादह पैदा हो जाते, जहाँ सीड हो, शीत हो। तो ऐसे ही जीवोकी उत्पत्ति ऐसे स्थानमे होती है कि जो ठंडा स्थान हो, शीत हो नो उनका जन्मस्थान कहलाया शीत। और सवृत मायने ऐसा स्थान जो दूसरेको दिख न सके, जिस स्थानको कोई दूसरा जान न सके वह है सवृतयोनि। तो ये तीन हो गए, सचित्त शीत और सवृत। ससारमे जीव जन्म लेता है, मरता है, किस तरह जन्म लेता है, कैसा एक ओटोमेटिक सारा काम चल रहा है ? कर्मका उदय है। परमाणुओका सम्बंध है तो किस जगहमे क्या-क्या बात होती है ? वह सब बात कही जा रही है। तो जीवके भवग्रहण याने जन्मस्थान ये तीन प्रकारके पहले बताये। ऐसी जगह जहा बहुत जीव हो, ऐसी जगह जो बहुत ठडा हो, ऐसी जगह जो किसीके देखनेमे ही न आ सके और पैदा हो जायें जैसे देव नारकी है, इनका स्थान, इनका जन्मस्थान कोई देखनेमे थोडे ही आता। पैदा हो गए अथवा एकेन्द्रियका जन्मस्थान कोई समझमे देखनेमे थोडे ही आता। गेहू बो दिया, जन्म हो गया जीवका, अकुर हो गया, हो तो गया और मोटे रूपसे कह देते हैं कि यह है मगर कैसे पैदा हुआ, क्या बना, उस पैदा होनेके समयकी बातको कौन जान लेता है ? तो कुछ धाम ऐसे होते है कि जिनको कोई निरख नही पाता।

चौथेसे नवें तकके जन्मस्थानोंके स्वरूप—आगे चलिये—३ जन्मस्थान उक्त तीन स्थानोसे उल्टे है। ऐसा जन्म जो अचित्त है, जहाँ जीव नही है, जिन जीवोका जन्म होता है उपपाद शय्यापर, वह स्थान बिल्कुल अचित्त है, वहाँ जीव कौनसे होते ? ऐसे ही नारकीके जन्मस्थान अचित्त होते हैं, तो कुछ स्थान अचित्त होते हैं, कुछ गर्भ होते है। जैसे अग्निकाय का जीव पैदा होगा कहाँ जहाँ गर्म हो। यह जुदे-जुदे शरीर वाले जीवोका कैसे-कैसे स्थानोमे जन्म होता है ? अच्छा विवृत मायने बिल्कुल प्रकट कीडे-मकोडोका स्थान। कूडा हो, कचरा हो, गारा बहुत दिनोका पडा हो तो विकलत्रयोके वहाँ जन्म हो जाते है सबके ज्ञानमे यह

बात है। देख ही रहे हैं। तो कुछ जन्मधामसे होते है जो विवृत है। यों ६ प्रकारके योनि-स्थान बन गए। अब तीन है मिले हुए—मायने सचित्ताचित्त। कुछ जीवसहित है, कुछ जीव रहित है, ऐसे मिले हुए स्थान हो तो वह भी किसी जीवका जन्मस्थान बनता है। कुछ होते हैं शीतोष्ण याने जहाँ ठड भी है, गर्म भी है, ऐसी जगहमे जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तो वह शीतोष्ण जन्म हुआ। कुछ होते है सवृतविवृत याने कुछ समझमे आते, कुछ नही आते, ऐसे जन्मस्थान। नो ये जन्मोके स्थान ९ प्रकारके होते है।

सूत्रमे निक्षिप्त 'च' शब्दकी सार्थकता—देखो जिसको यह सूत्र याद हो, प्रायः लोग पढते तो रहते हैं सूत्र पाठमे। तो इस तरहसे सूत्र दिया है—"सचित्तशीतसंवृता." पहले तो ये तीन नाम दिए, फिर कहा "सेतरा." मायने इन तीनोके उल्टा भी ले लो, फिर कहा मिश्राः याने इन दोनोका मिला हुआ ले लो और फिर कहा च, तो इस "च" पर शका हो रही है कि च लिखनेकी क्या जरूरत थी? जैसे कोई तीन आदमियोको बुला रहा हो तो फलाने, फलाने, फलाने ये नाम ले लिए, हो गया काम। अब फलाने और फलाने और फलाने, यो और-और कहनेकी क्या जरूरत है? नाम ले लिया हो गया। तो 'च' का अर्थ होता है और। नाम जब सबके लिये तब 'च' कहनेकी क्या जरूरत? समाधान—बहुत जरूरत है यहाँ। च कहनेसे ये ९ बातें अलग-अलग ज्ञानमे आ गईं। नही तो केवल मिश्रकी ही तीन ही बातें रहती। कहना तो यह है कि सचित्तशीतसवृताः और इनका उल्टा अचित्त उष्ण विवृत और इनका मिश्र सचित्ताचित्त, शीतोष्ण व सवृतविवृत—यह अर्थ हुआ। यदि 'च' शब्द न देते तो ये अलग-अलग नही ग्रहणमे आते। और शब्दके देनेसे ये ९ ग्रहणमे आते हैं। ऐसे ९ प्रकारके जीवके जन्मस्थान होते है। निमित्तनैमित्तिक भाव देखते जावो यहाँ। ठडा हो, गर्म हो, किसीमे कुछ, किसीमे कुछ जीव उत्पन्न हो सकते है। बस वह सब निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है। ऐसे ९ प्रकारके जन्मोके स्थान होते है। 'च' शब्दका अब सार्थकपना आ गया ना और इस 'च' शब्दसे यह भी बात जाहिर होती है कि ९ नहो, और और जितने भेद बनाये जा सकें तो उतने बताये जावे, सो बताये गये ८४ लाख योनि।

एकशः व तद्योनयः शब्दोका तात्पर्य—"च" के बाद शब्द दिया—"एकशः" मायने क्रम क्रमसे रखना ये ९ भेद और इन दो-दो को मिलावो तो क्रम-क्रमसे मिलाना। यह बात बतायी गई है क्रमशः शब्द देनेमे। फिर बोलते हैं तद्योनयः मायने उनको योनिया मायने जन्मकी योनियाँ है। जन्म होते हैं उनके ये स्थान हैं जन्मस्थान। सभी जीवोके जन्मस्थान है मेढकोका, मच्छरोका, मक्खियोका। देखिये जब चैतका महीना होता है तो कितनी मक्खियाँ आ जाती है? तो उस योग्य वातावरण मिल गया और वहाँ जन्मस्थान बन जाता।

तो जन्मस्थानका नाम योनि है। तो ऐसे-ऐसे ९ भेद बताये गए। यहाँ एक बात और जानने के लिए है कि जन्म और योनिमे अर्थका फर्क क्या ? फर्क यह है कि जन्मके मायने तो प्रकट हो गया, जन्म हो गया और योनिके मायने उस आधारभूत स्थानमे कहा पैदा होते ? वे मिट्टी, खाद, पानी, बीज आदि वहाका जैसा वातावरण है वह है उस अकुरका योनिस्थान। तो किस जगह रहकर जीव जन्म पाते है, यह बात बतायी गई योनि शब्दसे जन्मका प्रकरण सुनाकर।

संसारकी प्राकृतिक विधानरूपता—संसारी जीवोका कैसा ओटोमेटिक काम चल रहा है, भाव बन रहा है, कर्मबन्ध हो रहा है, उसका उदय आया है, उसके अनुसार शरीरके परमाणु ग्रहणमे आ रहे हैं और जैसी जहाँ जो बात हो सकती है उस प्रकार होती जा रही है। यह सब ओटोमेटिक प्राकृतिक काम चल रहा है। प्राकृतिकके मायने क्या है ? लोग कह तो देते है कि यह प्राकृतिक दृश्य है और प्रकृति बहुत सुन्दर है। तो उस प्रकृतिके मायने क्या ? तो कह देंगे कुदरत पर बताओ तो सही कि वह कुदरत क्या है ? प्रकृति क्या है ? तो लोगोने ये प्रकृति, कुदरत आदिक नाम तो सुन रखा है और मुखसे बोलते भी हैं, सही प्रयोग भी करते है पर यह नही जानते कि उस प्रकृतिका, उस कुदरतका स्वरूप क्या है ? तो प्रकृतिके मायने हैं १४८ कर्मके भेद। कर्मकी १४८ प्रकृतियां बताई गई है और १४८ ही नही बल्कि अनगिनते। जो प्रकृतियां हैं उनके उदयमे होने वाली जो बात है उसे प्राकृतिक कहते हैं। जैसे पर्वतोपर रग बिरगे फूल फूल रहे हैं, पर्वतोका आकार बडा सुन्दर सा जच रहा है, पानीके झरने बह रहे है, वृक्ष भी खडे हैं, ऐसे दृश्यको देखकर लोग कहते हैं कि ये प्राकृतिक दृश्य हैं। तो उस प्रकृतिके मायने क्या ? प्रकृतिके उदयसे बना हुआ वह दृश्य है। वे फूल जीव है ना, पत्थर जीव हैं ना, बढते भी हैं, वे झरने जीव हैं ना, उनकी सृष्टि हुई है तो यह कर्मप्रकृतिके उदयसे ही तो हुई है। तो किस जगहमे जीव जन्म लेता है उन जन्मस्थानोका यह वर्णन चल रहा है। यह प्रकरण सुननेमे शायद आप लोगोको कुछ कठिन लग रहा होगा, पर कह तो रहे हम तुम सब जीवोकी ही बात। और अगर ये बातें सुनना कुछ कठिन लगता हो तो कोई ऐसा उपाय कर लो कि ये बातें सुननी ही न पडें। वह उपाय क्या है कि अपने आत्माके स्वरूपकी सुध करना। फिर न तो जन्म होगे, न जन्मस्थान होगे, न इन जन्मस्थानोकी फिर चर्चा ही सुननी पडेगी, न फिर यह चर्चा कठिन ही लगेगी। जो लोग ऐसा कर नहीं पा रहे इसलिए उनकी ही बात सुनाई जा रही है। तो योनि और जन्म मे आधार और आधेयका भेद है। जन्मस्थान तो आधार है और जन्म आधेय है। मायने किस जगह अधिष्ठान होकर जीवका शरीरमे ग्रहण होता है—यह बात बतायी जा रही है।

तो ये ९ प्रकारके जन्मस्थान है।

जन्मस्थानोंके नामोंका सूत्रोक्त रखा जानेका कारण—इन योनियोंके नामोका क्रम ऐसा क्यो दिया गया कि पहले सचित्त कहा, फिर शीत कहा, फिर संवृत कहा ? तो इसका कारण यह है कि सचित्त मायने जीवसहित, चित्तसहित, चैतन्यसहित। तो चैतन्य द्रव्य तो सबमे प्रधान है। तो जो प्रधान बात है उससे सम्बधित बात पहले ली गई, क्योंकि सचित्तमे चित्त है, जीव है। सब द्रव्योमे जीवद्रव्य प्रधान है, इस कारण सचित्तका नाम पहले कहा। यहाँ चित्तका अर्थ जीवद्रव्य नही, किन्तु चैतन्यका (जीवका) परिणाम इससे जो सहित है वह सचित्त है। इसके बाद 'शीत' शब्द क्यों कहा ? तो शीत जन्मस्थानसे सचित्त होनेका एक निकट सम्बन्ध है। प्राय: करके जो शीत स्थान होता है वह सचित्त होता है। ठंडी जगह बहुत जीवोपर व्याप्त होती है। गर्म स्थानमे जीवोंकी बहुलता नही होती है। सचित्त-पना वहाँ होता है जहां शीत है। चूंकि शीतका सचित्तके साथ निकट सम्बध है, इसलिए सचित्तके साथ शीत बन गया, और संवृत मायने जो अपने लक्ष्यमे न आये ऐसा जन्मस्थान। तो इसका नाम बादमे लिया। यह सूत्ररचना है, इसको आचार्य सत वीतराग ऋषि संतोने बहुत कठिन-कठिन तपश्चरण करके, बडी एक अध्यात्मसाधना करके जो उन्होने विशाल ज्ञान पाया है वह हम आप लोगोपर करुणा करके तथा हम आप लोगोपर दया करके उन्होंने रचना की। तो जिनको शास्त्रोंके तत्त्वका ज्ञान करनेकी रुचि नही जगती, परिणाम नही होते, सुहाता नही और बडी घबडाहटसी लगती है शास्त्र सुननेमें, फिर बाट भी देखते है कि कब यहासे निकलनेका मौका मिले। जब किसीने थोडा अगल-बगल मुख कर लिया तो झट उठकर चुपकेसे चले जाते हैं, और आचार्यजन इन्हीपर दया करके और अपने तपश्चरणमे कमी करके ग्रन्थरचना करते हैं और जिनके लिए दया की गई है उनकी प्रवृत्ति ऐसी रहती है तो क्या है, यह सब कर्मोंकी विचित्रता है, नही सुहाता, नही रुचि होती इन आचार्य संतो की वाणी सुननेकी, ये विषयकषाय ही रुचिकर बन रहे हैं, यह सब कर्मोंकी विचित्रता है। हा यह बात कह रहे थे कि इन ९ का नाम इस क्रमसे क्यो रखा गया ? तीनका तो बता दिया। अब तीनके जो उल्टे हैं वे उल्टे भी उसी क्रमसे चलेंगे। अचित्त, उष्ण और विवृत। और फिर जब मिश्र कहेंगे तो वह भी उसी क्रमसे बन जायगा। इस तरह ये जन्मस्थानके ९ भेद है। जरा ९ भेदोका नाम और स्वरूप ध्यानमे रखना तो यह बात समझमे आयगी कि इन जीवोका इस प्रकारका जन्मस्थान होता है। देखो ये जन्मस्थान कितने हुए ? ९। ९ ही नही हजार, हजार भी नही बल्कि लाख। इतने प्रकारके जो जन्मस्थान हुए और उतने प्रकारके जन्मस्थानोमे जीवका जन्म हुआ, तो यह विचित्रता ही तो है ना। इसका कारण है

कर्मोंकी विचित्रता। अनेक प्रकारके सुख भोगना, दुःख भोगना, सुकुमाल होना, क्रोधी होना, कठोर होना आदिक आदिक जैसे-जैसे अध्यवसाय होते है वैसा-वैसा कर्मबधका वातावरण होता और वैसा ही उदय होता, वैसा ही यह योग मिलता।

जन्मस्थानोंपर जन्म लेनेके अपराधका संक्षिप्त वर्णन—ये सब जन्मस्थान यहाँ ६ बताये गए है। उनमे से देखो अचित्त जन्मस्थान किसका होता है याने ऐसी जगह जन्म होता जहाँ जीव नही होते, अचित्त प्रासुक जगह है ऐसी जगह जन्म किन जीवोका होता? तो बतायेंगे देव और नारकियोका। देखो ससारमे ये सारे जीव बताये जा रहे है, ये जीव कैसे-कैसे जन्म लेते है, उन्ही जीवोमे से हम आप भी है। हम आपने भी जन्म लिया है, हम आपके भी जन्मस्थान हैं, तो उन्हे सोचकर यह ध्यानमे रखना चाहिए कि यह तो सब कर्मोंकी छाया माया है। यह सब कर्मोंका चमत्कार हो रहा है। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव हू। मेरेमे स्वयमे अपने आपमे ही कोई उल्टी लीला न हो। विविक्त अनादि अनन्त अपने स्वभावकी जो परख न कर सके वह धर्म कैसे पालन करेगा? धर्म नाम किसका है? तो आत्माका जो सहजस्वभाव है उस सहजस्वभावरूपमे रहना इसका नाम धर्मपालन है। कितने निष्पक्ष शब्द है ये। इसमे न मजहब है, न पक्ष है, न इसमे यह है कि किसका धर्म है? कोई सम्प्रदायकी भी बात नही। आत्माके नाते बात कही जा रही है। जो आत्माका स्वभाव है सो धर्म। जीव का धर्म क्या है? तो जीवका जो स्वभाव है उसमे वह ठहर जाय यह ही तो इस जीवका धर्म है। अब जो धर्मपालनके लिए व्यवहारमे अनेक बातें होती है—मंदिर बनाना, पूजा करना, जाप देना, शास्त्र सुनना, जप बोलना आदिक, तो ये सब किसलिए की जानी आवश्यक है? इसलिए कि हम अपने वास्तविक धर्ममे नही ठहर पाते, सो हम वास्तविक धर्ममे ठहरने लायक बने रहे उसके लिए यह सब व्यवहार धर्म है, सीधा यह धर्म नही है। मन्दिर जाना, देवदर्शन करना, जाप करना, पूजन करना, सामायिक करना, उपदेश सुनना, बडे-बडे धार्मिक समारोह मनाना आदि ये जो व्यवहारमे नाना बाते की जाती है वे सब साक्षात् धर्म नही हैं। साक्षात् धर्म तो है ज्ञाताद्रष्टा रहना, अपने स्वभावमे ठहरना। तो फिर यह व्यवहारधर्म क्या है कि जो साक्षात् धर्ममे नही ठहरे हैं उनके लिए एक ऐसा आलम्बन है कि इस ढगसे किसी क्षणमे साक्षात् धर्मकी बात आ जाय। इसलिए यह व्यवहारधर्म कहलाता है। तो ऐसा धर्मपालन जब नही होता जीवोंके तो उनका जन्म होता, जन्मस्थान होता, शरीर मिलता और इस कारण सारे नटखट होते। जीवोपर विपत्ति है तो विकारकी, विकल्प की विपत्ति है। ये विकार विकल्प हुए है इसका आधार है जन्म। न जन्म होता, न शरीर मिलता तो ये विचार विकल्प आदि किस आधारपर होते? इस कारण यह जन्म जीवके

लिए कलक है, कोई अच्छी बात नही है । जैसे लोकमे लोग खुशी इस बातमें मानते है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ या अमुक उत्पन्न हुआ, तो यह तो उनके लिए एक कलंक है । और अपना जो कोई भी हो, उसके लिए ऐसा मोहभाव होता कि यह मेरा है तो यह मोहभाव तो उस जीवके लिए कलक है । यह तो उस जीवकी बरबादीका कारण है । सारा सग जो आँखो दिख रहा है, प्रायः जहाँ लोग ठहर रहे है, ये सब इस जीवकी बरबादीके ही प्रसग है, इनसे आत्माका कोई लाभ नही ।

देव नारकियोंका अचित्त जन्मस्थान—हाँ तो आत्मबोधके बिना जीव कैसे-कैसे जन्मस्थानोंपर जन्म लिया करता है, उनके प्रकरणमे अलग-अलग छांट देखिये—अचित्त जन्मस्थान होता है देव और नारकियोके । देवोके जन्मस्थानकी उपपाद शैया बनी है, वहाँ प्रासुक जगह है और वहाँ ही विक्रिया योग्य आहारवर्गणायें भी हैं, वहाँ ही जीव उपपाद शैयापर गया और उन आहारवर्गणाओको ग्रहण कर लेगा और थोडी ही देरमे वह एक छोटा बालकसा बन गया । (देवोकी बात कह रहे) और अन्तर्मुहूर्तमे ही या यो समझ लो कि ४८ मिनटके अन्दर ही अन्दर वह जवान हो जाता । और जैसा उसका पुण्य है उस देवका, उस बच्चेका, उसके अनुसार आस-पासके अगल-बगलके नियोग वाले देव देवी सब जुडते हैं, मगलगान करते है । जैसे यहाँ मनुष्य लोग बालक उत्पन्न होते समय मंगलगीत गाते है, ऐसे ही वहाँ भी देव देवियाँ नृत्य गायन आदि करके उत्सव मनाते है । कोई बडा देव हुआ तो वे देव लोग उसका स्तवन भी करते । जैसे कि यहाँपर मालिकको, राजाकी स्तुति की जाती, और वहाँ वह देव जो कुछ अच्छे पुण्यका है उत्पन्न होनेके बाद पहले वह अकृत्रिम चैत्यालयोको वदनाकी बात करता है । तो देवोका योनिस्थान (जन्मस्थान) अचित्त है और इसी प्रकार नारकियोका जन्मस्थान भी अचित्त है ।

सचित्त आदि जन्मस्थानोमे जन्म ले सकने वाले प्राणियोंका दिग्दर्शन—अब देखिये मिश्र याने जो कुछ सचित्त है, कुछ अचित्त है । ये गर्भज जीवोके जन्मस्थान होते हैं । हम आप जहाँ उत्पन्न होते वह स्थान अचित्त भी है, सचित्त भी है । चिडिया आदिक जो गर्भज हैं उनका जन्मस्थान सचित्त भी है, अचित्त भी है, सो सचित्ताचित्त कहा ।

तो गर्भजन्म होता है जिनका उनके माता-पिता होते है, और माता-पिताका मुक्त शुक्रशोणित वह तो अचित्त है और जहाँ धारण है वह माता सचित्त है और स्थान भी सचित्त अचित्त होते । तो जो गर्भजन्म वाले जीव है उनका गर्भस्थान सचित्ताचित्त (मिश्र) होता है । उपपाद और गर्भ—इन दो की बात कह दी, अब जो सम्मूर्छन जीव है वे तीनो प्रकारके होते हैं—सचित्त भी होते, अचित्त भी होते और सचित्ताचित्त भी हैं । उष्णयोनि

किसके है ? जैसे अग्निकाय, उसका जन्मस्थान गर्भ ही रहेगा। देखो जैसे यह बिजली है बादलोकी, जब कभी यह तडकती है तो वह भी अग्निकायक हो सकती। और अगर आप कहे कि वह तो ठडेमे उत्पन्न होती तो आपको क्या मालूम है ? वह जो बिजली उत्पन्न होने का स्थान है, वह तो बडा गर्म है, लगता है ऐसा कि वह तो बडे ठडे स्थानमे पैदा होती है, पर उसकी रगड, उसका वातावरण वह गर्म रहता है। तो अग्निकायिक जीव जहाँ-जहाँ उत्पन्न होते हैं उनका जन्मस्थान गर्म होता है। तो गर्म स्थान जो होते वे अचित्त है प्रायः। गर्भजोके भी कुछ मिल गया, सचित्त भी है, और मिश्र भी हो गया। अच्छा अब इस जन्म-स्थानके जो भेद किए जा रहे तो उन्होके और भेद किए जा रहे। ठंडा, कम ठडा, गर्म, ज्यादा गर्म——ऐसे भेद बनाकर सब भेद बनते हैं ८४ लाख योनि। देव और नारकियोकी योनियाँ शीत भी हैं और उष्ण भी हैं। अग्निकायका जन्मस्थान होता है। बाकी तीनो तरह के चलते है।

अब तीसरी बात है सवृत और विवृत। यह सवृत गुप्त जगह है नारकियोंकी और एकेन्द्रियकी और विवृत याने खुली जगह है दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीवोकी, याने जिस जगह ये जन्म लेते है उस जगहकी विशेषता बतलायी जा रही है और गर्भ वाले जीवो की मिश्र योनि होती है। इस प्रकार ये जीवके जन्मस्थानके भेद कहे, और 'च' शब्दसे बताया था कि और भी भेद लेना। तो वे भेद होते है ८४ लाख योनियाँ। जैसे नित्य निगोदकी ७ लाख, इतर निगोदकी ७ लाख, ये जन्मस्थानके भेद है। वनस्पतिकायकी दस लाख। दो-इन्द्रियकी दो लाख, तीनइन्द्रियकी दो लाख। ये जन्मस्थान कितने प्रकारके होते हैं कहा जा रहा है चारइन्द्रियके चार लाख। देवोके चार लाख। नारकियोंके चार लाख और ऐसे पचे-न्द्रिय तिर्यंचोके चार लाख। १४ लाख मनुष्योके जन्मस्थान होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकायिक जीवोके ७-७ लाख जन्मस्थान हैं। ऐसी जगहमे ये जीव जन्म लेते है उसका कारण है कि यह अहकार ममकारमे लगा हुआ है, इसलिए उसकी ऐसी विडम्बनायें होती है।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

गर्भज जीवोका परिचय—जो जेर लेकर उत्पन्न होते हैं, जो अडेसे उत्पन्न होते है, जो उत्पन्न होकर तुरन्त चलने-फिरने लगते हैं, ऐसे जीवोके गर्भजन्म होता है। ससारी जीवो की क्या-क्या दशायें होती है, कैसे मरते हैं, कैसे नया शरीर धारण करने चले जाते है, किस तरह उन्हे शरीर मिलता है ? इन बातोपर प्रकाश चल रहा है, इस प्रसगमे जिरायु क्या चीज होती है ? एक जालकी तरह प्राणियोको ढांकने वाली जो एक पतलीसी झिल्ली होती है वह

जेरायु कहलाती है। जेर जिसे कहते हैं उस जेरके भीतर मनुष्य या पशु गर्भमे लिपटा रहता है और उस ही जेरका सम्बन्ध रहता है नाभिसे और उस नाभिके द्वारा ही आहार होता रहता है। तो ऐसी स्थितिसे जितने प्राणी उत्पन्न होते है उन प्राणियोके गर्भजन्म बताया है। अंडा क्या चीज है? जैसे नखका ऊपरी भाग होता है इस तरहका एक प्राणियोको ढकन वाला आवरण है, अडा उसे बोलते है लोग, जिसमे माता-पिताका शुक्रशोणित पड़ा रहता है। जैसे चिडिया जो अडे देती है वहाँ जो जीव उत्पन्न होता है वह गर्भजन्म बताया है। वह गर्भसे उत्पन्न होता है। पोत किसे कहते हैं कि जिसके अवयव सम्पूर्ण है और पेटसे निकलते ही तुरन्त चलने-फिरनेकी सामर्थ्य हो जाती है वे पोत कहलाते है। इस तरह जेरा-युज, अडज और पोत—इन जीवोके गर्भजन्म हुआ करते हैं। यह गर्भमे पहुचनेको एक रीति बतायी जा रही है।

जन्मका अर्थ—यहाँ जन्म नाम किसका है? शरीरको ग्रहण कर लेनेका नाम जन्म है और जन्म नाम किसका है करणानुयोग पद्धतिमें कि जिस क्षण मरण रहा उसी क्षण जन्म हुआ। जैसे कोई मनुष्य है और मरकर देव होता है और मानो ८ बजे वह मनुष्य न रहे, ८ बजे वह मनुष्य मर गया तो इसका अर्थ यह ही है कि वह देव हो गया। एक समय का भी घट-बढ नही होता मरणका और जन्मका। तब ही तो कहते है ना जैसे कि निगोद जीवमे एक श्वासमे १८ बार जन्म-मरण है, तो क्या १८ जन्म है और १८ मरण है, क्या ऐसी ३६ बाते है? अरे जन्मका ही तो नाम मरण है, मरणका ही तो नाम जन्म है। उत्पाद व्ययकी तरह। जैसे एक सीधी अंगुली है और अब यह टेढी हो गई तो यह बतलावो कि सीधी पहले मिटी कि टेढी पहले हुई? तो आप तो कहेगे कि एक ही साथ दोनो काम हुए। वही तो व्ययका समय है और वही उत्पादका समय है। तो मरण तो कहलाता है व्यय और जन्म कहलाता है उत्पाद। जिस क्षणमे मरण है याने मनुष्य आयु नही है उसी क्षणमे देव आयु है। तो करणानुयोग विधिसे तो जन्म वहाँ हो गया जहाँ कि पहलो आयु न रहे, विग्रह-गतिमे ही जन्म लेकर है वह, लेकिन शरीर ग्रहणको जन्म कहते है, यह प्रसगका मुख्य कथन है। विग्रहगतिसे चलकर जब गर्भकी जगह जीव पहुच गया और वहाँ परमाणुओका ग्रहण करने लगा तो उसका नाम जन्म और लोकरूढ़िमे जब गर्भसे निकला, बाहर प्रकट हुआ, उसे कहते है जन्म। तो तीन तरहके जीव हैं जिनके गर्भजन्म बताया जा रहा है—जेरायुज, अंडज और पोत।

जेरायुज, अंडज, पोत इस तरहका सूत्रमे क्रम रखा जानेका कारण—यहाँ एक यह जिज्ञासा हो सकती है कि जेरायुज, अण्डज व पोत, इस प्रकारका सूत्रमे क्रम क्यो रखा?

और तरहका क्रम रखते । पहले अडज कहते, पर पहले जरायुज कहा, फिर अंडज कहा, फिर पोत कहा । यह क्रम क्यो रखा गया ? बताओ इन तीनो जन्मोमे मनुष्यका जन्म कौनसा है ? जेरायुज है । और कबूतर आदिक चिडियोका जन्म कौनसा है ? अडज । और सिंहका कौनसा जन्म है ? पोत । तो इन तीनोमे जेरायुज पहले क्यो कहा ? तो उत्तर यह है कि जरायुजकी महिमा अधिक है, क्योकि देखो इन तीनो तरहके जीवोमे भाषा कौन बोल सकता ? शास्त्र कौन बोल सकता ? जेरायुज । तो वाणीका प्रसार और अध्ययनका प्रचार ये सब जेरायुजमे होते है, इसलिए महिमा है जेरायुजकी । एक बात, दूसरी बात—जेरायुजमे अनेक प्राणी बहुत प्रभावशाली उत्पन्न होते है । जैसे चक्रवर्ती, वासुदेव, नारायण आदिक बडे ऊँचे-ऊँचे पुरुष होते है तो यह जेरायुजकी महिमा है । तीसरी बात—जेरायुज ही मोक्ष जा सकते, अडज नही, पोत मोक्ष नही जा सकते और रत्नत्रयमे भी इनके सकल संयम नही हो सकता, इसलिए जरायुजकी मुख्यता है । जरायुजका पहले ग्रहण किया, इसके बाद अडज कहा, फिर पोत कहा । पोतसे पहले अडज क्यो कहा ? तो पोतकी अपेक्षा अंडज कुछ विशेष महिमा रखते है, तोता (सुवा) सिखा देनेपर दोहा बोल देते हैं—'चित्रकूटके घाटपर भई सतनकी भीर । तुलसीदास चंदन घिसें, तिलक करें रघुवीर ।।' इतना बडा दोहा तक तोते अपने मुखसे बोल देते हैं सिखानेपर, किन्तु बोल तो लेते है, चाहे वे जानते नही हैं, मगर भाषाके रूपमे बोल तो लेते है कुछ । तो पोत जीव हैं सिंहादिक, उनकी अपेक्षा अडज महिमा वाले हैं, इसलिए पोतसे पहले अंडज शब्द रखा । इसके बाद पोतका ग्रहण है सो ठीक ही है । यो जेरायुज, अडज और पोत—ये तीनो नाम इस क्रमसे रखे गए है ।

जन्मभेदोमे प्रथम पठित सम्मूर्छनजोंका सूत्र न बनाकर गर्भ व उपपाद जन्म वालोका सूत्र कहनेके बाद सम्मूर्छन जन्म वालोंका सूत्र बनानेका कारण—देखो सूत्ररचना जो जो होती है वह इस ढगसे होती है कि सिलसिला भी बने, थोडे शब्द बोल दिए जायें और एक दूसरे सूत्रका आपसमे सम्बध रहे, ऐसी कुशलताके साथ सत लोग सूत्रकी रचना किया करते है । तो इस बातसे अनभिज्ञ कोई पुरुष ऐसी शका रख सकता है कि देखो जन्मके तीन भेद कह दिए—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद । देखो इस शकामे बात क्या कही जा रही शब्दोमे ? जिस तत्त्वार्थसूत्रका पाठ किया जाता उस सूत्रमे शाब्दिक कुशलता, अर्थकी कुशलता, भावकी कुशलता, सब बातें पायी जाती है । शकाकार यह कह रहा है कि जब जन्मके तीन भेद कहे—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद तो इसी क्रमसे पहले सम्मूर्छनकी बात बतलाते है कि सम्मूर्छन कौन-कौन होते है ? तो यहाँ वहांके जीव इकट्ठे हो गए और वहाँ जीव उत्पन्न हो गए जैसे गिजाई, बिच्छू, लट, पखी आदि । ये सब सम्मूर्छन जीव है । अभी जरा

तेज पानी बरस जाय तो शामको ही देखो कितनी पंखियाँ हो जाती है। तो वे कहाँसे पैदा हो गई? अरे यहां-वहांसे कुछ परमाणु इकट्ठे हो गए, अनुकूल वातावरण मिल गए तो वे सब मक्खियां पैदा हो जाती है। इस तरह ये सम्मूर्छन जीव पैदा होते है। तो सम्मूर्छन जन्म किसके होता है? यह बात बतानी थी। समाधान इसका यह है कि पहले यह जान लें कि गर्भ तो इनके कहलाया—जेरायुज, अडज और पोतके और उपपाद कहलाया देव और नारकियोंका जन्म। सम्मूर्छन किसके होता? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और कुछ तिर्यंच पचेन्द्रियके भी सम्मूर्छन जन्म होता। मगरमच्छ आदिकके और मनुष्योंमे भी अनेक मनुष्योके सम्मूर्छन जन्म होता। यहा दिखने वाले मनुष्योकी बात नही कह रहे, किन्तु स्त्रियोकी कांखसे, नाभिसे और अन्य गुप्त स्थानोसे सम्मूर्छिम मनुष्य पैदा होते रहते हैं। उसमे माता-पिताकी जरूरत नही पडती। वह तो शरीरका स्वभाव है कि सम्मूर्छन मनुष्य बनते रहते हैं। वे दिखते नही, छिडते नही, निगोद्र जीवोंकी जैसी उनकी स्थिति है। नाममात्रके वे मनुष्य हैं। तो कोई-कोई मनुष्य भी सम्मूर्छन जन्म वाले होते हैं। तो अगर पहले सम्मूर्छन जन्म किसके होता? यह बतानेको सूत्र रचते तो कितना बड़ा सूत्र बनाना पढ़ता? ...'एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां केषाञ्चित्तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां केषांचिन्मनुष्याणां सम्मूर्च्छनम्।' इसका अर्थ है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यंच, कुछ पञ्चेन्द्रिय मनुष्य, इनके सम्मूर्छन जन्म होता है। इतना बडा सूत्र बोलना पडता। अच्छा और गर्भ किसके होता और उपपाद किसके होता, यह बतानेके बाद बड़ी लम्बी लाइन नही बनानी पडती। जब गर्भ, उपपाद जन्मके स्थान बता दिये तो इतना ही कहना पडेगा—शेषाणां सम्मूर्च्छनम्॥ याने संसारी शेष जीवोके सम्मूर्छन जन्म होता। तो यह बात ध्यानमें आयी कि सम्मूर्छन किसके होता है? यह बात कहनेसे क्या फायदा मिला? छोटासा सूत्र बना दिया। यहां यह अर्थ लेना सूत्रमे कि जरायुज, अंडज और पोत—इनके ही गर्भ जन्म होता है, अन्यके नही। अच्छा गर्भजोकी बात कही, अब उपपाद जन्म किसके होता? इसके लिए सूत्र कहते है—

देवनारकाणामुपपादः॥३४॥

उपपाद जन्म वाले जीवोका निर्देशन—देव और नारकियोके उपपाद जन्म होता है। जैसे यहा चौकी है ना, ऐसे ही स्वर्गोमे शैयास्थान होते है, उपपाद शैया बडे-बडे होते हैं। उस उपपाद शैयापर एकाएक ही वह देव बच्चासा दिख जाता, देवोके माता-पिता तो होते नही, कोई विडम्बना नही है। जैसे ही जीव मनुष्य या तिर्यञ्चगतिसे मरकर आया और देव होना है तो उस उपपाद शैयापर आ जाता। जैसे ही पहुचा वैसे ही वहाकी वैक्रियक वर्ग-

णायें, श्राहारवर्गणायें जो कि जीवके साथ लगी ही रहती। विस्रसोपचयके रूपमे तथा अन्य भी तो उन वर्गणाओंको ग्रहण कर लिया, शरीर बन गया। देखो सब जीवोकी विचित्र-विचित्र स्थितियाँ होती हैं। देव उत्पन्न हुआ और ४८ मिनटके अदर पूरा जवान बन जाता। मनुष्य तो बहुत वर्षोंमे जवान बनता, तिर्यञ्च थोडे ही दिनोंमे जवान बन जाते, सम्मूर्छन जीवोको तो जवान बननेमे अधिक देर नही लगती। सबकी अपनी-अपनी स्थितियां है। जो भोगभूमिया जीव है वे भी माता-पिताके गर्भसे हो होते हैं, पर जैसे ही बच्चा-बच्ची दोनो एक साथ उत्पन्न होते वैसे ही उनके माता-पिता गुजर जाते हैं। आप सोचते होंगे तब तो भोगभूमिमे बडा दु ख है। अरे वहाँ दु ख काहेका? दुःख वहाँ नही है, इसीलिए तो माता-पिता बच्चा-बच्चीके पैदा होते ही मर जाते। न माता-पिताने बच्चोका मुख देखा, न बच्चोने माता-पिताका मुख देखा, फिर वहाँ दुःख कैसे हो सकता। दुःख तो मुख देखनेका है, सयोग का है, कुछ दिन साथ रहनेका है। तो वे भोगभूमियाके बच्चे ४६ दिनोंमे जवान हो जाते, पहले कुछ पैरका अगूठा चूसते हैं, बच्चोकी कुछ आदत भी ऐसी ही होती है। तभी तो बताया है कि अगूठेमे अमृत होता है। बच्चोका व विशेषतया भोगभूमियाके बच्चोका शरीर इतना कोमल होता है कि वे उनके पैरोका अगूठा बराबर मुखमे आ सकता। इस तरह फिर और बडे हुए, रेंगे, फिर यो चले। ये ७-७ दिनकी बातें है। इतनी जल्दी वे जवान हो जाते है। देव और नारकी ये ४८ घटेके अन्दर ही अन्दर अपनी क्रियाके योग्य हो जाते हैं। हां तो देवोका जन्म कब कहलाया? वहाँ तो देवगतिका, देवआयुका उदय हुआ, देव कहलाने लगा, वही जन्म है, लेकिन प्रकरणमे जब शरीरका ग्रहण हुआ उसे जन्म कहा है। तो देव तो उपपाद शैयापर बडे ठाठसे बच्चे जैसा पैदा हो जाते है और नारकी इस जमीनके नीचे, इस जमीनके तीन खण्ड है। यह पहले नरककी बात कह रहे। तो तीसरे खण्डमे उसका जो हिस्सा है, जमीनसे वह गिरा और उस जमीनमे ही घटाकार, बुरे आकारके योनिस्थान होते हैं, वहांसे नारकी टपक पडते और जमीनमे गिरकर गेंदकी तरह कई बार उछलते और बाद मे फिर ठहर पाते। तो जैसे एक कुत्तेको देखकर दूसरा कुत्ता उसपर टूट पडता है, ऐसे ही एक नारकीको देखकर दूसरे नारकी उसपर टूट पडते हैं, उसके तिल-तिल बराबर खण्ड कर डालते है। तो उपपाद जन्म वालोमे भी देखिये कितना अन्तर हो गया? देव होना तो पुण्य का फल है और नारकी होना पापका फल है। तो इन देव नारकियोका उपपाद जन्म होता है याने देवोका शरीर रच गया, जन्म हो गया, नारकीका शरीर रच गया तो जन्म कहलाने लगा। तो गर्भज और उपपाद जन्म वाले जीवोका तो वर्णन हुआ। अब एक जन्म और होता है तो वह किसके होता है, उसके लिए सूत्र कहते है—

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

सम्मूर्छन जन्म वालोका विवरण—शेष जीवोमे ही सम्मूर्छन जन्म होता है। अब शेषमे बहुत आ गए। एकेन्द्रिय जितने है उनके सम्मूर्छन जन्म है। अभी आप नीबू या अमरूदकी डाली काट ले आयें और उसको गाड दें, उसमे थोडा खाद पानी वगैरा डाल दें तो उसका पेड़ बन जाता है। और ये घास, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक ये सब सम्मूर्छन जन्म वाले है। वहाँ कुछ स्कध मिल गए, अनुकूल वातावरण मिल गया तो वही सम्मूर्छन जीवोकी उत्पत्ति हो गई। न जाने कहांसे इतने जीव आ जाते, आप सोच रहे होगे। सरसो तिल्ली आदिकमे कितने लट तिरूला दिख जाते। तो वहाँ बात क्या है कि वहा योग्य वातावरण हो कि इस शरीरकी रचना अपने आप हो जाती है। तो ये सम्मूर्छन जन्म वाले है दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक जीव। देखा होगा कि कही-कहीं चीटा-चीटीके झुडके झुड दिखाई पडते हैं। तो ये सब सम्मूर्छन जीव हैं, चारइन्द्रिय जीव भी सम्मूर्छन जन्म वाले है और पञ्चेन्द्रियमे कुछ तिर्यञ्च हैं, कुछ मनुष्य है, जिनके सम्मूर्छन जन्म होता है। तिर्यंचोमे भी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यञ्च भी सम्मूर्छन है याने मनुष्योकी तरह तथा जिनका शरीर भी दिखे और जिनका शरीर बडा लम्बा-चौडा है। ऐसे भी तिर्यञ्चपंचेन्द्रियोंके किन्हीके जन्म सम्मूर्छन है, पर मनुष्योमे जिनका शरीर प्रकट आहारवर्गणाओं वाला नही है, जो स्त्रियोके काख आदिकसे निरन्तर उत्पन्न होते रहते है वे सम्मूर्छन जीव है।

देखो भगवानके ज्ञानमे यह सब प्रमेय आया। जो है सो ज्ञानमे आता है। नही तो ऐसे सम्मूर्छन मनुष्योकी कौन चर्चा कर सकता था? कैसी-कैसी व्यवस्था बताई गई है और सब सही उतरती है। परीक्षा कर लो। कुछ वैज्ञानिक ऐसा कहते हैं कि एक स्त्री जातिके पेडका फूल भवरा लाता है और पुरुष जातिके पेडके फूलपर रख देता है, उससे फिर फल पैदा होते हैं, पर उनकी यह बात गलत है। वे वैज्ञानिक असली तथ्यपर नही पहुचे। भले ही ऐसा सयोग हो कि एक पेडका फूल दूसरे पेडके फूलमे पहुच जाय, तो फल बन जाये, लेकिन तब भी वह सम्मूर्छन ही कहलाया। उसमें पुरुष स्त्रीका भेद नही है कि यह पेड तो स्त्री जातिका है और यह पुरुष जातिका। सयोगसे भले ही हो फल वगैरा, फिर भी वे सम्मूर्छन ही हैं। उनमे माता-पिता जैसा, पुरुष-स्त्री जैसा कोई भेद नही होता। इसी तरह तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीवोके भी कई लोग बतलाते है कि ये अडेसे उत्पन्न होते, लेकिन वे अडेसे नहीं उत्पन्न होते। वे अपनी चोचमे भले ही कुछ अडे जैसी चीज लिए रहते है, लेकिन वे अडेसे नही उत्पन्न होते। वे तो यहा-वहाकी चीजोसे ही अनुकूल वातावरण मिलनेपर बन जाते है। भले ही उससे वे पैदा हो जायें, लेकिन वे सम्मूर्छन कहलाते है, गर्भ वाले नही कहलाते।

जन्मवृत्तके परिचयसे आत्मलाभ ग्रहण करनेका संदेश—यह संसाररचना देखो कैसी

विचित्र है और अपने आप हो रही है। इस प्रसगका वर्णन सुननेसे सबसे बडा फायदा तो एक यह है कि जो एक मोह बसा है लोगोंके कि इस संसारका रचने वाला कोई एक ईश्वर है, इसका निराकरण अपने आप हो जाता। वहाँ सुनते-सुनते ही यह ध्यान हो जाता कि यह सब निमित्तनैमित्तिक ओटोमेटिक हो रहा है। दूसरे इससे यह शिक्षा मिलती है कि देखो भाई रागेद्वेष मोह करनेका यह फल है कि इस ससारमे अनेक देहोमे यह जीव विचर रहा है और ऐसे-ऐसे घोर दु:ख भोग रहा है। यहाँ आप लोगोंने देखा होगा कि भोटोपर कितना बडा बोझ लाद दिया जाता है? ७०-८० मन तकका बोझ लाद देते है, उनके कधे भी सूजे हो, फिर भी उनपर डडे बरसते। कौन उनपर दया करता? जब वे वृद्ध हुए, किसी कामके लायक न रहे तो कसाईखानेमे भेज दिए जाते? कौन उनपर रहम करता? बिरले ही लोग उनपर रहम करते। कितने ही लोग तो चूहे पकडकर उनकी पूछमे रस्सी बाँधते, उन्हे ऊपर किसी चीजमे बाँधकर लटकाते, नीचेसे आग जलाते, उस चूहेको आगके पास तक ले जाते। बेचारा चूहा तडफता। कौन रहम करता उन बेचारे चूहोपर? तो ऐसी-ऐसी दु:खकी स्थितियाँ यह जीव क्यो सह रहा है? बस अज्ञानसे, मोहसे, आत्माकी सुध न करनेसे देहधारी बन-बनकर सह रहा है।

जैसे एक शराबी किसी शराब वालेकी दूकानपर पहुचा, बोला—जरा अच्छीसी शराब देना। तो दूकानदार बोला—अजी हमारे यहाँ एकसे एक अच्छी शराब है, हम आपको सबसे अच्छी शराब देंगे। ··अजी बहुत ही अच्छी देना। · हाँ हाँ बहुत ही अच्छी देंगे। और यदि आपको विश्वास न हो तो हमारी दूकानके पीछे जो तुम्हारे चाचा ताऊ वगैरा नालियोंमे पडे है, जिनके मुखपर कुत्ते भी मूत रहे है उन्हे ही देखकर अदाज कर लो कि इस दूकानकी शराब बढिया है कि नही। तो ऐसे ही समझ लो कि इस अज्ञानके फलमे इस जोव की ऐसी-ऐसी दुर्दशायें होती है। इसी अज्ञानताका ही तो यह परिणाम है कि ये जीव नाना रूपोमे नजर आ रहे है। इन रागद्वेष मोह अज्ञान आदिकका ही तो भयकर फल है कि कैसे-कैसे जीवोकी उत्पत्ति होती है?

जन्मसंकटसे बचनेका उपाय सहजचित्स्वरूपमे अहंका अनुभव—अभी अपने बारेमे कोई कह दे कि तुम तो मरकर गिजाई बनोगे। तो यह बात सुनकर एक बार तो दिल काँप ही उठेगा और यह कह उठेगा कि हमे ऐसा जीव नही बनना है। अरे ऐसा जन्म यदि नही चाहिए तो अपने आत्माकी सावधानी बनायें। आत्माका जो यथार्थ सहजस्वरूप है उस रूपमे अपने आपको मान ले तो ये नाना प्रकारके देहोमे जन्म लेना छूट जाय। जब अपने आपकेप्रति ऐसा विश्वास बनाये हैं कि मैं तो मनुष्य हू, व्यापारी हू, ऐसी पोजीशनका हू

तो इसके फलमे तो इन नाना रूपोमे जन्ममरण होता ही रहेगा। यदि जन्ममरण नही करना चाहे तो जन्म-मरणरहित अपना जो आत्माका सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी दृष्टि करें। मै यह हू। जैसे यहाँ मानते कि मैं अमुक बच्चेका पापा हूं···देखिये पापा का क्या अर्थ है? पा मायने है पाप। और डबल पा हो जानेसे अर्थ हो गया कि डबल पाप करने वाला। तो जैसे यहा अपनेको लोग किसी न किसी रूपमें अनुभव करते रहते है, ऐसे ही एक अपने आपके आत्माका अनुभव बने कि मैं आत्मा तो ज्ञानानन्दका पिण्ड हू, केवल एक चित्प्रकाश हू जो स्वरूप स्वभावतः आनन्दको ही लिए हुए है। जब इतनी दृष्टि ये मोही अज्ञानी जीव नही करते तो बाहरके पदार्थोंमे ही अपना ज्ञान खोजते है, अपना सुख भी बाहरमे खोजते है। तो बाहरमे अपना सुख खोजनेके मायने है कि अपनेको बाहरमे ढूंढना। जैसे कोई पुरुष रोये कि अरे मैं तो गुम गया ता लोग तो उसे देखकर हँसेंगे। सोचेंगे कि देखो यह कैसा पागलपनेकी बात कर रहा? खुद ही तो बोल रहा और कहता कि अरे मैं गुम गया। तो ऐसे ही जो बाहरमे सुख ढूंढता है वह बाहरमे मानो अपनेको ढूँढता है। तो सुख कही बाहर पाता नही। सुख तो आत्मासे अभिन्न चीज है। तो फिर वह अपने आपमे क्यो नही सुख ढूढ रहा? तो जिसको सारी विडम्बनाओसे बचना हो उसका कर्तव्य यह है कि वह जन्म-मरण रहित, रागद्वेष मोहादिक समस्त दोषोसे रहित एक विशुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करे, अपना विश्वास रखे कि मैं तो यह हू।

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

शरीरके प्रकार—शरीर ५ प्रकारके हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण। अनादि अनन्त अहेतुक नित्य अन्तःप्रकाशमान सहज अन्तस्तत्त्वकी सुध बिना यह जीव शरीरको 'यह मैं हू' ऐसा मानता है तो उसको शरीर मिलते ही रहते है। शरीर मिलनेकी विधि—जन्मस्थानपर पहुचना और जन्म द्वारा शरीर परमाणुओको ग्रहण करना। यह बताया ही गया था तो उसके बाद यह जिज्ञासा बनी कि वे शरीर कितने होते हैं जिनके सम्बंधके कारण इस जीवको नाना प्रकारके कष्ट भोगने पडते हैं। तो ये शरीर है ५, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। औदारिक शरीरका अर्थ क्या है? तो पहले शरीरका ही अर्थ जान लो—शीर्यंते इति शरीर, जो शीर्ण हो, जीर्ण हो, सडे गले उसे कहते है शरीर। कोई कहे कि ऐसी तो दुनियाकी सारी चीजें है—ईंट, भीत, कपडा इत्यादि। वे सब तो अतिशीर्ण होते है, तो साथमे एक बात और भी समझनी कि नामकर्मके उदयसे जो प्राप्त होता उसको शरीर बताया है। तो शरीरका शब्दरूढिसे यहाँ नाम रख लिया और शरीरमे एक गुण है भी, शरीर शीर्ण होना है। उर्दूमे भी एक 'शरीर'

शब्द है, उसका अर्थ होता है बदमाश। वास्तवमे यह शरीर बदमाश है। इस शरीरके कारण ही तो सारे दुःख है।

आकुलताके माध्यम शरीरसे सम्बंधित प्रसंगका परिचय—हम आप जीवोका मनुष्य तिर्यञ्चका जो शरीर है इस शरीरका नाम है औदारिक शरीर। देव और नारकियोंके शरीर का नाम है वैक्रियक शरीर। बस इन दो प्रकारके शरीरोकी बात स्थूलतया समझियेगा। मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिके जीवोंके शरीरका नाम है औदारिक शरीर, देवगति और नरकगतिके जीवोंके शरीरका नाम है वैक्रियक। उदार कहते हैं स्थूलको, बडेको, घनको, जिसका प्रतिघात होता है उससे जो बने सो औदारिक। हम आप सबका शरीर इस ढगका है। देखो शरीरकी बात भी समझते जाइये और यह भी निगाहमे रखते जाइये कि यदि मेरेको यह शरीर न मिला होता, मैं केवल अकेला ही चैतन्यमात्र यथार्थ जो सत्त्वके कारण है वह ही होता तो उसकी क्या स्थिति रहती? विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध आनन्द। विशुद्ध आनन्द क्या? जहा आकुलता नही। आकुलताके तीन कारण है—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। उपादान तो हम ही है जो उस योग्य है, वैसी मलिनता रखते हैं, अपवित्र भाव रखते है, यह तो हम उपादान हैं, ऐसा हुए विना आकुलता तो नही हो सकती, और निमित्त कारण है कर्मका उदय, असाताका उदय, मोहनीयका उदय। उसका निमित्त पाकर आकुलता होती है और आश्रयभूत कारण है जगतके ये सारे पञ्चेन्द्रियके विषय, मनका विपय, ये सारे प्रसग आश्रयभूत कारण हैं। किसीको कहा जाय कि भाई तुम राग किसी वस्तुमे मत करो, और राग करो, तो उसके रागकी मुद्रा बन पायगी क्या? उसमे कोई चीज विपय बनेगी तब तो रागकी मुद्रा बनेगी। अब उन विषयोमे कोई नियतपना नहीं है, इसलिए आश्रयभूत कारण है और न वहांसे कोई प्रेरणा मिलती है, किन्तु जो उपयोगका विषयभूत हुआ राग करनेके लिए उसको कहते है आश्रयभूत कारण। और निमित्त कारण है असाता मोहनीयका उदय। शरीर न होता, कर्म न होते तो फिर कोई कारण न था कि इस जीवको आकुलता होती। और परमात्मतत्त्व पानेके लिए और उद्यम ही क्या करना है? कैवल्यका अभ्यास। सबसे विविक्त केवल चित्स्वभावमात्र यह मैं हू, इसका जो बारबार अभ्यास है जिसके बलसे विकल्प दूर होगे और ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया रहेगा, ऐसी स्थिति बने, देर तक बने, बस यह ही तो मोक्षमार्गकी बात है। ऐसा जीवके नही हुआ अब तक, इसलिए शरीरपर शरीर मिलते जा रहे है इस जीवको। तुम परमात्मस्वरूप हो और तुम मांग रहे हो शरीर तो शरीर, तुमको मिलते जायेंगे। इन शरीरोके कारण कष्ट हो कष्ट पाये जा रहे है। यह है औदारिक शरीर।

जीवविभाव होनेपर कर्मोका तात्कालिक बंधन होनेका प्रसंग—जरा एक परिस्थिति और समझिये । ससार-अवस्थामे हम आप जीवोके साथ शरीरका बधन है, यह तो प्रकट दिख रहा । कर्मका बन्धन है, यह अनुभागसे समझा जा रहा और साथ ही सर्वज्ञ भगवतने यह बताया कि जो शरीर बन गया सो पुद्गलका तो बनता है, पर इस शरीरके साथ शरीर जिससे बना ऐसे बहुतसे स्कंधोका भी इस जीवके साथ सम्बध बना हुआ है, इसे कहते है विस्रसोपचय याने यह शरीर जो काम कर रहा, जो पिण्डरूप दिख रहा वह तो है और इस शरीरमे जितने परमाणु है, अनन्त है ना, उससे भी कई गुने परमाणु ऐसे जीवके साथ और लगे हैं कि जो अभी शरीर नही बने है, पर शरीर बन जायेंगे । ऐसी ही कर्मकी भी बात है । जीवने कोई दुर्भाव किया, कर्मबन्धन हो गया तो जो कर्म बंध गए वे तो कर्म है ही, पर कर्मोंमे जितने परमाणु है उससे भी अनन्त गुणे परमाणु कर्मोंके साथ, इस ससारी जीवके साथ ऐसे लगे हैं कि जो अभी कर्म तो नही हैं, पर कर्मरूप बन जायेंगे । इससे क्या बात लेना कि जीव अगर खोटे भाव करता है तो तत्काल ही कर्मबन्धन होना है और जिन कर्मों का बन्धन होता है वे कर्म कही बाहरसे नही लाने पडते, क्योकि जीवके साथ ही ऐसी विस्रसोपचय कार्माणवर्गणायें लगी है कि जो कर्मरूप बन जाती है । एक क्षण भी मोहका परिणाम बनता है तो उससे नाना कोडाकोडी सागर तकका मोहनीयकर्म बधता है ।

देखिये—कितनी खोटी बात है । मगर भय यो नही कि आत्माको अगर अपने विशुद्ध चित्ज्योतिका अनुभव बने तो भव-भवके बांधे हुए कर्म भी क्षणभरमे खिर जायें । हम आपका कर्तव्य यह ही है कि शरीररहित एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको अनुभवनेका पौरुष करना । मैं तो यह हू । जैसे बहुत-बहुत शिक्षायें दी जाती है—देखो क्रोध न करना, मान न करना, ईर्ष्या न करना, छल-कपट न करना, लोभ न करना, निन्दा मत करना आदि तो उसके लिए बड़े-बडे उपाय बताने पडते हैं, लेकिन आत्माके शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव एक वह उपाय है कि फिर कोई उपाय अधिक बतानेकी जरूरत नही पडती । जहाँ एक चैतन्यस्वरूपका अनुभव हुआ, मैं यह हू चित्सामान्य, उसे कोई गाली दे, मारे तो भी उसपर कोई असर नही, वह मैं हू अमूर्त शुद्ध चैतन्यमात्र और जहाँ शरीररूप अनुभव किया, मैं यह हू, जिसको देखकर कहा कि मैं यह हू उसको कोई जरा भी निन्दाकी बात कहे तो यह सुनने वाला बडा क्षुब्ध हो जायगा···अरे मुझे यो बोला इसने । प्रशसा-निन्दा, सम्मान-अपमान या और और भी रागद्वेषादिकके विकार किये जाते, उन सभीका यह मोही देही वेदन करता । इससे एक ही काम पडा है इस जीवनमे, अपनेको शरीररहित केवल चैतन्यमात्र अनुभव करना । किस ढगमे अनुभव करना कि जहाँ केवल चैतन्य हो रहा, प्रतिभास हो रहा,

पर विकल्प नही, तरग नही, इष्ट अनिष्टका जमाव नही। व्यक्ति भी न मालूम पडे कि यह भी कुछ है, यह भी कुछ है। इस ढगमे शुद्ध चेतनाका अनुभव बनता है। तो अपनेको केवल चैतन्यमात्र माने तो सर्वरोगोकी एक यह ही दवा है। सर्वसकटोके दूर करनेके लिए एक यही औषधि है। इसको पाये बिना जीवने कैसे-कैसे शरीर ग्रहण किया, उसके वर्णनमे यह सूत्र है।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्माण शरीरका आख्यान—हम आपका जो शरीर है इसका नाम है औदारिक शरीर। स्थूलको उदार कहते हैं। उदारमे चले सो औदारिक है। और वैक्रियक शरीर विक्रिया जिसका प्रयोजन है उसे कहते हैं वैक्रियक शरीर। विक्रिया करना उस भवमे प्राकृतिक बात है। जैसे मनुष्योंके भी दो हाथ हैं और चिडियोंके भी दो हाथ हैं, दो पैर भी है। पर दो हाथ उनके पखके रूपमे है। वे जहाँ चाहे उड जायें, प्राकृतिक बात है। यहाँ हम आप कृत्रिमता लायें तो भी नही उड सकते। एक भव भवकी अपनी-अपनी प्रकृति बनी हुई है। देव और नारकियोको ऐसी विक्रिया वाला शरीर मिलता है कि वे एक शरीरके नाना शरीर बना लें, नारको नही बना पाता, वह एक ही शरीरका कुछ कर ले, विड्रूप बना ले, हथियार बना ले, देवोके पृथक् विक्रिया भी है। वे कितने ही शरीर सगमे खडे कर लें। तो जिस शरीरमे विक्रिया मिलती है उसे कहते है वैक्रियक शरीर। ये दो शरीर बडे प्रसक्त है जीवोंके। इसीसे उनके जन्मको बात कहते हैं। तीसरा है आहारकशरीर। जो रचा जाय सो आहारक। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज यदि वे आहारक ऋद्धिधारी है तो जब कभी वह कोई शका करले तो बैठे ही बैठे उनके मस्तिष्कसे एक हाथका धवल सफेद सुन्दर जो कि किसीको दिखता नही, ऐसा पुतला निकलता है, उसके हाथ-पैर सब व्यवस्थित रहते, पर आत्मप्रदेश अभेद है, इसके लिए कोई दो अलग शरीर नही है। तो वह पुतला जहाँ कही तीर्थंकर केवली विराजे हो वहाँ वह दर्शन करने जाता है और दर्शन करते ही सारी शकाओका समाधान हो जाता है या कही तीर्थयात्राका ख्याल होता है तो वह पुतला तीर्थवदना करनेके लिए निकलता और साक्षात् वदना करता है। तो उस मुनिका यह आहारक शरीर कहलाता है। तो आहारकशरीर तो एक अतिरिक्त शरीर हो गया। इसके बिना तो बहुत शरीर हैं। आहारकशरीर बिरलेके ही होता है। तो स्थूल शरीरोमे मुख्य दो है—(१) औदारिक और (२) वैक्रियक। आहारक एक बीचका है। और सूक्ष्म शरीर है तैजस और कार्माण। तैजस शरीर वह है जिससे तेज प्रकट हो, और कार्माणशरीर वह है, जो कर्मका समूह है सो कार्माण।

जीवपर उपाधियोका बोझ—देखिये कितना बोझ लदा है इस जीवपर, फिर भी यह

मोही जीव शरीरको देखकर घमंड करता है, ममता करता है—मैं अच्छा हू । अपने-अपने शरीरको निरख-निरखकर बस मैं हूं जो कुछ हू । ऐसा इस शरीरमे अहभाव, ममभाव करके मोही जीव बरबाद होता है जो कि त्यागने योग्य है । यहाँ यह बात समझनी कि है तो सब कर्मका ही चमत्कार, कर्मकी ही माया छाया । जीव तो एक चेतनास्वरूप है सो बस इतनी बात इसपर बीतती है कि इसका विकल्परूप परिणमन बन जाता । बस यह ही हानिकी बात है जीवमे । बाकी तो सब कर्मका ही प्रतिफलन है । सो शका हो सकती है यह कि फिर औदारिक, वैक्रियक आदिक कुछ न कहो, सब कार्माण ही कार्माण कहो, लेकिन वर्गणायें भिन्न-भिन्न है । कर्म बनें ऐसी वर्गणाये जुदी है । वर्गणायें कहते है चीजोको, पुद्गलके पिण्ड को । जैसे चौकी कोई चीज है ना । यह है स्थूल वर्गणाओका पुञ्ज । औदारिक शरीरकी वर्गणायें जुदी, नामकर्म भी जुदा, वैक्रियक शरीर नामकर्म अलग । तो अपने-अपने कर्मके उदयसे यह शरीर प्राप्त होता है । शरीर जैसे जीवोके निराले-निराले है वैसे ही जीवोके भाव भी अपने आपमे निराले-निराले हैं । मोही जीव भले ही एक दूसरेको कहते है कि हमारा और इनका शरीर तो जुदा है, पर आत्मा एक है, यह कभी हो ही नही सकता । परिणाम निराले, विचार निराले । लोग यह भ्रम करते हैं कि यह मेरा पुत्र है, मैं जो कुछ कहता हू सो आज्ञा मानता है, यह बडा आज्ञाकारी है, हमारा हुक्म इसपर चलता है··· , पर बात ऐसी नही है । कोई पुत्र पिताकी बात मान ही नही सकता, क्योकि दो द्रव्य है अलग-अलग । एक द्रव्य दूसरेकी परिणतिको ग्रहण कर लेगा क्या ? "पर मान तो रहा, देख तो रहे" । ··अरे वह जो दिख रहा है । उसका ढग यह है कि पुत्रको भी तो आवश्यकता है, उस जीवको भी तो जरूरत है कि मैं सुखी रहू, शान्त रहू । इसलिए उसने अपना यह निर्णय बनाया है कि यदि मैं पिताकी बात मानता रहूगा तो मैं सुख-शान्तिसे रह सकता हू । इससे वह आज्ञाकारी दिख रहा । किसी एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्यमे परिणति नही पहुचती । तो जीव सब जुदे-जुदे हैं, स्वय अपने-अपने अध्यवसायसे, भावनासे, विचारसे उस-उस प्रकारके कर्म बाँधने है और उन कर्मोंका उदय होनेपर ये सारी विडम्बनायें बनती है । सर्व परिस्थितियोमे ये अपनी-अपनी सुख-शान्तिके लिए खुद ही सारा प्रयत्न करते है ।

अविकार चैतन्यप्रकाशके अनुभवका कर्तव्य—निष्कर्ष यह है कि कोई किसीका लगता कुछ नही है । तो ऐसा जो समझ लेता है, वस्तुकी स्वतन्त्रताका जो भान कर लेता है, प्रत्येक पदार्थ अपने आपके गुणोमे है, अपने आपके परिणमनोमे है । किसीका किसी दूसरे पदार्थपर अधिकार नही है । इसका प्रमाण यह है कि ससार अब तक व्यवस्थित है, और छहो प्रकारके द्रव्य है, अनन्तानन्त पुद्गल है, जीव है । इन सबकी जो आज यह दशा दिख

रही है, यह इसी बलपर दिख रहा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणति नही करता। अगर करता होता तो सब कुछ नष्ट हो जाता। तो ऐसा जहाँ पदार्थोंके स्वरूपका भान हुआ उसे अपने आत्माकी स्वतन्त्रताका भान होगा और इस विश्वासके बलसे बाहरी पदार्थोंकी आशा का परित्याग करें। अपने आपमे इस चैतन्यभावका अनुभव करें। सहज अन्तस्तत्त्वका अनुभव ही है सम्यग्दर्शन। यह बात जहाँ नही मिलती, जहाँ शरीरको ही माना जा रहा है कि यह मैं सब कुछ हू, उसको ये शरीर प्राप्त होते है।

कार्माणके कारणकी चर्चा—एक यह बात यहाँ चित्तमे आ सकती है कि कर्म कभी दिखते है नही, कर्मका कोई कारण है नही, यह कार्माण शरीर बन कैसे गया ? यह बात कुछ ठीकसी नही प्रतीत होती, क्योकि जिसका कोई कारण नही, उसका कोई रूपक नही। जितने भी रूप होते है, जितनी भी अवस्थायें होती है उनका कोई कारण है। तो कारण बिना कार्माण क्या ? एक बात यहाँ और सूक्ष्म समझनी कि औदारिक शरीर जो मिलता है सो तो औदारिक शरीर नामक कर्मके उदयसे, वैक्रियक शरीर मिलता है, सो वैक्रियक शरीर नामकर्मके उदयसे आहारकशरीर बनता है, सो आहारकशरीर नामकर्मके उदयसे, इसी प्रकार तैजस शरीर बनता है तो तैजस नामकर्मके उदयसे। और कार्माण शरीर कर्मके समूहका नाम है कार्माण शरीर। तो कर्मका ही नाम कार्माण है। हम किससे बन गए ? एक यह अन्तः प्रश्न है। तो उत्तर यह है कि कई चीजें ऐसी होती है कि खुद ही कारण हैं और खुद ही कार्य है। जैसे दीपकका प्रकाश खुद ही कारण है और खुद प्रकाशमे आ भी रहा है, प्रकाश्य भी है और प्रकाशक भी। ऐसे ही ये कर्मवर्गणायें शरीर बननेका कारण हैं और कार्माण शरीररूप कार्य भी बन गया तथा यह भी समझ ले कि कर्मका कारण भी अवश्य है—मिथ्यादर्शन, असयम, कषाय, ये सब कर्मबंधके कारण होते हैं।

कार्माण शरीरकी अनुमेयता—अब अनुमान करो कि कर्म है अन्यथा यह शरीर और यह विषमस्थान सुख हो, दुःख हो ये सब बन नही सकते। केवल जीव ही जीव होता, इसके साथ दूसरी उपाधि न होती तो केवलमे ही सुख दुःख आदिक भिन्नतायें होनेका कारण क्या ? निश्चित समझिये कि यदि कही विषम कार्य होता है नाना बातें बनती हैं तो वहाँ कोई दूसरा निमित्त कारण अवश्य होता है। यद्यपि परिणमता तो है उपादान ही नानारूप। निमित्त नही परिणमा देता, मगर निमित्त सन्निधान बिना विसम विभाव विकारकी परिणति नही हुआ करती। इसी तरह जगतकी व्यवस्था है। इतना जान लें और इसके साथ-साथ वस्तुकी स्वतन्त्रता भी पहिचान लें कि यह निमित्तनैमित्तिक योग होने पर भी पदार्थ अपनी ही परिणतिसे अपना परिणाम करता है, दूसरेका परिणाम नही करता।

उदाहरणपूर्वक वस्तुस्वातंत्र्यका दिग्दर्शन—इससे और मोटी मिसाल क्या होगी कि दोपहरमे खूब सूर्यका तेज प्रकाश हो, बादल नही है, खूब बढिया उजेला है, मगर यहाँ जो उजेला है सो यह बताओ कि उस उजेलेको सूर्यने किया क्या ? सूर्य ने इस उजेलेकी परिणति बनाया क्या ? एक कुञ्ची यह समझिये कि जो चीज होती है उसका कार्य, उसका गुण, उसका परिणमन, उसका प्रभाव जितनी भी चीजे है उतनेमे होगी, उससे बाहर न होंगी। जैसे हाथ है तो हाथका व्यापार, हाथकी क्रिया, हाथकी चेष्टा सब कुछ हाथमे ही होगी, हाथ से आगे न होगी। अगर किसीने अपने हाथसे किसीकी पीठमे चाँटा मार दिया तो वहाँ भी समझो कि उस हाथने पीठमे कुछ नही किया, वेगपूर्वक चले हुए हाथके संयोगका निमित्त पाकर पीठके परमाणुवोंका पीठमे ही चोटरूप परिणमन हुआ। तो ऐसे ही समझिये कि यहाँ जो प्रकाश फैल रहा है तो यह सूर्यका प्रकाश नही, किन्तु प्रकाशमय सूर्यका सन्निधान पाकर यह पृथ्वी, ये भीत, ये काँच, ये चटाई, चौकी, दरी आदि सब अपनी-अपनी योग्यतासे अपनी परिणतिसे प्रकाश रूप हो गए। सूर्य भी तो पृथ्वी है, यह पृथ्वी भी पृथ्वी है, वह चमकदार है। यह इस ढगमे है कि चमकदारका सन्निधान मिले तो यह अपनी चमक बना ले। अगर सूर्यका प्रकाश होता तो यह भेद क्यो पड रहा कि काँचपर तो तेज प्रकाश है और भीतपर कम ? तो यह भेद ही यह बताता है कि काँचका ऐसा उपादान है कि सूर्यका सन्निधान पाये तो ऐसा प्रकाशमान हो और भीत ऐसा उपादान है कि कुछ ही प्रकाशमान है। पर बात यहाँ यह कहनी ही पडेगी कि सूर्यका निमित्त पाकर पृथ्वीपर प्रकाश फैला है। और देखो किसी कमरेमे जहा एक छोटासा ही दरवाजा है और खूब कमरेके अन्दर घना अधकार है, उसके अन्दर यदि सूर्यका प्रकाश पहुचाना है तो लोग क्या करते कि इस तरह सूर्यके सामने कि उस काचका (दर्पणका) सामना भीतकी तरफ भी हो जाय ऐसा काच करते और उस काचके द्वारा सूर्यका प्रकाश उस अधेरे कमरेके अन्दर तक पहुचा देते तो देखो काचके द्वारा कमरेके अन्दर पहुचे हुए उस प्रकाशका निमित्त क्या है ? वह चमकीला कांच निमित्त है, सूर्य निमित्त नही और उस चमकीले काचका निमित्त क्या है ? सूर्य। तो उस कमरेमे जो प्रकाश पडा है उसके निमित्तका निमित्त है सूर्य। साक्षात् निमित्त तो प्रकाशमान काच है। बडी-बडी घटनाओमे इस बातको निरखने की आदत डालो कि भले ही निमित्त योग है किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे अपनेमे परिणमन करता। भले ही कर्मका उदय है और कर्मका अनुभाग फैला, परन्तु उसका निमित्त पाकर जीवके उपयोगमे ऐसा प्रतिफलन हो गया।

अब जीवकी ही यह परिणति है कि जो प्रतिफलन हुआ और उसे अपनाया और

विकल्प बनाया । सर्वत्र वस्तु अपनी ही परिणतिसे अपना परिणमन करता है । तो जीवने किया खोटे भाव, उसका निमित्त पाकर हुआ कर्म बन्धन, उसके विपाककालमे बस यह सब रचना बनती है । तो कार्माण शरीर है और उसका कारण है मिथ्यात्वादिक । यदि यह कार्माणका कोई निमित्त न होता और जीवके साथ यो ही दोस्ती निभाता तो फिर इस जीव का कभी मोक्ष न हो सकता था, क्योकि जो कर्मका कारण है वह दमदार न रहा, स्वभाव न रहा । तो ये सब शरीर पाच है ।

शरीरोंके नामोके सूक्तोत्र क्रमका कारण—कोई कहे कि कर्म तो अनादिकालमे लगा है और अब तक चला आ रहा है, यह तो कभी जीर्ण-शीर्ण होता नही, गलता नही, तो इसका शरीर नाम कैसे रखा ? जो सडे गले सो शरीर । कर्म कहाँ सडते है ? भाई कर्म भी सडते, कर्ममे भी गलन होता है, उसमे भी आय-व्यय होता, मगर उसकी सतति अब तक नही टूटी । एक बार भी सतति कर्मकी टूटे तो टूटे ही टूटे । तो सारे शरीरका कारण कर्म है । तो सबसे पहले कार्माणको क्यो नही कहा ? औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ऐसा कहना तो गलत है । सो भाई क्रमके कोई ध्येय होते हैं । यहाँ ध्येय यह है कि औदारिक तो है सबसे स्थूल शरीर, इसलिए औदारिक नाम यहाँ पहले रखा, और कार्माण है इन सब घटनाओके लिए अनुमानमे आने वाले इसलिए कार्माणको अन्तमे रखा और फिर जो औदारिकसे सूक्ष्म है वे वैक्रियक हैं, जो वैक्रियकसे सूक्ष्म है वे आहारक हैं, आहारकसे सूक्ष्म हैं तैजस और तैजससे सूक्ष्म है कार्माण । इस कार्माण बीजसे स[illegible] विडम्बनायें बनी । यह शरीर चूकि मूर्तिक है, औदारिक है, हम आपको मिला है उससे ही यह सिद्ध है कि कर्म एक मूर्तिक हैं । मूर्तिकका कारण मूर्तिक होना चाहिए । वह पौद्गलिक है और उसके बन्धनमे पडे हुए जीवको भी बधके प्रति एकत्व होनेकी विवक्षासे यह ससारी आत्मा भी मूर्तिक बनता है । सो इस सूत्रमे बताया कि यह ससारी जीव जन्मके द्वारा ऐसे-ऐसे जन्मस्थानामे ऐसे-ऐसे शरीरोको ग्रहण करता है । अब इस शरीरके विषयमे और भी बात चलेगी वह आगे सूत्रमे आयगी ।

पर पर सूक्ष्मम् ॥३७॥

सूत्रोक्त क्रमसे कहे गये शरीरोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता—जो इससे पहले सूत्रमे ५ शरीर बताये गए—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस, (५) कार्माण । तो ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । औदारिकसे सूक्ष्म वैक्रियक, वैक्रियकसे सूक्ष्म आहारक, आहारक से सूक्ष्म तैजस और तैजससे सूक्ष्म कार्माण । कैसे सूक्ष्म हैं सो इसका अंदाज लगाया जा सकता है । देखो औदारिक शरीर, स्थूल शरीर, जैसे हम आप मनुष्यो व तिर्यञ्चोके जो शरीर हैं ये सबसे बडे शरीर औदारिक स्थूल है । औदारिक शरीर सबसे मोटा है उससे सूक्ष्म

है वैक्रियक । वैक्रियकमें आहारवर्गणाके विशिष्ट परमाणु होते हैं । जो बहुत सूक्ष्म हैं और उनका शरीर चाहे तो दिख जाये, न चाहें तो न दिखे, ऐसे भी वैक्रियक शरीर होते है । तो ये वैक्रियक शरीर औदारिकसे सूक्ष्म होते है, आहारक शरीर वैक्रियकसे भी सूक्ष्म है । छठे गुणस्थानवर्ती आहारक ऋद्धिधारी मुनिके मस्तकसे जो एक हाथके प्रमाण वाला पुतला जो कि धवलरूपमे होता और जिसमे सर्वइन्द्रियोके चिन्ह होते, वह शरीर इतना सूक्ष्म होता कि चाहे वज्र भी सामने आये तो उसे भी पार कर जाय, किसीसे आघात न हो, ऐसा वह आहारक शरीर होता है । तैजस शरीर उससे भी सूक्ष्म होता है । इस तैजस शरीरका एक रूप देख लीजिए । जिस शरीरका जो तेज है, जो चमक है, जो दिख रहा वह तो नही है तैजस । वह तो औदारिक है, मोटा है, वैक्रियककी तरहका है । जो एक तेज उत्पन्न करने वाला है वह तैजस शरीर है । जैसे बिजली कितनी सूक्ष्म होती और सूक्ष्म क्या होती, बिजली बहते बहते या संयोग पाकर एकदम समस्त तारोका परिणमन होता है, भीतर कुछ दिखता नही कि वह बिजली कहांसे कैसे आती है, लेकिन उससे भी सूक्ष्म चीज है तैजस शरीर और तैजससे भी सूक्ष्म है कार्माण शरीर ।

कार्माण शरीरकी विज्ञप्ति—देखो जब जीव विकट स्थितियोंसे गुजर रहा है, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिक इन भवोमे गमन कर रहा है तो इतनी विषम, इतना कठिन, इतना गजब होनेका कारण कोई बाह्य सम्बध होना ही चाहिए । जगतमे भी देखा जाता, पानी अधिक गर्म बनता है तो किसी उष्ण पदार्थके संयोगसे । पानी बर्फ बनता है तो किसी शीत पदार्थके सयोगसे । तो जो विकार होते हैं वे भी किसी बाह्य पदार्थके संयोगसे होते है । तो कर्म तो मानना ही पडेगा और ये कर्म कोई ऐसा कह सकने मात्रका नाम नही है कि उपचरित है । कह दिया है, सामने हाजिर हुआ है, बोल दिया है । जिस वक्त यह जीव कषायभाव करता है उस समयमे कार्माणवर्गणाओमे अपने आप प्रकृतिबध, स्थितिबध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध—ये चारो बंध हो जाते हैं । मायने उस समय यह निश्चित हो गया कि इन कर्मोमे जो इस समय बधे हैं इनमे यह कर्म इतने दर्जेका फल देनेकी शक्ति है, इसमे इतने दर्जे का, ये निषेक इतने समय बाद उदयमे आयेंगे, ये निषेक इस प्रकारकी प्रकृति वाला फल देंगे, और इस समय इतने परमाणु उदयमे आयेंगे, इस समय इतनेमे आयेंगे । जो कर्म एक समयमे बँध गए है उनमे ये चार विभाग हो जाते हैं । आगम वचन है, अनुमान सिद्ध है । तो अब जिस प्रकारका अनुभाग, जिस प्रकारकी प्रकृति बधी थी, स्थिति बँधी थी, विपाकमे आया है तो कर्मकी गडबडी कर्ममे होती है, यह एक वस्तुका नियम होता है । प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उस ही पदार्थमे होता है । अगर निमित्तनैमित्तिक योग न होता तो यह ससार

कहाँसे आता ? केवल एक अकेले पदार्थमे ससार नही हुआ करता । तो उदय आया, उसमे एक क्षोभ रहा । वह सबका सब निमित्तनैमित्तिक योगवश उपयोगमे प्रतिफलन हुआ। छाया माया कहो, औदयिक भाव कहो, बस यह जो जीव भूल गया, जिसने अपनी चेतनाको भुला दिया और यह ही मान लिया कि यह ही मैं हू । जैसे नाटक करने वाला बालक अगर भूल जाय कि मैं तो अमुक नामका बालक हूं और जिसका पार्ट अदा किया जा रहा है उस ही रूप अपनेको अनुभव करे तो इस अनुभवका दुष्परिणाम भी होता है । सुना है कि कोई युवक जब वह अमरसिंह राठौरका पार्ट अदा कर रहा था तो उस समय वह यह भूल गया कि मैं तो अमुक नामका व्यक्ति हू, यहाँ तो पार्ट अदा कर रहा हू । उसने अपनेको अमरसिंह राठौरके रूपमे अनुभव किया और अपने सामने खड़े विरोधी व्यक्तिपर इतना क्रोध किया कि तलवार से उसका सिर उडा दिया । तो देखिये—उस ही रूप अनुभव करनेका दुष्परिणाम यह हुआ। तो यहाँ भी तो ये जीव नाना प्रकारके पार्ट अदा कर रहे हैं, इनपर यह सब माया छाया आ रही है, यह पहनावा पहिन रहा है । इसमे मान लिया कि यह मैं हू और उसीमे ही रम गया । यही कारण है कि यह इसका दुष्परिणाम भोग रहा है । नाना पर्यायोके दु.ख भोग रहा है ।

शान्तिका उपाय सुगम होनेपर भी सुगम न होनेका कारण—देखिये शान्तिका उपाय है तो कितना सुगम, लेकिन कितना कठिन हो रहा है । बहुत-बहुत समझाया जानेपर भी यह उपयोग अपने आपको स्वभावरूप नही अनुभव कर पाता है । स्वभावकी ही ये सब लीलायें हैं, मगर अपनेको स्वभावरूप अनुभव नही करता । यह एक जीवपर बहुत बडी विपत्ति छायी है । मिथ्यादृष्टि, मोही, अज्ञानी ससारमे रुलने वाले कौन ? देह जीवको एक गिनें—जो शरीर और आत्माको एक मानता है, संसारमे भटकता है । सारी विपत्तियाँ इस शरीरको आत्मा माननेसे हुई । सम्मानमे खुश होना, अपमानमे दु.खी होना, प्रशंसामे महत्त्व समझना, निन्दा मे अपनी बरबादी मानना, यह क्या गजब हो रहा है कि चित्स्वरूप जीवका हो सकता है । यह सब पौद्गलिक कर्मका नाच है और उस नाचको इसने अगीकार कर लिया कि यह मैं हू, और अगर संसार-सागरसे तिरना है, ससार-सकटोसे छूटना है तो इतना अत साहस बनाना होगा कि जगतमे जो कुछ हो सो हो, वह बाह्य पदार्थोंका परिणमन है, उनकी परिणतिसे हो रहा है । तीन लोकके समस्त पदार्थ कैसे ही परिणमे और लोकदृष्टिसे वहाँ चाहे हम प्रतिकूल समझ लें, अनुकूल समझ लें तो इस समस्त लोकके परिणमनसे भी इस आत्माका कोई बिगाड नही है, यह तृष्णा, शरीरकी प्रतिष्ठा, नामकी प्रतिष्ठा, लोगोसे इज्जतकी बात । धनका लोग क्यो संग्रह करते हैं ? मनुष्योंमे सबसे कठिन कषाय मानकषाय है और बताया है कि

नरकगतिमे तो क्रोधकी तीव्रता है, तिर्यञ्चगतिमें छल-कपटकी तीव्रता है और देवगतिमे लोभ की और मनुष्योमे सबसे अधिक मानकी तीव्रता है। जितने जो लोग काम करते है, जितनी भी मन, वचन, कायकी चेष्टायें करते है, धन-वैभवका सग्रह करते हैं, तो इन सबका प्रयोजन मानकपायकी पुष्टि है। लोगोमे क्यो यह होड मच गई कि मैं अभी लखपति हूं तो करोडपति हो जाऊँ? अरे रोटियोकी कमी थी क्या? कमी तो न थी, पर उपयोग भटक गया। उपयोग मे तृष्णाने घर कर लिया। यह तृष्णा मानकषायवश बनी। क्रोध भी इस मनुष्यको क्यो जगता, क्योकि उसके चित्तमे मानकपाय बैठी है। जब उस मानकपायकी पुष्टि नही होती तो क्रोध जगता है। मनुष्य छल-कपट क्यों करता? इसीलिए कि चित्तमे मानकषाय है। चित्त मे जैसे मान बढे उसके लिए उपाय रचते है। लोभ नाना प्रवृत्ति क्यो करते? अपनी मान कपायकी पुष्टिके लिए। सबका मूल मानकपाय है। जिस ज्ञानी पुरुषने इस मानकषायको अलग कर दिया और यो अपनेको समझ लिया कि जो हो सो हो, मेरे आत्माको तो कोई जानता नही, लोग तो इस देहसे ही परिचित है, मेरा चैतन्यस्वरूप इस देहसे पृथक् है, इस देहको देखकर ही लोग कहते कि फलाने आ गए, अरे तो इस देहकी किसीने निन्दा कर दी तो समझो कि उसने तो अभी बहुत कम निन्दा की। यह शरीर तो बहुत ही निन्द्य है। इसकी तो बहुत-बहुत निन्दा करनी चाहिए थी। तो निन्दा करने वालेपर रोष क्यो? उसके प्रति तो मित्रताका भाव रहे। और सोचो कि इसने अभी बहुत थोडा दड दिया है इस बेईमान (शरीर) को। इसे तो और भी अधिक दड मिलना चाहिए था। इस शरीरमे ममता होनेके कारण इस शरीरको कितनी परेशानी हो रही है? कहाँ तो यह अनन्तआनद, अनंतज्ञानका स्वभाव रखने वाला यह चैतन्य पदार्थ और कहाँ ये नरक निगोद तिर्यञ्च पशु-पक्षी आदिक देहोकी यह विडम्बना। बडा बलिदान करना होगा आत्मोद्धार चाहने वाले व्यक्तिको। एक आत्मोद्धार है तो सब सिद्धि है।

आत्मोद्धार हुए बिना उसके निमित्तसे विश्वकल्याणकी भी असंभवता—आत्मोद्धार हुए बिना विश्वकल्याणकी बात जरा भी सभव नही। जैसे एक कथानक है कि कोई महिला आयी, साधुसे कहा—महाराज हमारा बेटा गुड बहुत खाता है और उस गुड खानेमे उसको बडी तकलीफ मिलती है फिर भी नही छोडता, महाराज, आप उसका गुड़का त्याग करा दें। तो साधुने कहा अच्छा तुम मेरे पास उस बेटेको लेकर अबसे १५ दिन बादमे आना तब उसे गुड न खानेका नियम दिलायेंगे। ठीक है। महिला चली गई। अब देखो चूँकि वह साधु महाराज स्वयं गुड बहुत खाते थे, इसलिए वह उसे तुरंत नियम न दिला सके। जब १५ दिन स्वयं उन्होने अभ्यास कर लिया, गुडका स्वय त्याग कर दिया तब शिष्यको गुड़के अवगुण

बताकर, उसके त्यागका नियम कराया। तो मतलब यह है कि पहले तो अपने आत्मापर विजय पावो और फिर बादमे यह विकल्प ही क्यो हो कि दूसरोका कल्याण हो, दूसरे लोग इस मार्गपर चलें। अपने आत्माका उद्धार करो, बादमे दूसरोंके कल्याणकी चिन्ता करो। कोई दूसरोंके प्रति तो खूब विकल्प करे, चिन्ता रखे और खुदके हितकी कोई बात न सोचे तो उससे उसे लाभ क्या ? देखो स्वाध्याय करनेके ५ भेद है—वाचना, पूछना, भावना, आम्नाय (याद व पाठ करना) तथा धर्मोपदेश। सो यहाँ यह समझें कि धर्मोपदेश भी आत्माके मननके लिये है। देखो लोग तो कहते हैं कि उपदेश दूसरोके लिए दिया जाता है पर ऐसी बात नही, धर्मोपदेश तो स्वाध्यायका एक भेद है। स्वाध्यायमे होता स्वका अध्ययन। धर्मोपदेश देने वाला व्यक्ति उस प्रसगमे यदि अपने आपको सम्बोध रहा है और अपने आपमे भी कुछ प्रयोग बन रहा है तो वह उसका स्वाध्याय है और यदि उसकी बाहर-बाहर ही दृष्टि है—ऐसा करो, ऐसा करो, देख रहा है श्रोताओंकी ओर, उनसे कहे कि देखो तुम सब पाप न करो नही तो नरक जावोगे, निगोद जावोगे, तो समझो कि वह तो अभी विपत्तिमे चल रहा है, विडम्बनामे चल रहा है। अरे उपदेश करने वाला स्वयके लाभके लिए, स्वयको सम्बोधता हुआ बोले तो वह तो उसका एक स्वाध्याय है। देखो इस मनको ठाली (ठलुवा) मत बैठने दो, इसे तो धर्मोपदेश देने, आत्मध्यान करने, स्वाध्याय करने आदिके अच्छे कामोमे लगा दो। देखो धर्मोपदेश देना एक ऐसा काम है कि जिसमे मायाचारी नही चल सकती। और कामोंमे तो मायाचारी चल जायगी, प्रमाद कर जायेंगे। जैसे जाप दे रहे हैं, बैठे है अकेले तो वहाँ कोई नियन्त्रण तो नही है कोई और ढगका, मगर धर्मोपदेशका प्रसग ऐसा है कि एक तरह का प्रोग्राम है, एक नियन्त्रण है, कुछ कहना पडेगा, कहना चाहिए, कहा जा रहा है। हाँ इतना आश्रय जरूर है कि श्रोता आश्रय बन रहे हैं। तो जब और और विचार, और और चेष्टायें जीवकी चल रही है तो धर्मोपदेशमे श्रोता आश्रय बनते, उनका थोडा लक्ष्य भी होता है। जो कहा जाय सो खुद भी सुना नही जा सकता क्या ? क्या दूसरोंके सुनानेके लिए ही कहना होता है ? अगर इसका जल्दी हिसाब लगानेके लिए बोलें तो चार आने तो दूसरोको सुनानेके लिए और १२ आने खुदको सुनानेके लिए बोलते है धर्मोपदेष्टा। तो धर्मोपदेश भी स्वाध्यायका एक भेद है।

आत्मनिरीक्षण—भैया ! अपने आत्माको देखो—इस शरीरके मोहमे पडकर यह जीव व्यर्थ ही बरबाद हो रहा है। यह शरीर सदा रहना है नही, यह जीर्ण-शीर्ण होना है। अभी कोई बूढा हो गया, हड्डियाँ निकल आयी, चेहरेमे झुरियाँ भी पड गईं, सारा शरीर सूख गया, जिसकी शक्लको देखकर बच्चे लोग डर जायें, फिर भी उस शरीरसे कितना मोह है ?

हाय यह मैं ऐसा हो गया। देखिये कितना है शरीरका व्यामोह ? बस यह ही मात्र विपदा है इस जीवपर। चेतते नही तो नुक्सान उन्हीका ही तो है। कभी तो यह अनुभव कर ले कि मैं शरीरसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। देखो धन वैभवके विकल्प, इज्जत पोजीशनके मनमे विचार, ये सब राक्षस एक इस चैतन्य राजापर हमला कर रहे है। पूर्व समयमे अनेक मुनिराज ऐसे हुए है कि जिनको उस समयमे भी कोई नही जानता था, और जब वे पवित्र हो गए, परमात्मा हो गए, निर्वाण हो गया तो उनके आनन्द और ज्ञानमे और जो जगतमे प्रसिद्ध है ऋषभदेव आदिक भगवान, उनके आनन्द व ज्ञानमे कुछ फर्क है क्या ? यहाँ तो थोडे दिनोकी बात है और पवित्र बननेका फल है अनन्तकाल तक आनन्द भोगना। बताओ तुम किसको महत्त्व देते हो ? यहांके थोड़े दिनोंके सम्मान-अपमान, इज्जत प्रतिष्ठाको महत्त्व देते हो या अनन्तकाल तकके लिए केवलज्ञान अनन्त आनन्दरूप मेरा परिणमन हो, उसको महत्त्व देते हो ? सारी बात गुप्त है। गुप्त ही करना है। गुप्तको ही करना है और गुप्त बात ही की जानी है। यहां दिखानेकी तो कुछ बात ही नही है। दिखानेका जितना सम्बन्ध है वह सब मायाजालका है और कल्याणका जो सम्बन्ध है, गुप्त कल्याण करता है और कल्याण भी गुप्त होता है और कल्याण भी गुप्तविधिसे होता है। उसमे दिखावेका नाम नही। यह हिम्मत तब बनती है जब आत्माके स्वरूपका भान है और शरीरादिक पुद्गल परमाणुओके स्वरूपका सही रूपमे भान है। सर्व पदार्थ स्वतत्र है, एकका दूसरेमे प्रवेश नही, एक दूसरेका कोई परिणमन नही कर पाता। मेरा किसीसे क्या बिगाड ? मैं बिगाड करता हू अपने आपका परिणमन करके। ज्ञान बल हो तो कर्मानुभाग खिर जाता है, ज्ञानबल नही है तो कर्मानुभाग हावी हो जाता है। तिस पर भी करने वाला यह जीव ही है अपनी परिणतिका। अगर जीव अपनी परिणतिका करणहार नही है और कर्म ही जीवमे रागद्वेष कराते है तो फिर रागद्वेषसे छूटनेका फिर कभी अवसर नही मिल सकता। क्योकि रागद्वेष तो कर्म करते है। उनके जी (मन) मे क्यो ऐसा आयगा कि मैं अपना कुल मिटाऊँ ? कर्म मानो अपनी अगली बढवारीके लिए ही कमर कसे हुए है। तो हम भी अपनी उन्नतिके लिए कमर कसकर चलें।

उत्तरोत्तर सूक्ष्म पांच शरीरोमे परमाणुपुञ्जकी अपेक्षासे उत्तरोत्तर हीन होते जाने की संभावनाकी जिज्ञासा—ये ५ शरीर जिनके सम्बन्धसे, जिनके व्यामोहमे जीवका अकल्याण है उन शरीरोका वर्णन किया जा रहा है। ये ५ शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जा रहे हैं। अच्छा तो एक जिज्ञासा होती है कि ये पांचो शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तो क्या इनमे प्रदेश भी कम कम होते गए ? जैसे औदारिकसे वैक्रियक शरीर सूक्ष्म हैं तो क्या औदारिकसे वैक्रि-

यकके परमाणु कम होते होगे ? इसी तरहसे क्या वैक्रियकसे आहारक और आहारकसे तैजस आदि जो सूक्ष्म होते गए तो क्या उनके परमाणु उत्तरोत्तर कम होते गए ? क्या ऐसी बातें है ? तो इसका समाधान करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसख्येयगुण प्राक् तैजसात् ॥३८॥

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म कहे गए है इससे पहलेके सूत्रमे। सो अब इस ३८वें सूत्रके द्वारा यह बात बतला रहे है कि परमाणु कम कम नही है बल्कि औदारिक शरीरसे वैक्रियकमे असंख्यात गुणे अधिक परमाणु हैं। इसी प्रकार वैक्रियकसे आहारकमे उससे अनन्तगुणे अधिक परमाणु हैं। ज्यो ज्यो शरीर सूक्ष्म होते गए त्यो त्यो उसके परमाणु भी बढते गए। जैसे औदारिक शरीरमे एक मच्छका शरीर ले लो, उससे असख्यात गुणे परमाणु एक वैक्रियक शरीरमे मिलेंगे। यह कोई नियम नही है कि जो देखनेमे बडा हो तो उसमे परमाणु ज्यादा हो और देखनेमे शरीर छोटा हो, सूक्ष्म हो तो उसमे परमाणु कम हो। इसके लिए एक उदाहरण ले लो। एक तरफ तो एक किलो रख दो और दूसरी तरफ रुईका एक ढेर रख दो। तो देखिये इन दोनोमे किनमे ज्यादा परमाणु मिलेंगे ? किलोके बाटमे ज्यादह मिलेंगे। तो औदारिकसे वैक्रियकमे असख्यातगुणे ज्यादह परमाणु हैं और वैक्रियकसे असख्यातगुणे ज्यादा परमाणु आहारकमे हैं, आहारकसे ज्यादा तैजसमे और तैजससे ज्यादा कार्माणमे। तब यह बात है कि उत्तरोत्तर प्रदेशकी अपेक्षा ये शरीर असख्यात गुणे प्रमाण अधिक है, लेकिन तैजससे पहिले तकके असंख्यातगुणे हैं।

शरीरोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता होनेपर भी परमाणुओकी अपेक्षा महत्ता—जब आकाश की बात चले तो प्रदेशका अर्थ होता है प्रदेश और जब पुद्गलको बात चले तो प्रदेशका अर्थ है परमाणु। परमाणुओकी अपेक्षा उत्तरोत्तर ये शरीर अनगिनते गुणे हैं। कहाँ तक ? तैजस तक। ये प्रदेशकी अपेक्षा असख्यात गुणे है। इससे यह बात जानना कि परमाणु हैं असख्यात गुणे, पर जगह ज्यादह स्थान रोकते हो सो बात नही। मच्छका शरीर भी एक हजार योजनका लम्बा है। उसका आधा चौडा और उसका आधा मोटा और सर्वार्थसिद्धिके देवोका शरीर केवल एक हाथ प्रमाण है। सो देखो जगह ज्यादा घेरा मच्छने, मगर बताओ परमाणु किसमे ज्यादह है ? सर्वार्थसिद्धिके देवोमे। तो प्रदेशकी अपेक्षा ऐसा कहनेसे यह बात सिद्ध हुई कि अवगाहमें असख्यातगुणे नही है उत्तरोत्तर ये शरीर। परमाणुओमे असख्यात गुणे है। तो भाई यह नियम नही है कि जो बडे प्रमाणमे फैला हो उसके परमाणु ज्यादह हो और जो थोडे परिमाणमे फैला हो उसके कम हो। यो औदारिकसे वैक्रियक, वैक्रियकसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्माण—इनमे उत्तरोत्तर एक दूसरेसे अधिक परमाणु

है। तो देखो एक मुनिराज छठे गुणस्थानवर्ती आहारक ऋद्धि वाले उन्हीके ही आहारक-शरीर बन रहा है। वे तो एक ही जीव है ना। मुनिका शरीर और आहारक शरीर ये दो जीव नही है। मुनिका शरीर औदारिक है और उन्हीके समुद्घातमे है आहारक। जीव एक है। एक होनेपर भी उस समयको औदारिक काय योग रुक गया। औदारिक काय योगकी चेष्टा नही चल रही और आहारक शरीरकी रचना है, आहारक शरीर बन गया। योग औदारिक शरीरका नही है, योग आहारक कायका है। उस औदारिकमे जितने परमाणु है उनसे असख्यातगुणे परमाणु उस आहारक शरीरमे है।

ईश्वरीय विपरीत लीला—कैसी लीला है ईश्वरकी, कौनसे ईश्वरकी ? स्वयकी, जीवकी। कैसी शरीरकी रचना हो रही है, कैसी विडम्बनायें चल रही है कि शरीर हल्का हो, खराब हो, गंदा हो, कोमल हो, कठोर हो, पत्थर बन गया, जल बन गया, नम्र शरीर हो गया, तो कैसे कैसे विचित्र शरीर बन रहे और यह जीव इन शरीरोमे किस-किस तरहसे बँधा फसा है, यह ईश्वरकी उल्टी लीला चल रही है जिसमे ये सब ऐसी विकट बातें चल रही है और इस ही ईश्वरकी जब सीधी लीला चलेगी तो वह अपने आपके सहजस्वरूपको समझकर, जानकर, उसमे रमकर त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञानमे झलक जायेंगे और अनन्त आनन्दका अनुभव होगा। तो हे प्रभु, हे भगवन, हे सहज परमात्मतत्त्व ! तेरी उल्टी लीलामे तो जगतकी विडम्बना बनती है और तेरी सीधी लीलामे तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ इस ज्ञानमे समा जाते है। तो इन शरीरोका वर्णन सुनकर हमको यह लाभ लेना है कि यह शरीर तो कलक है। शरीरमे मोह लगा है। शरीरके मोहसे ये सारी विडम्बनायें बनती है। एक नामरहित जो एक चित्स्वरूप है उस चित्स्वरूपमे अपने आपका अनुभव करें कि सहज ज्ञानप्रकाशमात्र जो है सो मैं हू, अन्य कुछ मै नही हू। इस अनुभवके द्वारा इस ससारसे निस्तारा बन सकता है।

अनतगुणे परे ॥३९॥

तैजस और कार्माण शरीरकी अन्य सब शरीरोसे अनन्तगुणी महत्ता—अन्तके तीन शरीर प्रदेशकी अपेक्षा अनन्तगुणे है। प्रदेशकी अपेक्षा इस शब्दकी अनुवृत्ति हुई है ऊपरके सूत्रसे और किससे परे अनन्तगुणे हैं। तो इसका भी भाव लिया गया है ऊपरके सूत्रमे याने पहले सूत्रमे यह बताया कि तैजस शरीरसे पहले तकके शरीर प्रदेशोकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। तो तैजससे पहले शरीर है आहारक। तो आहारक शरीर तककी बात कही गई थी। अब यहाँ अर्थ यह लेना कि आहारकशरीरसे अनन्तगुणे प्रदेश तो है तैजस शरीरमे और तैजस शरीरसे अनन्तगुणे प्रदेश याने परमाणु हैं कार्माण शरीरमे। जो ५ शरीर बताये गए—

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इनमे यह बताते है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, किन्तु प्रदेशकी अपेक्षा उत्तरोत्तर कितने ही गुणित हैं। आहारक शरीर तक असंख्यात गुणे है, और उसके बाद अनन्तगुणे परमाणु वाले है। क्या कहा गया सूत्रमे ? अन्तके दो शरीर अनन्तगुणे है। तो ऐसा सुनकर यह बात ज्ञात होती है कि अनन्तगुणे परमाणु तो हैं, पर जितने ही परमाणु तैजस शरीरमे हैं उतने ही परमाणु कार्माण शरीरमे है। क्योकि अन्तमे दो शरीरोको अनन्तगुणे परमाणु वाले कहा है। पर बात ऐसी नही है, क्योंकि अनन्त तो नाना तरहके होते है, अनेक प्रकारके होते है। तो आहारक शरीरसे तैजस शरीर अनन्तगुणे हैं और उससे अनन्तगुणे कार्माण शरीर हैं। यह अर्थ लेना। देखो सबसे सूक्ष्म है कार्माण शरीर याने जीवके साथ जो कर्म लगे हैं सो पौद्गलिक है, वास्तविक हैं। कार्माण शरीररूप हैं, सारे शरीरका बीज है, समस्त विपदाओका हेतु है। कर्ममे कोई नाम नामकी चीज नही। जैसे कि अन्य लोग कह देते हैं कि कर्म है, रेखा है, भाग्य है, दैव है। पर है क्या वास्तविक बात, इसको स्पष्ट नही कर पाते। यहाँ स्पष्ट किया है। कर्म है कार्माणवर्गणाके पुद्गलस्कधो का समूह। वह सबसे सूक्ष्म है, किन्तु सब शरीरोसे अनन्तगुणे परमाणु हैं।

अप्रतीघाते ॥४०॥

तैजस और कार्माण शरीरकी प्रतिघातरहितता—ये दोनो शरीर तैजस और कार्माण ये प्रतिघातरहित हैं। जैसे अन्य लोग कहते है कि जीवके साथ दो शरीर लगे हैं—सूक्ष्म और स्थूल। तो स्थूल शरीर हो गया औदारिक और वैक्रियक और सूक्ष्म शरीर हो गया तैजस और कार्माण। आहारक शरीरका तो कोई नाम भी नही लेते। तो जो तैजस कार्माण शरीर है वे चूंकि सूक्ष्म है, अतएव सर्वत्र चले जाते है, किसीसे व्याघात नही होता। न तो तैजस कार्माण शरीर द्वारा दूसरेको चोट पहुचे और न दूसरेके द्वारा तैजस कार्माण शरीरमे विघात हो। ऐसे तैजस और कार्माण शरीर व्याघातरहित हैं। व्याघात मूर्तिकका मूर्तिकके साथ होता है। अमूर्तका व्याघात क्या ? यहाँ यह आश्चर्यकी बात है कि तैजस और कार्माण शरीर पौद्गलिक है, तिसपर भी इनका किसी भी पदार्थसे व्याघात नही होता। जीव क्या है, किस ढंगमे होता है, क्या उसके साथ है, यह सब विषम स्पष्ट खुला है। जीव है एक चैतन्य पदार्थ। उसके साथ लगे है कार्माण शरीर, और उसकी ही वजहसे फिर औदारिक, वैक्रियक, आहारक और तैजस—ये शरीर लगे हैं। तो तैजस शरीर तो सब ससारी जीवोके साथ लगा है, जैसे कि कार्माण, पर अन्य शरीर बदलते रहते है। मनुष्य तिर्यञ्च है तो ये औदारिक शरीर हैं। हम आपके शरीरका नाम औदारिक शरीर है और मरण हो गया, भव बदल गया, देव हो गए तो वैक्रियक शरीर मिल गया, मगर तैजस और कार्माण शरीर—ये सदा जीवके साथ

है । और इस जीवित अवस्थामे हम आपका प्रतिघात हो जाता है सो तैजस और कार्माणकी वजहसे नही, किन्तु औदारिक शरीरके कारण व्याघात होता है । क्योकि औदारिक शरीरके साथ सब लगे है । यो व्याघातसहित शरीर है । इस स्थूल शरीरका कारण होनेपर जीवके साथ तैजस और कार्माण शरीर जाते है तो वज्र आये तो भी छिदते नही है । जीवकी विभूति देख लो—जीव जब बिगडे तो उस हालतमे भी ऐश्वर्यपर दृष्टि दें । बिगडा है तो भी कोई वैज्ञानिक अचेतन पदार्थोमे तो बता दे, रागद्वेष मोह करना, कुछ युक्तियाँ बता दे, मत्र बता दे, पर यह बात कहांसे लायेगे ? और बात तो जाने दो, वैज्ञानिक लोग अब तक मल और मूत्रकी भी रचना नही कर सके है । है ये पौद्गलिक और शरीरके विकार शरीरसे निकले पर जीवके सम्बन्धमे यह व्यवस्था बनाकर कोई वैज्ञानिक उस ढगसे न बना सका । तो जीवका ऐश्वर्य देखो बिगडा है तो भी वहा चमत्कार चल रहा और सीधा बन गया, स्वभाव मे आ गया तो उसका तो एक अलौकिक चमत्कार है । "तीन लोक तिहु काल समाया जिसकी सीधी लीलामे ।" तो यह जीव अनादिसे बिगडा ही है । इसके साथ तैजस और कार्माण शरीर है तो वे कितना सूक्ष्म शरीर है कि वे किसीसे छिदते नही हैं । बिना व्याघातके ये शरीर जहाँ जाना है चले जाते हैं । यहाँ बताया यह गया है कि देखो परमाणु एक हो तो वह एक समयमे ७ राजू १४ राजू गमन करे, मगर देखो कर्मभय सहित ईश्वरकी (जीवकी) बात एक भव छोडकर जीव गया तो जीव एक समयमे ७ राजू चला गया तो इसमे आश्चर्य नही है, और जीवके साथ जो तैजस कार्माण शरीर लगे है उनमे तो अनन्त परमाणु हैं, एक एक तो है नही, लेकिन तैजस कार्माण शरीर भी जीवके साथ होनेसे एक समयमे अनेक राजू चले जाते है । अगर जीवके साथ न होती ये वर्गणाये, तैजस और कार्माण अलग होते तो स्कंध ही तो है, फिर इनमे सामर्थ्य नही कि एक समयमे यह कई राजू गमन कर जाय, मगर जीवका माहात्म्य देखो तो सही—बिगडी हालतमे भी जो बात दूसरेमे नही बन सकती वह इसमे बन रही । क्या बन रही ? "अप्रतिघाते" याने तैजस और कार्माण शरीर प्रतिघात रहित होते है ।

तैजस और कार्माण शरीरकी लोकमें सर्वत्र अप्रतीघातता—यहा एक आशका कर सकते है आप कि बताया यह है कि तैजस शरीर कार्माण शरीरमे व्याघात नही है, किसीसे रुकता छिडता नहीं है, पर यह बात तो आहारक शरीरमे भी है । वह तो व्याघातरहित है, वैक्रियक शरीर भी है । वैक्रियक शरीर भी तो कहीसे कही पार हो जाता है, फिर तैजस कार्माणको ही क्यो कहा गया ? प्रतिघातरहित है । फिर दो शरीर और रख दिया—वैक्रियक और आहारक । अब इसे पहलुवोसे देखे तो सब कुछ बात दिखती है । औदारिकशरीरसे

ही जीवकी मुक्ति बन सकती है। अब किसकी बने वह बात अलग है। तो यहाँ प्रश्न यह किया जा रहा कि तैजस और कार्माणकी तरह वैक्रियक और आहारक शरीर याने देवोका वैक्रियक शरीर, जैसे मुनियोका आहारक शरीर, इनका भी तो व्याघात नही होता, फिर इन को भी तो कहना चाहिए। तो उत्तर इसका यह है कि यहाँ यह बतलाया जा रहा कि तैजस और कार्माणका दुनियामे सर्वत्र व्याघात रहित चलता है। आहारक शरीरका तो व्याघात है, ढाई द्वीपके बाहर कहाँ जायगा ? वैक्रियक शरीर भी व्याघात वाले सुने गए हैं। एक घटना थी कि अनन्तवीर्य यतीके माहात्म्यसे वैक्रियक शरीरका भी एक व्याघात हो गया। उनमे इसका नियम नही पडा हुआ है कि कौनसा वैक्रियक शरीर कहाँ तक जा सकता ? उससे आगे नही जा सकता। मगर तैजस कार्माण शरीरमे प्रतिबध बन जायगा। जीव जहाँ जाय वहाँ तैजस कार्माण चले जायें। पृथ्वीके नीचे तक, लोकके अन्त तक, अगल बगल सर्वत्र तैजस कार्माण व्याघात रहता है——यह बताया गया है इस सूत्रमे। ये दो शरीर व्याघातरहित हैं। एक जीवकी सडी गली खराब भीतरकी पूजी बतायी जा रही है कि जीवके साथ अन्दर क्या क्या लगा हुआ है जिसके कारण बाहरमे यह मुद्रा बन गए। जीवके साथ कर्म लगे हैं, तैजस कार्माण शरीर लगा है। देखो पदार्थ सब स्वतत्र स्वतत्र हैं, कर्म जीवमे कुछ नही करते, जीव कर्ममे कुछ नही करता, मगर विभावोमे तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई भी विभाव निमित्त सन्निधान बिना नही बनता। तो निमित्तनैमित्तिक ढगसे भी परखिये और वस्तुस्वातत्र्यके ढगसे भी जानते जाइये।

अनादिसबधे च ॥४१॥

तैजस और कार्माण शरीरका जीवके साथ परम्परया अनादि संबन्ध—तैजस और कार्माण शरीर अनादिकालसे जीवके साथ सम्बन्ध रख रहे हैं। यहाँ यह बात समझनी है अनेकान्तदृष्टिसे कि किस अपेक्षासे कहा गया है कि तैजस और कार्माणका सम्बन्ध जीवसे अनादिकालसे है, यह परम्परासे कहा गया है और विशेषरूपसे तो आदि है कर्मका जिस दिन से जो बधा कर्म उस दिनसे उसकी आदि है। पहले भी बधा, अनादिसे बधे आये, मगर जब जब बधे तब तब उसकी आदि है, इसी प्रकार तैजस शरीरका भी आदि है और परम्परासे देखें तो अनादि है। ये दोनो बातें माननी पडेंगी। एकान्तत यह नही कह सकते कि तैजस कार्माण एकान्तत. अनादिसे सबद्ध हैं और यह भी नही कह सकते कि तैजस कार्माण एकातत. किसी कालसे लगे है। विचार करें। यदि यह कहा जाय कि तैजस और कार्माण शरीर एकान्ततः अनादिसे हैं, आदिसे होनेकी कोई गुञ्जाइश नही तो देखो जिसकी आदि नही होती, जो एकान्ततः अनादिसे है, किसी भी अपेक्षासे आदि नही तो उसका अन्त भी नही होता।

जब तैजस कार्माणका अन्त न होगा तो फिर जीवका मोक्ष भी न होगा और अगर एकान्तसे आदि मान लिया जाय कि तैजस और कार्माण शरीर तो बराबर किसी दिनसे शुरू हुए, उनकी कोई आदि है तो ऐसा एकान्तसे आदिमान मानने पर उसकी उपपत्ति ही नही हो सकती, नया शरीर ही नही हो सकता, क्योकि पहले कर्म हीं नही हो सकते। जैसे कि तुम मान रहे हो किसी दिनसे कर्म लगे तो उससे पहले क्या था ? यह ही तो मानना पडेगा कि जीव शुद्ध था, कर्मरहित था। अगर कर्मकी आदि मानते हो कि किसी दिनसे जीवके साथ कर्म लगे तो इसका अर्थ यह हुआ कि उससे पहले जीव शुद्ध था। कर्म न थे उसके साथ। अगर जीवके साथ कर्म न थे, जीव शुद्ध था तो फिर कर्म हो ही नही सकते। कारण क्या ? और इसी प्रकार अगर तैजस और कार्माण शरीरका आदि है तो वह निर्निमित्त हुआ ना। कोई निमित्त नही बनता, क्योकि जीव तो शुद्ध था, अपने आप लग गए तैजस और कार्माण। तो कदाचित् कोई मुक्त जीव भी हो तो जब चाहे उनके भी लग बैठें, क्योकि निर्निमित्त आदिमान जो होता है उसका कारण तो कुछ न बन सका यहाँ, क्योकि पहले जीव शुद्ध था तो शुद्ध जीवमे जब ये तैजस कार्माण लग बैठे तो मुक्त जीवमे भी लग बैठें। मुक्तकी फिर कोई महिमा न रही। क्या फायदा ऐसा मुक्त होनेसे कि कुछ दिनको हुए मुक्त, बाद मे फिर यहाँ आ गए। फिर ये ज्योके त्यो तो ऐसे ही दार्शनिकोकी तरहके हो गए। जैसे कोई दार्शनिक मानते है कि ससारका रचने वाला पूरा मालिक एक सदाशिव है। सदाशिव ईश्वर मायने तो अनादिकालसे मुक्त है, भगवान है वह सबको रचने वाला है। वह एक ही है, पर अनेक मुक्त जीव होते है तो वे कर्मसे मुक्त हुए तो इन मुक्त जीवोमे और सदाशिवमे बडा फर्क माना जाता है, क्या कि सदाशिव तो बस उसको सब अधिकार है और मुक्त जीव कुछ दिन मुक्त रहेगा, बादमे सदाशिव उन्हे भी ढकेल देगा कि जावो संसारमें रुलो। तब ऐसा मुक्त होनेमे क्या लाभ हुआ ? तो तैजस और कार्माण शरीरको एकान्तत: आदि मान लेगे तो उसमे भी मुक्त रहनेकी बात न बन सकेगी। इसमे क्या समझना कि अपने साथ जो कर्म लगे वे परम्परासे तो अनादिसे हैं और विशेषकी दृष्टिसे आदिसे हैं।

उदाहरणपूर्वक सम्बन्धकी अनादिमत्ता व आदिमत्ताका दिग्दर्शन—जैसे बीज और वृक्ष। बतलावो वृक्ष काहेसे हुआ ? बीजसे। और बीज काहेसे हुआ ? वृक्षसे। यो बीज और वृक्षकी परम्परा चलाते जावो। तो यह परम्परा अनादिसे है, ऐसा कभी नही होता कि बिना बीजके वृक्ष हो गया हो या बिना वृक्षके बीज बन गया हो। जैसे बीज-वृक्षकी परम्परा अनादिसे है, मगर किसी खास बीजकी बात क्या अनादिसे है ? वह तो अमुक वृक्षसे हुआ। किसी खास वृक्षकी बात क्या वह अनादिसे है ? वह तो अमुक बीजसे हुआ। तो विशेषकी दृष्टिसे तो

बीज और वृक्षमे आदि है। हाथमे भी लेते है यह है बीज, उसे बो भी दिया, वृक्ष बन गया, एक नई चीज बन गई। आदि तो है, मगर परम्परा अनादिसे है। ऐसे ही बाप-बेटेकी ले लो। बेटा किससे हुआ ? बापसे और वह बाप किससे हुआ ? अपने बापसे ? क्या कोई ऐसा भी बाप हुआ जो बिना बापका हुआ हो ? हुआ तो नही। तो बाप-बेटेकी परम्परा अनादिसे है, मगर क्या कोई बाप भी अनादिसे है ? क्या कोई बेटा भी अनादिसे है ? अरे वे तो किसी दिनसे हैं। तो विशेषकी अपेक्षा आदि है, मगर उसकी सतान आत्मा तो अनादि है। ऐसे ही ये कर्म हैं। आज भाव बुरे किये, कर्मबन्ध हुआ, उसकी आदि हुई। जितने भी कर्म बाँधे थे उसकी आदि है, मगर कर्मकी परम्परा अनादिसे है। अगर अनादिसे कर्म न हो तो फिर कर्म हो ही नही सकते, फिर यह जीव ससारी हो ही नही सकता। यह जीव ससारी है, अनादिसे कर्मबन्धन चल रहा है तो इसकी परम्परा अनादिसे लगी हुई है।

यह ५ शरीरोका प्रकरण चल रहा है और उनमे तैजस और कार्माण शरीरकी बात चल रही है। जैसे पहले यह बताया गया था कि औदारिक शरीर तो मनुष्य और तिर्यञ्चके होता। हम आपके शरीरका नाम क्या है ? औदारिक, मोटा और देव और नारकियोंके शरीरका नाम क्या है ? वैक्रियक। वे झट अपने शरीरकी विक्रिया बना लें, हथियार बना लें। उसका थोडा नमूना तो हम आपके भी पास है। यह जो हाथ है सो गदा (मुक्का) बन जाय, मुक्का मारें तो जोरसे लगे, यही हाथ कवच बन जाय, तलवार बन जाय, चम्मच बन जाय, काँटा बन जाय, बरछी बन जाय ? देखो हम आपके हाथ तो वैक्रियक नही हैं, मगर हाथको ऐसा वैसा करनेसे कई चीजें बन जाती हैं। फिर वहाँ देव और नारकियोके तो विक्रिया है। किसी नारकीके मनमे आ जाय कि मुझे तो तलवार मारना है तो उसका हाथ ही तलवार बन जाता है। उसके मनमे आये कि हमे तो कोल्हूमे पेलना है तो उसका ही शरीर कोल्हूरूप बन जाता है। ऐसी खोटी उन नारकी जीवोकी विक्रिया है। नारकी जीवोकी विक्रिया खोटी है और देवोकी विक्रिया नारकियो जैसी खोटी नही है। देव लोग अगर सोचें तो पहाड बन जाय, मडप बन जाय, शिला बन जाय। तो ऐसे ही यह बतलावो कि आहारक किसके होता ? तो छठे गुणस्थानवर्ती आहारक ऋद्धिधारी मुनिके आहारक शरीर होता है।

अब बताओ तैजस और कार्माण शरीर किसके होता ? तो तैजस और कार्माण शरीर सब जीवोके होता है। अरहत भगवानके हैं क्या तैजस, कार्माण ? उनके भी हैं। और निगोदिया जीवोके है क्या ? उनके भी है। जब तक मुक्त नही हैं तब तक इस जीवके अनादि परम्परासे तैजस और कार्माण शरीर लगे आये है। देखो इतनी बडी तो इस जीवपर विपत्ति लगी है, मगर यह मोही जीव इस विपत्तिको विपत्ति नही समझता और जिसमे विपत्तिका

कोई लेश भी नही है उसे विपत्ति समझता। मान लो कुछ धन यहाँसे वहाँ चला गया तो बताओ कुछ विपत्ति आ गई क्या जीवपर ? मान लो आपके पास खुदका मकान नही है, किरायेका मकान है तो इसमे भी कुछ विपत्ति है क्या ? मान लो स्त्री-पुत्रादिक किसीका मरण हो गया तो इसमे भी इस जीवको कुछ विपत्ति है क्या ? पर इनको यह जीव विपत्ति समझता। अरे कहाँ आयी विपत्ति ? अरे वे भी एक जीव थे, अपने कर्मसे थे, जब तक उनकी आयु थी तब तक रहे, आयुका क्षय हुआ तो चले गए। इसमे विपत्तिकी क्या बात है सो तो बताओ ? तो जिसमे विपत्तिका लवलेश नही उसमे यह मोही जीव विपत्ति मानता और जो इस जीवपर खास विपत्ति लगी है, तैजस लगा, कार्माण लगा, विकार लगा, इनको विपत्ति नही मानता। पर ये तैजस और कार्माण ये सब शरीरके बीज हैं और सारी विडम्बनाओके कारण है।

सर्वस्य ॥४२॥

तैजस और कार्माणशरीरके स्वामियोकी सूचना— ये दोनो शरीर समस्त ससारी जीवोके होते है। सूत्रमे जो शब्द दिये है उसकी अपेक्षा तो यह अर्थ "सबके है" अब क्या है सबके, सो प्रकरणसे समझें–तैजस व कार्माण। ऐसा कोई नही बचा जिसके ये तैजस और कार्माण शरीर न हो। अब देखो सब कितने है ? अनन्त। अनन्तानन्त तो निगोद ही है और तो सब ब्याजकी सख्या है, इतने तो जीव है और सूत्र क्या बना ? 'सर्वस्य' यहाँ षष्ठी विभक्तिका एकवचन लगाया तो कहते है 'सर्वस्य' तो जब जीव अनन्त है तो 'सर्वेषा' ऐसा कहते बहुवचन। सबोके ऐसा न कहकर ऐसा कहा—सबके। तो एकवचनमे क्यो निर्देश किया ? उत्तर यह है कि सब जीव ससारीपनके नाते से एक बिरादरीके है, एक जातिमे है, एक ढगमे है। तो एक ढगकी चीज बहुत भी हो तो भी एकवचनमे कहा जाता है। देखो बाजारमे जब जाते हो तो गेहूका भाव पूछते हो तो यह ही तो कहते हो कि यह गेहू किस भाव दिया ? अरे उनको बहुवचन करके बोलो—इन गेहुवोको किस भावमे दिया ? ऐसा भी कोई बोलता है क्या ? एकवचनमे प्रयोग होता, क्योकि जाति, अपेक्षा वे सब एक समान हैं। देखिये—एक आदत और होती है—हिन्दीमे है यह आदत कि किसीको आदरसे बुलाना हो तो बहुवचनमे बुलाते है—जैसे पापा आ गए। ऐसा कोई नही कहता कि पापा आ गया। बहुवचनमे प्रयोग करेंगे, एकवचनमे न करेंगे। ये आ गए, ऐसा सभी बोलते हैं। यह आ गया, ऐसा कोई नही बोलता। तो सभ्यताके शब्द बहुवचनमे बोलनेका रिवाज है, एकवचन मे नही। हाँ कही कही है ऐसा रिवाज कि आदरकी भी घटना हो तो भी सख्यानुसार एकवचनमे बोले जाते है। जैसे मारवाड़मे—वह आ गया, महाराज आ गया, पडित जी आ

गया। लोग बोलते है आदरसूचक शब्द, मगर इन ससारी जीवोका आदर भी क्या ? ये सब तो विपत्तियोसे भरे है, अपवित्र है तो इस दृष्टिसे भी समझो। बहुवचन कहनेकी भी कुछ जरूरत नही। तो ये दोनो प्रकारके शरीर तैजस और कार्माण—ये समस्त संसारी जीवोके होते हैं, और कैसे है जीवके प्रदेशमे एकक्षेत्रावगाह, कोई प्रदेश ऐसा नही बचा कि जहाँ तैजस कार्माण न पाये जाते हो। तो जहाँ जहाँ जीव प्रदेश है वहाँ वहाँ तैजस कार्माण है और यह तो तैजस कार्माणकी बात है, मगर यह औदारिक शरीर भी जहाँ जहाँ जीव प्रदेश है तहाँ तहाँ यह शरीर है, ऐसा घना सम्बन्ध है पर, वे भी रहे न साथ जो इतने घुले मिले। जीवने शरीर पाये बहुत और इतना घुल मिलकर रहे ये शरीर, मगर इतने घुले मिले शरीर भी जीवके साथ न रह सके, तो जड वैभवोकी तो बात क्या करना ? ये तो प्रकट डले हैं। ऐसा मर्म जानकर देहसे, कर्मसे, विकारसे सबसे विरक्त हो और एक चैतन्य प्रकाश सामान्य चैतन्य महाप्रभुकी उपासना करें।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥४३॥

एक जीवके एक समयमे शरीरोकी संख्याका परिमाण—ये आदिक चार तक शरीर एक साथ एक जीवके लगा लेना चाहिए अर्थात् कमसे कम दो शरीर होते है। दो से कम शरीर किसी भी समय नही होते ससारी जीवके। मुक्तके तो कोई भी शरीर नही है। तो दो शरीर है—तैजस और कार्माण। ये कब है ? जब यह जीव विग्रहगतिमे मोडा लेकर जा रहा है, उस समय इसके स्थूल शरीर तो है नही, तैजस और कार्माण ही रहता है। जब जन्म हो गया, जब जन्मस्थानपर पहुच गया तब तीन शरीर हो गए। तैजस कार्माण तो था ही। मनुष्य और तिर्यञ्चमे पैदा हुआ कि औदारिक शरीर हो गया। यदि देव या नारकी मे उत्पन्न हो तो वैक्रियक शरीर हो गया। तब तैजस, कार्माण और वैक्रियक—ये तीन शरीर हो गए और जब किसी औदारिक शरीर वाले मनुष्यको आहारक ऋद्धि पैदा हो जाय, आहारक शरीर निकले तब चार शरीर हो गए। जिसके विक्रियाऋद्धि उत्पन्न हो गई, तो वैक्रियक शरीर हो गया तो ४ शरीर हो गए। ५ शरीर कभी नही होते, क्योकि वैक्रियक और आहारक ये दो शरीर एक जीवके किसी भी प्रकार सम्भव नहीं।

तदादीनि भाज्यानि युगपत् शब्दोका भावार्थ—अब जरा सूत्रमे शब्दोसे अर्थ देखिये, सूत्रमे बताया है तदादीनि, तत् आदीनि, वह आदिक। वह है आदिमे जिसके तो वह मायने क्या ? जिसका प्रसग चला आ रहा है, सर्वनाम सब तत् शब्द ही बताता है जिसका कि जिकर चल रहा है। तो प्रसंग किसका चल रहा ? तैजस और कार्मणका। तो तैजस कार्मणमे दोनो ग्रहण आये, एक नही, क्योकि दोनोका एक साथ प्रसग चल रहा है, इसलिए

तदादीनिका अर्थ है तैजस और कार्माण शरीर और आदिका अर्थ है व्यवस्था मायने दो और अधिक बढ़ो तो तीन और अधिक बढो तो चार। कौनसे तीन हुए, कौनसे चार हुए वे आगम के अनुसार लगा लेना चाहिए और युक्तिसे भी लगा लेना चाहिए। यहाँ दूसरा पद है भाज्यानि मायने पृथक् पृथक् कर लेना चाहिए। हिस्सा (भाग) कर लेना चाहिए, ऐसा भाज्यानिका अर्थ होता है। तो यहां एक शङ्का हुई कि जब औदारिक आदिक शरीर ५ है, अलग-अलग है, सो जुदे-जुदे तो पहलेसे ही है, फिर भाज्यानि शब्द देनेकी क्या जरूरत है ? औदारिक शरीर आदि परस्पर एक दूसरेसे जुदे-जुदे लक्षण वाले है और आत्मासे भी जुदे है तब भाज्य ग्रहण करना बेकार है। एक ऐसी शंका हुई कि तब सूत्र इतना ही कहना चाहिए कि तदादीनि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः। समाधान यह है कि यदि भाज्यानि शब्द न दें तो उनके विधिपूर्वक विभाग करनेका अर्थ न लगेगा। बस जुदा-जुदा है। एक जीवमे दो होते है, तीन होते है, चार होते है, एक साथ ऐसा अर्थ ध्वनित नही होता। पृथक् शब्दमे कोई व्यवस्था नही बनती। पृथक् है, पर एकके लिए एक साथ कितने होते हैं—ऐसी व्यवस्था बनानेके लिए भाज्यानि शब्द दिया है। इस सूत्रमे तीसरा शब्द है युगपद्, एक साथ। उसमे कालकी एकता बतायी। भिन्न-भिन्न समयमे तीन हो, चार हो ऐसा यह नहो कहा है किन्तु एक जीवमे एक ही समयमे दो है, तीन है, चार है शरीर, यह बात यहाँ बतायी जा रही है।

एकस्य शब्दका भावार्थ—चौथा शब्द है एकस्य। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि कई पुस्तकोमे तत्त्वार्थसूत्रमे एकस्मिन् शब्द लिखा है इस सूत्रमे बहुतसी जगह। और किन्हीमे एकस्य भी लिखा, तो शुद्ध शब्द एकस्य है। एकस्यका अर्थ है एक जीवके। एकस्मिन् का अर्थ है एक जीवमे। एकस्यका अर्थ है एक जीवके सो यह तो षष्ठी विभक्तिका प्रयोग, किन्तु एकस्मिन् यह है सप्तमी। आप सोचो—जब यह कहा जाय कि एक बारमे दो, तीन, चार शरीर तक होते हैं और यह कहा जाय कि एक जीवके दो तीन और चार शरीर तक होते हैं—इन दोनोमे आपको भला कौनसा लग रहा सुननेमे ? अच्छा भलेकी बात छोडो। सही कौन हो सकता है ? जब यह कहा कि एक जीवमें दो तीन चार शरीर होते, तो क्या जीवके अन्दर होते ? जीवमे अभिन्न है क्या ? हाँ एक सूत्र पहले आया था प्रथम अध्यायमे कि एक जीवमे ज्ञान, एक जीवमे ज्ञान, एकसे लेकर चार तक होते है। वहाँ एक जीवमे सही बात थी, क्योकि ज्ञान जीवसे अभिन्न है, किन्तु शरीर तो जीवसे भिन्न है। शरीर अमूर्त नही, जीव अमूर्त है, शरीर चेतन नही, जीव चेतन है, ऐसे भिन्न द्रव्य हैं तब जीवमे शरीर होता है यह कहना उपयुक्त नही, इसलिए एकस्य शब्द ही सही है और सही सूत्र है—'एकस्याचतुर्भ्यः' बोलना चाहिए।

आचतुर्भ्यः का भावार्थ—अंतिम पद है आचतुर्भ्यः, इसका अर्थ है चार तक। आ शब्द आङ् से निकाला गया है और आङ् के दो अर्थ होते है— (१) मर्यादा और (२) अभिविधि। जब 'मर्यादा' अर्थ लेते है तो अर्थ होता है कि चारसे पहले मायने तीन तक होते हैं। जब 'अभिविधि' अर्थ लेते हैं तो चार भी होता है मायने यहाँ तक होता है, यह अर्थ है। तो यहाँ अभिविधि अर्थ है। इस तरह एक जीवके चार शरीर तक बताये। एक जीवके ५ शरीर नही होते। वैक्रियक और आहारक—इन दोका एक साथ सम्बन्ध नही है। जैसे आहारक शरीर तो होता छठे गुणस्थान वाले मुनिराजके, आहारक ऋद्धिधारीके, सो उनके विक्रिया नही होती और देव नारकीके विक्रिया है। उनके आहारक नही होते। कभी किसीकी विक्रिया हो जाय तो आहारक नही। इस तरह एक जीवके ५ शरीर एक साथ सम्भव नही। यहाँ चर्चा यह की जा रही है कि जीवके साथ जो शरीर लगे है, जिनका वर्णन पहले आया— औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। मनुष्य और तिर्यञ्चके शरीरका नाम है औदारिक शरीर, देव और नारकियोके शरीरका नाम है वैक्रियक शरीर और कोई एक विशिष्ट दिमाग जैसा अदाजमे समझ लो, एक पुतला निकलता है बडे ऋद्धिधारियोंके, वह आहारक शरीर और तैजस कार्माण जीवके ससार अवस्थामे सदा रहते है। यो इनमे से एक जीवके एक साथ चार शरीर तक हो सकते है।

शरीरोकी अरम्यता—ये ५ शरीर ये भिन्न चीज हैं। ये मेरे साथ लग गईं तो मेरे को बरबाद करनेके लिए ही लग गई है। शरीरसे आत्माका हित नही है। शरीरके सम्पर्कसे आत्मामे अनेक विडम्बनायें और अनेक कष्ट आते है, इस कारण इतनी भी बात चित्तमे समा जाय कि यह शरीर प्रीति करने लायक नही और एक यह भी घटना ध्यानमे लायें कि कोई दिन ऐसा होगा कि (अपने शरीरको पकडकर बोलें) कि यह शरीर कभी ठठरीपर लोग ले जायेंगे, मरघटमे ले जाकर इस तरह जला देंगे। यह है वह शरीर, जो मेरे साथ लगा है, जो साथ न निभायेगा, जो अब भी अनेक दुःखोका कारण है और साथ ही अपवित्र है। इस शरीरसे क्या प्रीति करना, क्या आसक्ति करना ? हाँ शरीरको एक नौकर समझकर उससे काम लेना और उसकी रक्षाके लिए आहार आदिक देना। काम क्या लें कि जिसमे अपना ध्यान, ज्ञान, साधना बने इस तरहसे इसको प्रवृत्त करावें। देखो कितनी बडी सुविधा हम आपको मिली है कि जो यह घिनावना शरीर मिला है, मानो यह शरीर घिनावना इसी लिए मिला कि हमे वैराग्य जगानेका मौका मिले। अगर यह शरीर घिनावना न मिलता, हाड मास खूनका पिण्ड न मिलता और जैसा देवोका वैक्रियक शरीर है मानो वैसा मिलता या जैसे आजकल रबडके कोमल गडे बने है जिन्हे डल्लो पिल्लो कहते, मानो वैसा शरीर

मिलता, ये नाक, थूक, कफ, लार, मल मूत्र आदिक घिनावनी चीजोसे भरा हुआ शरीर न मिलता तो न जाने यह मनुष्य क्या कर डालता ? ये सब गंदी चीजें भरी है इस देहमे, महा-अपवित्र देह है तब तो यह बेकाबू है, कास सुन्दर शरीर मिलता तो यह मनुष्य न जाने क्या कर डालता ? तो यह तो एक बहुत सुविधा मिली है हम आपको कि घिनावना शरीर मिला है। यह मानो इसी लिए हम आपको मिला है कि इससे झट विरक्त हो।

कार्माण शरीरकी निरुपभोगता—अन्तमे आया हुआ शरीर याने सूत्रमे जो अन्तमे बताया गया है—कौनसा शरीर ? कार्माण शरीर। यह निरुपभोग है, उपभोगरहित है। उपभोग इस कार्माण शरीरसे नही बनते। एक यहाँ यह आशका हो सकती है कि लगने को तो ऐसा लगता कि सारी करामात तो इस कार्माण शरीरकी है। भोगोमे लगना, संसारमे रुलना आदि ये सब बातें कर्मकी ही तो लीलायें है, फिर इन्हे क्यो उपभोगरहित कहा ? ये तो बड़े तेज उपभोग वाले बताना चाहिए था। तब समाधानमे सोचो, शंकाकार ठीक कह रहा है कि सारी विडम्बनाओकी जड तो कार्माण शरीर है। सुख दु.ख जन्म मरण आदिक सभी विडम्बनाओका मूल यह कार्माण शरीर है इसलिए इसे तो डबल उपभोग वाला कहते, निरुपभोग्य क्यो कहा ? तो शङ्काकारकी बात ठीक है। लेकिन यहाँ उपभोगका अर्थ दूसरा है, याने इन्द्रियके द्वारा भोग उपभोग कर सके, उसका नाम है उपभोग और इन्द्रिय द्वारा जिसका उपभोग नही बनता उसे कहते है निरुपभोग्य। जैसे औदारिक वैक्रियक शरीर है, आहारक शरीर है, इन्द्रिय और मनके द्वारा इनका उपभोग बनता है, किन्तु कार्माण शरीरमे इन्द्रिय द्वारा, मन द्वारा उपभोग नही बनता। यह दु.खकी जड तो है और कर्मका उदय होने पर ही उपभोग वेदना सब बात होती है, लेकिन इन्द्रिय द्वारा ये ग्रहण तकमे भी नही आते तो उपभोग कैसे कहलायेंगे ? तो यहाँ उपभोगका अर्थ लेना इन्द्रियके निमित्तसे, जैसे शब्द, रूप, रस गंध आदिकको उपलब्धियाँ होती है बस उसका नाम है उपभोग। इस तरह कार्माण शरीरमे या कर्ममे इन्द्रिय द्वारा उपलब्धि नही होती। तो कार्माण शरीरको कहा गया है निरुपभोग है।

निरुपभोग होनेपर भी तैजस शरीरको निरुपभोग न कहनेका कारण तथा प्रसंगका उपसंहार—तब एक शङ्का और भी यहाँ होती है कि क्या तैजस शरीरका भी इन्द्रिय द्वारा भोग होता है ? तैजस शरीरका भी इन्द्रिय द्वारा उपभोग नही, ग्रहण नही, तब दोनोको कहते निरुपभोग्य कि तैजस और कार्माण ये दोनो शरीर निरुपभोग्य हैं। इनमे से तैजसको क्यो छोड़ा, केवल कार्माण क्यो बताया ? तो उसका उत्तर यह है कि देखो—तैजस शरीर मे योग नही होता, कार्माण शरीरमे परिस्पद होता ना, और कार्माण शरीरमे परिस्पंदके

निमित्तसे अनेक बाते भी होती और औदारिक शरीरसे भी योग होता, वैक्रियकसे भी हो जाता है, मगर तैजस शरीरमे कोई हलन-चलन नही। अगर मुख हिला तो इसके साथ जो तैजस शरीर चमक रहा वह भी हिला मगर तैजस शरीर कोई स्वयके हिसावसे नही हिला। योग तैजसमे नही है इस कारण तैजस शरीरका तो यहाँ प्रसग नही। जिन-जिन शरीरोके योग होते है उन उन शरीरोकी वात कही जा रही है। उनमे से उपभोग वाले शरीर कितने हैं और उपभोगरहित शरीर कितने है? तो उपभोग वाले शरीर है तीन—औदारिक, वैक्रियक और आहारक और निरुपभोग्य है—तैजस और कार्माण मगर योग वाले शरीरमे तैजस नही इसलिए सयोग शरीरमे निरुपभोग है तो ऐसा है कार्माण शरीर, इस प्रकार इस प्रकरणमे योगनिमित्तक वृत्तोका वर्णन किया। दूसरे अध्यायमे जीवतत्त्वकी वात कही गई तो सबसे पहले स्वतत्त्व और उपयोग इन दो की वात कही, जिसका कि जीवके साथ सम्बन्ध है, तादात्म्य है, जीवकी परिणति है, उसके बाद फिर योगका वर्णन किया। योगके वर्णनमे चूँकि शरीरका ग्रहण योग द्वारा होता ना, तो शरीरका वर्णन हुआ। अब शरीरका वर्णन होनेके बाद उसीसे ही सम्बधित थोडा वर्णन और ज्ञातव्य है, जिसमे पहले यह बतला रहे हैं कि जो ये शरीर हुए सो ये किस किस जन्मसे कौन-कौन शरीर होते है? शरीर ५ हैं, उनमे से औदारिक शरीर किस जन्म द्वारा प्रकट होता है, बनता है? ऐसे ही सभी बातें पूछी जायेंगी। यहाँ प्रथम औदारिक शरीरकी बात कहते है।

गर्भसमूर्छनजमाद्य ॥४५॥

औदारिक शरीरकी गर्भजता अथवा सम्मूर्छनजताका नियम—आदिका शरीर गर्भ और सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होता है। आदिका शरीर मायने औदारिक। जितने भी औदारिक शरीर हैं या तो वे गर्भसे उत्पन्न होते या समूर्छनसे। तीसरे कौन शेष बचे? उपपाद। उपपाद जन्मसे औदारिक शरीर नही बनता, उपपाद जन्मसे तो वैक्रियक शरीर बनता है। शरीर बननेकी विधि यह ही है कि कोई जीव पहले भवसे आया, मोडा लेकर चला तो विग्रह गतिमे भी वह जीव रहा, पर वास्तविक विधिमे तो पूर्वभवको छोडकर चला वहीसे जन्म हो गया नई गतिका और शरीर सम्बन्धकी दृष्टिसे देखें तो विग्रह गतिसे चलकर जन्मस्थानपर आया तो जन्मस्थानपर आते ही शरीर वर्गणाओको ग्रहण करने लगे तो जन्म वहाँ कहलाया और लौकिक पुरुषोकी दृष्टिमे जब अडेसे बाहर निकला जीव या पेटसे बाहर निकला तो उसे लोग जन्म कहते है, या एकदम शरीर सामने दिखने लगा तो लोग जन्म कहते हैं। गर्भमे जब यह जीव आया तब कोई समझ पाता है क्या कि जीव आया और जन्म हो गया? गर्भकी बात तो जाने दो, सम्मूर्छन जन्ममे भी तत्काल कोई नही समझ पाता कि यहाँ यह जीव आ

गया। अभी किसी दिन रातको खूब बरसात हो जाय तो दूसरे दिन, दिनमे देखो तो इतना अधिक मेढक जमीनमे छा जाते है कि जमीनमे पैर धरना मुश्किल हो जाता है। बताओ वे मेढक कहांसे आ गए ? उन मेढकोंका शरीर बनते हुए किसीने देखा है क्या ? नही देखा ना। तो लोकव्यवहारसे तो जब शरीर प्रकट दिखने लगे तब उसे जन्म कहा जाता है, पर यहां जन्म शब्दसे क्या बात लेना है ? शरीरका प्रकरण है, इस कारण न तो गति आयुका उदय जिस कालमे हो वह जन्म है, यह अर्थ न लेना और न यह अर्थ लेना कि जब पेटसे बाहर निकला, शरीर दिखा तब जन्म है। किन्तु यह जीव जन्मस्थानपर पहुचकर शरीर वर्गणाओंको ग्रहण करे उसका नाम जन्म है। तो यह औदारिक शरीर यह गर्भसे और समूर्छन जन्मसे होता है। अब देखिये वैक्रियक शरीर किस तरह होता है ?

औपपादिक वैक्रियिक ॥४६॥

वैक्रियक शरीरकी उपपाद जन्म प्रभवता—वैक्रियक शरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता है। उपपाद देवोंके होता है उपपाद शैयाके रूपमे और नारकियोंके होता है। जमीनके नीचे हिस्सेमे लटकते हुए घटाकार, झालर वगैराके ढगसे, सो देवोका वैक्रियक शरीर तो इस उपपाद शैयापर बच्चेकी तरह लोटा हुआ होता है और नारकियोका वैक्रियक शरीर झालर घटा आदिक जैसे स्थानोंसे टपकता हुआ होता है। देखिये देवो और नारकियोके जन्ममे पुण्य और पापका अन्तर है। देवोका वैक्रियक शरीर तो इन्द्रिय सुखके लिए है और नारकियोका वैक्रियक शरीर उनके कष्टके लिए होता है। तो दोनो ही प्राणियोके वैक्रियक शरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होते है। ऐसी वैक्रियक शरीरकी बात बतानेसे यह ही जाहिर हाता कि वैक्रियक शरीर देव और नारकियोके ही होता है, दूसरेके नही, किन्तु सुना गया तो ऐसा कि अनेक मुनिराजोके वैक्रियक शरीर भी बने, विक्रिया ऋद्धि हो गई और उन्होने उस शरीरमे जैसा चाहे परिणमन कर दिखाया। विष्णुकुमार मुनिने हाथ फैलाया तो वह मानुसोत्तर पर्वत तक चला गया। उनको विक्रिया ऋद्धि थी। तो ऐसा वैक्रियक शरीर तो फिर ग्रहणमे न हुआ तब इसके समाधानके लिए सूत्र कहते है।

लब्धिप्रत्यय च ॥४७॥

लब्धिप्रत्ययक वैक्रियक शरीरका निर्देश—वैक्रियक शरीर लब्धिके कारणसे भी होता है। याने कर्मका क्षयोपशम, ऋद्धियोका उत्पन्न होना, इन कारणोसे भी वैक्रियक शरीर होता है। यहा शब्द तीन लग गए—लब्धि, प्रत्यय, च। पद दो हैं, लब्धिप्रत्ययं और च। तो यहा प्रत्यय शब्दका क्या अर्थ है ? तो देखो प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ होते है—कही तो ज्ञान अर्थ मे आता। जैसे कहते है कि जैसा अर्थ है वैसा ही शब्द है, वैसा ही प्रत्यय है। शब्दके अनुसार

प्रत्यय होता। तो प्रत्ययका अर्थ कही ज्ञान भी लिया जाता, कही प्रत्ययका अर्थ सच्चाई भी लिया जाता। अच्छा तुम इस बातका प्रत्यय करो, मायने सत्य बताओ। कही प्रत्ययका अर्थ शपथ भी है, कही कारण भी है। जैसे कर्मबन्धके प्रत्यय मिथ्यादर्शन असंयम-आदिक हैं तो प्रत्ययके जब अनेक अर्थ हैं तो उनमे से यहां कौनसा अर्थ लेना चाहिए? प्रत्ययका अर्थ है कारण। समास वाला पद है इससे यह विग्रह हुआ कि लब्धि है कारण जिसका ऐसा भी वैक्रियक होता है। लब्धिविशेष प्राप्त हो जानेसे मुनिजनोके वैक्रियक भी बन जाता याने औदारिक शरीरसे सबद्ध विक्रिया हो। लब्धिके मायने क्या है? तपश्चरण विशेषके कारण ऋद्धिकी प्राप्ति होनेका नाम लब्धि है।

उपपाद और लब्धिमे अन्तर—देखो पहले सूत्रमे क्या बताया था कि उपपादसे वैक्रियक होता और सूत्रमे क्या बतला रहे कि लब्धिसे वैक्रियक हुए तो उपपाद और लब्धिमे अन्तर क्या रहा? उपपाद और लब्धिमे यह अतर है कि उपपादमे तो निश्चय है कि उपपाद जन्मसे जो शरीर होगे वे नियमसे वैक्रियक ही होते हैं। और उपपाद एक निश्चयकी चीज है, पर लब्धि तो कादाचित्क है। किसीके तपोविशेष होनेपर कोई उस ढगका बना हुआ भी जो अनेकके न भी हो और तपस्यामे प्राप्त हो गया, फिर भी जब उस ऋद्धिका उपयोग करे तो वैक्रियक शरीर बने, मगर देव और नारकियोका तो वैक्रियक शरीर जन्म पर्यन्त है और उपयोगमे चल रहा है। इस प्रकरणमे एक बात यहां समझ लेना कि देवोका जो आवागमन चलता है मनुष्यक्षेत्रमे, और और जगह तो देवोका जो असली शरीर है वैक्रियक और उपपाद शैयापर प्रकट हुआ, वह शरीर कही नही जाता। वह तो अपनी जगहमे, अपने ग्राममे, जितनी कि उसकी एक सीमासी है वही तक रहता है। यहां जो शरीर आता है वह उत्तर विक्रियाका शरीर है याने विक्रियाके बाद और विक्रिया करे, उससे यह शरीर आया। तो यह भी एक कादाचित्कसा हुआ। जब उनके मनमे आये तो करते उत्तरविक्रिया, पर मूल शरीरकी जो विक्रिया है वह तो वैक्रियक ही है। वहां वे परमाणु विक्रिया वाले ही हैं, किन्तु लब्धिपर्याप्तक वैक्रियक शरीरमे नियम नही है कि जब उपयोग करें तब हो। सभी समयमे नही, सभी जीवोमे नही, इस कारण लब्धि और उपपाद—इन दोनो कारणोमे बहुत अन्तर है।

विक्रियाका अर्थ व विक्रियाके प्रकार—एक आशका यहां हो सकती है कि सारे ही शरीर हैं विनाशीक, सो यह विकार तो सभी शरीरोमे है, सो सभी शरीर वैक्रियक हैं, फिर वैक्रियक विशेष क्या रहा? समाधान यह है कि यहां विक्रियाका अर्थ विनाश नही है, किन्तु वि मायने विविध और क्रिया मायने आकार आदि करना, सो विक्रिया है। ऐसी विक्रिया देव

और नारकियोके तो भवप्रत्ययक है, किन्तु तपस्वी जनोंके गुणप्रत्ययक है । विक्रिया दो प्रकार की होती है—(१) एकत्वविक्रिया और (२) पृथक्त्वविक्रिया । अपने शरीरसे अलग नही, किन्तु अपने शरीरको ही सिंह, व्याघ्र, हंस आदिके रूपसे कर लेना सो एकत्वविक्रिया है तथा अपने शरीरसे पृथक् जीवोके शरीर रूपसे अथवा महल पर्वत मंडप आदि रूपसे आकार कर लेना पृथक्त्वविक्रिया है । यहाँ यह जान लेना कि पृथक्त्वविक्रिया की जानेपर भी आत्मप्रदेश अपने मूल शरीरसे उत्तर शरीरो तक निरन्तर रहते हैं । नारकियोके तो पृथक्त्वविक्रिया होती नही, एकत्वविक्रिया है । क्रूर हिंसक जानवरके रूपमे तथा नानाविध आयुधोके रूपमे विक्रिया बना लेते है । भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व कल्पवासी देवोके दोनो प्रकारकी विक्रिया है । स्वर्गोंसे ऊपरके देवोके प्रशस्त एकत्वविक्रिया है, ये अहमिन्द्र बाहर विहार नही करते । तिर्यंञ्चोमे जिनके प्रकृत्या सम्भव है उनके एकत्वविक्रिया है । मनुष्योंमे तपस्वी ऋद्धि प्राप्त मुनियोके दोनो प्रकारकी विक्रिया होती है । अब यह बतलाते हैं कि लब्धिके कारण क्या वैक्रियक शरीर ही सम्भव है या अन्य और कोई भी शरीर सम्भव है ।

तैजसमपि ॥४८॥

लब्धिप्रत्ययक तैजस शरीरका विवरण—तैजस शरीर भी लब्धिके कारणसे होता है । यहाँ यह समझना कि एक तो तैजस शरीर है प्राकृतिक जो सर्व ससारी जीवोमे पाया जाता है, जिसके कारण शरीरमे तेज रहता है । कैसा ही शरीर हो, वृक्ष हो, पृथ्वी हो, निगोद हो, कीट हो उन-उन शरीरोके अनुरूप उनमे तेज पाया जाता है । एक तो तैजस शरीर है सर्व साधारण जीवोमे होने वाला, दूसरा तैजस शरीर है गुणप्रत्यय ,अपने तपोविशेषसे जो ऋद्धि प्राप्त होती है उस ऋद्धिसे उत्पन्न होने वाला ऐसा तैजस शरीर निस्सरणात्मक कहलाता है याने निकलने वाला । जब उपयोग करे तब निकले, हर समय नही निकलता । लब्धि प्राप्त है, योग्यता मिली हुई है, निकलेगा तब जब उसरूप उपयोग होता है । तैजस शरीर दो प्रकारके होते है—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त याने शुभ और अशुभ । जिसको तैजसऋद्धि प्राप्त होती है उसके दोनो तरहकी योग्यतायें होती हैं । शुभ तैजस भी निकल सकता, अशुभ तैजस भी । जब चित्त प्रसन्न रहता है, प्राणियोपर दया उमडती है तब वातावरणको या उस क्षेत्र-प्रदेशको बडा दु खी निरखते है उस समय इतनी करुणा उमडती है कि यह भावना बनती कि सबका भला हो, इनका दुःख दूर हो, और उस भावनाकी अधिकतामे तैजस ऋद्धिधारी मुनिके दाहिने कधेसे शुभ तैजस निकलता है प्रशस्त आकारका और वह बहुत दूर तक फैलता है । जहाँ-जहाँ तैजस शरीरका प्रसार हो वहाँ तक न रोग रहता, न कोई प्रकारका उपद्रव रहता । जैसा वातावरण सुखके लिए चाहिए वह सब बन जाता है, और किसी समय

ये ऋद्धिधारी तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो जायें, किसी बातपर तीव्र क्रोध उमड़ आये तो उस समय जिसका निमित्त पाकर क्रोध उमडा है उसको दड देनेके लिए समझो बायें कधेसे अशुभ तैजस निकलता है। सो यह भी फैलता है, और जहाँ तक फैलता-वहाँ तककी-चीजें जल जाती हैं। अग्निकी तरह इनका भयकर रूप होता है और वे चीजें जलती हैं तो वह मुनि कहाँ रह जायेंगे ? वह भी जल जायेंगे। सब भस्म हो जाते है, और इस समय सक्लेश परिणाम ही तो हुआ था मुनिराजके। सम्यक्त्व बिगड गया था, बुरे भाव हो गए थे सो मरकर नरक जाता है। तो योग्यता तो एक योग्यता है, शक्ति है, उस शक्तिका सदुपयोग हो तो भला हो, और दुरुपयोग हो तो बुरा हो। तो ऐसा तैजस शरीर कहलाता है निस्सरणात्मक। जो शरीरसे बाहर निकले और उसका प्रभाव पडे। और सर्व ससारी जीवोमे होता है अनिस्सरणात्मक। वह शरीरसे बाहर नही निकलता, किन्तु शरीरके आश्रय रहकर वही तेज योग्यतानुसार उत्पन्न करता है। तो जो निकलने वाला तैजस शरीर है वह है लब्धिप्रत्ययक। तो यह बात इस सूत्रमे कही गई है। अब समस्त शरीरोका वर्णन हो गया, मगर आहारक शरीर बिल्कुल छूट रहा था अब तक, तो अब उसके विषयमे विवरण करते हैं।

शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारक प्रमत्तसयतस्यैव ॥४६॥

आहारक शरीरका स्वरूप—आहारक शरीर क्या कहलाता है ? जो तपस्वी ऋद्धिधारी मुनिके द्वारा पवित्र कार्यके लिए रचा जाय उसे आहारक शरीर कहते हैं। आहारक शरीर एक हाथके प्रमाणका होता है। बडे सुन्दर अगोपाङ्ग उसमे सर्व इन्द्रियाँ। देखनेमे तो ऐसा लगता कि बस दो शरीर है वहाँ। मुनिराजका औदारिक शरीर है और एक आहारक शरीर भी निकलता, वह भी पूरा व्यवस्थित, बडा सुन्दर, पवित्र। लेकिन वे दो शरीर जुदे-जुदे नही हो गए। हैं तो जुदे ढकके, मगर आहारक शरीर नामकर्मका ऐसा ही उदय है कि वह पुतला बना तो, मगर आत्मा एक है। आहारक शरीरका जीव दूसरा हो गया हो और औदारिक शरीरका दूसरा ही था, ऐसा भेद नही है। एक ही प्रदेश है, उसे कहते हैं आहारक समुद्घात। समुद्घातमें प्रदेशका हो विस्तार मात्र है। तो वह आहारक-शरीर कैसा है ? वह शुभ है, पवित्र है, व्याघातरहित है।

आहारक शरीरकी शुभरूपता—देखो—औदारिक, वैक्रियक, तैजस, कार्माण, इनमे सबसे एक विलक्षण पवित्र आराध्य आदरणीय है आहारक शरीर। क्योंकि वह शुभ है। कोई कहे कि वाह वैक्रियक भी तो शुभ है, बडा पवित्र है, देवोका वैक्रियक शरीर बडा पवित्र है, उसमे हाड मास वगैरह भी नही है, सुहावना भी लगता है। समचतुरस्रसस्थान होता है, बोना शरीर नही होता, फिर आहारकको ही क्यो शुभ कहा है ? तो भाई इनमे आहारक

ही पूर्णतया शुभ है। जैसा शुभ कहा जा रहा वैसा शुभ अन्य नही है। शुभका कारण तीर्थवंदना हो, शङ्का समाधान हो, जो शुभ कार्य है, उत्तम कार्य है, उनके कारणभूत है वह आहारक शरीर। कोई कहे कि वैक्रियक शरीर भी तो शुभका कारण है उससे भी तो अनेक बातें कर ली जाती है, अनेक उपसर्ग दूर कर लिए जाते है। धरणेन्द्र पद्मावतीने पार्श्वनाथका उपसर्ग दूर किया। विक्रियाका ही तो बल था जिससे विष्णुकुमार मुनिने ७०० मुनियोका उपसर्ग दूर किया। तो वैक्रियक शरीर भी तो बडे-बडे कामोका कारण बनता है, फिर आहारकको ही शुभ कहनेका क्या मतलब? समाधान यह है कि आहारक सदा शुभ रहता है। उससे और प्रकारकी आशका नही होती। जब कि वैक्रियक शरीर कभी शुभ कर दिया थोडा तो कभी किसीका बहुत अशुभ हो जाता तो वैक्रियक भी शुभ आहारककी भाति न रहा और अपेक्षाकृत मान लो कि थोडा बहुत शुभ है वैक्रियक, मगर सदा शुभ रहनेकी बात नही है। उस विक्रियासे दूसरेका बुरा भी किया जा सकता, मगर आहारक शरीर तो कभी भी किसीके बुरेके लिए नही है, वह सदा पवित्र कामके लिए है। इसलिए आहारक शरीर शुभ है और इस कारण अन्य शरीरोकी अपेक्षा यह भिन्न है, विलक्षण है।

आहारक शरीरकी विशुद्धरूपता—दूसरी बात आहारक शरीरमे है यह विशुद्ध है, पवित्र है, क्योकि यह विशुद्धिका कारण है। जो एक निरवद्य पुण्य कर्म है, आहारक शरीर है उसका यह कार्य है इसलिए भी शुभ है और स्वय यह पवित्र है। देखो आहारक शरीर क्या है? पौद्गलिक पिण्ड है। वह क्या शुभ, क्या अशुभ, क्या विशुद्ध, क्या अविशुद्ध। मगर उस आहारक शरीरके कारणपर विचार करें। आहारक शरीरके कार्यपर विचार करे। उसके प्रयोजनपर विचार करे। वह शुभ है, वह विशुद्ध है। विशुद्धिका कारण है, कार्यमे कारणका उपचार करते है और कारणमे कार्यका उपचार करते है तब यह बात कही गई कि आहारक शरीर शुभ है और विशुद्ध है। जैसे कह बैठते है ना—अन्न हमारा प्राण है। बताओ अन्न कोई प्राण है? ५ इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये १० प्राण कहे गए। इन १० प्राणोका घात हो तो बस भव छूट जाता है। अगर अन्न न मिले तो मरण हो जायगा क्या? हाँ हो तो जायगा, मगर बहुत दिनोमे। वहा भी वास्तवमे मरण हुआ १० प्राणोके वियोगसे १० प्राणोसे यह शरीर चल रहा है। उस शरीरका साधन है अन्न। तो प्राण रखने का साधन अन्न बनता, न कि अन्न स्वय प्राण है। तो प्राणका साधन होनेसे अन्न भी प्राण कह दिया जाता है और इसी तरह देख लो कपाससे डोरा बनता, ततु बनता और डोरेको ही कोई कपास कह दे तो गलत तो नही है, उपचारसे ऐसा ही है, मगर कोई कहता तो नही। टाट रखा हो, टेरालीन रखा हो, लाइलोन रखा हो, कपासवा सूती कपडा रखा हो तो कहेगे

कि यह तो कपास है और यह तो दूसरी वनस्पति है । जैसे—टेरालीन, लाइलोन, टेरीकाट आदि । देखिये--नाम रखने वालोने ये नाम तो बडे अच्छे रखे । नाम क्या है ? टेरालीन याने ग्राहकने बहुत टेरा कि खरीद लें, मगर ग्राहकने ली न । तो देखिये कितना खराब है टेरालीन और कोई ले आये घरमे टेरालीन, लाइलोन और इनमे कभी आग लग जाये तो ये शरीरमे चिपटते है, जलते हैं, बुझनेका काम नही । तो स्त्री कहती है कि लाई तो लाई पर लो न, ऐसा है वह लाइलोन । तो जैसे अनेक प्रकारके कपडे रखे हो तो उसमे बोलते है ना यह कपास है, यह केला है, यह अमुक है तो कार्यमे कारणका उपचार, कार्यमे कारणका उपचार भी किया जाता है । यो आहारक शरीर यह सदा विशुद्ध है, इस कारणसे अन्य शरीरोसे यह आहारक शरीर विलक्षण है । आहारक शरीर क्या है ? तपस्याकी मूर्ति है । पवित्र परिणाम हो, तपश्चरण हो विशेष बात हो तो यह आहारक शरीर बनता, ऋद्धि मिलती है ।

आहारकशरीरकी अव्याघातिता—आहारक शरीर अव्याघाती है, व्याघातरहित है । इसमे किसी जीवको बाधा नही आती । इस कारण अन्य सब शरीरोंसे विलक्षण शरीर है । कोइ कहे वाह, तैजस शरीरसे भी तो बाधा नही आती । जैसे आहारक शरीर वज्र पहाडसे भी निकल जाय, ऐसे ही तैजस शरीर भी निकल जाता । बताया ही है कि विग्रहगतिमे तैजस कार्माण शरीर सब प्रतिघात रहित है तो फिर तैजससे विलक्षण कहा रहा आहारक ? वह भी अव्याघाती और यह भी अव्याघाती । तो समाधान यह समझें कि शकाकारने अभी उसका सही रूप नही समझ पाया । आहारक शरीर हर प्रकारसे अव्याघाती है याने किसी शरीरसे न छिडे, किसी वज्रसे न छिडे ऐसा तो अव्याघाती है ही, मगर यह आहारक शरीर किसी भी प्राणीके दु:खका कारण भी नही बनता । लेकिन तैजस शरीर वह तो नगरीकी नगरी जला दे तो अव्याघाती आहारक शरीर अन्य सबसे विलक्षण होता कि नही ? विलक्षण है ।

आहारकशरीरका स्वामित्व—आहारक शरीर प्रमत्तविरत सयत मुनिके ही होता है याने छठे गुणस्थानवर्ती मुनिका आहारक शरीर होता । एवकार आहारकमे न लगाना कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर ही होता है । इसमे तो बडी बाधा है, अन्य शरीर भी है, मगर होता तो छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ही, अन्यके नही होता, वह यह तो खूब कहा । छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके वह तैजस शरीर भी होता । तैजस और आहारक तो एक सगे मित्र हो गए ना ? नही-नही, आहारक शरीर विशिष्ट प्रमत्त सयमी मुनिके ही होता है । अच्छा तो वह भी होता है किसी विशिष्ट मुनिके, मगर आहारकमे तपोबल ऋद्धिविशेष अधिक आदरणीय है, महत्त्वकी चीज है । ऐसा यह आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघातरहित है । यह प्रमत्तसयमी मुनिके ही होता है ।

आहारकशरीरकी रचनाके प्रयोजन—इस सूत्रमे 'च' शब्द दिया हुआ है। च आहारकं। 'च' शब्द देनेकी कोई ज़रूरत न थी। सूत्रके कहनेका जितना भाव है वह 'च' शब्दके बिना ही निकल आता है। फिर 'च' शब्द यहाँ व्यर्थ हो गया, लेकिन यह जानें कि सूत्रमे कोई शब्द व्यर्थ नही हुआ करता। जो शब्द व्यर्थ पडा हो वह एक सिगनल है, सकेत है, वह किसी और बातका सकेत करता होगा। किसका सकेत करता है यह 'च' शब्द ? आहारक शरीरके प्रयोजनका सकेत करता है। यह आहारक शरीर निकलता क्यो है ? किस कामके लिए निकलता है ? देखिये—तभी तो लब्धिके सद्भावकी जानकारीके लिए बनती। जान लिया, है कि नही, ऐसा कभी-कभी कोई मनुष्य करते है, पर इसके करनेकी आवश्यकता नही समझी जाती। किसीकी बात आ गई, आखिर शुभोपयोग ही तो है, यह अशुभोपयोग नही है। यह जानना चाहिए कि मेरेको आहारक शरीर है कि नही, किन्तु शुभोपयोग है ऐसी इच्छा आयी जानकारीमे। यो शुभोपयोग है, उस आहारक शरीरका यह ही तो प्रयोजन निकालना चाहेगे तपस्वी। कभी कोई शंका हो तो उसकी शका दूर हो जाय। कभी कोई तीर्थवन्दनाका भाव हो तो तीर्थवदना कर आये। इसमे विशेष संयमकी भी सिद्धि हो जाती है। मान लो यह औदारिक शरीर जाता किसी तीर्थवन्दनाके लिए तो सम्भव है कि उससे दूसरे जीवोकी विराधना होती, मगर आहारक शरीरको भेज दिया तीर्थवन्दनाके लिए तो वह सब काम कर आयगा। वह आहारक शरीर जो गया तीर्थवन्दनाके लिए वह कोई आत्मासे जुदी चीज नही है। आत्माके ही प्रदेश गए है। उसमे कोई फर्क नही आता कि औदारिक शरीरमे जाकर वदना करे तो उसमे कोई ज्यादा अतिशय बन गया हो और आहारक शरीरमे वदन कर आये तो उसमे कुछ अतिशय न बनता हो। जीव तो वही है। आहारक शरीरके माध्यमसे वदना कर ली, संयमकी रक्षा हो गई, किसी जीवकी विराधना भी न हुई, समय भी न लगा, और आहारक शरीरके द्वारा वही काम सब पूर्ण हो जाता है, इस आहारक शरीर का प्रयोजन है कोई तत्त्वमे शका हो, जानकारी करना हो तो यह आहारक शरीर केवली, श्रुतकेवलीके निकट जाता है, कही हो, दूर हो तो भी भरत ऐरावत क्षेत्रसे ज्यादा आहारक शरीररचनाका कोई कारण नही है। वह तो अपने देशमे है, जब भरत ऐरावत क्षेत्रमे केवली भगवान नही रहे, चतुर्थकालमे भी जिस समय न हो कोई तो उस समय यह आहारक शरीर विदेह क्षेत्रमे सीधा जाकर केवलीके वदन करता है, उनका दर्शन करते ही समस्त संशय दूर हो जाते है।

आहारकशरीरकी रचना व गति—देखो जीवोकी लीलाकी विचित्रताकी बातें होती रहती है। इन सबमे जीवका ही तो एक महत्त्व है। कैसी ही सही, किसी भी स्थितिमे सही,

आहारक शरीर पहले तो यही मस्तकमे बनता है। बननेमे थोडा समय लगता है। उतने समय यह अपर्याप्त रहता है आहारक शरीर। देखो जिस समय आहारक शरीर रचा जा रहा है और आहारक शरीरको काममे लिया जा रहा है उस समय औदारिक काययोग नही रहता है। कितनी विलक्षण बात है कि शरीर तो औदारिक पडा है, पर उसका योग नही है, परिस्पंद नही है और उस समय मनोयोग, वचनयोग भी नही रहता। अरे आहारक शरीर भी एक विलक्षण शरीर है कि उसके योगके समयमे मनोयोग भी नही बन रहा, वचनयोग भी नही चल रहा। कैसा एक ही अद्भुत अपूर्व काम हो रहा ? बन गया आहारक शरीर। जब तक नही बन पा रहा था, पर्याप्ति पूर्ण नही हो रही थी तब तक तो था आहारक मिश्रकाययोग और जब आहारक शरीर बन गया तो अब गति हो गई। आहारक काययोग हो गया। अब यह शरीर भी इतना विशुद्ध सूक्ष्म निराला है कि यह चक्कर नही लगाता है। यह सीधा ही गमन करता है। और क्यो जी, भगवान अगर चक्कर वाली गलीपर बैठे हो तो आखिर श्रेणी पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर नीचे पक्तिरूप ही तो है और इस श्रेणीके सीधमे केवली भगवान न मिलें तो फिर क्या होगा ? आहारक शरीर जायगा, सीधा जायगा और जहांसे मोडा लेना पडता है यह मुडकर नही जाता उस आहारकसे और आहारक बनता है। दर्शन कर आयगा, वापिस आ जायगा, आहारकमे मिलेगा। वह एक आहारक मस्तकमे आयगा और यही उसकी एक विधि समाप्त हो जायगी। लब्धि बराबर हो गई, मगर आहारक शरीरकी रचना हर समय नही हुआ करती कि मस्तकमे हर समय बना रहता हो। दूसरी बार आवश्यक होगा तो नया निर्माण होगा, ऐसा यह पवित्र आहारक शरीर सयमकी रक्षाके लिए, लब्धिकी ज्ञापनाके लिए, शकाके निवारणके लिए, तीर्थवन्दनाके लिए इस आहारक शरीरका प्रयोग होता है।

जीवके शरीर व शरीरके अंगोपांगोकी विभक्ति—जीवके ये ५ शरीर हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण। इन शरीरोमे कार्माण शरीर तो कर्म है। उसके अगोपाग के रूपमे स्वतत्र रचना नही है। कर्मपिण्ड हैं। जैसे यह स्थूल शरीर मिला उस प्रमाण जीव बनता है आकारमे, उसी प्रमाण कार्माण शरीर रह जाता है। उस कार्माण शरीरके भिन्न कोई अगोपाग नही है, और तैजस शरीरके कोई भिन्न अगोपाग नही है। तैजस तो तेज है। वह शरीरके आश्रयसे अपना प्रभाव बनाता है, उस तैजस शरीरके हाथ-पैर कुछ अलग हो सो बात नही। कर्मसिद्धान्तका जिन्होने ज्ञान किया वे जानते होगे कि नामकर्मके भेदोंमे औदारिक शरीर नामकर्मके ५ भेद बताये है—(१) औदारिक शरीर नामकर्म, (२) वैक्रियक शरीर नामकर्म, (३) आहारक शरीर नामकर्म, (४) तैजस शरीर नामकर्म और (५) कार्माण शरीर

नामकर्म। लेकिन अङ्गोपाङ्गके जो भेद किए गए, वे तीन हैं— (१) औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, (२) वैक्रियक शरीर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, (३) आहारक शरीर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म। कार्माण शरीरके अङ्गोपाङ्ग नही होते। तैजस शरीरके अङ्गोपाङ्ग नही हाते। कोई कहे कि बताओ कार्माण शरीर पुरुष है कि स्त्री? तो वह न पुरुष है, न स्त्री। तैजस शरीर पुरुष है कि स्त्री? उसके अङ्गोपाङ्ग ही नही है। कैसे कहा जाय कि पुरुष है या स्त्री? अच्छा आहारक शरीर। आहारक शरीर भावसे भी पुरुषवेदीके होता और द्रव्यसे भी पुरुषवेदी होता ही है। ऐसा मुनिराजका पुतला निकलता है वह समुद्घातरूप है। उस शरीर मे अलगसे वेदनामकर्म लगा हो, सो बात नही। वह सब उस ही एक आत्माके लिए है, तो जैसे पुरुषवेदी वह आत्मा है सो सब पुरुपवेदी। अग और उपांग की विशेष स्वतन्त्रता दखना कि इसकी रचना औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीरमे है। और वहाँ ही वेद समझा जाता है। अब कुछ यह भी जानकारी करें कि किन जीवोमे कौनसा वेद होता है?

नारकसम्मूर्छिनो नपुसकानि ॥५०॥

मात्र नपुंसकवेद स्वामी—जो नारकी जीव है, सम्पूर्छिम जीव है वे नियमसे नपुसक ही होते है। नरक मायने क्या? तो पहले 'नारक' शब्दका अर्थ समझिये—नरान् कायंति इति नारकाः। जो मनुष्योको शब्दायमान करा दे, काय-कांय करा दे। जैसे नरकोके दुःखोका चिन्तन करते समय यह मनुष्य तो चिल्ला उठेगा—आह। तो जो मनुष्योको एक चीख उठा दे ऐसा है कौन? नारकी। वे यहाँ चीख उठाने तो नही जाते। अर्थ समझना है कि नरकोमे कितना दुःख है कि उन दुःखोका स्मरण भी हो जाय थोडा तो शस्त्रकी तरह इस जीवको चुभन पैदा कर दे। इसीलिए उनका नाम रखा है नारक। यह बात तो समझ लो, पर नरका अर्थ बतलावो, नर किसे कहते? लोग कहेगे कि हम मनुष्य है, नर है, पर 'नर' शब्दका अर्थ क्या निकलता है सो तो देखो—धर्मार्थकाममोक्षपुरुषार्थरूपाणि कार्याणि नृणति इति नरा·—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थरूप कार्यमे जो अपनेको ले जाय, लगाये उसको नर कहते हैं। अब यह अपनी-अपनी समझ लो कि अभी हम नर हैं कि नही? नर उसका नाम है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थोंमे, कार्योंमे जो अपनेको ले जाय, अपनेको लगा दे उसे कहते है नर। ऐसे नरोको जो कपा दें, शब्दायमान कर दें, चीख उठा दें उन्हे कहते हैं नारकी। वे नारकी नियमसे नपुसक ही होते है और समूर्छन कौन कहलाते? समूर्छन जन्म लेने वाले जीव समूर्छी कहलाते। ये सब सिद्ध शब्द हैं। जिनके समूर्छन है उनको कहते है समूर्छिम याने यहाँ वहाँके कुछ पुद्गलस्कध मिल गए,

जिनसे शरीर बनता तो वे सर्मूछिम जीव बन गए। ये समूर्छन जीव नियमसे नपुंसक हो होते हैं। नपुंसक वेदका उदय है, भीतरमे बडे दु खकी ज्वाला है, कामवासना तीव्र है, मगर कर कुछ नही सकते। इसीलिए तीव्रता बनी रहती है। ऐसा नपुसकवेद नारक और सर्मूछिमके नियमसे होता है, इनके और कोई दूसरा वेद नही होता।

न देवाः ॥५१॥

देवोके वेदसंबन्धी नियम—देव नपुसक नही होते। देवगतिमे पुरुषवेद, और स्त्रीवेद ये दो ही वेद है। साथ ही एक बात यह समझनी कि देवगतिमे भाववेद और द्रव्यवेद की विषमता नही है याने शरीर तो हो पुरुषका और भाव हो स्त्री जैसा। ऐसो बात मनुष्योमे तो मिल सकेगी पर देवगतिमे न मिलेगी। शरीर तो है स्त्रीका और भाव हैं पुरुष के। यह बात मनुष्योमे तो तो मिल सकेगी पर देवोमे न मिलेगी। वहाँ देवोका भाव पुरुष जैसा ही रहेगा और देवीका भाव स्त्री जैसा ही रहेगा। देवगतिमे नपुसक क्यो नही होते? नपुसक होना पापका फल है। यहाँ भी तो देख लो—अगर मनुष्योमे कोई नपुंसक पैदा हो गया तो वह घर कैसे रहे? उसे हिजडा लोग ले जाते और अपनी गोष्ठीमे रखते। उनकी कोई कदर भी होती क्या? वे कितना दुखी रहते? तो देवगति एक पुण्य फलका स्थान है वहाँ सासारिक सुखकी प्रचुरता है, वहाँ स्त्रीवेद पुरुषवेद विषयक ही सासारिक सुखका अनुभव है, इस कारण देवोमें नपुसकवेद नही होता। देखिये वैक्रियक शरीर देवोका भी है और नारकियोका भी है, पर देवोमे तो स्त्री व पुरुषवेद है पर नारकियोमे नपुसकवेद।

शेषास्त्रिवेदा ॥५२॥

तीनो वेदोंकी संभवताके धाम—अभी नक यह बता आये है कि नारकी जीव नपुंसक, समूर्छन जन्म वाले नपुसक, देवगतिके जीव पुरुषवेदी हो या स्त्रीवेदी हो, इनको छोड कर शेषके जो जीव बचे हैं उनमे तीनो वेद सम्भव है। वेद शरीरविषयक भी होते और भाव सबधित भी होते है। शरीर प्रकरण चल रहा है ना। इस जीवको शरीर मिला है तो शरीर का जब खूब परिचय हो जाय कि शरीर है क्या? शरीरमे क्या क्या बात है? तो शरीरसे ममता हट सकती है, यह भी एक उपाय है। पुद्गल द्रव्योका परिचय जैनशासनमे क्यो कराया गया कि जिन पदार्थोसे इस जीवको मोह है, राग है उन पदार्थोंकी असलियत जाननेमे आ जाय तो मोह और राग न रहेगा। इस प्रयोजनसे पुद्गलका भी वर्णन हुआ। नही तो कह सकते थे कि धर्मका मतलब तो आत्मासे है। आत्माको मोक्ष होना है तो आत्माकी ही बात बताओ। पुद्गल आदिककी बात क्यो कही जाती है? तो उसके कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि पुद्गलका अगर सही रूपसे परिचय हो जाय तो जीवका लगाव शरीरसे हट जायगा,

देह अपना जुदा अस्तित्व रखता, यह अपनी परिणतिसे परिणमता, यह पुद्गलका पिण्ड है। इसमे मेरा कुछ नही लगता। मेरा स्वरूप निराला है। यह बात समझमे आयगी तो देहसे, पुद्गलसे इसके मोह और राग दूर होगे, इसलिए पुद्गलका भी वर्णन चला। देखो यह जीव के शरीरोका वर्णन चल रहा। जैसे जीवकी बात बहुत ध्यानसे सुनने योग्य है इसी तरह शरीरकी भी बात सुनने योग्य है। अनादिकालसे इस जीवको शरीरमे ही तो प्रीति बनी चली आयी और इस ही प्रीतिके कारण यह जीव अनेक सकट सहता आया। प्रथम तो विकल्प सकट है। तो शरीरको देखकर इसके नाना उथल-पुथल विकल्प चलते है। तो इन सब विडम्बनाओका आश्रय शरीर ही तो रहा। तो शरीरका जब सही परिचय मिले तो उसका मोह छूटेगा और सुख शान्ति होगी, इसलिए शरीरका वर्णन किया गया है।

पांच शरीरोके विषयमे संक्षिप्त जानकारीका पुनः स्मरण—ध्यानसे सुनो—कितना अब तक जाना ? इस जीवके साथ जो शरीर लगा है सो देखनेमे तो लग रहा आपको कि एक यह ही शरीर लगा है जो दिख रहा है, पर इस शरीरके साथ दो शरीर और लगे हैं—तैजस और कार्माण। तो आप जो यहाँ बैठे है आपके साथ तीन शरीर लगे हुए है। एक तो यह दिखने वाला औदारिक शरीर और एक इस औदारिक शरीरमे तेज जिस शरीरसे मिले एक वह तैजस शरीर और एक कार्माण शरीर जो शरीरोका बीज है। जिस कर्मकी वजहसे ये शरीर मिलते है, जन्म-मरण होता है। तो यह निर्णय बना लो कि मै जीव अकेला हू और इसके साथ ये तीन शरीर और लग बैठे हैं—इनसे इस जीवकी परेशानी चल रही है। अच्छा आपके साथ तीन शरीर है, और बाकी जीवोके कैसे हुआ करते है सो देखिये—देव और नारकियोके भी तीन शरीर है, मगर वैक्रियक, तैजस, कार्माण है। उनका शरीर विक्रिया कर लेता ना, छोटा बने, बडा बने, जन्मजात यह बात है तो उसे औदारिक नही कहते। देव और नारकीके शरीरको वैक्रियक कहते है और उसके साथ तैजस और कार्माण लगा है। कोई बहुत ऊँचे तपस्वी ऋद्धिमान मुनि हो तो मुनिके मस्तकसे एक हाथके प्रमाण वाला स्वच्छ धवल शुभ एक पुतला निकलता है बिल्कुल मनुष्याकार, उसके निकलनेका प्रयोजन है कि वह केवली भगवानके दर्शन कर आये और साक्षात् दर्शन भी हो गया और यहाँ सयममे दृढता हो गई, शकाका निवारण हो गया तो वह कहलाता है आहारकशरीर। इस प्रकार शरीर कुल ५ होते है—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण। यह जैनशासन मानने वालोकी प्रारम्भिक पढाई है। इस तत्त्वार्थसूत्रको अर्थ-सहित अवश्य ही पढना चाहिए, तो उससे यह सब पता पड़ेगा कि जीवकी कैसी हालत है, कैसे कल्याण होता है ? तो इस प्रकरणमे शरीर ५ बताये है।

लक्षण और स्वरूपकी दृष्टिसे शरीरोमे परस्पर अन्तरका दिग्दर्शन—इन ५ शरीरो को और अधिक समझना है तो एक-एक प्रसग ले लीजिए, और यह जाननेकी कोशिश करो कि ये ५ शरीर परस्पर एक दूसरेसे न्यारा-न्यारा स्वरूप रखते है, इस ढगसे शरीरोका बहुत कुछ वर्णन मिलेगा। जैसे पहले तो नामका ही भेद है। जैसे यहाँ तख्त, दरी, चौकी, घडी आदि जुदे-जुदे नाम हैं, ऐसे ही इन शरीरोके भी जुदे-जुदे नाम हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। तो पहला भेद तो इनमे नामका ही है, इससे आगे बढें तो इनमे स्वरूपका भेद है इन ५ शरीरोमे। इनका स्वरूप न्यारा-न्यारा है। जैसे औदारिक शरीरका लक्षण है स्थूलता। जैसे हम आपके शरीर स्थूल है ना। यहाँके मोटेको नही कहते, ऐसे मोटेको जैसे किसी-किसी पुरुषका शरीर ही तकलीफ देने लगता है। स्थूल मायने दिखता है, छुआ जा सकता है, छिड सकता है, ऐसे स्थूल शरीरको औदारिक कहते है और वैक्रियक शरीर कहते है जिसमे नाना प्रकारकी ऋद्धि है, गुण है, विक्रिया है, शरीरको छोटा कर लें, बडा कर लें, एक शरीरके अनेक शरीर बना लें।

देखो इस जीवकी अशुद्ध अवस्थाका तो इतना बडा ऐश्वर्य चल रहा है कि जिसके रहनेके प्रतापसे शरीरके कितने ही रूप बना लिए जा सकते हैं। कहो उस विक्रिया वाले यही बैठे हो और आपको शरीर न दिखे। वे अपने शरीरको विक्रियासे छोटा कर लें, बडा कर लें, पतला कर लें, मोटा कर लें। तो ऐसी नाना प्रकारकी विक्रिया जिन शरीरोमे होती वे वैक्रियक शरीर है। आहारक शरीर क्या है? कोई सूक्ष्म तत्त्वका निर्णय करते हुए जिसके आहारक ऋद्धि प्रकट हुई हो, ऐसे मुनिराजकी शकाका निवारण करने वाला एक आहारक शरीर होता है। उसके माध्यमसे निर्णय होता है। और तैजस शरीर क्या है? जिसकी धवल स्वच्छ प्रभा है, चमक है वह है तैजस शरीर। यह तैजस शरीर हम आपके पूरे शरीर मे बराबर फैला हुआ है, उसीसे यह तेज है। पर एक तैजस ऐसा भी होता है कि जो तपस्या के बलसे प्रकट कर लिया जाता। अगर किसीपर क्रोध आ जाय साधुको तो बायें कधेसे वह तैजस निकलेगा, उसे भस्म कर डालेगा, खुद भी भस्म हो जायगा। अगर दया आ जावे साधु को तो थोडे क्षेत्रमे क्या, कोशो योजनके क्षेत्रमे सुभिक्ष हो जायगा, हरा-भरा हो जायगा, सुख साता हो जायगी। तो ऐसा तैजसकी ऋद्धिके प्रतापसे होता है। और कार्माण शरीर क्या है कि जो कर्मोंका समूह है सो कार्माण। यह ही समस्त शरीरोको उत्पन्न करनेका बीज है। जीवके साथ कर्म लगे तो एक शरीर मिला, दूसरा मिला, मिलते गए, जन्म हुआ, मरण हुआ, जीवन हुआ, जीवन बना, जीवनका बिगाड हुआ। यो यह तकलीफ पाता है। सब विपदाओंका मूल है कार्माण शरीर।

कारणकी अपेक्षासे पांच शरीरोमें अन्तरका दिग्दर्शन—यह ५ शरीरोकी चर्चा चल रही है। आप किस-किस प्रकारसे समझ सकते कि ये शरीर एक दूसरेसे निराले है और इनका स्वरूप बहुत विलक्षण है। देखिये—कारण भी इसके जुदे जुदे है कि औदारिक शरीर बना औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे। लोग शङ्का रखते है कि यह सारा जगत कैसे बन गया? ऐसी सृष्टि किसने की? जब यह निमित्तनैमित्तिक योगकी बात समझमे नही आ पाती तो कह बैठते कि इसका बनाने वाला कोई साधारण पुरुष नही हो सकता। इसका रचने वाला तो कोई ईश्वर ही हो सकता। पर उनको यह पता नही कि यह जीव स्वय ईश्वर स्वरूप है। यह इस समय बंधनमे बद्ध है, कषायें इसके होती है, कर्म बँधते है और उनका ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि यह शरीर-रचना चलती रहती है। जैसे कई बातें निमित्त-नैमित्तिक योगमे यहाँ की हुई देखी जाती है। रसायन कुछसे कुछ मिला दिया आपसमे तो उनका क्या असर हो जाय? कोई दवा चूर्णमे मिल जाय तो उसका क्या असर हो जाय? और यहाँ रोज-रोज देखते हैं, रसोई बन रही है तो वहाँ भी निमित्तनैमित्तिक योग ही तो हो रहे है। अग्निका सन्निधान पाकर रोटी सिक गई। अब कोई ऐसी ही अपनी हठ बनाये कि रोटीको जब पकना था तब सिक गई, उस समय अग्नि अपने आप हाजिर हुई, तो उसका यह हठ कोई अर्थ नही रखता। ऐसा वाक्य तो अब तक जैनधर्मके जितने भी ग्रन्थ है उनमें एकमे भी न मिलेगा। हाँ सावधानी तो की है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही, पर निमित्तनैमित्तिक योग भी खूब बताया गया है। वह योग है इसलिए बताया गया, अन्यथा हाजिर होनेकी भी जरूरत क्या? पदार्थोंमे अपनी-अपनी पर्याय पडी है। समय है हो गई, निमित्तकी जरूरत क्यो लेते कि निमित्त हाजिर हो गया। क्या आवश्यकता? अरे आवश्य-कता यह है कि वह कार्य होता इसी विधिसे है कि जैसे कर्मोदयका निमित्त हुआ और जीवने अपने उपयोगमे उसका प्रतिबिम्ब लिया और जीवने अपनी ही परिणतिसे उसमे अपना जुडाव बनाया, दुःखी हो गया, है सब द्रव्योकी अपनी अपनी परिणति, मगर विषम विभाव विकारके जितने परिणमन है वे निमित्तनैमित्तिक योग बिना नही हुआ करते। तो क्या हुआ? इस जीवने जो कर्म बाँधे उनके उदयानुसार शरीर रचना यह स्वय होने लगती है। औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे औदारिक शरीर बनता है, वैक्रियक शरीरका कारण है वैक्रियक शरीर नामकर्मका उदय। आहारक शरीरका कारण है आहारकशरीर नामकर्मका उदय। तैजस शरीरकी रचनाका कारण है तैजस शरीर नामकर्मका उदय। कार्माण शरीरकी रचनाका कारण है कार्माणशरीर नामकर्मका उदय। देखो एक तो कर्म है इस जीवके साथ और वे ही सब कर्म एक ढांचेके साथ कार्माणशरीरके रूपमे फैले तो देखो कर्म और कार्माण

शरीरमे फर्क है ना कुछ। फर्क भी है, नही भी है। जैसे भीत खडी है, अब इस भीतमे ईंटें लगी है। बताओ भीतमे और ईंटमे क्या फर्क है कुछ ? है भी फर्क और नही भी है। ईंट तो कहलाती है जुदी जुदी फुटकर जैसी कि बिखरी हुई पड़ी हो सो ईंटें हैं और भीत वह है जिसमे ईंट बिखरी हुई नही है, उनकी एक पक्ति बना दी गई है, वे ईंटें चिन दी गई हैं तो भीत हो गई। तो ईंटोका जो भीतके रूपमे आकार प्रकार है उसका नाम भीत है। तो जैसे आप ईंट और भीतका मतलब समझते, ऐसे ही आप समझ लो कर्म और कार्माण शरीरका बन्धन। इन ५ शरीरोके कारण जुदे-जुदे हैं। ऐसे ये ५ शरीर भिन्न-भिन्न अपना स्वरूप रखते है।

स्वामित्व और सामर्थ्यकी अपेक्षा शरीरोमे अन्तरका दिग्दर्शन—अच्छा और भी कुछ फर्क है क्या इसमे ? हाँ स्वामित्वका भी फर्क है। तिर्यच और मनुष्यके तो औदारिक शरीर होते है और वैक्रियक शरीर होते है देव और नारकियोके। यहाँ जो लब्धिप्रत्ययक वैक्रियक है उसकी विवक्षा नही, क्योकि वह नियमित नही होती और उस भवमे सबमे नही होता। और आहारक शरीर होता है छठे गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी मुनीश्वरोके। तैजस और कार्माण होता ससारके सब जीवोके।

देखा जिस शरीरमे मोह है यह शरीर ऐसा पडा है निराला, इसका कारण न्यारा, इसकी करतूत न्यारी, इसका स्वरूप न्यारा, सभी बातें जुदी-जुदी है। अच्छा और भी इन शरीरोंमे अन्तर है। हाँ, सामर्थ्यका अन्तर है। यह है औदारिक शरीर, इसकी सामर्थ्य जानते ना, क्या शक्ति है इसमे, जानते तो हैं। वह सामर्थ्य दो प्रकारकी है—एक तो भव प्रत्ययक और एक गुणप्रत्ययक। हम आपको औदारिक शरीर मिला तो जिसका जितनी शक्ति है उसके अनुसार वह अपनी चेष्टा कर लेता है। एक बच्चा औदारिक शरीरमे थोडा काम कर पाता, जवान अधिक करता। झोटा, घोडा, हाथी आदिकमे उनकी उनके अनुकूल सामर्थ्य है। यह तो है भवप्रत्ययक सामर्थ्य, पर जिसके गुण होते हैं उसके गुणकी भी सामर्थ्य बढती जाती है।

जैसे तपस्याके बलसे ऋद्धिधारी ऋषियोके शरीरमे विक्रिया करनेकी भी सामर्थ्य आ गई। विष्णुकुमार मुनिने हाथ फैलाया तो विक्रियाके बलसे समुद्र पर्यन्त चला गया। वह किसकी सामर्थ्य है ? है तो औदारिक शरीरकी सामर्थ्य, मगर गुणके कारण सामर्थ्य है, ऋद्धि के बलसे सामर्थ्य है। वैक्रियक शरीरकी सामर्थ्य बहुत बड़ी है। देवोकी वैक्रियक शरीरमे इतनी सामर्थ्य बतायी कि वे विक्रियाके बलसे मेरू पर्वतको भी हिला सकते, जम्बूद्वीपको भी पलट सकते। देखिये किया कभी नही ऐसा और न करेंगे ऐसा, पर उनकी एक सामर्थ्यकी

बात बता रहे कि उनमे इतनी सामर्थ्य है। सामर्थ्य बतानेमे सकोच क्या करना ? वैक्रियक शरीरमे इतनी सामर्थ्य होती है। अब आहारक शरीरकी सामर्थ्यकी बात सुनो। आहारक शरीर—जहांसे निकल जाय आहारक शरीर वहाँ उससे कोई चीज छिड नही सकती। उस मुनिको भी बडा आनन्द उत्पन्न हो रहा, तत्त्वनिर्णय हो रहा, धर्मध्यान हो रहा, भगवान के साक्षात् दर्शन हो रहे। तैजस शरीरकी सामर्थ्य है भवप्रत्ययक तो शरीरके साथ लगा, मगर ऋद्धिधारी मुनिके कषाय तीव्र उत्पन्न हो गया, क्रोध आ जाय तो भस्म कर डाले, प्रसन्न हो जाये तो सुभिक्ष हो जाय। कार्माण शरीरका तो यह सारा ही सामर्थ्य दिख रहा है। जगतमे जो कुछ भी एक जीती-जागती फिल्म सी चल रही है यह सब कर्मका फल है। कर्म बीजका सामर्थ्य है कि जो ऐसा शरीर मिला है और उन शरीरोका ऐसा सब कुछ हो रहा है।

शरीरसम्बन्धित मांगोके लिये मोहीका धर्मकी ओटमें प्रयत्न—देखो हम आप जीव की तारीफ है कि ऐसी ज्ञानदृष्टि बनाये कि जिससे मोह न उत्पन्न हो। मेरा कही कुछ नही है। मेरा मात्र मैं ही ज्ञानस्वरूप आत्मा हू जिसके यह दृष्टिमे आ जाय तो वह है धर्मात्मा पुरुष और अगर मोह रागका फल पानेके लिए ही धर्म किया जाय तो वह धर्म नही। मेरे बच्चे सुखी रहेगे, रोज मन्दिर जावे, महावीरजी जावें। देखो कुछ पहले तो लोगोके मनमे यह रहा करता था कि वे मुखसे यह न बोल सकते थे कि हम महावीरजी अपने अमुक-अमुक कामकी सिद्धिके लिए जावेंगे, पर आजकल तो लोग मुखसे बोलनेमे भी सकोच नही करते। मुझे अच्छे बाल-बच्चे मिले, धन मिले, मुकदमा जीतें, विवाह हो जाय आदि अनेक बातें सोचकर जाते, तो ये सब बाते लोग अपने मुखसे कहनेमे शर्म करते थे, भले ही अपने मनमें रखते थे और धर्मके काम करते थे, मगर आजकल तो लोग मुखसे कहनेमे भी शर्म नही करते। "बीरा कर दे निहाल कोठी बगला बनवा लूं" आदि अनेक भजन भी ऐसे-ऐसे बन गए कि जिनमे धर्मके विरुद्ध भगवानसे मांग की गई। लोग जिनमे धर्मके खिलाफ बोलते है। तो ये कर्मकी बडी विचित्र लीलायें है। इस मोहमे जो पडा सो ससारमे रुला और जो मोहसे अलग रहता वह ससारसे छूटता।

शरीरपरिमाणकी अपेक्षा शरीरोमे अन्तरका दिग्दर्शन—हाँ, इस शरीरकी बात चल रही है। ५ शरीर है। इनका विशेष विवरण मिले कैसे कि नाना दृष्टियोसे इनका विचार करें। अब जरा प्रमाणकी दृष्टिसे विचार करे। औदारिक शरीर छोटेसे छोटा कितना हो सकता और बडेसे बडा कितना हो सकता ? ऐसो ही सब शरीरोकी बात है। तो यह औदारिक शरीर अगुलके असख्यातवें भाग बराबर हो सकता। अगुल क्या ? एक अगुल

प्रमाण एक लकीर खीच लें, चौडा अगुल नही पतला अगुल। उसमे लाखका भी नही, करोड का भी नही, अरब खरबका भी नही, असंख्यातसे भाग दें तो जो लब्धि आये उतना छोटा शरीर औदारिक शरीर होता है। ऐसे होते है शरीर निगोदिया जीवके, इतनेपर भी वह स्थूल शरीर कहा जाता, औदारिक कहा जाता। और बडेमे बडा शरीर हो औदारिक तो लम्बाई की अपेक्षा बताया है कि कुछ अधिक एक हजार योजन ऊँचा एक कमल बताया है जो कि नदीस्वर द्वीपकी बावडीमे उत्पन्न होता है, और वैसे और तरहके सारे वर्ग क्षेत्रकी अपेक्षासे देखें तो वह महामत्स्यका शरीर है जो स्वयभूरमरण समुद्रमे पाया जाता। इतने बडे शरीरोमे यह जीव उत्पन्न होता है। वैक्रियक शरीरका छोटेसे छोटा शरीर कितना होता और बडेसे बडा शरीर कितना होता, सो सुनो--वैक्रियक शरीर छोटेसे छोटा होगा तो एक हाथ प्रमाण, कहाँ मिलेगा ? सर्वार्थसिद्धिके देवोमे। वे बडे ऊँचे देव है, एक भवावतारी हैं। सर्वार्थसिद्धिसे चयकर मनुष्यजन्म पाकर मोक्ष चले जायेगे। उनका बडा दिव्य आनन्द है, वे ३३ सागर तक तत्त्वचर्चामे ही रमते। ज्ञानका आनन्द सबसे बडा आनन्द होता है। भोजनका आनन्द तो एक कृत्रिम है, औदयिक है, और कितनी देरके लिए है ? जितनी देर मुखमे है। बादमे गलेके नीचे आ गया तो घाटी नीचे माटी। थोडी देरका आनन्द है, और तत्त्वज्ञानका आनन्द विशुद्ध पारमार्थिक, उत्तरोत्तर विकासका ही कारण और सारी जिन्दगीभर भोग सके, ऐसा विचित्र आनन्द है।

तो सर्वार्थसिद्धिके देव सबसे ऊँचे देव हैं, उनका है एक हाथका शरीर। अब समझ लो कितना अच्छे लगते होगे एक हाथके ऊँचे देव ? जैसे छोटा बच्चा, एक हाथका बच्चा शायद एक वर्षका होगा, एक वर्षके बच्चे जैसा देव वहाँसे आये, यहाँसे आये, बैठे, तत्त्वचर्चा हो रही, ज्ञानवार्ता हो रही, वैराग्यवार्ता हो रही, आत्माका स्वरूप बखाना जा रहा, कितनी शुद्ध बातें है ? वैक्रियक शरीर है, छोटा शरीर है। वैक्रियकमे बडेसे बडा शरीर है नारकियोका ५०० धनुषका। आहारक शरीरका प्रमाण कितना बडा ? एक हाथका। तैजस शरीरका प्रमाण कितना बडा ? जितना कि औदारिक शरीर। और कार्माणका भी उसी तरह है। और वहा देखा जाय तो देखो समुद्घात अवस्थामे तैजस कार्माण शरीर तो तीनो लोकोमे व्याप्त हो जाता है इतना बडा है। यहाँ बतला रहे कि हम आप लोगोने नाना प्रकार के कर्म करके जो कर्मबन्धन किया उस कर्मके उदयमे कैसे-कैसे शरीर मिलते और यह शरीर क्या है ? पौद्गलिक पिण्ड है, कर्मके उदयसे मिला है, औदयिक शरीर है, हमसे बिल्कुल भिन्न है, हमको बरबाद करने वाला है। यह कलक है। यह शरीर रमनेके योग्य नही। शरीरसे मोह भी करते रहे तो भी क्या शरीर छूटेगा नही ? छूटेगा। यह शरीर रमने लायक

नही है । उन शरीरोकी ये सब व्याख्यायें चल रही है कि कैसे-कैसे शरीर मिलते है ।

अब इन शरीरोमे भिन्नता समझना है तो क्षेत्रकी अपेक्षासे भिन्नता समझ लीजिए— औदारिक, वैक्रियक और आहारक ये कितने क्षेत्रमे मिलेगे, कितनी जगहमे मिलेंगे ? याने यह शरीर कितने प्रमाण क्षेत्रमे फैल रहा है ? यह लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रमे फैल रहा है । लोक बहुत बडा है । उसके असख्यातवें हिस्सेमे यह ससार है, और तैजस कार्माण शरीर ढगसे तो चूंकि इन तीन शरीरोके साथ है ना तो लोकके असख्यातवें भाग समुद्घात हो तो ज्यादासे ज्यादा कहाँ तक ? सारे लोकमे । तो ऐसे इन शरीरोमे इन सब दृष्टियोसे परस्परमे अन्तर पाया जाता है । यह शरीर जिसका नाम ही बुरा है, जो सडे गले सो शरीर, जीर्ण-शीर्ण हो सो शरीर । इसका दूसरा नाम देह भी है । दिह्यते इति देहः, जो ढेर बन जाय सो देह । इसका नाम तन भी है, जो तन जाय, विस्तारको प्राप्त हो जाय, फैल जाय सो तन । इस शरीरके नाम ही इस शरीरकी पोलको बतला रहे है कि यह कोई ठोस शक्तिमान विशिष्ट बात नही है, यह तो सब पोल खाता है । आत्मा स्वय अपने आपमे ज्ञानघन है, ठोस है । वहाँ कुछ अन्तर नही पडता, ऐसे निज ज्ञानघन अतस्तत्त्वको देखो और ज्ञानरहित जीर्ण-शीर्ण होने वाले, कभी इकट्ठा हुआ, कभी बिखर गया, ऐसा शरीरमे ममत्व भाव न करना, यह ही एक शिक्षा लेनी है इस शरीरका विवरण सुनकर ।

जीवकी बन्धनदशाकी मीमांसा—प्रत्येक पदार्थ जब केवल अपने आपके एकत्वमे रहता है तब तो वह सुन्दर, पवित्र, मंगल, और जैसे ही उस पदार्थके साथ किसी दूसरेका सम्बन्ध हुआ, बधन हुआ, उपाधि हुई तब एक वया, वे दोनो ही बिगड जाते हैं, ऐसा एक जगतका प्राकृतिक स्वरूप है । सो अब जीवके बारेमे देखो—जीवके साथ जीवका तो बधन हो नही सकता । जीव जीवसे कभी बँध नही सकता । जो ऐसा मालूम पडता है कि इसपर मेरा अधिकार है, यह मेरे आधीन है, यह मेरे बन्धनमे है, सो वहाँ तो सब पौद्गलिक ठाठो की ही बात है । पौद्गलिक विभाव ही परतन्त्रताका अनुभव करते है । तो कषायें, विभाव, अभिप्राय, विचार ये तो सब पौद्गलिक बाते है । तो पौद्गलिकका पौद्गलिकसे ही बधन रहा, जीवद्रव्यका जीवद्रव्यके साथ बन्धन नही है । आप कहेगे—वाह निगोदिया शरीरमें शरीर तो एक है और निगोदिया जीव अनन्त रहते है तो एक शरीरमे अनत निगोदिया है तो उन जीवोका आपसमे बधन हो गया कि नही होता ? जीवका जीवके साथ बधन नही होता । वह एकाश्रयताकी बात है कि यह जीव भी उस शरीरके बधनमे है ।

दूसरा जीव भी उस शरीरके बन्धनमे है, अनन्त जीव भी उस शरीरसे बधे है, पर जीव जीव आपसमे एक दूसरेसे बँधे नही है, तो जीवद्रव्य जीवोसे नही बधता । जीवका धर्म-

द्रव्यसे बधन नही, अधर्मसे भी नही, आकाशसे भी नही, कालसे भी नही, केवल एक पुद्गल बचा जिसके साथ जीवका निमित्तनैमित्तिक बन्धन है, साक्षात् बन्धन उसका भी नही है। जैसे रस्सीके एक छोरसे रस्सीका दूसरा छोर बांध दिया, ऐसा बधन जीव और पुद्गलमे नही होता, किन्तु निमित्तनैमित्तिक योगरूप बन्धन है। यो तो मोटा उदाहरण देख लो—घोडेको रस्सीसे बांध दिया तो बताओ घोडेके साथ रस्सीके छोरका बन्धन किया गया ना ? अगर इस तरहसे बधन करें तो घोडा तो मर जायगा। पर किया क्या ? घोडेका गला तो मध्यमे रहा और रस्सीके एक छोरसे दूसरे छोरमे गांठ लगा दी। साक्षात् बधन रस्सीका रस्सीसे है, घोडेसे नही, लेकिन निमित्तनैमित्तिक योग देखो कि इस परिस्थितिमे घोडा बँधा हुआ है, ऐसे ही यहां भी पुद्गलका पुद्गलसे बधन है, जीवके साथ साक्षात् बधन नही है, क्योकि जीव अमूर्त है, पुद्गल मूर्त है। अमूर्तका मूर्तके साथ बधन कैसे बने ? मगर चूकि यह जीव चैतन्य है, उपयोग लक्षण वाला है, इसमे विचार उठानेका सामर्थ्य है बस इस कारणसे इसका पुद्गलके साथ निमित्तनैमित्तिक योग वाला बधन हो गया।

शरीरत्व सब शरीरोमे होनेपर भी उनमे परस्पर भेदके प्रदर्शनका प्रसंग—अब देखो जीवके साथ कितने बधन है ? यह बात इस प्रकरणमे चल रही है। ५ शरीरोके बधन है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर। मनुष्य तिर्यंचका जो यह कार्माण शरीर है वह सब औदारिक शरीर है। देव और नारकियोका जो विक्रिया वाला शरीर है, वैक्रियक शरीर है, होता ही है विक्रिया वाला और ऋद्धिधारी मुनिके मस्तकसे जो एक शुभ पुतला निकलता है शकानिवारण आदिकके लिए वह आहारक शरीर है और शरीरमे तेज रहता है वह तैजस शरीर और कर्मोका नाम कार्माण है। कोई कहे कि शरीर शरीर सब है, इसलिए शरीर एक ही मान लो, यह भी शरीर वह भी शरीर, सो कहते हैं कि नही, उनमे परस्परमे भेद है, इसलिए सब मिलकर एक नही हैं उन्ही भेदोकी बात चल रही है।

कालकी अपेक्षा पांच शरीरोमे परस्पर अन्तर—इन शरीरोकी म्याद स्थिति जुदी-जुदी है, इसलिए कालकी अपेक्षा इनमे भिन्नता है। कैसे ? औदारिक शरीर, यह कमसे कम ठहरे तो अन्तर्मुहूर्त। अन्तर्मुहुर्त ही क्या, सेकेण्डोकी बात है। कोई जीव मनुष्य तिर्यञ्चमे उत्पन्न हुआ और तुरन्त ही मर गया, मिनट भी पूरा न कर सका तो उसमे भी थोड़े समय को तो औदारिक मिश्र आया, उसके बादमे औदारिक भी आ गया और फिर रहे नही तो जघन्यकाल औदारिक शरीरका अन्तर्मुहूर्त है और औदारिक शरीर अधिकसे अधिक रहे तो तीन पल्य तक रहता है। इसमे औदारिक मिश्रका काल भी थोडा सेकेण्डभरका है। उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा तीन पल्य तक औदारिक शरीर रहता है। आपने पढ़ा होगा—भोगभूमिया

जो मनुष्य होते हैं, तिर्यञ्च भी होते है तो उन मनुष्योके ज्यादासे ज्यादा आयु तीन पल्य तककी होती है। एक पल्य कितना बडा होता, जिसमे अनगिनते अरबो वर्ष लग जाये इतने का होता है एक पल्य और ऐसे-ऐसे तीन पल्य तककी आयु होती है। अच्छा, और वैक्रियक शरीरकी स्थिति कमसे कम और ज्यादासे ज्यादा कितनी है ? तो कमसे कम १० हजार वर्षकी आयु है। देवोकी भी कमसे कम १० हजार वर्षकी आयु और नारकियोकी भी कमसे कम १० हजार वर्षकी आयु। और वैक्रियक शरीरकी ज्यादासे ज्यादा आयु ३३ सागर होती है, उन सबमे अपर्याप्तका काल कम कर दो, इतने दिनो तक देव और नारकी बने रहते है। बहुत बडी आयु है। प्रथम तो पल्य ही बहुत बडा होता है, जिसमे अनगिनते अरबो, खरबो वर्ष लग जाते है। इसकी कोई गणितमे सख्या नही है। बहुत बडा काल होता है जो कि उपमाके द्वारा समझा जाता है। जहाँ तक गणित चलता है, चलेगा, पर समय तो अनन्त है। हम उसके आगेके समयको कैसे समझें ? तो उसके समझनेका उपाय केवल उपमा है और वह उपमा सत्य है। केवली भगवानकी दिव्यध्वनिसे आया, मनःपर्ययज्ञानी गणधरोने इसको प्रकट किया। कितनी बडी आयु होती है देवोकी ? ३३ सागर। वह जरा उपमासे समझो। दो हजार कोशका एक लम्बा-चौडा गड्ढा हो। कोई बनाने जायगा क्या ? यह बनानेकी, प्रयोग करनेकी बात नही, मगर अधिक लम्बे समयकी उपमा बनानेकी लिए उपमा करनी पडती है, इतने लम्बे चौडे गहरे गड्ढेमे छोटे छोटे कामल रोमके टुकडे भर दो, जिनका दूसरा हिस्सा न हो, और उसपर हाथी फिरा दो ताकि वह गड्ढा खूब ठसाठस भर जाय और फिर प्रत्येक १०० वर्षमे एक एक रोमका टुकडा निकालो। अब उन सारे टुकडोके निकलनेमे जितना समय लगे उतने समयका नाम है व्यवहारपल्य। फिर उससे अनगिनते गुणे होता है उद्धारपल्ल, उससे अनगिनते गुना होता है अद्धापल्य। एक करोड अद्धापल्यमे एक करोड अद्धापल्यका गुणा करके जो आवे उतने समयका नाम है एक कोडाकोडी अद्धापल्य। ऐसे ऐसे दस कोडाकोडी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे ३३ सागर तक बने रहते है देव और नारकी। यह कालकी अपेक्षा बात चल रही है। आहारक शरीर कितने काल तक रहता है ? अन्तर्मुहूर्त तक आहारक शरीर बना, निकला, दर्शन हुआ, वापिस आ गया। इसमे मिनटोका भी समय नही। तो आहारक शरीरका काल है अन्तर्मुहूर्त और तैजस शरीर का काल परम्परासे तो अभव्य जीवका तो अनादि अनन्त है, भव्योमे भी जो भव्य कभी भी मुक्त न हो सकेंगे, ऐसे भव्योका तैजस भी अनादि अनन्त है परम्परया और जो भव्य मोक्ष जायेंगे उनका अनादि सान्त है तैजस शरीर। यह हो बात कार्माण शरीरमे समझना। अगर तैजसके निषेकोकी दृष्टिसे देखें तो जो तैजस शरीरके परमाणु है वहीके वही रह सकें लगातार

तो ६६ सागर तक रहते हैं और कार्मणके ७० कोडाकोडी सागर तक रहते हैं। कर्मके वही परमाणु अधिकसे अधिक रहेगे।

दूरातिदूर भव्यका प्रवर्तन—इस प्रकरणमे अभी आपने यह सुना कि ऐसे भव्य भी होते है जो कभी मोक्ष न जायेंगे। तो फिर उनका नाम भव्य ही क्यो रखा ? यह तो पदार्थों की योग्यताकी बात है। हैं तो वे रत्नत्रय पानेके योग्य, मगर पा सकते नही कभी। यह तो स्वरूपकी बात है। आप कहेगे--ऐसा कैसे ? तो सुनो। आप भविष्यकालकी बात सुनते समझते ना ? भविष्यकाल किसे कहते ? जो आगे आये उसे कहते हैं आगामी काल। जो कभी आगे आयगा उसका नाम है भविष्यकाल। अच्छा जरा दृष्टि तो दो—क्या कोई ऐसा भी आगामी काल है जो कभी आगे आयगा ही नही ? हाँ है। कैसे ? देखिये अगर सारा आगामी काल आ जाय तब तो फिर कालका अन्त हो जायगा। तो ऐसा भी आगामी काल है कि जो कभी भी आयगा ही नही और नाम है आगामी काल। अगर यह बात न मानें और सोच ले कि आगामी काल तो सारा आकर ही रहेगा तो फिर बताओ काल बचेगा क्या ? तब तो फिर न बचेगा। तो जैसे आगामी काल (भविष्यकाल) उसका भी नाम है पर वह कभी आगे आयगा नही, ऐसे ही भव्य जीवोमे समझ लो कि अनन्त भव्य जीव ऐसे है कि जिनका नाम तो है भव्य पर वे कभी मोक्ष न जा सकेंगे। खैर, ये सब शरीरोके काल बताये है। इस कालकी अपेक्षासे उन शरीरोमे अन्तर जाना जाता है देखिये जो जीवके ५ शरीर बताये गए है उन शरीरोके बारेमे विवरण चल रहा है। शरीरोका परिचय कराया जा रहा है। कैसे-कैसे शरीर होते हैं ? इन शरीरोमे परस्पर भेद है, वह भेद किन-किन बातोके द्वारा है सो बात कही जा रही है।

अन्तरकी अपेक्षा शरीरोमे भेद—अच्छा और भी देखिये, अंतरकी अपेक्षा इन शरीरो मे भेद है। जैसे यह बात सोचो कि किसी जीवको औदारिक शरीर मिला है जैसे हम आप सभीका, स्थावरोका द्वीन्द्रिय आदिकका। चार इन्द्रिय तक तो हैं ही औदारिक, पञ्चेन्द्रियमे देव और नारकीको छोडकर शेष जितने है सबके औदारिक हैं। औदारिक शरीर मिला है किसी जीवको और फिर औदारिक शरीर न मिले, नष्ट हो जाय और फिर मिले तो ऐसी बीचमे अन्तरकी अवस्था कितनी हो सकती है ? यह बात सोचो। तो बताया है कि जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त है। औदारिक शरीर मिटा फिर तिर्यञ्च हुआ या मनुष्य हुआ, अन्तर्मुहूर्तको औदारिक मिश्र आ गया, बीचमे फिर, औदारिक हो गया। तो जितना औदारिक मिश्रका काल है उतने तक अन्तर रहा तो औदारिक शरीर मिटा, फिर मिला तो ऐसा बीचका अन्तर कमसे कम तो अन्तर्मुहूर्त और ज्यादहसे ज्यादह ३३ सागर। कैसे ? औदारिक शरीर वाला

मनुष्य मर गया, औदारिक शरीर मिट गया और मरकर वह देव हो गया। अब देवोका समय तो ३३ सागर है और साथमे यह भी नियम है कि देव मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ करता, किन्तु ३३ सागरकी आयु पाने वाला देव मरकर मनुष्य ही बनता है। अब औदारिक शरीर बन गया तो ३३ सागर प्रमाण इस औदारिक शरीरका अन्तर हुआ। औदारिक मिश्रका काल भी अन्तरमे शामिल करना। अन्तरकी अपेक्षासे इन शरीरोमे भेद समझ लीजिए। वैक्रियक शरीरका कितना अन्तर हो सकता ? वैक्रियक शरीरका अन्तर कमसे कम अन्तर्मुहूर्त है। कोई देव था, मर गया, वैक्रियक शरीर मिट गया, मनुष्य या तिर्यञ्च हो पाया कि अन्तर्मुहूर्तमे ही वह मर गया, तिर्यञ्च हो गया और तिर्यञ्च मर गया, फिर देव हो गया, तो उसका अन्तर्मुहूर्त ही अन्तर रहा। ऐसा जीव देव होकर तिर्यञ्च या मनुष्य मे उत्पन्न होकर फिर देव बना। वैक्रियक शरीर अन्तर्मुहूर्तको न रहा फिर बन गया। अच्छा वैक्रियक शरीर मिट जाय और फिर होनेके लिए बीचमे ज्यादासे ज्यादह अन्तर आये तो कितना ? यह अन्तर अनन्तकाल आ सकता है। कोई देव है, मर गया, तिर्यञ्च बन गया, मनुष्य बन गया, तिर्यञ्च हो गया, स्थावर हो गया, निगोदिया हो गया अब तो अनन्तकाल तक घूमे ? कभी फिर अनन्तकालके बाद त्रस पर्याय पाकर फिर देव बन जाय, नारकी हो जाय। कितना अन्तर हो गया वैक्रियक शरीरमे ? तो अतरकी अपेक्षा इन शरीरो मे परस्पर भेद समझा जा सकता है।

अब आहारक शरीरकी बात देखिये—आहारक शरीर हुआ किसी ऋद्धिधारी मुनिके, और फिर मिट गया, फिर आहारक शरीर बना तो बीचमे कितना अन्तर पड़ेगा ? तो जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त अन्तर है। कोई ऋद्धिधारी मुनिने आहारक शरीर रचकर काम किया। यह सब एक जीवकी अपेक्षा बात चल रही है। काम करके आहारक शरीर मिट गया, लो काम भी निपट गया, फिर अन्तर्मुहूर्तमे फिर आहारक शरीरकी रचना कर ली तो ऐसे आहारक शरीरका अन्तर अन्तर्मुहूर्त रहा और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल रह सकता, यह अनन्तकाल, जिसका अन्त न आये वह नही है, किन्तु कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल। जिस कालको अवधिज्ञानी नही जान सकता, सर्वावधि ज्ञानी भी नही जान सकता। सर्वावधि ज्ञानीकी सीमासे बाहरका जो काल है उसे भी अनन्त कहते है, फिर और भी बडा अनन्तकाल होता है। तो आहारक शरीर होता ऋद्धिधारी मुनिके और आहारक शरीर मिटा, मुनि भी मिटा, और और पर्यायें पायी, मानो स्थावर हो गया निगोद हो गया, फिर मनुष्य बन गया, आखिर फिर सम्यग्दृष्टि बन गया और आहारक शरीर भी पा ले तो इतने कालके बीचमें अन्तर कितना रहा ? कुछ अन्तर्मुहूर्त कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल तक। तैजस शरीर

और कार्माण शरीरमे अन्तर नही। ये मिट जाये तो मिटें ही मिटें, फिर दुबारा बनते नही।

संख्याकी दृष्टिसे शरीरोमे भेदविषयक ज्ञान——ये ५ शरीर जो जीवके साथ कलक रूपमे लगे हुए हैं, अपेक्षाकृत उनमे कुछ भले ही छाट लें कि यह शरीर अच्छा, आहारक शरीर उत्तम। अगर उत्तम है तो आहारक शरीर सदा रहना मजूर है क्या किसीको ? ज्ञानी जीव तो शरीररहित चैतन्यप्रकाश मात्र अपने आपकी स्थिति चाहता है। उन ५ शरीरोमे परस्पर अन्तर किन-किन अपेक्षाओसे समझा जा सकता है उसकी चर्चामे अब जरा सख्याकी दृष्टि देखिये——इन ५ शरीरोमे सबसे कम है वैक्रियक और कितने हैं ? तो कोई अरबो खरबो की सख्यामे नही हैं, बहुत ज्यादा है तो जिनको यो समझो कि लोकमे आकाशप्रदेशकी जो लम्बी पक्तियाँ है ना १४-१४ राजू प्रमाण, ऐसी असख्यात श्रेणी हुईं, उनमे जितने प्रदेश हैं उतने वैक्रियक शरीर है। यह सब शरीरोमे तुलनाके लिये आहारककी बात छोड दीजिए। वे तो केवल ज्यादासे ज्यादा ५४ होते है। ५४ से अधिक आहारक शरीर न मिलेंगे कभी, पर औदारिककी अपेक्षा वैक्रियक कम है। ये असख्यात श्रेणियाँ प्रमाण हैं। और औदारिक शरीर असख्यात लोक प्रमाण है। लोक तो बहुत बडा है। तीनो लोक निष्कुट क्षेत्र। तो ऐसे अनगिनते लोक हुए, उनमे जितने प्रदेश है उतने औदारिक, मायने अनतानत। आहारक शरीर केवल अधिकसे अधिक ५४ ही हो सकते है। विदेहमे ऋद्धिधारी हो, और जगह ऋद्धिधारी हो। जिस समय भरत ऐरावत क्षेत्रमे चतुर्थ काल चल रहा हो वहाँ भी ऋद्धिधारी हो, और विदेह क्षेत्रमे सदा हो सकते है। सारे ऋद्धिधारी मिलकर भी आहारक वाले ५४ से अधिक शरीर नही है जब उनका उपयोग है। और तैजस कार्माण तो अनन्तानन्त लोक प्रमाण है ये सब शरीरोके परस्परमे भेद है। यह समझा जा रहा है।

प्रदेश, भाव व अल्पबहुत्वकी अपेक्षा शरीरोकी विविधताका दिग्दर्शन—प्रदेशकी अपेक्षा भी इनमे भेद समझें। जैसे कि पहले सूत्रमे भी सकेत किया गया था। औदारिक शरीर अनन्तप्रदेशी होते हैं। वे अनन्त कितने ? अभव्योसे अनन्तगुने सिद्धके अनन्तवे भाग। इसमे पहले एक बात और परख लें कि अनादिकालसे सिद्ध होते आये, वे कितने हैं ? अनत सिद्ध याने एक औदारिक शरीरमे जितने परमाणु आ सकते हैं उससे अनन्तगुने हैं सिद्ध। अब आप बतलावो आखिर होते हो तो आये अनादिसे सिद्ध। तिसपर भी जेठा, बडा यह ससार ही है। अनन्त सिद्ध हो गए, अनन्तानन्त जीव ससारमे है ही और सदा रहेगे, अनन्तकाल बाद भी यह ही बात बोली जायगी। और औदारिक शरीरसे वैक्रियक शरीरके परमाणु और ज्यादा, उससे ज्यादा आहारकके, फिर तैजसके, फिर कार्माणके। तो प्रदेशोकी

अपेक्षा भी इन शरीरोमे परस्पर अन्तर है। भावोकी अपेक्षा देखो तो सब औदयिक भाव कहे जा रहे है। जो भी शरीर बना है उस-उस शरीरनामकर्मके उदयसे बना है, इसलिए एक सामान्यरूपमे तो वे सब औदयिक भाव है, पर विशेष रूपमे अपने-अपने शरीर वाले औदयिक भाव हैं। यह सब ५ शरीरोमे परस्पर क्या अन्तर है ? यह बात कही जा रही है। अब एक हीनाधिकतापर विचार करो। अल्पबहुत्व मायने सबसे कम कौन शरीर है, सबसे ज्यादा कौन शरीर है ? तो इनकी संख्यावोका जो प्रकरण था उससे समझा जा सकता है कि सबसे कम शरीर कौन है ? आहारक शरीर कम है, जिनकी ५४ संख्या कही गई और उससे अधिक है वैक्रियक शरीर। याने आहारक शरीरसे असख्यातगुने है वैक्रियक और वैक्रियकसे भी असंख्यात गुने है औदारिक शरीर। औदारिकसे अनन्तगुने है तैजस और कार्माण। ऐसे ये ५ शरीर जो जीवके साथ असावधानीसे लग गए उनका वर्णन चल रहा है।

शरीररहित चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वकी भावनाका प्रभाव—यह जीव अपने आपका जैसा सहजस्वरूप है शरीररहित, कर्मरहित, विकल्परहित, विकाररहित केवल शुद्ध चित्प्रकाशमात्र जो सही-सही बात है, सहज है, अपने आपके केवलमे है उस रूप अपनेको मानना होगा केवल चिन्मात्र अपने अनुभवमे होता तो शरीरोकी यह विडम्बना न होती। अभी क्या बिगडा ? जो जब सम्हल जाये उसका तभी भला। जो जीव अबसे अनन्तकाल पहले सम्हले वे भी अनन्तकाल तक रुले, हमारा आपका भी अनन्तकाल तकका भ्रमण चल रहा है, लेकिन आज अगर चेत जायें तो हमारा सारा विपरीत काम सब दूर हो जाय। अपनेको अभी अनुभव करें ना। अच्छी बातके लिए तो कोई विलम्ब नही लगाता। भोजनमे जिसे आसक्ति है उसे अच्छा-अच्छा भोजन परोसा जाय तो खानेमे देर तो नही लगती, थालीमें आने भरकी देर है और कोई रईस आदमी विलम्ब करेगा भी तो उसे मालूम है कि ये लड्डू, पेडे, रसगुल्ले आदि भागकर जायेंगे कहाँ ? हैं तो हमारे ही कब्जेमे। कोई चाहे जैसा समझे, उसमें विलम्ब नही करता। तो अगर संसारके सारे संकटोंसे मुक्ति पानेकी भावना है तो उसके उपायमे विलम्ब न करें। उसका उपाय सीधा सुगम यह ही है कि समस्त परपदार्थ और परभावोसे रहित केवल चिन्मात्र चित्प्रकाशमात्र अपने आपका अनुभव किया जाय। मैं हूं यह चैतन्मात्र। इस अनुभवमे ही सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्म भी क्षीण हो जाते, शरीरोकी परम्परा सब समाप्त हो जाती, तब फिर यह ज्ञानशरीरी रह जाता। ज्ञान ही जिसका शरीर है, अन्य कुछ नही है, ऐसा यह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्तिका एक पिण्ड हो जाता है। तो आप अपनेको अशरीर अविकार चिन्मात्र अनुभव करें, इसीमे वह धर्म है कि जिसके प्रसादसे समस्त संकट दूर हो जाते हैं।

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

प्रकृतसूत्रसे सम्बंधित प्रासंगिक ज्ञेयका अनुस्मरण—यह मोक्षशास्त्रके दूसरे अध्याय का अन्तिम सूत्र है। इस अध्यायमे सबसे पहले जीवके स्वतत्त्वका वर्णन किया याने जीवकी परिणतियाँ क्या-क्या होती है, इसका विवरण बताया। जीवके भाव कोई औपशमिक हैं, कोई कर्मके क्षयसे हुए, कोई कर्मके क्षयोपशमसे हुए, कोई उदयसे हो रहे, कोई अपने आप चल रहे, ऐसे जीवके भाव हुआ करते है। जीवके भावोका वर्णन करके फिर जीवके लक्षणका वर्णन किया। "उपयोगो लक्षण" जीवका लक्षण उपयोग है, फिर उपयोगवान जीवके भेद बताये गए—ससारी और मुक्त। उपयोग तो सब जीवोमे है। मुक्त जीवके केवलज्ञानका उपयोग है, ससारी जीवके अन्य ज्ञानोका उपयोग है। मगर यह बात जानना है कि उपयोगकी मुख्यता ससारी जीवोमे है। मुक्त जीवोमे उपयोग उपचारसे है, केवलज्ञान तो सही है। केवलज्ञान उपचारसे नही है। केवलज्ञानको उपयोग कहना यह उपचार है, क्योकि उपयोगकी मुद्रा किसी विषयकी ओर अभिमुख होनेकी ओर होती है तो यह अभिमुखता केवलज्ञानमे नही है, किन्तु सहजस्वरूपसे उनके ज्ञानमे समस्त लोकालोक विषयभूत हो जाता है। तो मुख्यतासे जो उपयोगी है। जीव है उनके भेद बताये गए ससारी त्रस स्थावर आदिक। उनके भेदोका वर्णन करनेके बाद फिर कुछ योगका वर्णन चला, और जीवमे दो ही बातें मुख्य है—योग और उपयोग। उपयोग तो कहलाता है ज्ञानका ज्ञेय पदार्थोंकी ओर झुकना, ज्ञान का लगाव होना यह तो है उपयोग और जीवके प्रदेशोका हलन-चलन परिस्पन्द यह कहलाता है योग। योगका वर्णन हुआ, फिर बताया गया कि ससारी जीव किस तरह योग और उपयोग करता है और उसका फल क्या है? उसका फल है शरीर मिलना। तो शरीरोका वर्णन चला। शरीर ५ प्रकारके होते हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण। इन शरीरोका विशद वर्णन चला। फिर अन्तमे यह बतलाया कि जब शरीर है तो शरीरके साथ जीवके वेद भी लगे रहते हैं। वेद—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद। ये जहाँ तक भी लगते हैं उन वेदोका वर्णन हुआ। अब यह समस्त एक व्यावहारिक वर्णन होनेके बाद एक बात और शेष समझी गई कि शरीरोमे यह जीव रहता है तो कब तक रहता है? जब तक आयु रहती है। मनुष्यआयु जब तक है मनुष्यशरीरोमे रहेगा, देवआयु जब तक है देवशरीरमे रहेगा। तो रहे। वहाँ यह जिज्ञासा हुई कि क्या यह नियम है कि जिसने जितनी आयु पायी हो वह उतने समय उस शरीरमे रहा ही करे। तो बतलाते हैं कि कुछ जीवोका तो नियम है, पर सबका नियम नही है। यही बात इस सूत्रमे कही जा रही है।

औपपादिक जन्म वालोंकी अनपवर्त्यायुष्कता—एक तो औपपादिक याने जिन जीवोका शरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता जैसे देव और नारकी। देवोके शरीरकी उत्पत्ति देव देवीके सम्बन्धसे नही बनती, उनके माता पिता नही होते। देव देवियां तो जरूर होते, मगर एक सासारिक सुख लूटने भरके लिए वह वेद है उनका। उनके संतान नही होती, आजकल भी तो लोग विवाह शादी कराकर जो एक नये ढंगके, नये विचारके हैं वे संतान नही चाहते, बस आपरेशन करा लिया, सुख भोग रहे। सतानका कौन कष्ट करे? प्रोग्राम नही है बच्चोका, केवल एक भोग भोगनेका साधन बनाये है, ऐसी ही बात देवोमे है। उनको आपरेशनकी जरूरत नही, उनके ऐसा ही शरीर है, सतान तो विषयका बाधक है। यह बात बतलाते है देवों के उपपाद जन्मकी। देव देवियाँ होते हैं ससारके सुखोको भोगनेके लिए। वे भोग निन्द्य है, उनका फल बहुत बुरा है, लेकिन पुण्यका फल इस तरह चल रहा। उन देवोका उपपाद जन्म है याने उपपाद शैयापर पता नही किसीको एकदम बालक जैसा दिखने लगा। तो वे देव बीचमे नही मरते। जितनी आयु पायी है उतनी आयु भोगकर ही मरते है। इसी प्रकार नारकी भी अपनी पाई हुई आयुके बीचमे नही मरते। देव तो चाहते हैं कि मेरी उम्र और बडी हो, क्यो मरण हो रहा, क्योकि वे बूढे नही होते, सदा जवान रहते, विषयोसे थकते नही, मनमाने विषय भोगते हैं, विहार करते है तो मरते समय उनको कष्ट होता है कि ऐसे एक संसारी सुखमय देह छोडकर अपन उस घिनावने देहमे जायेंगे। वे नियमसे घिनावने देहमे ही तो आते हैं, कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च बन गए। और नारकी जीव यह चाहते है कि हमारा अभी मरण हो जाय, जिन्दा रहनेसे तो बडा कष्ट है, पर बीचमे उनका मरण नहीं होता। तो देव और नारकियोका शरीर औपपादिक है। उनकी आयु बीचमे कटती छिदती नही है।

चरमशरीरी जीवोकी अपवर्त्यायुष्कता—चरम शरीरी जीव जो उस ही भवसे मोक्ष जाने वाला है, उसकी भी आयु बीचमे कटती छिदती नही। जो उपसर्ग सिद्ध केवली हुए उनको उपसर्ग होता है। पर ऐसा ही नियोग है कि जब उनकी आयुका अतिम समय होता है तो उसी समय उपसर्ग हो तो वे मुक्त हो जाते है। तो जितने चरमशरीरी याने उस ही शरीरसे मोक्ष जाने वाले है, उस भवसे बीचमे आयु नहीं कटती। देखिये मुक्त होनेकी तरकीब है आत्माको ज्ञानमात्र अनुभव करना। मैं ज्ञानमात्र हूँ। इस ज्ञानस्वरूपमे ही ज्ञानको जमाकर स्थिर रहना, यही है सर्वसकटोसे मुक्त होनेका उपाय। कर्म कैसे कटते हैं हम नहीं जानते, साधक नहीं जान रहा। साधक देख भी नही रहा कि कर्म मेरे कट रहे हैं क्या, कितने कट गए, लेकिन इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमे मग्न होनेका ऐसा प्रताप है कि जैसे कर्म

कटते हैं, जिस तरह होना है उस विधिमे स्वय होता है, तो ऐसी दृष्टि ऐसी भावना जो रख रहा है, जो प्रयोग कर रहा है उस जीवके तो वैसे ही मरण नही। यहाँ ही जो समाधिमे है और अपने-अपने आत्मस्वरूपमे मग्न हो रहा है उसका कोई सिंहादिक क्रूर पशु या कोई शत्रु आकर प्राण ले ले तो उसके लिए क्या विपदा ? वह तो जो अभी है वह ही आगे है, यहाँ न रहा और जगह चला गया। यह तो एक ध्यानी पुरुषकी बात कह रहे, मगर जो उसी भव से मोक्ष जायगा उसका ऐसा अतुल प्रताप है कि उसकी आयु बीचमे नही छिदती।

भोगभूमिज जीवोंकी अनपवर्त्यायुष्कता—और भी कई जीव है ऐसे कि जिनकी आयु बीचमे नही छिदती, जैसे भोगभूमियाके जीव। उनकी आयु अनगिनते वर्षोकी स्थिती है। ३ पल्य तक होती है। पल्लका प्रमाण अरब खरब आदिककी गिनतीसे परे होता है। उनकी आयु बीचमे कटती नही। तो कोई जीव अनगिनते वर्षकी आयु वाले होते है।

चरमोत्तमदेहा का अर्थ—यहाँ सूत्र शब्दसे जब अर्थ लेते है तब एकदम ऐसा विदित होता है कि इसमे तीन तरहके जीव नही बताये, किन्तु चार तरहके बताये। कौन-कौन ? उपपादिक, चरमदेह, उत्तमदेह और असंख्यात वर्षायुष्क। ऐसा लगता सा है। औपपादिक मायने देव नारकी, ये बीचमे नही मरते, चरमदेह मायने उसी भवसे मोक्ष जाने वाले, उत्तम देह—मायने चक्रवर्ती नारायण वगैरह और असख्याते वर्षकी आयु वाले भोगभूमिया। मगर ऐसा अर्थ लगानेपर एक शङ्का होती है कि उत्तम देह वाले चक्रवर्ती भी तो कोई बीचमे मर गए। जैसे अतिम चक्रवर्ती सुभौमको देवने समुद्रमे डुबोया और अन्तमे यह भी कहा कि तू णमोकार मंत्रको यहाँ पानीमे हाथसे लिखकर पैरोसे मिटा तो उसने किया भी वैसा, श्रद्धाहीन भी हुआ और मरण हुआ। तो यह बात तो न रही कि उत्तम देह वाले बीचमे नही मरते ? तब समाधानमे यह सोचना कि इसमे चारो तरहके जीवोकी बात नही कही गई, किन्तु तीन तरहके जीवोकी बात बतायी गई—औपपादिक, चरमोत्तमदेह और असंख्यातवर्षायुष्क तो चरमोत्तम देहका मतलब क्या ? चरम और उत्तम है देह जिनका। कोई कहे कि चरम शब्द भी मत बोलो, कोई एक ले लो। या तो चरमदेह बोलो या उत्तम देह कह लो, दोनो शब्द कहनेकी क्या आवश्यकता ? तो चरम शब्द कह लो यह तो निभ जायगा या उत्तम देह लगाओ। सिर्फ इतना सूत्र बनाओ—औपपादिकचरमदेहासंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष, यह बात निभ जायगी। अगर चरम छोडकर उत्तम शब्द लगायेंगे तो बात न निभेगी, क्योकि प्रश्न तो वही था कि उत्तम देह वाले चक्री नारायण आदिक ये भी तो बीचमे मृत्युको प्राप्त हुए। तो कोई कहे कि इससे तो चरमदेह इतना रख लो, उत्तम निकाल लीजिए तो भाई समाधान यह है कि उत्तम निकाल लो, कोई हर्ज नही, मगर भक्ति इतनी प्रेरणा देती कि

जो चरमशरीर है वह सब उत्तम देह वाला है, ऐसा भावमे आता है। ऐसा भक्तिके साथ यहाँ चरमके साथ उत्तम शब्द दिया है।

अकालमृत्युका निराकरण करनेकी एक आशंका—अब यहाँ एक और प्रश्न है कि अवधिज्ञानी केवलज्ञानीने जो कुछ जाना भविष्यका, कोई कहे कि केवलज्ञानी तो निर्विकल्प होते, वे क्यो ऐसा जानेंगे कि यह इस समय हो रहा है। ज्ञानमे आया सब, मगर जैसे एक तुरन्तका जाया हुआ बालक ज्ञानमे सब कुछ आकर भी यह तर्क नही उठा सकता कि इस चीजके बाद यह चीज धरी है, इसके बाद यह, ऐसे ही केवलज्ञानीके ज्ञानमे आ गया सब, मगर वहाँ तर्क विकल्प नही उठाता। तो चलो केवलज्ञानीकी बात छोडो, अवधिज्ञानी की बात लो। अवधिज्ञानी भी तो बहुत काल (अनगिनते वर्ष) तककी बात जान लेते और फिर श्रुतज्ञानके विकल्प करके उस जानी हुई बातको विधिपूर्वक कहता भी है, तुम ५वें भव मे यह होगे, छठे भवमे यह होगे, इससे पहले भवमे यह थे, यो सारी वाणी भी होती है। मृत्यु भी वह जानता है कि यह अकाल मौतसे मरेगा, यह अपने समयसे मरेगा, यह भी जान लेता। तो जब यह ज्ञानमे आ गया एक बार कि यह अकाल मौतसे मरेगा तो जब वह मरना था तब मरा फिर अकाल मौत कैसे? जिस दिन उसका मरना पहलेसे ही जान रखा था उसी दिन तो मरा, एक सेकेण्ड भी तो कम ज्यादा समय नही लगा तो फिर अकालमरण किसका नाम है? अवधिज्ञानी सतोने जब जब जिस जिमका जो जो होन जाना है उसका वैसा तब तब हुआ, तब फिर अकाल कहाँ रहा?

निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक विषम घटनाओंकी उत्पत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शकाके समाधानमे पहले तो एक साधारण बात समझिये, एक आयुकी ही बात नही, समस्त पदार्थोंकी बात है। अवधिज्ञानियोने जान तो लिया कि यह इस तरह लडेगा, मरेगा, अमुक गतिमे जायगा, इस इस प्रकारका बर्ताव होगा, राग होगा, द्वेष होगा, जान लिया सब, मगर विधिपूर्वक होने वाले को जाना या विधि छोडकर अटपट होते हुएको जाना? ये दो बातें सामने रखी है। अवधिज्ञानीने जाना कि कल ८ बजे यह आदमी भोजन कर लेगा शान्तिसे, यह जान लिया, मगर वह रसोई जिस विधिसे बनती है अग्निका सम्बन्ध पाकर रोटी सिकती है, किस तरह बनती है, महिला उसमे निमित्त है। जिस-जिस विधिसे बनती है उस-उस विधिसे बनती हुई रोटीको जाना या विधिसे हटकर बिना विधिके होने वाले भोजनको जाना? बस जाना था रोटी बन गई, जाना था रोटी खा लिया। इस तरह होनेकी बात कहनेमे ये दो विकल्प सामने है। यह तो ठीक कहा नही जा सकता कि विधिका उल्लघन करके जाने। अग्नि हो तो, न हो तो, जब रोटी पर्याय होनी है सो हो गई, इस

तरहकी बात तो युक्त न बैठेगी। क्योकि जगतमे जो कुछ भी निर्माण चल रहा है वह सब निमित्तनैमित्तिक योगका परिणाम है। हाँ, यह बात सिद्धान्तकी सदा अमिट है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणतिको नही करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमन रूप नही परिणमता, यह सिद्धान्त तो अकाट्य है। जैसे अग्निका सन्निधान होनेपर रोटी सिक गई तो रोटीका रोटीमे ही परिणमन हुआ मगर उस सन्निधानमे तो उस निमित्तनैमित्तिक योगके ढगसे जो भी विकार विषम विभाव परिणतियाँ होती है वे बराबर चल रही है। उसे जान लिया यह ज्ञानका स्वरूप है, ज्ञानका प्रकाश है कि जान लिया। तो मात्र जाननेसे विधि नही खतम हो जाती। जिस जिस विधिपूर्वक जो जो कुछ हो रहा है वह जाननेमे आया। पहली बात तो यह समझना। इससे यह एक समाधान मिल गया कि जानना विधिपूर्वक होते हुए पदार्थका ही हुआ करता है। जाननेके कारण बात न बनी किन्तु विधियोके कारण बात बनी। और उस बनी हुई बातको जान लिया प्रभुने, सतोने। एक समाधान तो इसमे ही मिल गया।

अकाल मृत्युकी परिभाषा बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब अकाल मौतकी बात समझिये– मानो कोई पुरुष कारमोटरसे कही दूसरे गाँवको रवाना हुआ, उसमे मानो ४ गैलन पेट्रोल भर रखा था, मानो वह १५० मील तक पहुचनेके लिए पर्याप्त था, पर रास्तेमे मानो वह पेट्रोल टकी किसी वृक्ष आदिकी टक्करसे फट जाय और सारा पेट्रोल बह जाय, तब तो कार वही रास्तेमे ही खडी रह जायगी, फिर तो आगे नही बढ सकती, तो इसे समझिये अकाल मौतका उदाहरण। याने मोटरमे इतनी योग्यता थी कि वह १५० मील तक जा सकती थी मगर पेट्रोल पप फट जानेसे वह थोडी ही दूर जाकर बेकार हो गई, देखो एक एक सेकेण्डमे कितना कितना पेट्रोल खर्च होता और ऐसा खर्च होते-होते कार कितनी दूर जायगी, उसका हिसाब है, ऐसे ही जिस जीवने मानो पूर्वभवमे १०० वर्षकी आयु बाध ली थी तो उसका हिसाब यो चलता है कि एक एक समयमे आयुका एक एक निषेक लगातार खिरता है। जैसे दीपक जलता है तो तैलकी एक-एक बूद पहुचती रहती है और जलता रहता है, ऐसे ही आयुका एक एक निषेक प्रतिसमय खिरता है तो १०० वर्षके मायने हैं कि उस मनुष्यकी आयुकर्मके उतने निषेक हैं कि एक एक समयमे खिरेंगे तो १०० वर्ष तक यह मनुष्य जीवित रहेगा। अब मानो २५ वर्षकी आयु हो पायी थी कि किसी शत्रुने आकर तलवार मार दी, सिर कट गया, उस वक्त क्या होता है कि बाकी बचे हुए ७५ वर्षोंके निषेक जो हैं वे एकदम अन्तर्मुहूर्तमे खिर जाते है। तो यह कहलाता है अकाल मरण। अब चाहे किसीका कोई सिर काट दे या किसीका हार्टफेल होकर बीचमे मर जाये या किसी बडी बीमारीसे ग्रस्त होकर

मरणको प्राप्त हो जाय, वह सब अकाल मरण है। अब यह ज्ञानकी बात दूसरी है कि उसने अकाल मौतको भी जाना था कि इस समयमे टकी फट जायगी और यह यही बीचमे रुक जायगी।

अकालमृत्युके प्रमाणमे एक व्यावहारिक प्रयोगका दिग्दर्शन—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि तीन प्रकारके जीवोकी अचानक टकी नही फटा करती याने बीचमे मौत नही होती। शेष जीवोकी अकाल मौत भी होती है और अपने कालपर भी मौत होती है, इसका प्रमाण यह है कि अगर अकाल मौत न होती हो तो फिर ये डाक्टरी, आयुर्वेद आदिककी सब दवायें व्यर्थ है। फिर ये क्यो की जाती है? उनमे सम्भावना बनी है ना कि यदि ऐसी दवा करें, ऐसा इलाज करे कि इसकी मृत्यु बीचमें न हो, तनिक और बच जाय। कोई कहे कि यह भी तो जान लिया था। हाँ इस अपेक्षासे ठीक है, किसी सतने यह भी जान लिया कि ऐसी-ऐसी दवा चिकित्साका सयोग होगा और इसकी मौत होते होते बच जायगी, पर यह प्रमाण आयुर्वेदका समर्थ तो है। कोई कहे कि नही, ये आयुर्वेद ये डाक्टरी दवायें किसीको मरणसे नही बचा सकती। हाँ कोई वेदना हो रही है तो उस वेदना भरका इलाज है, अकाल मौतका इलाज नही। अगर कोई ऐसी शङ्का करे तो देखो बातें दोनो ही देखी जाती है। जैसे वेदना के मिटनेका साधन है वह दवा, तो यह प्राण क्या चीज है? यह भी तो पौद्गलिक ही है। दिल है, हार्ट है। खून चलता है, कैसे चलता है? आखिर ये सब पौद्गलिक हो तो बातें हैं। औषधिका वहाँ निमित्तनैमित्तिक योगवश जैसा तेज रोग बढता था वह रुक गया, आखिर सभी पौद्गलिक हो तो है, तो शरीरकी वेदनाके मिटनेमे जैसे औषधिका प्रभाव पडा ऐसे ही प्राणोपर भी औषधिका प्रभाव पडा। तो प्रयोजन यह है कि अकालमरण भी होता और अपने समयपर भी मौत होती। किन्तु जो ये तीन प्रकारके जीव है इनकी कभी अकाल मौत नही हो सकती।

अनपवर्तायुष्कता होनेके कारणभूत भावोमे प्रायः दयाकी प्रधानता—इस सम्बन्धमे थोडी बात और समझनी है कि जो कुछ जीवपर गुजरता है वह जीवके भावोके अनुसार गुजरता है। तो यहाँ एक बात खोजें कि वह कौनसा भाव कारण है कि जिस भावसे आयु बधे तो आयु बीचमे न कटे? इस पर जरा विचार करें। जीवपर सब कुछ बात गुजरती है, कर्म बधे, दुःख हुआ, सुख हुआ, बीचमे मरा पूरी आयुसे मरा—ये बातें जब विषम देखी जा रही है तो ये उदयके अनुसार तो हो रही है ना। और उस कर्मबन्धके कारणभूत है जीवके भाव तो उन भावोकी जरा खोज करें। वे कौनसे भाव है जिन भावोंके होनेपर इस तरहके कर्म बँधते, आयुबध होता कि वह आयु बीचमे नही कटती। कौनसा भाव है? बहुत-बहुत विचार करने पर और और भी कारण मानने तो पडेंगे, मगर मुख्य कारण आपको मालूम

होगा—दया। जो मनुष्य दया बहुत रखता है, चित्तमे संसारके समस्त प्राणियोंके प्रति करुणा (दया) का भाव रखता है, ससारके दुःखोंको दूर करनेका भी भाव रखता और संसार के समस्त संकट समूल नष्ट हो जायें याने मोक्षमार्गमे लगें, इस प्रकारकी भी दया रखता। दूसरे जीवोंकी रक्षाका भाव रखता, यत्न भी करता, तो दयासे जिसके भाव भरे हुए हैं वे भाव मुख्यतया कारण बनते हैं कि इसके आगे जो भली आयु मिलेगी वह बीचमे नही कटती। दया एक ऐसा पवित्र भाव है कि यह जीवका अकालमरण नही होने देता, इस प्रकारका एक प्रायः कारण है। तो मतलब यह है कि अपना पौरुष ऐसा होना चाहिए कि हमारे भाव सदा शुद्ध रहे और मुक्तिका कारणभूत जो कारणसमयसार है, आत्माका विशुद्ध चैतन्यस्वभाव है उस रूप अपना अनुभव रहे कि मैं तो यह हूँ, अन्य कुछ मैं नही। सारा जौहर इतना है, सारा प्रताप इस भावनामे है। इसको कहते हैं आत्मभावना, जिसके भानेसे केवलज्ञान होता है। मैं सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ, बस इस भावनासे सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन द्वादश भाग समाप्त ॥